कुछ स्मरणीय मुकदमे

डॉक्टर कैलासनाथ काटजू

बनारस
ज्ञानमण्डल लिमिटेड

भूमिका

मेरी जानकारीमें हिन्दी भाषाके साहित्यमें यह अपने प्रकारकी एक नयी, अनोखी और निराली पुस्तक है। भारतमें जब अंग्रेजी राज्य स्थापित हुआ, तब अंग्रेजी सरकारने प्रदेशोंमें तथा जिलोंमें उच्च न्यायालय कायम किये। लगभग १५० वर्षोंसे ये न्यायालय काम कर रहे हैं। अपने देशमें और विदेशोंमें भी यह मानी हुई बात है कि भारतनिवासियोंने वकालतके पेशेमें बहुत प्रशंसा प्राप्त की है। वे कानूनमें बड़े विद्वान् और योग्य सिद्ध हुए और न्यायालयोंमें वकालत करनेमें भी उन्होंने बड़े अनुभव द्वारा ऊँचा दर्जा हासिल किया। यह वकालतका ही एक पेशा था जिसमें अंग्रेजोंकी दाल नहीं गली और भारतवासियोंने हर जगह अपना नाम हासिल किया। हमारे कानूनके विद्वानों तथा वकीलोंने राष्ट्रीय आन्दोलनोंमें जो काम किया, वह भी सबको मालूम है। कांग्रेसकी बुनियाद डालने व उसे मजबूतीके साथ स्थापित करनेमें भारतके वकीलोंने बड़ा भाग लिया है। कांग्रेसके प्रथम अध्यक्ष श्री उमेशचन्द्र बनर्जी एक प्रसिद्ध बैरिस्टर थे और उसके पश्चात् प्रति वर्ष अधिकतर वकील ही अध्यक्ष बनते रहे। वकीलोंका सर्वसाधारण जनतासे बड़ा सम्पर्क रहता है। हर प्रकारके और हर श्रेणीके लोग अपना झगड़ा वकीलोंके सामाने लाते हैं और न्यायालयोंमें दाद-फरियाद करते हैं। साधारण जनताको मालूम नहीं कि कैसे-कैसे मामले कचहरियोंमें जाते हैं। एक कहावत है कि सत्य एक बड़ी विचित्र चीज है और उपन्याससे भी निराली होती है। यह कहावत ही नहीं बिल्कुल सत्य बात है। साधारणतः समझा यह जाता है कि अदालतोंमें बड़ी-बड़ी कानूनी समस्याएँ ही हल होती हैं—परन्तु ऐसा नहीं है। कानूनी मसले और उनकी बारीकियाँ तो न्यायालयके सामने बहुत कम आती हैं। अधिकतर मामले तो वाकयातके आते हैं। वास्तवमें क्या हुआ, इसीकी खोज की जाती है। गवाह-साक्षी पेश होती है, लम्बी-लम्बी बहसें होती हैं—और फिर न्यायालयको निर्णय करना पड़ता है। कचहरियोंमें जो कहानियाँ सुननेमें आती हैं उनका यदि संग्रह किया जाय, तो वह उपन्याससे भी अधिक मनोरञ्जक होगा। यह केवल भारतके मुकदमोंकी ही चर्चा नहीं है, यह तो सारे संसारकी चर्चाका विषय है। जहाँ-जहाँ न्यायालय हैं, वहाँ सब जगह यही स्थिति है। विदेशोंमें तो इसका एक बड़ा जबर्दस्त साहित्य है। इंग्लिस्तान तथा अमेरिकामें तो सैकड़ों वर्षोंसे प्रत्येक वकील अपना अनुभव कथाके रूपमें लिखता है और इस प्रकारके संग्रहोंको पाठक बड़ी रुचिसे पढ़ते हैं। मुझे खेद है कि भारतवर्षमें इस प्रकारकी पुस्तकें नहीं हैं। मैंने स्वयं कई मित्रोंसे व बड़े-बड़े प्रतिष्ठित अनुभवी वकीलोंसे प्रार्थना की कि वे अपने अनुभव लिखें ताकि पाठकोंको आनन्द प्राप्त हो और नये वकीलोंको उनसे लाभ मिल सके; परन्तु मेरी प्रार्थना स्वीकर नहीं हुई। मैंने वकालत ३० वर्षतक तो लगातार की—उसके पश्चात् १९३७ से उसका सिलसिला टूट गया। कभी मैं मन्त्री बना, फिर जेल गया, फिर बरस दो बरसके लिए वकालत की। सन् १९४१, ४२, ४३ में दो बार जेल-यात्रा हुई। वहाँ मुझे समय मिला; कुछ और करना भी नहीं था; मैंने सोचा कि मैं अपने वकालतके अनुभवोंकी कहानियाँ लिखूँ। मैंने लिखना प्रारम्भ किया और लिखता ही गया। पिछले कागजात तो मेरे पास थे नहीं—स्मरण-शक्तिसे ही लिखना था। परन्तु इससे भी कुछ हानि नहीं हुई। जो विचित्र मुकदमे थे, वे तो मेरे हृदयपर अंकित हो गये थे—उन्हें मैं भूल ही नहीं सकता था। वे मुझे याद रहे। जेलमें लिखा हुआ यह संग्रह मेरे पास रखा था। गत वर्ष इस सम्बन्धमें मेरी चर्चा कुछ मित्रोंसे दिल्लीमें हुई। कुछने इसे पढ़ा

भी और कहा कि यदि इसका हिन्दीमें अनुवाद हो तो पाठकोंको अच्छा भी लगेगा और हिन्दी भाषाके साहित्यमें भी एक नया मार्ग खुलेगा। बहुत बड़ी आशा है कि न्यायाधीश भी अपने अनुभव लिखें और इस प्रकार एक नया साहित्य बन जाय। मैंने उत्तर दिया कि यदि मित्रोंकी इच्छा है तो मुझे कोई आपत्ति नहीं। इसपर पुस्तक काशी भेजी गयी। वहाँ इसका अनुवाद हुआ और अब यह पाठकोंके सामने प्रस्तुत है। मुझे विश्वास है कि इसके पढ़नेसे पाठकोंको यह जानकारी होगी कि न्यायालयोंमें कौन-कौनसे व कैसे-कैसे मामले आते हैं, मनुष्यकी क्या-क्या मनोवृत्ति रहती है, एक दूसरेसे कैसा व्यवहार होता है इत्यादि। मेरा तो विश्वास है कि वकील अपनी योग्यता और अनुभवोंसे साधारण जनताकी सबसे अधिक सेवा कर सकता है—क्योंकि उसे मनुष्य समाजके दुःख-दर्द जाननेके बहुत अवसर मिलते हैं। बहुत लोगोंमें यह धारणा है कि वकील लोगोंको लड़ाते हैं और झगड़े-फिसाद खड़े करते हैं। लेकिन उनका यह खयाल गलत है। न्यायालयोंमें काम करते-करते तथा वहाँकी दुःख-दर्दकी कहानियाँ सुनते-सुनते वकीलोंका हृदय कोमल हो जाता है। वे झगड़े सुलझानेका प्रयत्न करते हैं तथा शान्ति स्थापित करनेमें सहायक होते हैं। यही कारण है कि प्रत्येक जिलेमें, प्रत्येक प्रदेशमें वे जनताके प्रेम व आदरके पात्र बन जाते हैं और फिर ऐसे ही वकील जब राजनीतिक क्षेत्रमें आते हैं तो उन्हें वहाँ सम्मान मिलता है और उनकी इजत होती है। मुझे आशा है कि इस पुस्तकके द्वारा वकालतके प्रति जो बेबुनियाद धारणा है वह दूर हो जायगी और वकील लोग समाजकी जो सेवा करते हैं, उससे जनसाधारण परिचित हो जायगा और इस पेशेके प्रति उनके दृष्टिकोणमें उचित परिवर्तन हो जायगा; समाजमें यह पेशा समुचित आदर तथा सम्मानकी दृष्टिसे देखा जाने लगेगा।

अन्तमें यह लिखना उचित होगा कि यह सारी पुस्तक सन् १९४२–४३ में जेलमें लिखी गयी थी किन्तु 'मेरठ षड्यन्त्रका मामला' बादमें सन् १९५४ में मैंने लिखा और वह भी इसमें सम्मिलित कर लिया गया है।

भोपाल
नौरोज, सं. २०१४

कैलास नाथ काटजू

विषय-सूची

विषय | पृष्ठ

प्रथम भाग (दीवानी मामले)

द्वितीय भाग (फौजदारी मामले)

प्रथम भाग

दीवानी मामले

१. मेरठ षड्यन्त्रका मामला

लोग अक्सर मेरे पास आते हैं और पूछते हैं कि आपका सबसे अधिक स्मरणीय मुकदमा कौन-सा है ? यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका उत्तर देना उस व्यक्तिके लिए बहुत मुश्किल है जो बराबर सक्रिय रूपसे ३८ वर्षतक वकालत करता रहा हो। एक अच्छी प्रैक्टिसवाले वकीलको हर तरहके लोगोंके घनिष्ठ सम्पर्कमें आना पड़ता है। राजनीतिक दलों तथा समूहोंके लोग राजनीतिक कार्य करते हुए भी, किसी न किसी तरह आपसके झगड़े लेकर अदालतोंमें पहुँच जाते हैं, यहाँतक कि समाज-हितके कामोंमें लगे हुए लोग भी वहाँ पहुँचते हैं। इनके सिवा जमींदारों और उनके असामियोंके झगड़े, उद्योगपतियों और मजदूर-संघोंके, चिकित्सकों तथा उनके रोगियोंके, पुरोहितों और उनके यजमानोंके, अध्यापकों तथा छात्रोंके और पड़ोसियों तथा सम्बन्धियोंके भी मामले न्यायालयोंमें उपस्थित होते रहते हैं। ऐसे भी बहुसंख्यक झगड़े अदालतोंके सामने लाये जाते हैं जो राज तथा उसके नागरिकोंके बीच उत्पन्न हो जाते हैं। फौजदारी कानूनका क्षेत्र ही अलग होता है जिसमें हर प्रकारके अपराधी मिलते हैं—एक तरफ तो होते हैं धनी और फैशनपरस्त लोग और दूसरी तरफ होते हैं गुण्डादल तथा अपराधशील वर्गोंके लोग। इधर देशभक्तिपूर्ण एवं सद्भावप्रेरित सत्याग्रहियोंके कारण इनकी संख्यामें और वृद्धि हो गयी है। विभिन्न तरहकी इन सब सामग्रीमेंसे स्मरण रखने योग्य मामला चुनना मुश्किल होता है। सच पूछिये तो प्रायः प्रत्येक मामले या मुकदमेका अपना एक मानवीय पहलू होता है और वह एक-न-एक दृष्टिसे निराला या बेजोड़ होता है। मैंने ऐसे कई मामलोंका वर्णन यहाँ किया है किन्तु उन सबपर विचार करनेपर मुझे लगता है कि साधारण पाठक उस मुकदमेको, जो मेरठ षड्यन्त्रका मामला कहलाता है, अपने ढंगका विशेष स्मरणीय मुकदमा समझेगा। उन दिनों इस मुकदमेकी बड़ी धूम थी। मैं समझता हूँ कि इसके चलाये जानेका कारण ब्रिटिश सरकारकी वह इच्छा थी जिससे वह अपनी उस नीतिके समर्थनमें, जो उस समय उसने रूसके बोल्शेविकोंके प्रति इख्तियार की थी, प्रभावोत्पादक प्रचार-कार्य करना चाहती थी। इसके विपरीत भारतीय कम्यूनिस्ट दलने, जो उस समय अपनी प्रारम्भिक अवस्थामें था, उससे अपना स्वार्थ सिद्ध करनेकी चेष्टा की उसने देशमें अपना राजनीतिक कार्यक्रम आगे बढ़ानेके शक्तिशाली साधनके रूपमें उसका उपयोग करना चाहा। इसलिए उसकी शीघ्र समाप्तिके लिए उन्होंने कोई बड़ी इच्छा प्रकट नहीं की और इस मुकदमेके प्रति जनतामें हर जगह जो दिलचस्पी पैदा हो गयी थी, उससे उन्होंने भरपूर लाभ उठानेका प्रयत्न किया। जिस तरह सन् १९४५–४६ के उन मुकदमोंने जो दिल्लीके लाल किलेमें आजाद हिन्द फौजपर चलाये गये थे; अन्ततोगत्वा ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी जिससे ब्रिटिश शासकोंको भारत छोड़कर चले जाना पड़ा, उसी तरह भारतीय साम्य-वादी दलकी यह धारणा हो गयी थी कि मेरठ षड्यन्त्रके मुकदमेने उन्हें ईश्वरप्रदत्त यह अवसर दिया कि वे समस्त भारतमें एक कोनेसे दूसरे कोनेतक अपने सिद्धान्तोंका प्रचार कर उन्हें लोकप्रिय बना सकें और यह काम वे अदालतमें हुई काररवाईकी रिपोर्टके सहारे वैध ढंगसे कर सकते थे। जब यह मुकदमा शुरू हुआ था, उस समय तो मेरा उससे थोड़ा-सा ही सम्बन्ध था; किन्तु बादमें जब उसकी

अपील इलाहाबादके उच्च न्यायालयमें की गयी तब अपने दो-चार कम-उम्र साथियोंके साथ मेरे ऊपर ही अपीलका सारा काम देखनेका भार डाल दिया गया और उच्च न्यायालयकी काररवाई ऐसे नाटकीय ढंगसे हुई तथा इस तरह एकाएक समाप्त हो गयी कि समस्त भारतकी जनताका ध्यान उधर आकृष्ट हो गया।

मैं थोड़ेमें उस मुकदमेकी पृष्ठभूमिका वर्णन यहाँ किये देता हूँ। सन् १९१७ में हुई रूसकी अक्तूबर क्रान्तिके बाद तथा प्रथम महायुद्धकी समाप्तिपर रूसकी नयी व्यवस्थाने सारे संसारका, जिसमें भारत भी शामिल था, ध्यान अपनी ओर खींच लिया। रूसके बोलशेविक शासकोंके प्रति ब्रिटेनका रुख कुछ वर्षतक अस्थिर-सा बना रहा। शुरू-शुरूमें ब्रिटिश लोग रूसमें गृहयुद्ध उभाड़नेका प्रयत्न करते रहे। फिर उनका रुख कुछ बदला और रूसके साथ दूत-सम्बन्ध स्थापित हो गया। यह मैत्री-भाव अधिक समयतक नहीं चला और जहाँतक मुझे स्मरण है १९२५-२६ तक पुनः दोनोंका सम्बन्ध विच्छिन्न हो गया। इन तमाम वर्षोंमें भारतका साम्यवादी दल प्रारम्भिक अवस्थामें था। कुछ लोग तो, जो प्रायः नवयुवक थे, खुल्लमखुल्ला कम्यूनिस्ट संघटनके सदस्य थे। उनसे सहानुभूति रखनेवालोंकी संख्या कहीं अधिक थी जो, आजकलकी भाषामें, एक ही पथके पथिक थे। श्री मानवेन्द्रराय, जो मास्को स्थित आधिकारिक साम्यवादी सोपान तन्त्रमें बहुत ऊँचे आसनपर स्थित बताये जाते थे, उन दिनों भारतमें ही थे और बड़े अद्‌भुत व्यक्ति समझे जाते थे। ब्रिटिश सरकारने ख्याल किया कि भारतीय साम्यवादी दलके कारनामोंकी पोल खोल देनेसे अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रमें उनके विरुद्ध प्रचार करनेमें अच्छी सहायता मिलेगी, इसीसे उसने नाटकीय ढङ्गकी काररवाई करनेका निश्चय किया। वास्तवमें उस समय कम्यूनिस्ट पार्टी भारतमें कुछ विशेष काम नहीं कर रही थी। उसकी अपनी कोई ठोस नीति नहीं थी। उसके सदस्यगण बहुत पढ़ा करते थे और जहाँ तहाँ मार्क्सवादी सिद्धान्तोंकी डींग हाँका करते थे। देशके विभिन्न भागोंमें उनकी अपनी छोटी-छोटी मण्डलियाँ होती थीं। वे एक स्थानपर इकट्ठे हो जाया करते थे और दो-चार प्रस्ताव पास कर दिया करते थे। बस प्रायः इतना ही उनका काम हुआ करता था। सारी काररवाई कागजपर लिखी जाती थी, फिर भी अपनेको रहस्यके परिधानमें छिपाये रखनेके लिए वे लोग सांकेतिक भाषामें परस्पर पत्र-व्यवहार किया करते थे। मैं समझता हूँ कि इससे शायद वे आत्म गौरवकी वृद्धिका अनुभव करते रहे हों। सीधी-सादी अंग्रेजी भाषामें लिखे गये इन पत्रोंमें दरअसल कोई महत्त्वकी बात नहीं रहती थी। वे यदि स्पष्ट और आसानीसे पढ़ी जा सकनेवाली लिपिमें लिखे गये होते तो भी कोई हर्ज न था; न उनमें किसीको क्षति पहुँचती और न उनसे किसीके किसी मामलेमें फँसनेकी सम्भावना थी। जो हो, भारत सरकारने, जहाँतक उसकी कल्पना दौड़ सकती थी, तिलका ताड़ बनानेकी भरपूर कोशिश की।

एक दिन प्रातःकाल एक बड़े भारी षड्यन्त्रका पता चलनेका समाचार देशमें विद्युद्‌गतिसे प्रसारित कर दिया गया। एक साथ ही विभिन्न केन्द्रोंमें जगह-जगह तलाशी ली गयी—उत्तर, दक्षिण, पूर्व तथा पश्चिममें। बहुसंख्यक लोग गिरफ्तार किये गये। शायद उनकी संख्या ४० के करीब थी। बहुत बड़ा साहित्य, जिसमें पुस्तकें, प्रलेख, पत्र-व्यवहार आदि बहुतसी चीजें थीं, कब्जेमें कर लिया गया जिसका वजन पचासों मन रहा होगा। बड़ी लम्बी-चौड़ी छान-बीन की गयी। इतने अधिक कागज-पत्रोंका पढ़ना-देखना बहुत ही भारी काम रहा होगा। फिर भी उसमें कहीं भी कोई गुप्त या छिपा हुआ कार्य न था। सब कुछ कागज-पत्रमें ही था और इसके सिवा अन्य कुछ भी न था। अन्तमें सरकारके कानूनी सलाहकारोंने सम्राट्‌के विरुद्ध लड़ाई जारी रखने और उसका शासन नष्ट करनेके षड्यंत्रका एक खासा बड़ा मामला तैयार कर लिया। पुलिसने ३२ आदमियोंके

विरुद्ध इस्तगाशा (अभियोग-पत्र) दाखिल किया। एक स्थान, जहाँ तलाशी ली गयी थी, मेरठ भी था और वहाँ कुछ कागज ढूँढ़ निकाले गये थे। बहुत सम्भव था कि अभियुक्तोंमेंसे कुछ लोग कई बार मेरठ गये हों और मेरठ दिल्लीके पास है, यह तो स्पष्ट ही है। जो हो, सरकारने मेरठमें एक फौजदारी मुकदमा चलानेका निर्णय किया और समस्त भारतमें 'मेरठ षड्यन्त्र' के मामलेके रूपमें इसकी प्रसिद्धि हुई।

जाब्ता फौजदारीके अनुसार, यतः अभियुक्तोंपर लगाये गये आरोपोंमेंसे एक था सम्राट्के विरुद्ध संग्राम जारी रखना, अतः मुकदमा सेशन अदालतमें चलाना आवश्यक हुआ। मुकदमेकी सुनवाई आरम्भ होनेके पूर्व मजिस्ट्रेटके लिए जाँच-पड़ताल कर लेना और तब अभियोगपत्र तैयार करना तथा जाब्तेसे दौरा अदालतमें उनका मामला विचारार्थ भेजना लाजिमी था। साधारण तौरसे जाँचकी यह कारवाई कोई लम्बी-चौड़ी चीज नहीं होती किन्तु इस विशेष मामलेमें उसका विस्तार बहुत बढ़ गया था। वह विशेष रूपसे नियुक्त मजिस्ट्रेट (दण्डाधिकारी) के सम्मुख १५ महीनोंतक चलती रही और यह दिखलानेके लिए कि मामला बहुत गम्भीर है, भारत सरकारने एक विशेष सलाहकारकी नियुक्ति की जो कलकत्तेके वकीलोंका नेता तथा सबसे अधिक अनुभवी था। इन महाशयका नाम था श्री लैंगफोर्ड जेम्स और इनकी फीस जैसा कि उस समय कहा जाता था, १७०० रुपया प्रतिदिन थी। अधिकांश साक्ष्य लिखित कागजपत्रों आदिके रूपमें था, किन्तु प्रत्येक मदका, जिसमें किये गये भाषणोंकी रिपोर्ट भी शामिल थी, जाब्तेसे प्रमाणित किया जाना आवश्यक था। संकेत-लिपिमें लिखी गयी चिट्ठियोंका मतलब साफ कराना पड़ा जिसके लिए इङ्गलैण्डके गुप्तचर विभागसे विशेषज्ञ बुलाने पड़े। यह एक भारी काम था।

पन्द्रह महीनोंके बाद मुकदमा दौरा सिपुर्द कर दिया गया और इसके लिए दौरा जज श्री यार्क आई० सी० एस०, जो बादमें इलाहाबाद हाई कोर्टके जज बने, विशेष रूप से नियुक्त किये गये। मामला दौरा अदालतमें भेजनेका आदेश जारी होनेके १५ दिन बाद मुकदमेकी सुनवाई आरम्भ हो गयी। वह दो वर्षतक चलता रहा। प्रत्येक आदमीने मानो इस बातका निश्चय कर लिया था कि वह मामलेको अधिकसे अधिक दिनोंतक बढ़ाते चलनेका प्रयत्न करेगा। अगर मैं भूल नहीं रहा हूँ तो जजको अपना फैसला तैयार करनेमें छः महीनेसे अधिक समय लगा था और तैयार हो जानेपर वह फुलस्केप आकारके सैकड़ों पृष्ठोंमें छपा था।

मामला ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता जाता था, त्यों-त्यों उसकी सारी कारवाई झूठ-मूठके स्वांग जैसी प्रतीत होने लगी। सरकारकी ओरसे बड़े-बड़े कानूनी विशेषज्ञ बराबर पैरवी कर रहे थे और कुछ प्रतिवादियोंकी ओरसे भी थे। प्रारम्भसे ही सफाईके लिए एक पैरवीकार कमेटी बना दी गयी थी जिसमें पण्डित मोतीलाल नेहरू व्यक्तिगत रूपसे दिलचस्पी लेते थे। यद्यपि मैं स्वयं कभी किसी पेशी में, प्रतिवादीके वकीलकी तरह उपस्थित नहीं हुआ, फिर भी मैं मामलेसे निकट-सम्पर्क बनाये रखता था। इस मामलेकी कारवाई न्याय-व्यवस्थाके इतिहासमें बिलकुल अभूतपूर्व थी। इसमें लगभग तीस अभियुक्त थे। उनमेंसे दोकी मृत्यु मुकदमेके दौरानमें ही हो गयी। मुकदमेकी सुनवाई एक कुशादा इमारतमें होती थी जो लम्बे-चौड़े मैदानवाले बड़ेसे अहातेमें थी। अभियुक्त प्रतिदिन यहाँ जेलसे लाये जाते थे। यहाँ वे विचाराधीन बन्दियोंके रूपमें रखे जाते थे। ज्यों ही वे अदालतके अहातेमें प्रविष्ट होते और पुलिस द्वारा संरक्षित बसोंसे नीचे उतरते, त्यों ही वे नारे लगाने लगते थे। इस ढंगसे वे अदालतके कमरेमें प्रवेश करते थे। वहाँ उनकी हाजिरी ली जाती थी और तब न्यायाधीश उन्हें इस बातकी स्वतन्त्रता दे देता था कि वे चाहें तो अदालतके कमरेमें रहें या

बाहर कहीं और बैठ जायँ। 'कहीं और' का मतलब होता था, जाकर पेड़ोंके नीचे बैठ जाना और धूपका सेवन करना या फिर उन दो या तीन कमरोंमें जाकर आराम करना या बैठना जो उन लोगोंके लिए अलगसे निर्धारित कर दिये गये थे। अभियुक्त इन सब सुविधाओंसे पूरा लाभ उठानेका प्रयत्न करते थे। वहाँ उनकी पत्नियाँ, रिश्तेदार तथा मित्रगण उनसे मिलने जाते थे। उनमेंसे कुछ पारिवारिक जीवन बिताते थे। एककी सगाई हो चुकी थी और मैं समझता हूँ कि सब न्याया-धीशकी अनुमतिसे उसका विवाह भी हो गया था। जेलके बाहर और भी सुखद घटनाएँ हुआ करती थीं। ये सभी अभियुक्त बहुत ही अनुशासित और एक दूसरेके घनिष्ठ सहकारी या साथी थे। आपसी समझौतेके अनुसार उनमें दो या तीन तो अदालतके कमरेमें, मुकदमेपर नजर रखनेके लिए, रह जाते थे और दूसरे लोग बाहर चले जाते थे तथा अपनी इच्छाके अनुसार बात-चीत आदि या किसी काममें लग जाते थे। यह व्यवस्था बड़ी अच्छी तरह चल रही थी।

सबूत पक्षका साक्ष्य यथार्थमें कुछ भी महत्त्वका न था किन्तु उसका दिया जाना आवश्यक था और मेरा खयाल है कि और नहीं तो स्वांगका बाह्य रूप बनाये रखनेके लिए ही लगातार कई दिनोंतक गवाहीका प्रतिपरीक्षण (जिरह) किया जाता रहा। सांकेतिक लिपिके विशेषज्ञोंने जो गवाही दी थी, मुझे भलीभाँति उसका स्मरण है। संकेत लिपिमें लिखित सामग्रीके पढ़ लिये जाने से स्पष्ट हो गया कि कागजों, किताबों आदिमें जो कुछ लिखा था वह बिलकुल अहानिकर था, पर उधर मानो किसीका ध्यान ही न था, इसीलिए प्रतिपरीक्षणका रूप जटिल और उबिया देनेवाला हो गया। संकेत लिपि बड़ी मनोरंजक थी। कितने ही प्रलेखोंमें अंकोंका प्रयोग किया गया था। कुछ-कुछ इस तरहसे—८-९, २-५, ३-७, १-८। यही सिलसिला कई पृष्ठोंतक चला जाता, केवल दो अंक एक साथ रख दिये जाते जिनके बीचमें एक छोटा-सा डैश (समरेखा चिह्न) रहता, बस और कुछ नहीं। कुछ प्रलेखोंमें दो एक रहस्यमयी पंक्तियाँ लिखी रहतीं जिनका कोई अर्थ ही नहीं निकलता। उदाहरणके लिए यह पंक्ति लीजिये—'ओ मुक्सी जॉन।' इसी तरहकी कितनी ही पंक्तियाँ मिलतीं जिन्हें हम निरर्थक शब्दोंका मनमाना समूह ही कह सकते हैं। किन्तु प्रथम महा-युद्धके समय संकेत लिपि पढ़नेकी कलाका विकास हो चुका था, इसलिए उनका अर्थ निकाल लिया गया। जहाँतक अनोखी पंक्तियोंका प्रश्न है, किसी महाशयके मस्तिष्कमें यह लहर उठी होगी कि किसी भी लिखावटको रहस्यमय बनानेका एक उपाय यह है कि जो स्वर या व्यंजन लिखना हो, उसे न रख कर उसके बजाय उसके बादका स्वर या व्यंजन प्रयुक्त किया जाय। इसलिए 'ओ मुक्सी जॉन' इस अजीब-सी पंक्तिका साफ अर्थ होगा—'मैं तुम्हें प्यार करता हूँ।'[१] कितना सरल हो जाता है यह, इस तरह देखनेपर! अंकोंके सम्बन्धमें भी किसीके मस्तिष्कमें ऐसी ही तरंग उठी होगी या पहलेके अनुभवसे इसका ज्ञान हुआ होगा या किसीने चुपकेसे रहस्यका उद्घाटन कर दिया होगा। किसीको यह देख कर ताज्जुब सा हुआ कि दूर-दूरके विभिन्न स्थानोंपर तलाशी लेनेपर एक पुस्तक सभी जगह मौजूद मिली। वह थी पालग्रेवकी गोल्डेन ट्रेजरी सीरीज। इस पुस्तकमें मिल्टनकी एक प्रसिद्ध कविता 'लेलेग्रो' छपी थी। अब चालाकी सिर्फ इतनी की गयी थी कि वांछित शब्द इसी

---

१. अंग्रेजी वर्णमालामें 'आई' स्वरके बाद पड़नेवाला स्वर 'ओ' है, इसलिए 'आई'के बजाय 'ओ' लिखा गया। फिर एलके बाद एम आता है, ओके बाद यू नामक स्वर आता है, व्हीके बाद एक्सका स्थान है और ई स्वरके बाद आई स्वर पड़ता है—इस प्रकार पूरे शब्द 'लव्ह'के बजाय 'मुक्सी' रखा गया और पूरा वाक्य 'आई लव्ह हिम'के स्थानपर 'ओ मुक्सी जॉन' हो गया।

कविताकी विभिन्न पंक्तियोंसे ले लिये गये थे और उनके स्थानपर कविताकी उस पंक्तिकी तथा उसमें आनेवाले शब्दके स्थानकी संख्या रख दी गयी थी। आपने कागजपर लिखा, 'आई लव्ह हिम' और फिर उस कविताको देखने लगे। उसकी पाँचवीं लकीरके दूसरे स्थानपर आपको 'आई' शब्द मिला, इसलिए 'आई'का संकेत हो गया ५-२। इसी तरह 'लव्ह' शब्द आपको आठवीं पंक्तिके तीसरे स्थानमें मिला, अतः वह हो गया ८-३। 'हिम' आपको देख पड़ा सातवीं लकीरके तीसरे स्थानमें जो संकेतमें बन गया ७-३। इस तरह रहस्यका पूरा पूरा उद्घाटन हो जाता है और प्रत्येक चीज जैसा कि मैं कह चुका हूँ, बिलकुल आसान हो जाती है।

मैं ऊपर कह आया हूँ कि यह मुकदमा यथार्थमें और मुख्य रूपसे दोनों पक्षों द्वारा किये जानेवाले प्रचारके भारी प्रयत्नका द्योतक था। सरकारके सलाहकारोंने कागजपर एक भयानक षड्यंत्रका महल खड़ा कर दिया। दूसरी तरफ कम्यूनिस्ट पार्टीने इसे साम्यवादके उत्कृष्ट सिद्धान्तोंके विज्ञापनका सबसे बड़ा अवसर समझा। दण्डविधि संहिताके अनुसार अभियुक्तको यह सुविधा प्राप्त है कि वह चाहे तो जबानी अपना बयान दे और चाहे तो लिखित वक्तव्य उपस्थित करे। यदि मुझे ठीकसे स्मरण है तो मैं कहूँगा कि अधिकतर अभियुक्तोंने लम्बे-लम्बे वक्तव्य तैयार किये और उन्हें अदालतके सामने पढ़ कर सुनाया। जो कुछ उन्होंने पढ़ा, वह बड़ी मेहनतके साथ शीघ्र लिपिमें लिख लिया गया और ये पढ़े-लिखे गये वक्तव्य सचमुच ही सैकड़ों पृष्ठोंमें आ सके। उदाहरणके लिए चार अभियुक्तोंने जो वक्तव्य तैयार किया था वह मैं समझता हूँ कि करीब २९८ पृष्ठोंका था। इसे पढ़ चुकनेके बाद उन्होंने अदालतसे निवेदन किया कि यह चारों अभियुक्तोंकी ओरसे उन वक्तव्योंकी संयुक्त भूमिका माना जाय जो वे लोग पृथक् पृथक् देने जा रहे हैं। और तब उन्होंने अलग-अलग अपने वक्तव्य पेश किये जो खुद भी सैकड़ों पृष्ठोंमें समाप्त हुए। इस तरह यह कहानी कभी न समाप्त होनेवाली कलकल निनादिनी धाराकी तरह आगे बढ़ती गयी।

मुकदमेका अन्त आखिरकार ढाई वर्षके बाद उस बहु-पृष्ठ-व्यापी फैसलेसे हुआ जो दौरा जजने दिया, जिसके अनुसार प्रायः प्रत्येक अभियुक्त अपराधी ठहराया गया और उनमेंसे बहुतोंको आजन्म कारावासका दण्ड मिला। उसकी अपील, मेरा ख्याल है कि, मार्च या अप्रैल १९३३ में हाईकोर्टमें की गयी। सफाईकी कमेटी उस समय भी कायम थी और उसके अध्यक्ष थे पण्डित जवाहरलाल नेहरू। जिन अभिशस्त (कनविक्टेड) अभियुक्तोंकी ओरसे पुनर्न्यायप्रार्थना की गयी थी, उनमें पैरवी और बहस करनेका काम कई वकीलोंके सिपुर्द किया गया था, जिनका प्रमुख मैं चुना गया था। तय यह हुआ कि अपीलकी शुरूआत मैं ही करूँ और मोटे तौरसे समस्त मुकदमेकी बहस भी मैं ही करूँ और तब पृथक्-पृथक् अभियुक्तोंका मामला हम लोग आपसमें बाँट लें। जमानतपर छोड़नेकी दरख्वास्त दी गयी और दो विद्वान् न्यायाधीशोंने, जिनमेंसे एक थे मुख्य न्यायाधिपति श्री सुलेमान और दूसरे थे जस्टिस डगलस यंग, जिन्हें ही अपीलकी सुनवाईका काम सौंपा गया था, उनमेंसे कुछको जमानतपर छोड़नेकी अनुमति दे दी। किन्तु लगभग १८ या २० गुरुतर अभियुक्तोंको वह सौभाग्य प्राप्त न हो सका। जब मैंने यह आग्रह किया कि उनमेंसे कमसे कम एक अभियुक्त तो जमानतपर छोड़ दिया जाय जो वकीलोंको आवश्यक बातें बता सके और मुझे, जैसा कि मैंने निवेदन किया, साम्यवादके रहस्योंकी जानकारी करा सके तो मुख्य न्यायाधिपति श्री सुलेमानने यह बात मंजूर कर ली कि इस कामके लिए मैं जिसे चुन लूँ, उसे छोड़ देनेकी अनुज्ञा दे दी जाय। मैं उस जेलमें गया जहाँ ये बन्दी रखे गये थे और मैंने उनसे एक आदमीका नाम माँगा तो उन लोगोंने सर्वसम्मतिसे यह बात कही कि हम डॉक्टर अधिकारीको चुनते हैं जो इस मामलेमें हमारा-प्रतिनिधित्व

करेंगे। इसलिए डॉक्टर अधिकारी मुक्त कर दिये गये और मुझे अच्छी तरह स्मरण है कि मेरे और उनके बीच लगातार कई सप्ताहोंतक कैसी आनन्दप्रद, साथ ही लाभजनक और मनोरञ्जक बातें हुआ करती थीं। उनकी एक बात मेरी याददाश्तमें अभीतक धँसी हुई है। एक दिन तीसरे पहर मैंने उनसे यह बात कही कि मैंने कम्यूनिज्मके विषयमें जो कुछ पढ़ा है उससे मुझे ऐसा लगता है कि कम्यूनिस्टों तथा धर्मान्ध व्यक्तियोंकी मूढ़ग्राहितामें ज्यादा अन्तर नहीं है। इतना ही नहीं, मेरा तो ख्याल है कि दोनोंमें कम्यूनिस्ट ही कदाचित् अधिक मूढ़ग्राही होते हैं। डॉक्टर अधिकारी कुछ देरतक सोचते रहे, फिर बोले—'आप ठीक कहते हैं।' 'डाक्टर साहब', उन्होंने कहा, 'अन्तर केवल इतना ही है कि हमने बुद्धि एवं तर्कके सहारे ही अपनी निष्पत्तियाँ निकाली हैं और वे अर्थात् धर्मान्ध व्यक्ति निष्ठा एवं विश्वासके सहारे अपने परिणामोंपर पहुँचे हैं। निष्पत्तियोंतक पहुँचनेके तरीके हमारे अलग-अलग हैं किन्तु जहाँतक विश्वासों और धारणाओंपर जमे रहनेका प्रश्न है, दोनों ही समान रूपसे बुरे हैं या समान रूपसे अच्छे।'

इलाहाबादका सर्वोच्च न्यायालय ग्रीष्मावकाशके लिए प्रति वर्ष शुरू मईमें बन्द हो जाता है। सन् १९३३ ई० में इस अवकाशके निमित्त बन्द होनेके पहले मुख्य न्यायाधिपतिने सूचित किया कि अपीलकी सुनवाई न्यायालय पुनः खुलनेके एक हप्ते बाद शुरू होगी। उस वर्ष मैंने इंगलैण्ड जानेका निश्चय किया था, अंशतः तो कुछ आवश्यक कार्यवश और अंशतः छुट्टी मनाने, घूमने-फिरनेके विचारसे भी, और यात्रामें मैं कुछ आवश्यक कागजपत्र अपने साथ लेता गया। यहाँ मैं यह बात बतला देना चाहता हूँ कि दौरा अदालतमें जैसे-जैसे मुकदमेकी काररवाई प्रतिदिन होती चलती थी, वैसे-वैसे प्रत्येक कागज भी छपकर तैयार होता चलता था। इन छपे हुए कागजोंकी मोटी-मोटी बारह जिल्दें तैयार हो गयीं जिनमें हजारों पृष्ठ थे।

जिन अभियुक्तोंकी ओरसे अपील की गयी थी, उनमें तीन अंग्रेज थे—ब्रेडले, स्प्राट तथा हचिंसन। इंजीनियरिंग ट्रेड यूनियनकी बड़ी संस्थासे ब्रेडलेका सम्बन्ध था और हचिंसन एक पत्रकार था जो मामलेमें कदाचित् इसलिए घसीट लिया गया था कि वह साम्यवादके सम्बन्धमें कभी-कभी कुछ लिखा करता था (उसने बादमें इस मुकदमेके सम्बन्धमें एक मनोरंजक पुस्तक लिखी)। स्प्राट एक निष्ठावान् और उत्साही कम्यूनिस्ट था, जिसका इस ऊँचे दरजेके आधुनिक मतवादपर दृढ़ विश्वास था। मुकदमेमें इन तीन अंग्रेजोंके भी शामिल रहनेके कारण इङ्गलैण्डके श्रमिक-क्षेत्रोंमें इस सम्बन्धमें काफी दिलचस्पी उत्पन्न हो गयी थी। जब मैं जूनमें वहाँ पहुँचा तो बहुतसे लोग, जो प्रायः उनके सम्बन्धी थे, मुझसे आकर मिले। और भी बहुतसे लोग थे जिनमें अच्छी योग्यता थी। उन्होंने मुझे यह समझानेका प्रयत्न किया कि यह मुकदमा अदालतमें किस तरह उपस्थित किया जाना चाहिये। उन लोगोंमें वह अद्भुत व्यक्ति, जैम्स मैक्सटन, संसदका सदस्य भी था जो उस समय इङ्गलैण्डका सबसे बड़ा जीवित वक्ता माना जाता था। मैंने बहुतसे विधिज्ञोंसे भेंट की और ब्रिटिश कम्यूनिस्ट पार्टीके बहुतसे सदस्योंसे भी विचार-विमर्श किया। यह बहुत ही स्फूर्तिदायक अनुभव मुझे हुआ। अपने वाद-संक्षेप (मुकदमे सम्बन्धी आवश्यक बातों) के सम्यक् अध्ययनसे और इन लोगोंके साथ हुई बहस तथा सलाह-मशविराके कारण मैं थोड़ी-सी आत्मप्रशंसाकी छूट लेते हुए कह सकता हूँ कि मैं साम्यवादका एक सुयोग्य पण्डित बन गया हूँ।

अपीलकी सुनवाई, जैसा कि मेरा ख्याल है, २७ जुलाई सन् १९३३ के करीब शुरू हुई। सरकारकी ओरसे श्री कैम्प मुकदमेका निर्देशन कर रहे थे। उनके साथ दो-एक अन्य वकील भी थे। इन श्री कैम्पके सम्बन्धमें एक मजेदार कहानी इलाहाबादमें प्रचलित थी। भारत सरकार इस

बातसे काफी परेशान थी कि इस मामलेमें अभीतक ही उसका बहुत अधिक खर्चा बैठ चुका था—३० लाख रुपयेसे भी अधिक—और इसीलिए उसने पहले एक मुश्त रकम देकर, जो काफी बड़ी थी, श्री कैम्पसे सौदा पटा लेना चाहा किन्तु उन्होंने इसे लेनेसे इनकार कर दिया। उनका कहना था कि मामला कितने दिनोंतक चलता रहेगा, इसका कोई ठिकाना नहीं। सुना है कि उन्होंने यह भी कहा कि मैं यह सोच भी नहीं सकता कि डाक्टर काटजूको इसमें दो महीनेसे कम वक्त लगेगा और तब अलग-अलग अभियुक्तोंके सम्बन्धमें भी पृथक्से बहस की जायगी। इसके सिवा मुझे भी अधिक नहीं तो, कमसे कम एक महीना तो लग ही जायगा। वे बम्बईसे एक मोटरकार ले आये और उन्होंने इलाहाबाद क्लबके कमरे तीन महीनोंके लिए किरायेपर ले लिये। सचमुच ही मामलेकी सुनवाई बड़ी धूम-धामसे शुरू हुई। पहले दिनका मुझे बहुत अच्छी तरह स्मरण है। संख्यामें अधिक होनेके कारण अभियुक्त न्यायालयमें नहीं लाये गये थे किन्तु वे लोग मामलेपर विचार होते समय उपस्थित रहनेको उत्सुक थे। मैंने विद्वान न्यायाधीशोंको यह बात संवेदित कर दी। थोड़ी सी बातचीत होनेके बाद यह तय पाया कि वे प्रतिदिन छः या सातकी संख्यामें चले आया करें। दूसरे दिन जब उनकी पहली टुकड़ी अदालतमें उपस्थित हुई तो न्यायाधिपति श्री यंगने मुझसे उनका परिचय देनेको कहा और मैंने तत्परतासे उनकी बात मान ली। इसके बादवाले दिन श्री स्प्राट उपस्थित हुए और अपनी दयापूर्ण एवं आध्यात्मिक मुखाकृति तथा झुके हुए सिरके साथ वहाँ बैठ गये। उनके रोयें-रोयेंसे एक प्रतिष्ठित पादरी जैसा भाव टपकता था।

मैंने देखा कि न्यायाधीशगण भी मुकदमे सम्बन्धी तथ्योंसे अवगत हो चुके थे, इसलिए औपचारिक रूपसे मामलेका प्रारम्भ करनेकी आवश्यकता मुझे महसूस नहीं हुई। वास्तवमें कोई आध घण्टेके भीतर ही नाटकीय ढंगसे बहस आरम्भ हो गयी जब मैंने निवेदन किया कि सम्राट्के विरुद्ध संग्राम करनेके लिए षड्यंत्र रचनेका कोई सवाल ही नहीं उठता। जब ऐसी साजिशकी बात की जाती है तब यह पहले ही मान लिया जाता है कि युद्ध चलानेकी साजिश उस समय सिंहासनपर विद्यमान सम्राट्के विरुद्ध ही की गयी होगी। इसके विपरीत यदि थोड़ेसे आदमी ३० या ४० वर्ष बाद आनेवाले उसके उत्तराधिकारीके खिलाफ युद्ध चलानेका षड्यन्त्र रचते हैं तो संविधि (स्टेट्यूट) के अनुसार यह कार्य अपराधकी कोटिमें नहीं माना जा सकता। मेरे इस कथनसे न्यायाधीशगण स्तब्ध रह गये। मेरा तर्क काफी युक्तिपूर्ण-सा प्रतीत होता था और वस्तुतः वह अप्रत्याख्येय (अकाट्य) था। मैंने कुछ हदतक उसे और आगे बढ़ाया किन्तु दुर्भाग्यसे एक या दो भाषणोंमें और सम्भवतः कम्यूनिस्ट पार्टीके एक निश्चयमें ब्रिटिश राज्यको तत्काल ही समाप्त कर देनेके समझौतेका भी संकेत किया गया था। और जैसा कि प्रत्येक क़ानूनदाँ जानता है, कोई अपराध करनेका समझौता कर लेना मात्र ही षड्यन्त्रकी अर्थ-सीमाके भीतर आ जाता है, उसे कार्यान्वित करनेके लिए प्रकट रूपसे कोई कार्य किया गया या नहीं, यह साबित करनेकी आवश्यकता नहीं रहती। इसलिए उक्त तर्क अन्ततोगत्वा टिक न सका। फिर भी उसने अपना काम कर दिखाया अर्थात् दौरा जजने अपने फैसलेमें गैसका जो बड़ा-सा थैला बना डाला था, उसके भीतरकी हवा मानो उसने निकाल दी। उनमेंसे एक भाषण जिसका मुझे स्मरण है, स्प्राटका था। वह एक तरहसे खून जमा देनेवाला भाषण था और जब मैं उसे पढ़ रहा था तब मैंने जस्टिस यंगको कुछ विचित्र ढंगका व्यवहार करते देखा। वे कुछ मिनटोंतक भाषण पढ़ते और फिर स्प्राटकी ओर देखने लगते, फिर भाषण पढ़ते और पुनः स्प्राटपर नजर डालते। यह सिलसिला १५-२० मिनटतक जारी रहा। तब वे अपने आपको रोक न सके और उन्होंने गंभीरतापूर्वक मुझसे कहा—'डाक्टर काटजू, क्या सचमुच

इनके शब्दोंमें जो भाव है, वही इनके दिलमें भी है ? उनके चेहरेकी ओर देखनेसे तो ऐसा नहीं जान पड़ता।' मैंने जवाब दिया—'महोदय, श्री स्प्राटको उनके सहयोगी बहुत ही धर्मात्मा एवं उच्च नैतिक सिद्धान्तोंका अनुयायी ईश्वर-भक्त सज्जन समझते हैं।' जस्टिस यंगको स्पष्ट ही इस बात पर बड़ा आश्चर्य होता था कि स्प्राट जैसे सुख्यात व्यक्तिके बाह्य रूप तथा आन्तरिक विश्वासोंमें कितना अन्तर है।

मैं समझता हूँ कि कुल मिलाकर कागजों तथा किताबके सौवें हिस्सेतककी ओर भी कोई निर्देश नहीं किया गया और न किसीने दौरा जजके फैसलेका ही अधिक उल्लेख किया। संकेत-लिपिमें लिखे गये सैकड़ों पृष्ठोंकी चर्चा बातकी बातमें खत्म हो गयी जब मैंने न्यायाधीशोंसे अनुरोध किया कि वे स्वयं इन कागज-पत्रोंको पढ़कर जरा देख लें। जैसा कि मैंने कहा था, इस बातका कोई महत्त्व नहीं है कि ये पत्र तथा अन्य कागज सीधी-सादी अंग्रेजी भाषामें लिखे गये या बहुत ही अचम्भेमें डालनेवाली सांकेतिक भाषामें। प्रश्न यह था कि उनमें लिखा क्या था और जैसा कि मैंने उन्हें बतलाया लिखित सामग्रीका रूप थोड़ेमें मात्र यही था—'तुम आते हो, मैं जाता हूँ।' यह दलील अप्रतिरोध्य थी, अतः इसने मुकदमेकी इस माँगका अन्त कर दिया। मैंने अपनी बात बहुत थोड़ेमें ही कही, मेरे सहयोगियोंने भी यही किया और इस प्रकार अपील करने-वालोंके पक्षमें की गयी कुल बहस पाँच दिनोंके भीतर ही समाप्त हो गयी और पाँचवें दिन याने शुक्रवारको (सरकारी वकील) श्री कैम्पसे इसका जवाब देनेको कहा गया। सभीने देखा कि इससे उन्हें इतना अधिक आश्चर्य हुआ कि वे उसे छिपा न सके। स्वप्नमें भी उन्होंने मामलेके इतनी शीघ्रतासे समाप्त हो जानेकी बात नहीं सोची थी और वास्तवमें कुछ अधिक कहनेके लिए रह भी नहीं गया था। सारी चीज, ठीकसे विश्लेषण करनेके बाद, बिलकुल आसान और स्पष्ट हो जाती थी। उन्होंने अपना मामला सोमवार या मंगलवारको खत्म कर दिया। और कोई जवाब देनेकी आवश्यकता न थी। विद्वान् न्यायाधीशोंने घोषित कर दिया कि वे अपना निर्णय दूसरे दिन सुनायेंगे। इस 'दूसरे दिन' श्री कैम्प अदालतमें उपस्थित न थे। मुझे मालूम हुआ था कि उनसे अदालतमें हाजिर रहनेको कहा गया था किन्तु उन्होंने क्रुद्ध होकर कहा था कि मैं न इलाहाबाद उच्च न्यायालयको समझ सका और न उसके न्यायाधीशों या वकीलोंके रंग-ढंग को, इसलिए फैसला सुननेके लिए अदालतमें उपस्थित रहना बेमतलब होगा। इस प्रकार उन्हें केवल ८ या ९ दिनोंकी ही फीस मिली और तब वे चले गये।

मुख्य न्यायाधिपति श्री सुलेमान एक महान् न्यायाधीश थे और उनमें यह आश्चर्यजनक क्षमता थी कि खुली अदालतमें लगातार कई घण्टोंतक जबानी फैसला सुनाया करते थे। इस मुकदमेका फैसला सुनानेमें उन्हें पूरा एक दिन लगा। इसका विशुद्ध परिणाम यह हुआ कि कितने ही अभियुक्त छोड़ दिये गये और बहुतोंकी सजा घटाकर उतनी कर दी गयी जितनी वे उस समयतक भोग चुके थे। मैं समझता हूँ कि फैसला सुनाये जानेके १५ दिनोंके भीतर ही प्रत्येक अभियुक्त जेलसे बाहर निकल आया, केवल एक या अधिकसे अधिक दो को छोड़कर जिन्हें लगभग छः महीने जेलमें और रहना पड़ा।

इतने बड़े पैमानेपर चलाये गये इस प्रसिद्ध मुकदमेकी अपीलके इस तरह शीघ्रतासे समाप्त हो जानेका भारी प्रभाव सारे देशपर पड़ा। सुना जाता है कि विद्वान् दौरा जज श्री यॉर्कने इसपर कहा था कि साराका सारा मामला एकदम अविश्वसनीय-सा प्रतीत होता है। अन्तमें प्रत्येक व्यक्तिको प्रसन्नता हुई और यही हालत मेरी भी हुई। मेरठ षड्यन्त्रके मुकदमेने वकीलकी हैसियतसे मेरे जीवनमें

आश्चर्यजनक तबदीली कर दी। उसने मुझे दीवानी मुकदमोंके वकीलसे बदलकर फौजदारी मुकदमोंका वकील भी प्रमाणित कर दिया। इसके सिवा उसने मुझे यह बहुमूल्य शिक्षा भी प्रदान की कि लघूक्ति (थोड़ेमें कहना) बुद्धिमानीकी आत्मा ही नहीं है वरन् वह अदालतमें अधिवचन (पक्ष समर्थन) का भी सार है। और मैं हमेशा कहा करता हूँ कि इस वादने मुझे साम्यवादी बना दिया, यद्यपि मेरा यह दावा मेरे भारतीय साम्यवादी मित्र, नये तथा पुराने, स्वीकार नहीं करते। दरअसल वे तो यहाँतक कहते हैं कि 'हमें काटजू साहब नापसन्द हैं।' निश्चय ही यह उनका कोरा बहाना होगा।

२. मेरी महत्त्वाकांक्षा

मेरा ख्याल है कि पचास वर्ष पहले मध्यवर्गीय परिवारोंमें बहुत कम माता-पिता इस बातका विचार करते थे कि बच्चोंकी जीविकाके लिए पहलेसे ही कोई सुनियोजित योजना बना लेना चाहिये। उस समय भारतीय युवकोंके लिए जीविकाके इने-गिने साधन उपलब्ध थे जो प्रायः सरकारी नौकरियों या कुछ उच्च पेशोंतक ही सीमित थे, जैसे वकालत, डाक्टरी या इंजीनियरिंग। किन्तु अंग्रेजीकी शिक्षा आवश्यक समझी जाती थी और फिर मैं समझता हूँ कि प्रत्येक वस्तु भगवानके भरोसे छोड़ दी जाती थी।

मुझे तो इससे भी बड़ी तथा असाधारण कठिनाइयोंका सामना करना पड़ा। हम लोग (तथाकथित) ब्रिटिश भारतमें नहीं रहते थे वरन् बहुत दूर मालवाके भीतरी हिस्सेमें, मध्य भारतमें रहते थे जो मुख्य रूपसे छोटे-छोटे देशी राज्योंकी भूमि थी। मेरा घर जाओरामें था जो उसी नामकी रियासतकी राजधानी था। यह बहुत पिछड़ा हुआ, छोटा स्थान था जिसे आधुनिक सभ्यताकी हवा नहीं लगी थी। अपने परिवारमें मैं ही सबसे पहला व्यक्ति था जिसने अंग्रेजी स्कूलमें प्रवेश किया था। मेरे पिताने जो एक मन्त्रीके निजी सहायक थे, किसी स्कूलमें रहकर विद्याभ्यास नहीं किया था, यद्यपि घरमें ही उन्होंने खुद अपने परिश्रमसे अंग्रेजीका थोड़ा सा प्रारम्भिक ज्ञान प्राप्त कर लिया था। इस प्रकार सौभाग्यसे मेरे मार्गमें पहलेसे बँधे हुए विचारोंके कारण अथवा परिवारकी शैक्षणिक परम्पराओंके कारण कोई बाधा नहीं पड़ी।

मार्च १९०० तक मैं जाओराके स्कूलोंमें पढ़ता रहा और फिर कई महीनोंतक काफी बीमार पड़ा रहा। अक्टूबर १९०० में पिताजी ने मेरी यह प्रार्थना स्वीकार कर ली कि वे मुझे लाहौरमें मामाके यहाँ भेज दें जिससे मैं मार्च १९०१ में होनेवाली पंजाब विश्वविद्यालयकी आगामी परीक्षामें बैठ सकूँ। मैं केवल छः महीनोंके लिए ही यहाँ आया था पर ४॥ वर्षतक यहीं बना रह गया और मार्च १९०५ में लाहौरके फौरमन क्रिश्चियन कालेजसे मैंने बी० ए० पास कर लिया। उस समयतक मेरे मनमें वकील बननेकी नाममात्रकी भी इच्छा जाग्रत नहीं हुई थी। सच पूछिए तो, यदि मेरी इच्छा चलने पाती, मैं डाक्टरी पास कर चिकित्सक बना होता। उन दिनों जो नवयुवक इण्टर-मीडियेटकी परीक्षा पास कर चुके होते, उन्हें लाहौर मेडिकल कालेजमें प्रवेश मिल जाता था, अतः मैंने जुलाई १९०३ में अपने कुछ सहपाठियोंके साथ मेडिकल कालेजमें नाम लिखानेका निश्चय किया[1]। किन्तु पिताजी इसके लिए तैयार नहीं हुए। उन्होंने जाओरामें परिवारके एक मित्रसे सलाह ली, जिनके ऊपर उनका पूरा विश्वास था। उन्होंने राय दी कि मेरे लिए आर्ट्स कालेजमें दो वर्ष और व्यतीत करना अंग्रेजीकी अधिक अच्छी योग्यता प्राप्त करनेके लिए उपयोगी होगा। इन मित्र

१. उक्त निर्णय करनेमें मैं डाक्टरी पेशेकी उस प्रशंसासे प्रभावित हुआ था जो हैमरटनकी "दि इण्टेलेक्चुअल लाइफ" नामक पुस्तकमें की गई थी।

महोदयकी रायमें अंग्रेजी भाषाका सम्यक् ज्ञान होना भारतीय डाक्टरके लिए वांछनीय था। इसलिए पिताजीने मुझे आदेश दिया कि पहले बी० ए०की डिग्री प्राप्त कर लो। तदनुसार १९०५में मैंने बी० ए० पास कर लिया। उस समयतक मेरे मनसे डाक्टरी पेशेका आकर्षण विलुप्तप्राय-सा हो गया था और उसके स्थानमें एक दबी हुई सी, अव्यक्त आकांक्षा वकालत पास करनेकी उत्पन्न हो गयी। इसका आविर्भाव एक विचित्र-सी घटनाके कारण हुआ। सन् १९०२–४में (ठीक वर्षका मुझे स्मरण नहीं है) एक दिन सबेरे हमारे कालेजमें 'यूनिवर्सिटीज रायल कमीशन'के सदस्योंका आगमन हुआ। कमीशनके एक सदस्य थे सर गुरुदास बनर्जी, सुख्यात विधिज्ञ जो उस समय कलकत्ता उच्च न्यायालयके एक न्यायाधीश थे। समाचारपत्रोंने वह एकस्वपत्र (लेटर्स पेटेण्ट) छापा था जिसके अनुसार आयोग (कमीशन) की नियुक्ति हुई थी और उसमें सर गुरुदास बनर्जीका वर्णन इन शब्दोंमें किया गया था—'हमारे विश्वसनीय और स्नेहभाजन श्री गुरुदास बनर्जी, मास्टर आफ आर्ट्स, डाक्टर आफ लाज।' शिक्षा सम्बन्धी इन ऊँची उपाधियोंकी ध्वनिसे मैं मंत्रमुग्ध सा हो गया और मैंने मनमें संकल्प कर लिया कि मैं भी एक दिन 'मास्टर आफ आर्ट्स, डाक्टर आफ लाज बनूँगा।' (मैं उस समय मात्र १४–१५ वर्षका लड़का था) और वह महत्वाकांक्षा अप्रकट रूपसे मुझे प्रेरित करती रही जबतक कि मेरी इच्छा पूरी नहीं हो गयी। मैंने यह बात यहाँ यह दिखलानेके लिए लिख दी है कि कभी-कभी प्रकट रूपसे बहुत छोटी-छोटी बातोंका भी कैसा प्रभाव पड़ता है।

इसलिए जब पिताजीने यह विचार प्रकट किया कि मैं कानूनकी शिक्षा प्राप्त करनेके लिए इलाहाबाद चला जाऊँ, तो मैं तुरन्त उनकी इच्छासे सहमत हो गया और मैंने उनकी बात मान ली। इलाहाबादके लिए हमारा परिवार बिलकुल अजनबी था। वहाँ हमारे कोई रिश्तेदार नहीं थे और न अन्य किसी तरहका सम्बन्ध था। किन्तु पिताजीने कश्मीरी पंडित-समाजके एक साथी सदस्यकी हैसियतसे डाक्टर तेजबहादुर सप्रूको आवश्यक परामर्श देनेके लिए पत्र लिखा था। उन्होंने जवाबमें लिखा था कि इलाहाबाद बहुत ही उपयुक्त स्थान है, क्योंकि यहाँ उच्च न्यायालय है और विश्वविद्यालय भी। उन्होंने कृपाकर यह भी स्वीकार किया कि यदि मैं यहाँ आऊँ तो वे मेरी देख-रेख करनेको तैयार हैं। यही वे परिस्थितियाँ हैं जिनके कारण मैं जुलाई १९०५में म्यूर सेण्ट्रल कालेज इलाहाबादमें भरती हो गया। कुछ समयतक डाक्टर सप्रूके साथ रहनेके बाद हिन्दू होस्टल में चला आया और लगभग दो वर्षोंतक वहाँ रहा।[1]

कानूनी शिक्षाकी वह प्रणाली, जो उस समय संयुक्त प्रदेशमें प्रचलित थी, प्रत्येक दृष्टिसे ऐसी थी जो किसी भी हालतमें सन्तोषजनक नहीं कही जा सकती थी। इलाहाबाद विश्वविद्यालय—उस समय सारे प्रदेशमें यही विश्वविद्यालय था—शिक्षा प्रदान करनेवाली संस्थाके रूपमें न था। वह केवल परीक्षा लेनेवाली संस्थाका काम करता था और विभिन्न परीक्षाओं तथा उपाधियोंके लिए पाठ्यक्रम तथा मानक (स्टैण्डर्ड) निर्धारित किया करता था। कानूनकी पढ़ाई प्रदेशके कतिपय मुख्य महाविद्यालयोंमें चलनेवाली विधि-कक्षाओं (ला-क्लासेज) में हुआ करती थी, जैसे म्यूर सेण्ट्रल कालेज इलाहाबादमें, कैनिंग कालेज लखनऊमें तथा आगरा कालेज आगरामें। ये विधि-

१. छात्रावासकी उस सुन्दर और भव्य इमारतका सामनेवाला हिस्सा, जो मैकडानेल हिन्दू बोर्डिंगके नामसे प्रसिद्ध था, जिसके लिए इलाहाबाद, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालयके संस्थापक पण्डित मदनमोहन मालवीयके प्रति चिरकृतज्ञ रहेगा। इसका निर्माण १९०४-६ में हुआ था और मैं विद्यार्थियोंकी उस पहली मण्डलीमेंसे एक था जो उस नये भवनमें निवसित हुई थी।

कक्षाएँ कालेजके अधिकारियों द्वारा आयके अतिरिक्त साधनके रूपमें देखी जाती थीं जिससे उनके सामान्य प्रशासनमें सहायता मिलती थी। वकील समुदायके वकालत करनेवाले सदस्योंमें-से ही कुछको लेक्चररका पद दे दिया जाता था और उन्हें मामूली वेतन देकर काम चला लिया जाता था। इलाहाबादमें इस कामके लिए ४०० रुपये मासिकपर एक प्राध्यापक (प्रोफेसर) तथा डेढ़-डेढ़ सौ रुपये माहवारके दो लेक्चरर थे। ये तीनों आंशिक रूपसे काम करनेवाले कर्मचारी समझे जाते थे और इन्हें सप्ताहमें तीन बार आकर कक्षा-प्रकोष्ठमें व्याख्यान देना पड़ता था। प्राध्यापक सालभर बराबर सबेरे ही क्लास लिया करते थे और दोनों लेक्चरर नित्य सन्ध्याके समय। ऐसा करना अनिवार्य था, क्योंकि दिनमें उन्हें न्यायालयोंमें खुद अपना काम भी करना पड़ता था। इलाहाबादमें छुट्टियाँ लम्बी हुआ करती थीं। गर्मियोंमें होनेवाली मामूली छुट्टियोंके सिवा, जो ढाई महीनोंकी होती थी, अगस्तसे अक्तूबरतक १० सप्ताह कोई व्याख्यान नहीं होते थे जब कि हाईकोर्ट लम्बी छुट्टियोंके लिए बन्द हो जाया करता था। इसलिए कानून पढ़नेवाले विद्यार्थियोंकी मौज आ बनती थी। अलगसे कोई अतिरिक्त पढ़ाई नहीं होती थी और न कोई सात्रिक या अपनी निजी परीक्षाएँ ही होती थीं। मान्यताप्राप्त किसी महाविद्यालयमें निर्धारित संख्यातक व्याख्यान सुन लेनेके बाद कोई भी विद्यार्थी सीधे एल-एल० बी० की परीक्षामें बैठ सकता था। लेक्चरके समय क्लासमें सचमुच उपस्थित रहना भी विद्यार्थियोंकी सनक और खुशीपर अवलम्बित रहता था और बहुतसे विद्यार्थियोंके लिए तो व्यवहारतः वह एक ढकोसलामात्र था। वे लोग चुपकेसे कक्षा-प्रकोष्ठमें घुस जाते, केवल इस उद्देश्यसे कि जब प्राध्यापक उनका नाम पुकारे तो 'जी, उपस्थित' कहकर जवाब दे सकें। इसके बाद वे रफूचक्कर हो जाते। फिर, अपने किसी मित्रको भी इस बातके लिए राजी कर लेना मुश्किल न था कि आपकी अनुपस्थितिमें जब आपका नाम पुकारा जाय तो आपके बदले वही 'जी, उपस्थित' बोल दे। व्यवहारमें अक्सर ही ऐसा होता था। कोई विद्यार्थी सप्ताहों और महीनों इलाहाबादसे बाहर रह आता, फिर भी उपस्थिति-पंजीमें उसके नामके सामने नियमित रूपसे उपस्थिति अंकित रहती थी। यह सब इसलिए सम्भव होता था क्योंकि कक्षाओंमें विद्यार्थियोंकी संख्या अधिक होती थी और उनमें तथा उनके तथाकथित शिक्षकोंमें आपसका सम्पर्क प्रायः बिलकुल नहीं हो पाता था। मैं समझता हूँ कि लेक्चरर (विवक्ता) भी इस प्रचलित परिपाटीसे अभिज्ञ थे और वे सब कुछ देखते हुए भी न देखनेका बहाना करते थे। मुझे तो कुछ ऐसे मामलोंकी भी बात मालूम है जहाँ प्राध्यापकने सत्रका अन्त बिलकुल निकट आ जानेपर भी एकाध विद्यार्थीकी प्रार्थना बड़े अनुग्रह भावसे सुनी और कुछ दिनों या सप्ताहोंतककी उसकी 'अनुपस्थिति' काटकर उपस्थिति बना दी जिससे उसकी हाजिरीकी कमी पूरी हो जाय और मैं नहीं कह सकता कि इस तरह कक्षाओंमें अनुपस्थित रहनेसे विद्यार्थियोंकी कोई विशेष क्षति हुई हो। अक्सर यह तरीका चलता था कि जिस विषयपर व्याख्यान देना लेक्चरर (विवक्ता) के लिए लाजिमी होता था, उसपर वह कुछ नोट लिखा देता था। जबानी कोई बात समझा देने या स्पष्ट कर देनेका प्रायः कोई प्रयत्न नहीं किया जाता था और न विद्यार्थी ही बीचमें अधिक टोक-टाक किया करते थे, न लेक्चरर उन्हें ऐसा करनेके लिए प्रोत्साहित करते थे। इस प्रकार ये तथाकथित लेक्चर (विवचन) प्रत्येक व्याख्यानके समय ४०-५० मिनटके लिए यान्त्रिक रूपसे लिखाये गये नोटमात्र रह जाते थे। ये नोट भी विषयको बहुत अधिक स्पष्ट करनेवाले नहीं होते थे—कमसे कम वे उन 'प्रदीपिकाओं', सहायक पुस्तिकाओं तथा ऐसी ही अन्य रचनाओंसे, जो उन्हें मुद्रित रूपमें मिल जाती थीं, अधिक ऊँचे दरजेके नहीं होते थे। मैं यह स्वीकार करता हूँ कि मैं कक्षा-प्रकोष्ठमें इतनी मेहनतसे जो नोट लिखा करता था, उन्हें

न कभी पढ़ता था और न उनका अध्ययन करता था। जो हो, यदि कोई ऐसा करनेकी इच्छा करे तो उसके लिए यह कोई मुश्किल बात न होती कि वह बादमें आरामसे अपने अध्ययनकक्षमें बैठकर किताबोंसे ऐसे नोट स्वयं तैयार कर लेता। कालेजके पुस्तकालयमें कानूनी पुस्तकोंका एक अलग विभाग था, किन्तु विद्यार्थीगण उससे बहुत कम सहायता लेते थे और दो वर्षके भीतर जबतक मैं कालेजमें पढ़ता रहा मैंने किसी विवक्ताको कानूनकी किसी विशेष पाठ्य-पुस्तक या नजीरका अध्ययन करनेका अभिस्ताव (सिफारिश) करते नहीं सुना।

विद्यार्थियोंको भी दिनमें अपना अलग काम रहता था। कुछ लोग नौकरी करते थे और अन्य लोग एम० ए० के लिए पढ़ते थे और शिक्षामें इन सब कमियों या त्रुटियोंके बावजूद कानून-की परीक्षाओंमें वे काफी अच्छी सफलता प्राप्त कर लेते थे और उत्तीर्ण छात्रोंकी प्रतिशतता भी ऊँची रहती थी। इसका कारण ढूँढ़नेके लिए अधिक प्रयासकी आवश्यकता न थी। कानूनकी परीक्षा एक वृत्ति सम्बन्धी परीक्षा थी और उससे जीविका प्राप्त करनेका द्वार खुल जाता था। विद्यार्थी सभी युवक होते थे जिनमेंसे अधिकतर विवाहित रहते और परिवारकी जिम्मेदारी उठानेके कारण स्वाव-लम्बी बनने तथा खुद अपनी रोजी कमानेके लिए व्यग्र रहते थे। इसलिए परीक्षाका समय जब निकट आने लगता था, तब उनमेंसे प्रत्येक विविध प्रदीपिकाओं और 'कुंजियों' को पढ़-पढ़कर आवश्यक चीजें याद कर लेनेका प्रयत्न करता, भले ही कानूनी सिद्धान्तों सम्बन्धी उसकी जानकारीकी जड़ कमजोर हो और उसने उन प्राचीन पुस्तकोंका नाममात्रका ही अध्ययन किया हो जो हमारे देशके कानूनकी वास्तविक आधार हैं। जो हो, वकीलका सारा जीवन ही एक तरहसे परीक्षाओंका लगा-तार चलानेवाला ऐसा सिलसिला माना जा सकता है जो एक दिनसे दूसरेतक तथा एक सप्ताहसे दूसरेतक जारी रहता है और एक अच्छा वकील वर्षके अन्ततक बराबर कुछ-न-कुछ सीखता ही रहता है—अवश्य ही अपने खर्चपर नहीं, बल्कि दूसरेके खर्चपर। यह एक विचारणीय बात है कि उन्नीसवीं सदीमें कानूनकी शिक्षा इतनी अव्यवस्थित थी, केवल भारतमें ही नहीं, वरन् ब्रिटेनमें भी जहाँ भोज देनेकी प्रचलित प्रथा काफी बदनाम हो चुकी थी।[1]

जब मैंने कानूनकी कक्षामें नाम लिखाया था, तब कानूनके प्रति मैंने कोई विशेष रुचि नहीं दिखलायी थी। सच पूछिये तो मैं यह भी नहीं जानता था कि दरअसल वह है क्या चीज। कालेजमें मेरे विशेष विषय थे इतिहास तथा विशुद्ध गणित। मेरे शिक्षक समझते थे कि मेरा झुकाव गणितकी ओर था और इतिहासमें रुचि मैंने स्वयं ही बढ़ा ली थी। गणितके ही कारण मेरी स्मरण-शक्ति अच्छी और स्वभ्यस्त थी और चित्तको एकाग्र करनेकी भी विशिष्ट क्षमता मुझमें थी। दर्शन तथा तर्कविज्ञान मैंने नाममात्रके लिए भी कभी नहीं पढ़ा था और मैं नहीं बतला सकता कि लोगोंका यह खयाल कहाँतक ठीक है कि तर्कशास्त्रकी शिक्षा ग्रहण कर लेनेसे विधिज्ञ बननेकी योग्यता बढ़ जाती है, किन्तु सौभाग्यसे मुझे कानून पढ़ना प्रारम्भसे ही ऐसा स्वाभाविक और सरल-सा मालूम हुआ जैसा मछलीके लिए पानीमें तैरना। शुरूके पाँच सप्ताहोंतक मैं डाक्टर सप्रूके साथ रहा जहाँ मैंने प्रथम बार कानूनी अदालतोंके वास्तविक वातावरणका अनुभव प्राप्त किया और बहुत-से प्रसिद्ध व्यक्तियोंसे मेरी जान-पहचान हो गयी। इसके बाद उच्च न्यायालयकी लम्बी छुट्टियोंके कारण विधि कक्षामें भी छुट्टी हो गयी और बादके १० सप्ताह मैंने अपनी बहिनके ससुर पण्डित बख्त-नारायणके साथ बिताये जो उस समय फैजाबादमें सिविल जज (सबार्डिनेट जज) थे। मैंने पण्डित

---

१. आजके लॉ कॉलेजमें पहलेकी अपेक्षा बहुत सुधार हो गया है। अब पूरे समयतक काम करनेवाले बहुतसे अध्यापक रहते हैं और कक्षाएँ भी दिनमें लगा करती हैं।

बख्तनारायणका उल्लेख उनका नाम लेकर किया है क्योंकि अपने समयमें वे प्रान्तके सबसे अनुभवी एवं विद्वान् सिविल जज माने जाते थे। वे एक सम्पन्न जमींदार थे और उनके पास कानूनी पुस्तकोंका अच्छा बड़ा पुस्तकालय था। उन्होंने मुझे पुस्तकें पढ़नेके लिए प्रेरित किया और मुझे स्मरण है कि मैं उस समय कानूनकी ऐसी प्रसिद्ध पुस्तकें पढ़ता था जैसे स्मिथकी बनायी 'लीडिंग केसेज' (कुछ महत्त्वपूर्ण मुकदमे), मेनका 'हिन्दू कानून', तथा अपराध एवं क्षति सम्बन्धी पुस्तकें, गेलकृत 'सुविधाधिकार' और ऐनसनका 'कण्ट्रेक्ट्स' (करार सम्बन्धी कानून)। इन्हें मैं बड़ी दिलचस्पी और बड़े आनन्दके साथ पढ़ता था जिससे निस्सन्देह मेरा बड़ा हित भी होता था। मेनकी रचनाओंका स्थायी संस्कार मेरे मस्तिष्कपर पड़ा है। मेरा खयाल है कि उत्तम शैली तथा थोड़ेमें विचार और भाव प्रकट करनेकी क्षमताके लिहाजसे और विषयके विद्वत्तापूर्ण विवेचनसे केवल सर फ्रेडरिक पौलक ही मेनकी कोटिमें रखे जा सकते हैं। मैं 'इण्डियन ला रिपोर्ट्स' भी पढ़ा करता था, विशेषकर पहलेकी प्रिवी कौंसिल रिपोर्ट्स जो मूर्स 'इण्डियन अपील्स' के नामसे प्रसिद्ध थीं।

इसलिए जब मैं जाड़ेके मौसिममें इलाहाबाद वापस आया तब मेरे मनमें विधिशास्त्रके लिए सच्ची रुचि पैदा हो गयी थी; मैं उसे गम्भीरतापूर्वक अध्ययन करनेका विषय मानने लगा था और परिश्रमपूर्वक इस कार्यमें जुट गया। अब मुझे मालूम पड़ता है कि मैं थोड़ेसे घनिष्ठ मित्रोंके सीमित क्षेत्रके बाहर बहुत सकुचाया हुआ तथा दूर-दूर-सा रहता था और कुछ-कुछ भद्दे ढंगसे अपने विचार प्रकट किया करता था। मैं खेल-कूदका शौकीन न था और न किसी खेलमें सम्मिलित हुआ करता था। सन् १९०५–६में कालेजका जीवन उतना भरा और व्यस्ततापूर्ण नहीं होता था जितना इस समय है। इस प्रकार मुझे, अपनी प्रकृति एवं प्रवृत्तिके कारण, कानूनी पुस्तकें आदि पढ़नेके लिए यथेष्ट अवकाश मिलता था। महाविद्यालयके ग्रन्थागारमें तथा अन्यत्र मुझे जो भी पुस्तकें मिल जाती थीं मैं उन्हें पढ़ा करता था। इस प्रकार लगभग १२ महीनेमें मैंने कानून सम्बन्धी काफी अच्छी जानकारी प्राप्त कर ली। तब मैं वकील हाईकोर्ट परीक्षामें बैठ गया जिसका संचालन इलाहाबाद हाईकोर्ट द्वारा उन व्यक्तियोंके लिए किया जाता था जो उत्तीर्ण होनेके बाद उक्त न्यायालयके वकीलोंमें परिगणित किये जाने लगते थे। पिछले कई वर्षोंसे वह बन्द कर दिया गया है, किन्तु वह एक पुरानी चीज थी जो सन् १८६६ में शुरू हुई थी जब पश्चिमोत्तर प्रदेशके लिए उच्च न्यायालयकी स्थापना हुई थी। यह परीक्षा एल-एल० बी० की परीक्षासे कहीं अधिक कड़ी समझी जाती थी। जो हो, अपेक्षाकृत कम विद्यार्थी ही इसमें उत्तीर्ण होते थे। दिसम्बर १९०६ में मेरे साथ अन्य सैकड़ों विद्यार्थी परीक्षामें बैठे थे, किन्तु केवल १५ (२२ ?) ही उत्तीर्ण हो सके, जिनमें मैं सर्वप्रथम था। इलाहाबाद हाईकोर्टके वकीलोंकी सभाने मुझे लैम्सडेन सुवर्ण पदक पुरस्कारस्वरूप दिया। मैंने खूब मेहनत की थी इसलिए कुछ महीनोंतक मेरी तबीयत बिलकुल खराब रही। कई महीनों बाद सितम्बर १९०७ में इलाहाबाद विश्वविद्यालयकी एल-एल० बी० परीक्षामें भी मैं उत्तीर्ण हो गया और प्रान्तभरमें मेरा नाम द्वितीय रहा। करीब करीब यहींसे मेरा शैक्षणिक जीवन समाप्त हो जाता है। सन् १९०६–७में मैं इतिहासमें एम० ए० की कक्षामें भी जाया करता था और १९०८ में इलाहाबाद विश्वविद्यालयसे मैंने एम० ए० की डिग्री हासिल कर ली, किन्तु यह एक गौण महत्त्वकी चीज थी।

मैंने वकालत शुरू की

अब मेरी कठिनाइयोंका प्रारम्भ हुआ। जीविकाका साधन चुनना प्रत्येक नवयुवकके लिए हमेशा ही बड़ा कठिन होता है और मेरे लिए तो वह और भी अधिक कठिनाईका प्रश्न

था। मुझे लाहौर तथा इलाहाबाद भेजकर मेरे माता-पिताने बड़ी दिक्कतसे अपना खर्च चलाया था। मैं जानता हूँ कि मेरी शिक्षाके कारण विशेषकर इलाहाबादमें मेरे दो वर्षोंके निवाससे पिताजीकी आयपर कितना भार बढ़ गया था और अब यह असम्भव था कि मैं आगे भी उनपर अपना बोझ डाले रहूँ। मैं लौटकर घर आ गया था और अब किसी रियासतमें नौकरी प्राप्त करनेका प्रयत्न कर रहा था। जाओराका राज्य बहुत छोटा था। वहाँ कोई नौकरी उपलब्ध नहीं थी। पड़ोसके राज्यों—रतलाम, इन्दौर तथा ग्वालियर—में मैंने प्रयत्न किया और आवेदनपत्र भेजे किन्तु सफलता नहीं मिली। मैं समझता हूँ कि प्रारम्भमें यदि १०० रुपये मासिककी जगह भी मिल जाती तो उससे मैं बहुत आकर्षित हुआ होता किन्तु उसे प्राप्त करना भी मेरे वशकी बात न थी। ब्रिटिश भारतमें नौकरी पानेकी आशा करना ही व्यर्थ था। न तो मुझमें कोई असाधारण योग्यता थी और न किसीपर मेरा प्रभाव था। वकालत शुरू करना भी आसान काम न था। उसके लिए मुझे उपयुक्त स्थानका चुनाव करना था। प्रथम दृष्टिसे उत्तरप्रदेशके सभी जिले समान रूपसे उपयोगी हो सकते थे, क्योंकि सभीके लिए मैं बिलकुल अजनबी था और कहीं भी मेरा कोई सम्बन्धी न था। कश्मीरी पण्डित पिछले १५०–२०० वर्षोंके भीतर कश्मीरसे प्रव्रजित होकर भारतके विभिन्न भागोंमें चले आये हैं और उन्होंने किसी भी भूमिसे अपने आपको जकड़ नहीं दिया है। उनमेंसे बहुतसे तो सरकारी नौकरियोंमें घुस गये हैं और कितने ही विद्वत्तापूर्ण पेशोंकी ओर आकृष्ट हो गये हैं। किन्तु ब्रिटिश भारतमें भी तथा रियासतोंमें बहुत कम कश्मीरियोंके पास जमीन-जायदाद आदि या अन्य स्थानीय लगाव हैं। इसलिए मैं उत्तरप्रदेशके प्रत्येक नगरकी ओर बिलकुल निष्पक्ष दृष्टिसे देख सकता था और किसी एक नगरको दूसरेपर तरजीह देनेकी मुझे आवश्यकता न थी। जब मैं घरमें बैठे-बैठे अनिश्चय और दुविधाकी स्थितिमें बेकार अपना समय बिता रहा था, तब ईश्वरने पण्डित पृथ्वीनाथके रूपमें मुझे सहायता पहुँचायी।

पण्डित पृथ्वीनाथ कानपुरके जिला बार असोसियेशनके अग्रणी थे। इतना ही नहीं, वे वस्तुतः कानपुरके बेताजके बादशाह थे जिनपर सभीका अनुराग था और समाजका प्रत्येक वर्ग जिनका सम्मान करता था। उनका एक अद्वितीय, प्रभावशाली व्यक्तित्व था। वे बड़े कुशाग्रबुद्धि तथा उद्योगशील विधिज्ञ थे और कानूनी सिद्धान्तोंपर उनका अच्छा अधिकार था। अपने समयके सबसे बड़े साक्षि-परीक्षकके रूपमें सारे प्रान्तमें उनकी प्रसिद्धि और दबदबा था। एक अंग्रेज न्यायाधीशने खुलेआम कह दिया था कि यदि मेरे ऊपर भी हत्याके अभियोगमें मामला चले तो मैं अपना जीवन पण्डित पृथ्वीनाथके हाथोंमें सौंप दूँगा। सभी शैतान तथा दुष्ट व्यक्तियों और झूठे गवाहोंके लिए वे महाकालस्वरूप थे और सर चार्ल्स रसेलकी तरह न्यायालयोंमें प्रत्येक व्यक्तिपर उनकी छाया और रोब छा जाता था—न्यायाधीशपर, फरीकोंपर, गवाहोंपर और वकीलोंपर भी। उस प्रभावकारी व्यक्तिकी अनोखी अदा, मोहक शक्ति और वाक्चातुर्यके सामने सभीको सिर झुका देना पड़ता था। जब उनकी चमकती हुई पैनी आँखें ध्यानपूर्वक किसीकी ओर देखती थीं, तब ऐसा लगता था मानो वे उसकी आत्माके अन्तरतम प्रदेशका भेदनकर उसके गुप्तसे गुप्त रहस्योंका उद्घाटन कर देंगी। भय क्या चीज है, यह उन्होंने कभी नहीं जाना। एर्सकिनकी तरह वे अपने अभिभाषणोंमें बिलकुल निर्भय रहते थे और मुवक्किलके प्रति कर्त्तव्यका पालन करते समय उन्हें न अपने लाभालाभ का और न न्यायाधिकारीके प्रसाद अथवा प्रकोपका ही ध्यान रहता था[1]। यद्यपि वे मामूली जिला

१. **एक बार उन्होंने एक अंग्रेज न्यायाधीशसे जो व्यर्थ ही गरजा करता था और अभिवक्ताके भाषणमें बाधा डाला करता था, कहा था—'न्यायाधीश महोदय, मेरी बात सुनिये।**

अदालतोंके ही वकील थे, जिन्हें सिविल न्यायालयोंके सोपानक्रममें सबसे नीचेकी सीढ़ी कहना चाहिये, फिर भी वे सबकी सम्मतिसे कानपुर बार असोसियेशनके सर्वप्रिय अध्यक्ष थे, जिसमें अनेक बैरिस्टर थे, अंग्रेज तथा भारतीय, एडवोकेट थे, वकील थे और प्लीडर भी। उनके प्राधान्यको कभी चुनौती नहीं दी गयी और न दी जा सकती थी। मैं समझता हूँ कि उनकी आमदनी सबसे अधिक थी जो जिला अदालतोंमें किसीको प्राप्त हुई हो या कभी किसीको जिसके प्राप्त होनेकी सम्भावना हो। न्यायालयोंके बाहर कानपुरके सार्वजनिक तथा सामाजिक जीवनमें उनका सबसे अधिक प्रभाव था। जो भी अच्छा काम उन्हें पसन्द आ जाता था उसके लिए वे बराबर कुछ-न-कुछ करते रहते थे और कानपुरकी प्रायः प्रत्येक सार्वजनिक संस्थामें वे दिलचस्पी लेते थे। जैसी शाही ढंगकी उनकी आमदनी थी, वैसी ही शाही उनकी उदारता थी। उनकी दानशीलता अपार थी और उसमें दिखाऊपन नहीं था। वे बायें हाथसे जो कुछ देते थे उसकी खबर मानों दाहिने हाथतकको नहीं लग पाती थी। उनका चरित्र निष्कलंक था। वे बड़े ही नेक, सरल और ईमानदार आदमी थे; साथ ही सुशील तथा कोमलहृदय थे और जब मैं उनके सम्पर्कमें आया, उनकी चाल-ढाल बहुत ही सीधी-सादी थी। यह मेरा सौभाग्य ही था कि अब मुझे उनकी निगरानीमें रहना पड़ा।

मैं पण्डित पृथ्वीनाथसे पहली बार जुलाई १९०७ में वकीली परीक्षा पासकर चुकनेके बाद, मिला। वे कश्मीरी ब्राह्मण और मेरी जातिके थे किन्तु उनके साथ मेरा कोई रिश्ता न था। मैं कानपुर अपने एक चचेरे भाईसे मिलने गया था जो वहाँके एक कालेजमें विद्याध्ययन कर रहा था। उसी समय मैं वहाँके एक सिविल जजसे मिला जिनके नाम मैं एक उभय-मित्रसे परिचय पत्र ले गया था। जज बड़े सौजन्यसे और शिष्टतापूर्वक मुझसे मिले। उन्होंने मुझसे यह भी पूछा कि आगे मेरा क्या करनेका विचार है। मैंने जवाब दिया कि अभीतक तो मैंने कोई योजना नहीं बनायी। तब उन्होंने बतलाया कि मुझे उत्तरप्रदेशके विभिन्न जिलोंके वकील-बैरिस्टरोंका काफी विस्तृत अनुभव है और मेरी रायमें पण्डित पृथ्वीनाथ ही ऐसे व्यक्ति हैं जो एक नये आदमीको वकालत पेशेके रहस्यों-की जानकारी करा देनेके लिए सबसे योग्य हैं। जब तुम कानपुर आये ही हो तो उनसे अवश्य मिल लो। मैंने ऐसा ही किया और वे मेरे साथ बड़ी सज्जनतासे पेश आये। वकीली परीक्षामें मुझे जो एक तरहसे उल्लेखनीय सफलता मिली थी, उससे कश्मीरी ब्राह्मणोंमें छोटी-मोटी हलचल-सी मच गयी थी, विशेषकर उन लोगोंमें जिनकी दिलचस्पी अदालतोंमें थी और पण्डित पृथ्वीनाथ भी पहलेसे मेरा नाम सुन चुके थे। जजने मुझसे उनके विषयमें जो कुछ कहा था, वह मैंने उन्हें बता दिया। इसपर वे मुसकरा पड़े और बोले — 'अगर तुम कानपुरमें रहनेका निश्चय करो तो मैं खुशीसे अपने काममें तुम्हें अपने साथ रख लूँगा।' उस समय यह बातचीत यों ही, बिना किसी निश्चित उद्देश्यसे, की गयी थी। कानपुर बड़ा शहर था तथा वहाँका जीवन खर्चीला था और मेरे लिए तो, जो वहाँ के लिए बिलकुल अजनबी था तथा जिसके पास साधनोंकी भी कमी थी, कानपुरमें बसकर वकालत शुरू करना बहुत ही कठिन प्रस्ताव था।

किन्तु घरमें बेकार बैठे-बैठे महीनों बीत गये, शंकाओं तथा चिन्ताओंके समुद्रमें डूबता-उतराता रहता, फिर भी कहीं कोई किनारा नजर नहीं आता था। इसलिए मैंने गोता मारनेका निश्चय कर लिया। जनवरी १९०८ में मैंने पण्डित पृथ्वीनाथको एक पत्र लिखा जिसमें मैंने छः

मेरा यह विशेषाधिकार है कि मैं आपके सामने भाषण करूँ और आपको इसीलिए वेतन दिया जाता है कि आप ध्यानपूर्वक मेरी बातें सुनें।' जज तुरन्त शान्त हो गये, प्रभावित हुए और उन्होंने क्षमा-याचना की।

महीने पहलेकी मुलाकातका स्मरण दिलाते हुए उनसे पूछा था कि 'क्या मैं कानपुर चला जाऊँ ?' वापसी डाकसे मुझे उनकी दो पंक्तियोंकी चिट्ठी मिली—वे हमेशा संक्षेपमें ही चिट्ठियाँ लिखा करते थे —जिसमें लिखा था 'चले आओ, तुम्हारी सहायता करनेमें मुझे प्रसन्नता होगी।' इस चिट्ठीने मेरी बड़ी भारी कठिनाई दूर कर दी और मैंने जेबमें पूरे ५२।।) रखकर फरवरी १९०८ में कानपुर के लिए प्रस्थान कर दिया। इस प्रकार जीवनके साहसिक यात्रापथपर मैंने कदम बढ़ाया। पाँसा फेंका जा चुका था—बीड़ा उठा लिया गया था—परिणाम चाहे जो हो। ईश्वरकी कृपासे मुझे अपने किये इस निर्णयपर अफसोस करनेका कोई कारण कभी उपस्थित नहीं हुआ।

कानपुरमें पण्डित पृथ्वीनाथ बड़े लिहाजके साथ मुझसे पेश आये और अपने साथ कुछ महीनोंतक रहनेके लिए जोर देने लगे। मैं ऐसा कर नहीं सका जिसका मुख्य कारण सामाजिक या जातिगत पसोपेश था। मैं ऐसे कट्टर कश्मीरी ब्राह्मण परिवारका था जो एक दूसरेके साथ बैठकर भोजन करनेके प्रतिबन्धोंका कड़ाईसे पालन करता था। मैं केवल वही भोजन ग्रहण कर सकता था जो या तो मेरे घरमें ही बना हो या उन लोगों द्वारा प्रस्तुत किया गया हो जो जातिकी उसी शाखाके हों जिसका मैं हूँ। पण्डित पृथ्वीनाथ सामाजिक दृष्टिसे काफी आगे बढ़ चुके थे, उन्होंने दूर-दूरकी यात्रा की थी, इंग्लैण्ड तथा आस्ट्रेलिया हो आये थे, उनके लड़के लण्डनमें बैरिस्टरीकी शिक्षा ग्रहण कर रहे थे, इसलिए उनके रसोईघरमें बना भोजन मेरे लिए निषिद्ध था। सौभाग्यसे ये सारी बातें अब बदल गयी हैं। दृष्टिकोण अधिक उदार हो गया है। किन्तु मैं इस बातपर जोर देनेकी गरजसे ही इसकी चर्चा कर रहा हूँ कि मेरे प्रति उनका व्यवहार कितना सज्जनतापूर्ण था। वे सारी स्थिति अच्छी तरह समझ गये थे, क्योंकि कोई भी चीज मैंने उनसे छिपायी नहीं थी। मैंने उनसे कह दिया था कि मेरे अपने विचार चाहे जो भी हों, मैं किसी भी हालतमें अपने माता-पिताको कष्ट नहीं पहुँचाना चाहता और इस मामलेमें उनकी जानकारी एवं स्वीकृतिके बिना कोई काम उनकी इच्छाओंके विरुद्ध नहीं करना चाहता। उनसे कम उदार कोई व्यक्ति होता तो इससे अवश्य चिढ़ जाता पर वे अप्रभावित रहे। उन्होंने कुछ भी बुरा नहीं माना और न मेरे प्रति उनके कृपापूर्ण बर्तावमें कभी रंचमात्र भी अन्तर आया, न मेरे कल्याणका ध्यान रखनेमें उन्होंने कोई गफलत की, यद्यपि उनकी मृत्युपर्यन्त कभी एक बार भी मैंने उनके साथ भोजन नहीं किया। उनका मकान काफी बड़ा था और उस समय खाली भी था। उसी में मैंने तीसरी मंजिलपर तीन कमरे रहनेके लिए अधिकृत कर लिये, एक नौकर रख लिया और छात्रावासमें रहनेवाले विश्वविद्यालयके विद्यार्थीकी तरह फिर रहना शुरू कर दिया। मैं अपने हाथसे ही खाना बनाता था और सचमुच बड़ी मितव्ययितामें रहता था।

अन्तिम रूपसे वकालत शुरू करनेके निश्चयको कार्यान्वित करनेके पहले मैंने विचार किया कि पहले मैं एम० ए० की डिग्री प्राप्त करनेका काम समाप्त कर दूँ (सर गुरुदास बनर्जीका नाम हमेशा मेरी आँखोंके सामने रहता था), इसलिए मैं आठ सप्ताहके लिए इलाहाबाद चला गया, परीक्षामें सम्मिलित हुआ और अप्रैल १९०८ के मध्यतक कानपुर लौट आया और तब निश्चित रूपसे वकीलके रूपमें मेरे जीवनका आरम्भ हो गया। उस समय मेरी उम्र कुल २० वर्ष १० महीनेकी थी।

कानपुरकी वकील-मण्डलीमें

इंग्लैण्डके विपरीत ब्रिटिश भारतमें न्याय-व्यवस्था प्रत्येक प्रदेशकी राजधानीमें ही केन्द्रित नहीं है। यह सच है कि प्रत्येक प्रान्त (या राज्य) का अपना पृथक् उच्च न्यायालय है (उत्तरप्रदेशमें एक इलाहाबादमें और दूसरा लखनऊमें) लेकिन कलकत्ता, बम्बई तथा मद्रासके उच्च न्यायालयोंको

छोड़कर अन्य सभी हाईकोर्ट तथा चीफकोर्ट, सामान्यतया केवल अपील सुनने या निगरानी (पुनरीक्षण) का काम करते हैं। सभी मामले (दो चारको छोड़कर), चाहे वे दीवानीके हों या फौजदारीके, पहले जिला अदालतोंके सामने रखे जाते हैं। प्रत्येक प्रान्त कई न्यायिक क्षेत्रों (जजशिपों) में बँटा रहता है और प्रत्येक न्यायिक क्षेत्र जिसमें प्रान्तका एक या कई जिले होते हैं, एक न्यायिक अधिकारीके जिसे जिला तथा दौरा जज कहते हैं, प्रशासकीय नियन्त्रणमें रहता है। जिला जज होनेके नाते अपने क्षेत्रके प्राथमिक दीवानी मामलोंके लिए वही सबसे बड़ा न्यायिक अधिकारी होता है और दौरा जज होनेके कारण फौजदारी मामलोंपर विचार करनेका अधिकार उसे होता है तथा वह उन व्यक्तियोंके संगीन मामलोंपर भी विचार करता है जो, मजिस्ट्रेट द्वारा की जानेवाली प्रारम्भिक जाँचके बाद उसकी अदालतमें भेजे जाते हैं। साथ ही वह अपने क्षेत्रके दण्डाधिकारियों द्वारा किये गये फैसलोंके सम्बन्धमें की जानेवाली पुनर्न्यायकी प्रार्थनाओंके मामले भी सुना करता है। दीवानी मुकदमोंमें उसे अपने साथी सिविल जजोंसे भी सहायता मिलती है जिन्हें उक्त न्यायिक क्षेत्रके सभी दीवानी मुकदमे सुननेके उसीके बराबर अधिकार प्राप्त होते हैं। कुछ छोटी दीवानी अदालतें भी होती हैं जिनमें कुछ हजार रुपयोंतकके ही दावे रखे जा सकते हैं और इनमें जो निर्णय होते हैं, उनकी अपील पहले जिला तथा दौरा अदालतमें ही होती है। जिला तथा दौरा जज और सिविल जजोंके फैसलों तथा निर्देशोंके सम्बन्धमें पुनर्न्याय प्रार्थना उच्च न्यायालयमें की जा सकती है।

इससे स्पष्ट हो जायगा कि ब्रिटिश भारतमें जिलोंका वकील-मण्डल इंग्लैण्डकी काउण्टियोंमें पैरवी करनेवाले वकीलोंकी ही तरह नहीं होता। जिलोंके वकील यहाँके समाजमें अधिक महत्त्वका काम करते हैं। उन्हें बहुत ही महत्त्वके काम करने पड़ते हैं और सब तरहके तथा जटिल मामलोंमें, दीवानी हों या फौजदारी के, पैरवी करनी पड़ती है। इन जिला अदालतोंमें सुयोग्य एवं अनुभवी वकीलोंको उन्नति करनेका यथेष्ट क्षेत्र तथा अवसर मिलता है और बड़ी योग्यता तथा न्यायिक कुशलताके कितने ही विधिज्ञ यहाँ हमेशासे ही आकृष्ट होते रहे हैं। प्रत्येक जिलेकी वकील-मण्डलीमें हर युगमें सच्ची प्रतिभा एवं योग्यताके कितने ही वकील बराबर विद्यमान रहते आये हैं।

उस जमानेमें जिलेके वकालत पेशाके सदस्योंका जनताकी नजरोंमें काफी ऊँचा स्थान था। वे ही जनमतके अग्रणी थे। राष्ट्रीय आन्दोलन, जो बादमें बहुत विकसित हो गया, ४०—५० वर्ष पहले प्रारंभिक अवस्थामें ही था। 'प्रत्यक्ष काररवाई' और निष्क्रिय प्रतिरोधकी बात उस समय किसीके ध्यानमें भी नहीं आयी थी, कमसे कम वह व्यावहारिक राजनीतिकी बात नहीं समझी जाती थी और वकील लोग आराम कुरसीपर बैठकर काम करनेवाले प्रशंसनीय राजनीतिज्ञ माने जाते थे। वे लोग वैधानिक आन्दोलनकी कलाके प्रमुख नेता थे। राजनीति उस समय शहरोंतक ही सीमित थी और वहाँ मात्र वकीलोंका ही बोलबाला था। प्रत्येक सार्वजनिक क्रिया-कलापमें उन्हींका प्राधान्य रहता था। वे ही शिक्षासंस्थाओं तथा दातव्य सभाओं आदिका संघटन और प्रबन्ध करते थे। जो इस पेशेको अपना लेता था, समाजमें उसका एक स्थान और प्रतिष्ठा हो जाती थी। उन दिनों भी वकीलोंकी संख्या काफी बढ़ चुकी थी, यद्यपि उतनी अधिक और परेशानी पैदा करनेवाले ढंगसे वह नहीं बढ़ी थी जितनी इस समय बढ़ गयी है। प्रत्येक स्थलपर वकील-बैरिस्टरका सम्मानित अतिथि या परिदर्शकके रूपमें स्वागत किया जाता था और उसके साथ लोग बड़ी शिष्टता तथा मुरौवतसे पेश आते थे। समय आनेपर वे ही नौकरशाहीके उन कर्मचारियोंका डटकर मुकाबला कर सकते थे, जो जिलेमें थोड़ेसे अधिकारकी पोशाक पहने हुए स्थानीय नादिरशाह जैसे होते थे। इसी

कारण अधिकारिवर्ग भी, भीतरसे, उनसे घृणा करता था। उस समयके ब्रिटिश अफसर सचमुच ही 'वकील राज' से बहुत चिढ़ते थे। उस कालका एंग्लोइंडियन साहित्य भारतीय वकील-राजनीतिज्ञोंके प्रति प्रदर्शित तिरस्कार-भावनासे ओतप्रोत है। भारतीय राजनीतिमें महात्मा गांधीका प्रवेश होनेके बादसे स्थिति बिलकुल बदल गयी। वकील लोग आज भी सर्वत्र नेतृत्व कर रहे हैं किन्तु वे ऐसे वकील नहीं हैं जो वकालत पेशामें लगे हुए हों। इसमें सन्देह नहीं कि आजके बहुतसे बड़े-बड़े नेता वकील या विधिज्ञ हैं, ऐसे विधिज्ञ हैं जो अपने जमानेमें बहुत प्रसिद्ध रहे हैं, किन्तु जिन्होंने अपनी जीविकाका परित्यागकर अपना सारा समय राष्ट्रीय सेवामें लगा दिया है। सन् १९०८ में यह स्थिति नहीं थी जब मैंने वकालत करना शुरू किया।

जब मैं १९०८ में कानपुरकी वकील-मण्डलीमें सम्मिलित हुआ, तब उस समयके सभी लोगों की रायमें समूचे प्रान्तमें वहाँका वकील-समाज ही सबसे तगड़ा था। कानपुर चिरकालसे संयुक्त प्रान्त (उत्तरप्रदेश)का औद्योगिक केन्द्र रहा है और वही प्रान्तका सबसे बड़ा नगर है। सम्पन्न-तथा उन्नतशील व्यवसायिवर्गपर ही, जिसकी व्यावसायिक परिधि बराबर बढ़ती जा रही थी, वहाँका वकील-समाज कायम था और उसीसे वह पोषण प्राप्त करता था। वकीलोंकी संख्या वहाँ अधिक थी और उनमेंसे प्रत्येक ही बार-असोसियेशन (वकील-मण्डल)का सदस्य न था। फिर भी दो-चार भाग्यहीनोंको छोड़कर असोसियेशनके प्रत्येक सदस्यके पास कुछ-न-कुछ काम करनेको बराबर रहता था। बार-असोसियेशनके सदस्योंमें आपसका मेल-जोल अच्छा था और पण्डित पृथ्वीनाथके नेतृत्वमें न्यायाधीश वर्ग तथा वकील-मण्डलीके आपसी सम्बन्ध भी अच्छे तथा सौहार्द-पूर्ण थे और एक दूसरेके प्रति समादर तथा भावपर आधारित थे।

इस बन्धु-समूहसे मैं भी एक कम-उम्र आगन्तुक एवं पण्डित पृथ्वीनाथके संरक्ष्यके रूपमें शीघ्र ही परिचित हो गया। इस तथ्यने स्वयं ही मण्डलीके सदस्योंकी दृष्टिमें मुझे एक रुतबा, एक स्थान दे दिया। प्रत्येकने नवागन्तुकके प्रति दयाका भाव दिखलाया, जो देखनेमें अत्यन्त यौवनपूर्ण किन्तु परिश्रमी प्रवृत्तिका एवं जीजानसे अपने काममें जुट जानेवाला प्रतीत होता था। मैंने थोड़ेसे अहानिकर आत्मविज्ञापनके साथ, जो मैं समझता हूँ क्षम्य भी माना जा सकता है, अपनी वकालतका प्रारम्भ किया। एक मित्रके सुझावपर मैंने एक विधिक विषय 'निक्षेपका जब्त कर लिया जाना' (फारफीचर आफ डिपाजिट) पर लेख लिखा जो जून १९०८ के शुरूमें इलाहाबाद 'ला-जर्नल'में प्रकाशित हुआ। कानपुर बारके कितने ही सदस्योंका ध्यान उस लेखकी ओर गया और उन्होंने उसकी प्रशंसा की; और मुझे ऐसा बहुपठित नवसिखुआ करार दिया जिसमें कानून सम्बन्धी विद्वत्ता प्राप्त करनेकी अभिरुचि हो।

५. कुछ प्रारम्भिक अनुभव

पंडित पृथ्वीनाथ उस समय हरदोई(अवध)में एक बड़े दीवानी मुकदमेका परिचालन कर रहे थे। मैं भी नववयस्क वकीलके रूपमें उनके साथ गया था और १५ दिन वहाँ रहा था। उस मुकदमेमें मुझे कुछ रुपया नहीं मिलना था किन्तु अपरिमित मूल्यकी शिक्षा उससे प्राप्त होनेवाली थी। गवाहोंसे युक्त वह मेरा पहला मुकदमा था और अपनी कलामें चतुर वकीलों द्वारा गवाहोंके परीक्षण तथा प्रति-परीक्षणकी बातें सुनना स्वयं एक बहुमूल्य शिक्षा थी। मुकदमेमें यह प्रश्न उठा कि दोनों पक्षोंपर लागू होनेवाले उत्तराधिकार सम्बन्धी हिन्दू कानूनमें रीति रिवाजके कारण कहाँतक परिवर्तन हो सकता है। पंडित पृथ्वीनाथने मुझसे एक लघुलेख (नोट) तैयार

कर देनेको कहा जो मैंने तैयार कर दिया। यह उसके लिए उपयोगी साबित हुआ या नहीं, मैं कह नहीं सकता, किन्तु जहाँतक मेरा ताल्लुक था मैंने जीवन भरके लिए कानूनकी उस शाखापर प्रभुत्व प्राप्त कर लिया। एक घटनाका यहाँ उल्लेख कर देना चाहिये। उससे मुझे भारतीय मुकदमेबाजीके मुख्य स्रोतोंकी पहली झलक देखनेको मिली। मुकदमा लड़नेमें दोनों पक्ष गहरी दिलचस्पी ले रहे थे और खर्च भी दोनोंका काफी हो रहा था, यद्यपि जिस सम्पत्तिके लिए मुकदमा लड़ा जा रहा था वह बहुत अधिक मूल्यकी नहीं थी। फरीकैन आपसमें निकट सम्बन्धी ही थे—चाचा और भतीजे। निकटतम सपिंड सम्बन्धी होनेके कारण चाचा लोगोंने मृत व्यक्ति की पूरी सम्पत्ति पानेका अपना अधिकार प्रकट किया किन्तु भतीजोंका कहना था कि कौटुम्बिक परम्पराके अनुसार हमें भी चाचाओंकी बराबरीसे हक पानेका अधिकार है। हम लोग भतीजोंकी ओरसे खड़े थे और परम्परा या रिवाजका सबूत देनेके लिए दोनों तरफसे भारी परिमाणमें जबानी तथा लिखित साक्ष्य इकट्ठा करनेकी आवश्यकता पड़ी। मैंने देखा कि यदि बिलकुल आखिरी दमतक मुकदमा लड़ा गया तो दोनों पक्ष बर्बाद हो जायँगे, अतः मैंने अपनी नवयुवकोचित समझदारीसे अपने मुवक्किलोंके सामने यह सुझाव रखा कि वे आपसमें सुलह कर लें। इसपर जिस दुःखभरी एवं भय उत्पन्न करनेवाली निगाहसे मुवक्किलने मेरी ओर देखा, उसका स्मरण मुझे आज भी बना हुआ है। 'यह कोरी जमीन नहीं है, ये हमारे पूर्वजोंकी हड्डियाँ हैं, अपना दावा छोड़ देने और सुलह कर लेनेकी बात ही मैं कैसे सोच सकता हूँ?' इस प्रकार मुझे पहली बार इस बातका अनुभव हुआ कि भारतमें जो लौह बंधन मनुष्यको अपनी पैतृक भूमिसे जकड़े रहते हैं वे अभंजनीय होते हैं। वह खुशी-खुशी अपनेको बर्बाद होने देगा किन्तु अपने पूर्वजोंकी भूमिका दावा कदापि न छोड़ेगा। इस भावकी सत्यता और सतत विद्यमान रहनेवाली इसकी तीव्रताका अनुभव मुझे वकालतके अपने लम्बे जीवनमें बारबार हुआ है।

पहला मुकदमा लेनेका अनुभव कभी भूलता नहीं और मेरा तो कुछ मनोरंजक भी था। पण्डित पृथ्वीनाथके कहनेसे उनके एक मुवक्किलने १५ रुपया फीस देकर मुझसे फैसलेसे पहले कुर्की जारी करानेके लिए आवेदनपत्र देनेको कहा। मामला बिलकुल ही सीधा-सादा था और समान्य परिपाटीके अनुसार आदेश जारी हो जाना निश्चित था। मैंने सावधानीसे दरख्वास्त तैयार की और उसे न्यायालयमें उपस्थित कर दिया। न्यायाधीशने इस गरजसे मेरी ओर देखा कि मैं उसे बताऊँ कि दरख्वास्तका विषय क्या है किन्तु मैंने देखा कि मेरी जीभ ही लट गयी है और मेरे मुँहसे एक शब्द भी नहीं निकला। जजने अपने सामने खड़े लजीलेसे संकोची युवकपर एक निगाह डाली, उसकी हिम्मत बढ़ानेके लिए मुसकरा दिया और तब आवेदनपत्र पढ़कर प्रार्थित आदेश जारी कर दिया। दूसरा अनुभव इससे कुछ बेहतर रहा। यह मेरा अपना मुकदमा था जिससे पण्डित पृथ्वीनाथका कोई लगाव न था। यह एक गरीब आदमीकी फौजदारीके मामलेकी अपील थी जिसपर एक मामूली हमलेके कारण दण्डाधिकारीने जुर्माना धमक दिया था। फीस पाँच रुपये थी किन्तु फ़ीसकी रकमका मुझको कोई लेहाज न था। मुझे तो मुकदमेकी फिक्र थी। मैंने खूब तैयारी की, उसके प्रत्येक पहलूपर विचार किया और बहसकी सारी बातें मैं बारबार मन-ही-मन घोखता रहा, विशेषकर उन तर्कोंपर सूक्ष्म विचार करते हुए जिनपर मेरी बहस आधारित थी। किन्तु जो जिला मजिस्ट्रेट अपील सुन रहा था, वह जैसा कि मुझे मालूम होता था, बिलकुल उदासीन, कठोर और सहानुभूति-रहित था। मेरे मुवक्किलके साथ जो भारी अन्याय हुआ था, उसकी मानो उसे कोई परवाह ही न थी। उसने फैसलेको एक बार पढ़ा, मेरी ओर देखा, मैंने कुछ कहा और फिर जो कुछ

मैंने पहले कहनेका इरादा किया था, उसका ९० प्रतिशत अंश एकाएक भूल गया। मैं बीच में ही रुक गया और अपील उसी क्षण रद्द कर दी गयी। मुझे उस दिन बड़ा दुःख हुआ किन्तु मुवक्किल-पर इसका कोई विशेष प्रभाव पड़ा हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता। वस्तुतः इसके बावजूद वह काफी प्रसन्न था।

यह एक अस्थायी चीज थी और मैंने शीघ्र ही देखा कि मैं न्यायालयमें तुरन्त माकूल जवाब देने और अपनेको स्थिरचित्त एवं संयत रखने लगा हूँ—बल्कि कुछ खुश-तबीयत, हास्योन्मुख और जिन्दादिल-सा, कभी-कभी कुछ चंचलतापूर्ण भी और हमेशा इस बातके लिए प्रयत्नशील कि बीच-बीचमें विशुद्ध मनोविनोदकी ऐसी बात कह दी जाय जिससे बहसके कारण किसीका जी ऊबने न पावे। मुझसे बड़ी उम्रके लोग—न्यायाधीश तथा अधिवक्ता—मेरी विनोदशीलता और मेरी चंचलताकी युवकोचित प्रवृत्तियोंकी अभिव्यक्ति समझकर मुसकरा देते थे और मृदुताका रुख अख्तियार करते हुए हँस दिया करते थे। फिर भी वे मुझे अपनी परिश्रमी आदतों और मुकदमा-सम्बन्धी ज्ञातव्य बातोंकी अच्छी तैयारीके कारण पसन्द किया करते थे।

कानपुरके बाहरका पहला मामला जिसमें मुझे जाना पड़ा, मीरजापुरमें पंचोंके सामने उपस्थित एक निर्देशमें था जिसमें मेरा विरोध वकील-मण्डलके एक बैरिस्टर सदस्य कर रहे थे जिनका नाम था श्री अरिण्डेल। गंगाके तटपर बसे इस सुन्दर नगरकी यात्रा मुझे बहुत पसन्द आयी और मुझे जो फीस मिली (३२ रुपये) वह मेरे लिए काफी बड़ी थी। शीघ्र ही बरसातके दिनोंमें शिविरमें सुने जानेवाले मुकदमेका प्रथम अनुभव मुझे हुआ। भारतमें दण्डाधिकारी लगान संबन्धी अफसर भी होते हैं और उन्हें अपने निर्धारित क्षेत्रमें बहुत-सा प्रशासकीय काम भी करना पड़ता है। सिविल सर्विसके पुराने अधिकारी कई जिलोंके योगसे बनी किस्मत (डिवीजन) के कमिश्नर रूपमें सामान्य प्रशासकीय नियंत्रण और देख-रेखका काम करते हैं और जमींदारों तथा काश्तकारोंके बीच चलनेवाले लगान और मालगुजारी संबन्धी मामलोंकी अपील भी सुनते हैं। ये अक्सर अपने जिलों या किस्मतोंमें बराबर दौरेपर जाया करते हैं, विशेषकर जाड़े और वर्षा कालमें। वे आरामसे दौरा और यात्रा करते हैं, घोड़ेकी सवारी करते हैं, शिकार खेलते हैं अच्छी साफ-सुथरी एवं पड़ावके योग्य जमीनपर खड़े किये गये तम्बूमें रहते हैं, सब कुछ जनताके खर्चपर, और साथ ही आस-पासके जमींदारोंके आतिथ्य-सत्कारका आनन्द भी उठाते रहते हैं। कुल मिला-कर वे लोग दौरेपर बड़े आनन्द और आरामकी जिन्दगी बिताते हैं। वे अक्सर एक साथ कई हफ्तोंतक सदर मुकामसे बाहर रहते हैं। उन दिनों वे लोग शिविरमें मुकदमे-मामले भी सुना करते थे। इसमें उन्हें कोई दिक्कत न होती थी। दौरेपर उनके साथ-साथ उनके अधीनस्थ मुंशी, लेखक आदि भी चला करते थे। ये कर्मचारी भी शिविरजीवनका आनन्द उठाया करते थे। उन्हें भी यात्राधिदेय (भत्ता) मिला करता था पर वे देहातवालोंके खर्चपर ही निर्भर रहते थे और जो भी उनकी पहुँचके भीतर आता था उससे वे निष्ठुरतापूर्वक पैसे वसूल किया करते थे। किन्तु दौरेपर जो मुकदमे हुआ करते थे उनसे दोनों पक्षोंकी बर्बादी होती थी और सभी सम्बद्ध लोगोंको, गवाहों तथा वकीलोंको, उनके कारण दिक्कतोंका सामना करना पड़ता था। शिविर या पड़ाव किसी बस्तीसे मीलों दूर आम्रवृक्षोंके झुरमुटमें हो सकता था जहाँ मुकदमेके सम्बन्धमें गये लोगोंको कहीं आस-पास न ठहरनेकी जगह मिल सकती थी और न आराम करनेकी। लोग पेड़ोंकी छायामें इकट्ठे हो जाते थे और मुकदमा शुरू होनेपर पुकारे जानेकी प्रतीक्षा करते थे। चारों तरफ वनस्थली जैसी स्थिति तो अवश्य रहती थी, किन्तु फिर भी असुविधा होती थी। कामके

बँधे हुए घण्टे भी न थे। अफसर लोग जब इच्छा होती थी या जब वे खाली रहते थे, तभी मुकदमोंकी सुनवाई आरंभ कर देते थे। एक बार मेरे एक मुकदमेकी काररवाई रातमें ९ बजे शुरू की गयी थी। यह प्रथा इतनी सदोष थी कि ज्यों ही लोकमत अधिक जोरोंसे तथा अधिक स्पष्ट रूपसे इसके विरुद्ध प्रकट किया जाने लगा, त्यों ही सरकारको उसे बन्द कर देना पड़ा और अब सामान्य नियम यही है कि सभी न्यायिक कार्य एवं मुकदमोंकी सुनवाई आदि सदर मुकाममें ही नियमानुसार की जाती है। किन्तु सन् १९०८ में उपर्युक्त प्रथा ही व्यापक रूपसे प्रचलित थी। मेरा मामला कमिश्नरके सामने लगान सम्बन्धी अपीलका था। सौभाग्यसे कमिश्नरका शिविर रेल स्टेशनसे दो मील-पर ही था और सड़कसे अधिक दूर भी नहीं। रेलगाड़ियोंका समय सुविधानुरूप होनेके कारण मुझे तो दौरेपर पड़नेवाले मुकदमेके इस पहले अनुभवसे आनन्द ही आया, क्योंकि एक तो इससे मुझे कानपुरकी धूलभरी, गंधमय हवासे बाहर निकलकर देहातकी खुली हवामें जानेका मौका मिला, दूसरे मुझे एक लुभावनी फीस (३१ रूपये) भी मिली।

मुझे एक और अनूठा अनुभव हुआ और वह एक पुराने, चिड़चिड़े तथा जराग्रस्त ब्रिटिश अधिकारीकी मूढ़धारणा सम्बन्धी था जो प्रत्येक वकील या बैरिस्टरको एक घृणित व्यक्ति समझता था। वह पुराने खयालका आदमी था जो 'माँ-बाप' सरकारकी तर्जके प्रशासनमें, अहंमन्यता तथा सुदृढ़ शासनमें पूरा विश्वास करता था और जिसे तथाकथित 'व्यर्थकी बकवास' पसन्द न थी। यह आदमी अपने सामने किसी भारतीयका अंग्रेजी भाषामें बोलना धृष्टताकी पराकाष्ठा समझता था। इस समय ब्रिटिश न्यायिक अधिकारी सामान्यतः यही पसन्द करते थे कि लोग उनसे अंग्रेजीमें संभाषण करें। ऐसा होनेसे अपना काम अधिक शीघ्रतासे करनेमें उन्हें आसानी होती थी किन्तु इन महाशयके मनमें अपनी महत्ताके सम्बन्धमें दूसरे ही विचार थे। भारतीय भाषाओंकी उसे अच्छी जानकारी न थी किन्तु इसकी उसे परवाह न थी। वह नहीं चाहता था कि इस देशका कोई निवासी उसके साथ एक सभ्य भाषा (अंग्रेजी) में उसकी बराबरीसे बातचीत करे। उसे अपनी स्थानीय भाषामें ही बोलना चाहिये। यदि कोई भारतीय इस बातकी शिकायत करे कि मुझे अदालतके सामने अपनी मातृभाषामें बोलनेके लिए क्यों विवश किया जाता है तो यह चीज अनोखी मालूम हो सकती है किन्तु यहाँ तो छिपा हुआ उद्देश्य बोलनेवालेके प्रति घृणा प्रकट करना था, जो निन्द्य ही कहा जायगा। इसके सिवा विश्वविद्यालयसे ताजा निकले हुए भारतीय विधि-स्नातकोंके लिए, जिन्हें सारी शिक्षा अंग्रेजीकी पुस्तकोंसे अंग्रेजीमें ही दी जाती थी, जहाँ (भारतमें) सारी संविधियाँ (स्टैट्यूट्स) अंग्रेजीमें निकलतीं और कानून सम्बन्धी विवरण भी अंग्रेजीमें ही छपते हैं, कानूनी विचार कानूनी शब्दावलीमें प्रकट करनेके लिए जबानपर सबसे पहले वही भाषा आती है। जो हो, इस मामलेमें कोई चारा नहीं था। सूचीमें मेरा मुकदमा तीसरे नम्बरपर था। किसी पेड़के नीचे बैठने और अपने मुकदमेकी पुकार होनेकी प्रतीक्षा करनेके बजाय मैं वहीं चला गया और अपनेसे पहलेके मुकदमोंकी सुनवाई गौरसे देखने लगा। उस समय मुझे कमिश्नरके अनोखे विचारों और उसकी झकका पता चला। जब मेरी बारी आयी, मैंने अदालतके सामने उर्दू बोलना शुरू किया किन्तु एक पारिभाषिक पद (इम्पर्फैक्ट पार्टीशन) बीचमें आ पड़ने और हिन्दुस्तानीमें उसका पर्याय तत्काल सूझ न पड़नेके कारण बदकिस्मतीसे मैंने अंग्रेजी शब्दावलीका ही प्रयोग कर दिया। कमिश्नरने तुरन्त मुझे टोक दिया—'इम्पर्फैक्ट पार्टीशन नहीं समझते'। तब मैंने उर्दूमें उसका अनुवाद कर दिया और फिर बहसका सिलसिला बेखटके चलता रहा। मैंने इस घटनाकी चर्चा कुछ ब्रिटिश अफसरोंकी मनोवृत्तिपर रोशनी डालनेकी गरजसे ही की है जो उन

दिनों प्रायः ही देख पड़ती थी।

इस बीच पण्डित पृथ्वीनाथके प्रकोष्ठोंमें तथा अदालतमें मेरा प्रशिक्षण जोरोंसे चल रहा था। मेरे द्वारा पैरवीके लिए तैयार किये गये मंसौदे और संक्षिप्त लेखोंका वे बारीकीसे संशोधन कर दिया करते थे और कानूनी सिद्धान्तों तथा विचाराधीन मामलोंके सम्बन्धमें बातचीत किया करते थे। उनके संस्मरण तथा व्यक्तियों एवं वकील पेशे सम्बन्धी नैतिकता और व्यवहारपर उनकी अनुभवोक्तियाँ बड़ी बहुमूल्य होती थीं। उन्होंने मुझे अपनी एक बाधक कमजोरीके सम्बन्धमें बार-बार सावधान किया—कमजोरी यह थी कि अक्सर आरंभकी स्थितिमें ही मैं अपनी राय दे दिया करता था। यह एक अक्षम्य दोष था, भले ही मेरी राय सही रहती हो। एक बार इस तरहकी एक मनोरंजक घटना हुई जो मैं यहाँ दे रहा हूँ। एक मुवक्किल भविष्यमें चलाये जानेवाले किसी मुकदमेके सम्बन्धमें सलाह लेनेके लिए आया और पृथ्वीनाथजीने सब बातें पूछकर और समझकर एक पूरा प्रलेख तैयार करनेका आदेश मुझे दिया। मैंने सावधानी और परिश्रमके साथ इसे तैयार कर दिया। इसी समय दुर्भाग्यवश मुवक्किल मुझसे पूछ बैठा कि 'इस सम्भावित मुकदमेके सम्बन्धमें आपकी राय क्या है?' मैंने लापरवाहीसे जवाब दे दिया कि मेरी रायमें मुकदमेमें कोई दम नहीं है। शामको मुवक्किलने पण्डित पृथ्वीनाथसे बातचीत की जिसमें मैं उपस्थित न था। मालूम होता है कि पण्डितजीकी राय इस मामलेमें अधिक आशापूर्ण थी और उन्होंने यह बात उससे कह भी दी। इसपर मुवक्किलने उन्हें मेरी राय भी बता दी जिसे सुनकर सम्भवतः उन्हें थोड़ी-सी परेशानी हुई होगी। दूसरे दिन पण्डित पृथ्वीनाथने मुझे आड़े हाथों लिया, यद्यपि बड़े सौम्य और स्नेहपूर्ण भाव से। 'अरे भाई', उन्होंने कहा, 'इस तरह तुम इस पेशेमें कैसे आगे बढ़ सकोगे, यदि तुम बड़े मामलोंको भी जिनमें अच्छी आमदनी हो सकती है, बिना अच्छी तरह सोचे-समझे हाथसे निकल जाने दोगे?' अपने अविवेकके लिए मैंने उनसे क्षमायाचना की। किन्तु मैं यहाँ यह लिख देना चाहता हूँ कि ज्यों-ज्यों मेरी जानकारी बढ़ती गयी, त्यों-त्यों मेरा आत्मविश्वास भी बढ़ने लगा और मेरे लिए शीघ्र ही परिणामोंपर पहुँच जानेसे अपने आपको रोकना कठिन होने लगा, यद्यपि यह सही है कि ये परिणाम प्रायः ठीक और निर्भ्रान्त ही होते थे। न्यायाधीशोंका तीस वर्षोंका अनुभव प्राप्त कर लेनेके बाद ही अब मुझे इस बारेमें सन्देह होने लगा है कि किसी मामलेमें न्यायाधीश क्या निर्णय करेगा। अपनी युवावस्थामें इस तरहका सन्देह मुझे नहीं होता था और इसीसे मैं अपनी राय दे दिया करता था। मेरी गलती यह थी कि मैं न्यायाधीशको 'क्या करना चाहिये' तथा वह 'क्या करेगा,' इन दोनोंको एक समझ लेता था।

जिलेकी सभी दीवानी अदालतें एक महीनेकी छुट्टीके लिए बन्द कर दी जाती हैं, जो उस समय अक्तूबरके महीनेमें पड़ती थी (अब यह छुट्टी जूनमें दी जाती है)। पण्डित पृथ्वीनाथकी प्रेरणासे मैंने इस लम्बी छुट्टीमें साक्ष्य-संग्रहका काम हाथमें ले लिया था, जो कि वास्तविक एटर्नीका काम था और जो मुझे पसन्द आता था। फीस भी अच्छी मिल रही थी (२० पौण्ड) और राजपूतानेकी यात्रा थी। एक बड़ा मुकदमा चल रहा था जिसमें रीति-रवाजका प्रश्न भी उठ खड़ा हुआ था और पृथ्वीनाथके मुवक्किलको उक्त रीति-रवाजका प्रमाण उपस्थित करना था। वादी-प्रतिवादी राजपूतानेके थे और ऐसे उदाहरणोंका दिखलाना आवश्यक था जिनमें उक्त रिवाजके मुताबिक काम किया गया हो। मुवक्किलके आदमियोंने बहुत-सी सामग्री इकट्ठी कर रखी थी और मेरा काम विभिन्न नगरोंमें जाकर खुद अपनी आँखोंसे यह देखना था कि विभिन्न साक्ष्योंमें कोई तथ्य भी है या नहीं। सारा देश एक मरुस्थल था और दो सप्ताहतक मैं प्रतिदिन सबेरे एक नगरसे दूसरे नगरतक

कई मीलकी यात्रा किया करता था; दिनमें गवाहोंसे बातचीत करता था और तीसरे पहर आस-पासके प्राकृतिक दृश्य देखता था। उस समय वहाँ रेल-मार्ग नहीं थे और मैंने यात्राओंमें सभी वाहनोंका प्रयोग किया—चार पहियोंवाली बैलगाड़ी या रथ, दो पहियोंकी बैलगाड़ी (बहली), घोड़ा तथा खच्चर—अन्तमें यह निष्कर्ष निकाला कि ऊँट सचमुच ही 'मरुस्थलका जहाज है'। ऊँटकी पीठपर मैंने १०० मीलकी यात्रा की और उसमें सचमुच मुझे बहुत आनन्द आया। सवारी कर चुकनेके बाद तुरन्त ही गरम दूध पीने तथा मिठाई खानेसे सारी थकावट और परिश्रान्तिकी भावना दूर हो जाती थी।

इसी मामलेमें जाड़ेके दो महीने मैंने मीरजापुरमें बिताये और मुझे दूसरे पक्ष द्वारा बरती गयी धूर्तताका पहला अनुभव यहाँ हुआ। हम लोग वादीकी तरफसे खड़े थे और हमारे प्रमाण अधिक तगड़े पड़ रहे थे। प्रतिवादीने एक जबानी वसीयतनामा प्रवर्त्तित किया था और एक डाक्टर कर्नल उसका महत्त्वपूर्ण साक्षी था। पण्डित पृथ्वीनाथ कुछ दिनोंके लिए कानपुर चले गये थे और मुकदमा मेरे तथा एक स्थानीय पुराने वकीलके जिम्मे छोड़ दिया गया था। एक दिन सबेरे कर्नल महाशय कचहरीमें आ धमके और प्रतिवादीके वकीलने अदालतके सामने इस आशयकी अर्जी पेश कर दी कि कर्नल.........इंगलैण्ड जा रहे हैं, और बादमें वे जिरहके लिए आसानीसे उपलब्ध न हो सकेंगे, अतः उनका बयान तुरन्त अभिलिखित कर लिया जाय। हमने विरोध प्रकट किया, इसकी पूर्व सूचना मिलनी चाहिये थी, इस बातपर जोर दिया और यह भी आग्रह किया कि पण्डित पृथ्वीनाथ अगले ही दिन आ रहे हैं, किन्तु न्यायाधीशने ईमानदारीसे या बेइमानीसे प्रेरित होकर एक भी न सुनी और उक्त गवाहका तुरन्त ही परीक्षण तथा प्रतिपरीक्षण किया गया। हम लोगोंने भरपूर कोशिश की किन्तु मैं समझता हूँ कि यह भरपूर कोशिश काफी कमजोर रही। समूचा साक्ष्य, हमें बतायी गयी बातोंके अनुसार, बिलकुल असत्य बातोंका पुञ्ज था और दूसरा पक्ष पण्डित पृथ्वीनाथका सामना करनेकी हिम्मत नहीं कर सकता था। इसीसे यह चाल चली गयी थी। उक्त कर्नल इस घटनाके कई सप्ताह बादतक भी मीरजापुरमें ठहरा रहा। यह मैंने पहला सबक सीखा कि मुझे हमेशा चौकन्ना रहना चाहिये।

मीरजापुरसे लौटनेके बाद मैंने किरायेके मकानमें अपना अलग घर ठीक कर लिया और साथमें परिवारको भी—पत्नी, माता, भाई तथा बहिनको—रख लिया और सचमुच सुखी था। मेरे काम करनेका कमरा (आफिस) बहुत मामूली ढंगसे सजाया गया था। वह बिना सामानका, खाली-सा कमरा था जिसमें चटाई तथा सूती दरी बिछी हुई थी और बड़े-बड़े तकिये या मसनद लगे हुए थे, बिलकुल भारतीय ढंगसे। इसी तरह पण्डित पृथ्वीनाथ काम करते थे और मेरे जैसे युवक वकील उनके इस सादगीके ढंगके कारण उनके कृतज्ञ थे। दफ्तरको इस तरह सादगीसे सजाना बिलकुल आसान और कमखर्चीला था। मेरी किताबें तो वहाँ बहुत थोड़ीसी ही थीं किन्तु पण्डित पृथ्वीनाथका ग्रन्थ-बहुल पुस्तकालय तथा वकील मण्डलका पुस्तकालय मेरे लिए खुला हुआ था। ज्यों ही मैं एक हजार रुपये बचा सका—यह तीन वर्षमें सम्भव हो सका—मैंने अपनी समस्त पूँजी इण्डियन ला रिपोर्ट्सकी पूरी फाइल खरीदनेमें लगा दी। मेरे अनेक मित्रोंकी दृष्टिमें यह एक बेमतलबका खर्च था जो मैंने किया। इसका जवाब मेरे पास यही था कि किसी भी कारीगरको अपने औजारोंके बिना कहीं न जाना चाहिये।

६. एक पेचीदा मुकदमा

सभी वर्गों तथा जातियोंके भारतीय अपने सब आर्थिक लेन-देनोंका पूरा-पूरा हिसाब-किताब,

जीवनके एक-एक दिनका भी, रखनेके आदी होते हैं। यह आदत इस तरह यहाँके लोगोंकी नस-नसमें जम गयी है कि एंग्लो इण्डियन अदालतोंमें बहुत प्रारम्भसे ही उसपर न्यायिक टीका-टिप्पणी की गयी थी। और कानपुर शहर, अन्य सभीसे बढ़कर, लेखा-पुस्तकोंका नगर तथा जिला था। लोगोंकी स्वाभाविक प्रवृत्तिको एक बड़े व्यापारी-समाजकी व्यावसायिक आदतोंसे और अधिक पुष्टि प्राप्त होती थी। हिसाब लिखनेकी विशुद्ध भारतीय प्रणाली एक जटिल तथा उबिया देनेवाली चीज है। मैंने देखा है कि हिसाब या सौदेकी एक घटना आठ विभिन्न तरहकी लेखा-पंजियोंमें लिखी जाती है। हिसाब रखनेकी इन पद्धतियोंका विशिष्ट ज्ञान कानपुरके वकीलके लिए, या मेरा तो विश्वास है कि शायद समूचे भारतके वकीलोंके लिए निस्सन्देह एक लाभदायक वस्तु है। मुझे शीघ्र ही उसके रहस्योंको समझनेका अवसर मिला। सन् १९०८–९ में पण्डित पृथ्वीनाथके हाथमें एक पेचीदा मुकदमा था जिसके साथ पचास वर्षोंकी लेखा-पुस्तकोंका घनिष्ठ सम्बन्ध था। ये लेखा-पुस्तकें इतनी अधिक थीं कि उनसे कई गाड़ियाँ भर जा सकती थीं। सैकड़ों छोटी-छोटी और महत्त्वहीन-सी जमा-खर्चकी मदों (टीपों) के आधारपर मुकदमा खड़ा करना था। पण्डित पृथ्वीनाथने इन बहियोंकी छानबीन कर मतलबकी बात निकालने और नोट करनेका काम मेरे सिपुर्द किया और मैंने इस काममें बहुत समय लगाया। मुझे आँकड़ोंके साथ बचपनसे ही प्रेम था, इससे मुझे बड़ी सहायता मिली और मुकदमा खत्म होनेके बाद मैं नित्य 'जमा और खर्च' के रूपमें सोचने तथा स्वप्न देखने लगा। यह ज्ञान जो मैंने इतने परिश्रमसे प्राप्त किया था मेरे समस्त वकीली जीवनमें बड़े कामका साबित हुआ।

हाँ, तो यह मुकदमा भी बड़ा मनोरञ्जक था। उसका सम्बन्ध 'घर जमाई' की उन्नतिके प्रश्नसे था। घर-जमाई बनानेका रिवाज विशुद्ध भारतीय प्रथा है। सम्पन्न परिवारोंमें जब माता-पिता अपनी लड़कीको इतना अधिक चाहते हैं कि उसके विवाहित होनेपर वे सन्तोषपूर्वक उसकी जुदाई सहनेमें असमर्थ होते हैं, तो रिवाज यह है कि प्रायः ऐसी लड़कीका विवाह किसी गरीब आदमीके लड़केके साथ इस शर्तपर कर दिया जाता है कि वर उसे (वधूको) अपने साथ अपने घर न ले जायगा, बल्कि खुद ही आकर वधूके परिवारवालोंके साथ रहने लगेगा। ऐसे मामलोंमें अक्सर दामाद या उसकी पत्नीके लिए कोई-न-कोई आर्थिक व्यवस्था कर दी जाती है। पंजाबमें स्थानीय रिवाजके अनुसार ऐसे दामादोंको कुछ विशेषाधिकार प्राप्त होते हैं जिनका पालन न्यायालयों द्वारा कराया जा सकता है। इस तरहका एक घर-जमाई श्री सूरजकुमार हमारा मुवक्किल था। उसने अपनी पत्नीके समवंशीय सम्बन्धियोंके विरुद्ध यह दावा किया कि पत्नीके उत्तराधिकारीके रूपमें कुछ वास्तविक सम्पत्ति पानेका मेरा भी हक है। उसने सोनेकी मोहरें दिये जानेकी एक आश्चर्यजनक कहानी सुनायी जो सुननेमें इतनी अच्छी लगी कि खामखाह उसकी सत्यताके सम्बन्धमें सन्देह होता था, फिर भी सिविल जजने उसपर विश्वास कर लिया। जब अपील की गयी तो उच्च न्यायालयको इसपर विश्वास नहीं हुआ और उसने स्पष्ट रूपसे अपना सन्देह प्रकट किया, किन्तु और आगे अपील करने पर प्रिवी कौन्सिलने उसका दावा स्वीकार कर लिया। लार्ड समनेरने प्रिवी कौन्सिलका निर्णय सुनाया।[१] वे काव्यमय गद्य लिखनेमें बड़े सिद्धहस्त थे और कलात्मक तथा अद्भुत वस्तुएँ पहचान लेनेकी विलक्षण क्षमता उनमें थी। इस मामलेके विचित्र एवं मनोरञ्जक अंशसे वे विशेष प्रभावित हुए। उनके फैसलेका एक भाग अभीतक मेरी स्मृतिमें विद्यमान है।

सूरजकुमारने अपनी देखी हुई बातोंकी चर्चा करते हुए कहा था कि "मुझे अच्छी तरह याद है, बस्तीरामने मृत्युसे लगभग तीन महीने पहले, ठीक उसी दिन जिस दिन उन्होंने 'गंसत दान'

१. मोतीलाल, विरुद्ध कुन्दनलाल (१९१७), इलाहाबाद ला० ज० ३२९।

किया था, मेरी पत्नी शिवरानीको, मेरे रूबरू दस हजार रुपयेके मूल्यकी सोनेकी मुहरें दीं और अपनी पत्नी बब्बोकुँवरसे कहा—'तुम दस हजार रुपयेका कोई गाँव अपनी लड़कीके लिए खरीद दे सकती हो।" सूरजकुमारकी उम्र उस समय १३ वर्षसे कुछ अधिक थी। उसने गवाहके रूपमें अपने एक मित्रको बुलाया जो १० वर्षका लड़का था और उसी परिवारमें रहता था। उसने कहा कि मुझे वह दृश्य याद है। १३ वर्ष के पति पर क्या प्रभाव पड़ा होगा, यह एक अधिक सन्दिग्ध बात है जो उसके १० वर्षके मित्रको याद हो।

जैसा कि कहा जा चुका है, तिवारी परिवार सम्पन्न परिवार था। उसका एक बड़ा जमींदारीका इलाका था और बहुत पहलेसे जमा हुआ महाजनीका कारबार भी चलता था। गल्लेका तथा सोने-चाँदीका व्यापार भी होता था। इस तरहके सब लेनी-देनीका अभिलेख, सूक्ष्म ब्योरेके साथ, उन लेखा-पुस्तकोंमें मौजूद था जो उक्त लेन-देनोंकी ही तरह जटिल और बहुसंख्यक तथा विस्तृत थीं। रैय्यतसे प्राप्त विविध लगान तथा सीरकी जमीनके मुनाफेकी रकमोंका ब्योरा उनमें दिया हुआ था। सैकड़ों रुपयोंसे लेकर छोटी-छोटी रकमोंतक दर्ज थीं। विभिन्न राजवंशों द्वारा चलायी गयी सोनेकी मुहरोंकी खरीद भी उसमें दी हुई थी और एक-दो आनेकी मिसरी या दो-तीन पैसे नमकका खर्च भी लिखा हुआ था।

बहुत लम्बी और महत्त्वपूर्ण कालावधितक लेखा-पुस्तकें आती रहीं। मुकदमेका विचार आरम्भ होनेके पहले ही एक कमिश्नरने उनकी जाँच की थी, जो ऐसी आशा की जाती है कि अपनी रिपोर्ट अन्य किसी भी व्यक्तिसे अधिक अच्छी तरह समझता था। मुकदमेपर विचार होते समय अदालतके अहातेमें कई बैलगाड़ियोंसे लदी हिसाबकी बहियाँ मौजूद थीं। दर्ज की हुई खास-खास रकमोंकी समीक्षा की गयी थी और साक्ष्यमें उन्हें समझाया गया था।

मुझे बड़े अफसोसके साथ यह बात लिखनी पड़ रही है कि यही अन्तिम मुकदमा था जिसमें मुझे पण्डित पृथ्वीनाथका पथप्रदर्शन उपलब्ध हो सका था। इसके बाद उनका स्वास्थ्य बिगड़ने लगा। चिकित्साके लिए वे १९०९ के मध्यमें कलकत्ते भी गये, पर कोई लाभ नहीं हुआ और लम्बी बीमारीके बाद मार्च १९१० में, केवल ५२ वर्षकी उम्रमें ही, उनका स्वर्गवास हो गया। भारतीयोंके लिए भी, जिनकी आयुका प्रतिमान अपेक्षाकृत कम ही माना जाता है, यह एक अकालमृत्यु थी। कानपुरके नागरिकोंको उनके निधनसे विशेष दुःख हुआ और उनकी अरथीके साथ बहुसंख्यक लोग श्मशान-घाटतक गये थे। मुझे उस समय भी दुःख हुआ था और आज लगभग आधी शताब्दी बीत जानेके बाद भी हो रहा है। जो कुछ मैं हूँ, उन्हींका बनाया हुआ हूँ। उन्होंने मेरी रहनुमाई न की होती तो मेरी क्या गति होती, मैं कह नहीं सकता। वे बड़े नेकदिल थे और दूसरोंसे मेरी चर्चा करते हुए मेरी प्रशंसा कर दिया करते थे, यद्यपि वे व्यर्थके शब्द न कहने-लिखनेका हमेशा ध्यान रखते थे और किसीकी झूठी प्रशंसा करनेमें भी हिचकते थे। जब १९०९ में मेरे पिताने उनसे प्रथम बार भेंट की तो उन्होंने मुसकुराते हुए और स्नेहपूर्वक शिकायत की कि मैं उनके साथ बैठकर भोजन नहीं करता। उन्होंने पिताजीको निश्चय दिलाया कि 'वकालतके पेशेमें आपका लड़का निश्चय ही उन्नति करेगा।' यद्यपि ४५ वर्ष बीत गये, फिर भी कानपुरमें आज भी उनके नामका जादू-जैसा प्रभाव देख पड़ता है। उनकी स्मृति ताजी है और हमेशा ऐसी रहेगी, जबतक वह बड़ा हाई स्कूल जिसका प्रतिष्ठापन उन्होंने किया था और जो उनके नामसे प्रसिद्ध है, फूलता-फलता और कानपुरवालोंकी सेवा करता रहेगा।[1]

१. पण्डित पृथ्वीनाथके चारों पुत्रोंने वकालतका पेशा अख्तियार किया और तीनकी शिक्षा

पण्डित पृथ्वीनाथकी मृत्युके समय मैं कानपुरमें अच्छी तरह बस चुका था और कुछ मित्र भी बना चुका था। इनमेंसे एकने आगे चलकर पण्डित पृथ्वीनाथके वियोगका मेरा दुःख हलका कर दिया। बाबू आनन्दस्वरूप कानपुर-बारके एक और अग्रणी थे जो अल्पभाषी तथा कुछ कम मिलनसार प्रवृत्तिके आदमी थे, किन्तु थे बड़े विद्वान्, स्वाभिमानी तथा सज्जन। अपने जवानीके दिनोंमें उन्हें अक्सर पण्डित पृथ्वीनाथके साथ मिलकर काम करना पड़ता था। मैं शीघ्र ही उनके सम्पर्कमें आया। उनके छोटे भाई श्री ब्रजेन्द्रस्वरूप भी, वकील-परिषद्के सदस्य थे और एक होनहार युवक वकील थे। इन दोनों भाइयोंने मेरे प्रति अपरिमित स्नेह दिखलाया और सचमुच ही मुझे अपना छोटा भाई-सा तथा अपने परिवारका सदस्य बना लिया। वकालतका पेशा आरम्भ करनेवालेके लिए यह एक बड़ी शुभावह बात है कि उसे समादरणीय महानुभावोंके साथ काम करनेका सुयोग मिले। ऐसा ही सुयोग मुझे प्राप्त हुआ था। पण्डित पृथ्वीनानाथ और श्री आनन्दस्वरूप अपने उदाहरण तथा उपदेशसे और अपनी मित्रताके समादरसे मुझे सीधे मार्गपर चलाते रहे, ऐसे समय जब कि इस-ओर या उस ओर बहक जाना नितान्त आसान था और घातक भी।[1]

७. लालूराम सम्बन्धी एक दुःखद घटना

इस बीचमें मैं धीरे-धीरे उन्नति करता रहा। पण्डित पृथ्वीनाथके कुछ मुवक्किल मेरे साथ बने रहे। इनमेंसे एकका मुझे खास तौरसे स्मरण है, क्योंकि उसके साथ एक दुःखद घटनाका सम्बन्ध है। इसका नाम था लालूराम। उसने एक बड़ा-सा मुकदमा पण्डित पृथ्वीनाथके हाथमें दे रखा था और मैं उनका सहायक था। जब पृथ्वीनाथजी कलकत्ते चले गये तो लालूरामके दिलमें मुकदमेके सम्बन्धमें चिन्ता उत्पन्न हो गयी। उसने पृथ्वीनाथको नया वकील करनेके लिए पत्र लिखा। उसे खुद पृथ्वीनाथके हाथकी लिखी दो पंक्तियोंका यह जवाब मिला—'मुकदमा पण्डित कैलाशनाथके हाथमें ही रहने दो। वे योग्यतापूर्वक उसका संचालन करेंगे।' लालूरामके लिए इतना आश्वासन काफी था। उसने ख्याल किया कि पण्डित पृथ्वीनाथने जो सलाह दी है, उसका खण्डन नहीं किया जा सकता, वह अवश्य ही ठीक होगी। इस तरह एक महत्त्वपूर्ण मुकदमा बारह महीनेसे वकालत करनेवाले नये वकीलके (मेरे) हाथमें छोड़ दिया गया। लालूराम हमेशाके लिए मेरा मुवक्किल बन गया। कई वर्षोंके बाद वह मुझे इलाहाबादसे कानपुर, सिविल जजके सामने पेश अपने एक मुकदमेमें पैरवी करनेके लिए बुला लाया। जब मुकदमा शुरू हुआ तो प्रतिवादीने बयान दिया कि यदि वादी

इङ्गलैण्ड में हुई। वे लखनऊकी अदालतोंमें वकालत करते थे। सबसे बड़े श्री जगमोहन नाथ चाक, बैरिस्टर जो मेरे परम प्रिय मित्र हैं, कई वर्षोंतक लखनऊ विश्वविद्यालमें विधि-विभागके डीन रह चुके हैं।

१. बाबू आनन्दस्वरूपका सार्वजनिक जीवन काफी प्रभावशाली रहा। वे संयुक्त प्रान्तकी व्यवस्थापिका सभाके उपाध्यक्ष बनाये गये थे। उनकी मृत्यु कई वर्ष पहले हो चुकी है। उनके छोटे भाई श्री ब्रजेन्द्रस्वरूप सौभाग्यसे अभी हमारे साथ हैं और वकील हैं और वकालतमें उन्होंने अच्छी उन्नति कर ली है और इस समय बार असोसियेशन, वकील-परिषद्के के सभापति हैं। वे सार्वजनिक सेवामें भी सक्रिय रहे हैं और कितने ही वर्षोंतक नगरके म्यूनिसिपल निगम तथा इम्प्रूवमेंट ट्रस्टके अध्यक्ष रह चुके हैं। हमारी मित्रता और आपसकी प्रीति समयकी गतिके साथ अधिकाधिक गहरी होती रही है। उनके घरको कानपुरमें मैं अपना ही घर समझता हूँ और हम लोगोंके बच्चे एक दूसरेको सगे चचेरे भाई समझते हैं।

गंगा नदीका, जो कानपुरमें दीवानी अदालतके बगलमें ही बहती है, पवित्र जल ग्रहणकर शपथ ले तो मैं उसकी बात सत्य मानूँगा। यहाँ यह बात स्पष्ट कर देनी चाहिये कि भारतमें सभी गवाहों-को शपथ लेकर या निष्ठापूर्वक बयान देना पड़ता है। प्रत्येक व्यक्तिको सामान्य शपथ ही दिलायी जाती है किन्तु शपथोंके सम्बन्धमें एक संविधि (स्टैट्यूट) भी है कि यद्यपि कोई भी गवाह किसी विशेष प्रकारसे शपथ लेनेके लिए बाध्य नहीं किया जा सकता, फिर भी वह चाहे तो, दोनों पक्षोंमें इस आशयका समझौता हो जानेपर, विशेष ढंगकी शपथ ग्रहण कर सकता है। तब यह समझौता अदालतके कागजोंमें दर्ज कर दिया जाना चाहिये, उस ढंगसे शपथ दिलाना चाहिये और समझौतेको कार्यान्वित कराना चाहिये। अदालतकी काररवाईका विस्तार घटा देनेके लिए विशेष-कर उस समय जब कि साक्ष्य अपर्याप्त हो और शपथके विरुद्ध शपथ ग्रहण करनेकी स्थिति उत्पन्न हो गयी हो, इस तरीकेका प्रयोग बहुधा किया जाता है। मामूली शपथ या स्वीकार करनेका विशेष ढंग अधिक भय उत्पन्न करनेमें असमर्थ होता है और गवाह बिना किसी हिचकके झूठ बोल दिया करते हैं। किन्तु विशेष ढंगकी शपथ ग्रहण करना—गंगाजल या कुरान उठा लेना या किसी विशिष्ट देवता अथवा स्थानीय ख्यातिके किसी महात्माका नाम लेकर कहना—मामूली बात नहीं समझी जाती। यदि कोई पक्ष इस बातके लिए तैयार हो जाय कि विरोधी व्यक्ति विशेष ढंगकी शपथ ग्रहण कर जो बातें कहेगा, मैं उसे मान लूँगा, तो स्वभावतः इससे यह प्रभाव पड़ता है कि वह आदमी सच्चा एवं निष्कपट है तथा जो आदमी इसे माननेसे इनकार कर देता है उसके प्रति एक अप्रिय-सी भावना उत्पन्न हो जाती है और न्यायाधीशपर भी सचमुच उसका प्रतिकूल-सा प्रभाव पड़ता है। वह बाध्य तो नहीं कर सकता किन्तु वह आसानीसे उस सब साक्ष्यपर अविश्वास-कर सकता है जो इसके बाद मामूली तरीकेसे उसके सामने रखा जाता है। मनुष्यके लिए यह बात बहुत स्वाभाविक है और मुझे इसके कितने ही उदाहरण मालूम हैं। इसलिए बेचारा लालूराम बड़े असमंजसमें पड़ गया। यह साफ प्रतीत होता था कि वह गंगाजल उठानेको तैयार न था किन्तु इसके साथ-साथ वह एक अनुभवी मुकदमेबाज था और जानता था कि इनकार करनेका उलटा असर उसके मुकदमेपर पड़ेगा। वह मुझे बाहर ले गया और उसने मेरी राय पूछी। मैंने कहा कि यह ऐसा मामला है जिसमें तुम्हें खुद ही निर्णय करना चाहिये। वह एक आवश्यक गवाह था और उसका संपरीक्षण करना मेरे लिए लाजिम था। फिर मेरी दृष्टिमें शपथ शपथ ही है, चाहे किसी तरहसे वह दिलायी गयी या ली गयी हो और और प्रत्येक शपथ तथा निष्ठापूर्ण कथन समान रूपसे पवित्र तथा गुरुतापूर्ण है। वह रुक गया और विचार करने लगा। स्पष्ट है कि धनके लोभने उसकी सचाई और ईमानदारीकी भावनापर काबू पा लिया, अतः उसने उक्त शपथ ग्रहण करना मंजूर कर लिया। पीतलके लोटेमें गंगाजल लाया गया, उसने उसे उठा लिया और फिर ऐसा दृश्य सामने आया जिससे मुझे बड़ा दुःख हुआ और ऐसा लगा मानो मुझे बड़ा अपमानित होना पड़ा हो। वह चीज आजतक मेरी स्मृतिमें गड़ी हुई है। लालूरामका सारा शरीर काँपने लगा, उसका हाथ विशेष रूपसे काँप रहा था और उसने बड़ी कठिनाईसे किसी तरह इस वाक्यका उच्चारण किया—'मेरा दावा सच्चा है, रुपया मुझे पावना है।' बस इतना ही उसने कहा और वह मूर्च्छित-सा होने लगा। प्रत्येक की समझमें यह बात आ गयी कि वह झूठ बोल रहा है, पर कोई चारा न था। न्यायाधीशने, समझौतेकी शर्तोंके अनुसार, लालूरामके पक्षमें फैसला दिया। मैं कुछ लज्जित-सा होकर न्यायालयके बाहर आया, क्योंकि पूर्व अनुभवके आधारपर मैं लालूरामको अपने व्यवहारमें बहुत खरा और ईमानदार सम-

झता था। लालूराम मेरा अभिवादन किये बिना ही वहाँसे चला गया। मैं समझता हूँ कि मेरे चेहरेकी ओर देखनेकी उसकी हिम्मत ही न पड़ी होगी।

अब इसके दुःखद परिणामकी बात सुनिये। कुछ सप्ताहोंके बाद प्रतिवादी मेरे पास इलाहाबाद आया। वह मुझे एक अन्य मामलेमें वकील बनाना चाहता था। बातचीतके सिलसिलेमें उसने मुझसे पूछा—'क्या आपको मालूम है कि लालूरामका क्या हुआ?' जब मैंने कहा कि मुझे नहीं मालूम, तब उसने बतलाया कि—'उक्त शपथ ग्रहण करनेके आठ दिनोंके भीतर ही उसके एकमात्र पुत्रकी मृत्यु हो गयी। उसने झूठी शपथ ली थी। वह इसे अच्छी तरह जानता था। गंगा माई इसी तरह उसे दण्ड देती हैं जो उनके नामसे झूठी शपथ लेता है।' मैंने फिर कभी लालूरामको नहीं देखा। मुझे विदित हुआ कि इसके कुछ ही दिनों बाद उसकी भी मृत्यु हो गयी—जिसका कारण सम्भवतः यह था कि उसका दिल टूट गया था।

मैं केवल वास्तविक घटनाएँ ही यहाँ दे रहा हूँ। मैं जानता हूँ कि यह सब अंधविश्वास है। लड़केकी मृत्युका कारण सम्भवतः कोई खतरनाक सांस्पर्शिक या संक्रामक रोग रहा होगा। किन्तु सीधे-सादे, धार्मिक मनुष्योंके मनसे यह विश्वास किसी भी तरह दूर नहीं किया जा सकता कि गंगा माता अथवा पवित्र कुरान उन्हें अवश्य दण्ड देता है जो उन्हें इस तरह कलंकित करता है। बहुतसे अनुभवी न्यायाधीश, उदाहरणके लिए इलाहाबाद हाईकोर्टके न्यायाधीश सर डगलस यंग इस तरहकी विशेष ढंगकी शपथोंकी वांछनीयतासे—विशेषकर हत्या आदि जैसे संगीन मामलोंमें—इतने अधिक प्रभावित हुए हैं कि वे इस बातपर बराबर जोर देते हैं कि कानूनमें ऐसा परिवर्तन कर दिया जाय जिससे अदालत उन मामलोंमें विशेष ढंगकी शपथ दिला सके जिनमें न्याय करनेकी दृष्टिसे इसकी आवश्यकता हो।

× × ×

सन् १९०९ के मध्यमें कानपुरमें श्री आस्टिन केण्डाल नामके एक पुराने जिला तथा दौरा जज नये-नये बदलकर आये थे और उनके आगमनके एक सप्ताहके भीतर ही मैं कुछ-कुछ मनोरञ्जक ढंगसे उनकी नजरमें आ गया। एक छोटेसे मामलेमें मैंने उनकी अदालतमें अपील दायर की थी। अपीलका वक्तव्य मैंने जबानी दिये गये विवरण तथा मामलेपर विचार करनेवाले न्यायाधीशके फैसलेके आधारपर तैयार किया था। मेरी अपील कुछ बातें पहलेसे सत्य मान लेनेके आधारपर तथा ऐसी दलीलोंपर आश्रित थी जो बादमें अदालतके अभिलेखको पढ़नेसे गलत साबित हुईं। वस्तुतः जो कारण बतलाये गये थे वे उस वास्तविक कारणसे बिलकुल भिन्न थे जो अपील करनेवालेके पक्षमें था। जब मैंने श्री केण्डालके सामने अपील रखते हुए भाषण शुरू किया तो मैंने वास्तविक कारणपर जोर दिया और जजपर उसका अच्छा प्रभाव न पड़ा। किन्तु अपीलके जो लिखित कारण बताये गये थे, उनसे मेरी बहसकी दलील बिलकुल मेल नहीं खाती थी और उनके विरुद्ध पड़ती थी। श्री केण्डालने तुरन्त मुझे टोका और पूछा कि लिखित वक्तव्यकी किस दलीलके आधारपर आप ये सब बातें मेरे सामने रख रहे हैं? बिना किसी हिचकके किन्तु थोड़ी-सी मुसकराहट और आँखकी झपकके साथ मैंने जवाब दिया—'जी, नम्बर ६ की दलीलके आधारपर।' उक्त छठी दलील इन शब्दोंमें व्यक्त की गयी थी—'ऊपर बताये गये तथा अन्य कारणोंके आधारपर निवेदन किया जाता है कि पुनर्न्यायप्रार्थना कृपया स्वीकार की जाय और नीचेकी अदालतका फैसला मनसूख कर दिया जाय।' वे खुलकर मुसकरा पड़े और मैंने सब बातें उनसे साफ-साफ कह दीं और उन्हें बतला दिया कि किस तरह मुझसे भूल हो गयी थी और सारी स्थिति ही मैंने गलत समझ ली थी। दूसरे पक्षकी

दलील सुन लेनेके बाद उन्होंने अपील मंजूर कर ली। अपना फैसला उन्होंने इस तरह शुरू किया—'यह एक सीधा-सादा मामला है। इसकी वास्तविक कठिनाई अपीलके सम्बन्धमें दी गयी (लिखित) दलीलोंके कारण उत्पन्न होती है। अपीलकर्त्ताके नवयुवक वकील द्वारा दी गयी स्थिति आदि सम्बन्धी कैफियतको मैं स्वीकार करता हूँ।' यह नवयुवक वकील इसके बादसे श्री केण्डालसे बहुत हिल-मिल गया और उनके सामने वह बिलकुल निस्संकोच रहने लगा। धीरे-धीरे उनकी अदालतमें मेरी वकालतका जोर बढ़ने लगा और वकीलखानेके पुस्तकालयमें यह चर्चा होने लगी कि श्री केण्डाल काटजूपर विशेष मेहरबान हैं और उनकी बातें बड़े ध्यानसे और रहमसे सुनते हैं। लगभग एक वर्षके बाद मैं उनसे मिलने गया तो उन्होंने मुझसे प्राविंशियल जुडीशल सर्विसमें प्रविष्ट हो जानेका आग्रह किया। मैंने बिलकुल निस्संकोच भावसे उत्तर दिया कि वर्तमान प्रक्रियाके अनुसार अक्सर अस्थायी नियुक्ति ही होती है और बीच-बीचमें महीनों खाली बैठना पड़ता है। तब कहीं दो-तीन वर्षमें स्थायी नियुक्ति होती है। मैंने उन्हें बतलाया कि मैं इस तरह अपना समय बरबाद नहीं कर सकता, क्योंकि मेरे ऊपर अपने परिवारकी परवरिशका भार है। उन्होंने मुझे भरोसा दिलाया कि मैं इस बातका भरसक प्रयत्न करूँगा कि तुम्हें तुरन्त ही स्थायी पद मिल जाय। तीन वर्षतक वकालत कर चुकनेके बाद ही नियुक्तिकी अर्हता प्राप्त होती है। तीन वर्षकी यह अवधि समाप्त हो जानेपर मैंने आवेदनपत्र भेजनेका विचार किया और जिन-जिन जजोंकी अदालतमें मैंने काम किया था उनसे अपनी योग्यता सम्बन्धी प्रमाणपत्र प्राप्त कर लिये किन्तु इसके लिए मैं बहुत उत्सुक न था और पिताजी भी चाहते थे कि मैं वकालतके पेशेपर ही जमा रहूँ। यही मैंने किया। मेरे भाग्यमें किसी ब्रिटिश न्यायालय—जिला अदालत हो या उच्च न्यायालय—के आसनपर बैठना नहीं बदा था, वरन् किसी ब्रिटिश बन्दीगृहकी कोठरीमें कैद होना बदा था और ऐसी ही घटनाएँ शीघ्र घटित होनेवाली थीं[1]। जो हो, मैं श्री केण्डालके प्रति हमेशा कृतज्ञ रहूँगा उस प्रोत्साहन, दयालुता एवं शिष्टताके लिए जो वे कई वर्षोंतक अपनी अदालतमें मेरे लिए प्रदर्शित करते रहे। वकील-मण्डलका प्रत्येक सदस्य जानता है कि न्यायाधीशके एक कृपापूर्ण शब्दका, आगे बढ़नेकी चेष्टा करनेवाले नये वकीलके लिए क्या अर्थ होता है। यह निश्चित है कि श्री केण्डाल हाईकोर्टके जज हो गये होते—वे लखनऊ कोर्टमें स्थानापन्न जजके रूपमें कामकर चुके थे—किन्तु उन्होंने १९१६ में प्रथम महायुद्धमें लड़ाईका कुछ काम ग्रहणकर लिया था और समयसे बहुत पहले ही उन्होंने पदत्याग कर दिया। वे एक बुद्धिमान और न्यायप्रेमी जज थे।

८. प्रसिद्धि दिलानेवाले कुछ मुकदमे

यह एक जानी हुई बात है कि कभी-कभी कोई खास मुकदमा किसी वकीलके जीवनकी गति ही मोड़ देता है। इंग्लैंडमें इसकी अधिक सम्भावना रहती है, जहाँ वकीलकी कानून सम्बन्धी योग्यता और कुशलताकी परख करनेके लिए कानूनी सलाहकारोंकी प्रशिक्षित संस्था काम करती है। उदाहरणके लिए एर्सकिन, लार्ड एल्डन, बेंजमिन तथा हैल्डेनके वकीली जीवनका उल्लेख किया जा सकता है। किन्तु भारतवर्षमें विवादी लोग (मुकदमा लड़नेवाले) अधिकतर अशिक्षित और बहुधा नासमझ तथा निरक्षर होते हैं। वे अंग्रेजी नहीं जानते, कचहरीमें होनेवाली काररवाई और बहसका

१. अभी उस दिन एक भारतीय सिविल जजने जिन्होंने मुझे कृपाकर एक प्रमाण-पत्र दिया था, बातचीतके सिलसिलेमें मुझे उसकी याद दिलायी। मैंने जवाब दिया मैं अभीतक उसे सम्भाल कर रखे हुए हूँ।

और दृढ़तापूर्वक यह माँग की कि उक्त मिल्कियत लौटा दी जाय, हिसाब बनाने और प्रतिवादी के हाथमें फाजिल बचे हुए मुनाफेके रूपमें १५००० रुपया दिलानेकी भी प्रार्थना की[१]।

बेचारे बच्ची सिंहके भाग्यने निश्चित रूपसे पलटा खाया। स्पष्ट है कि उसके विरोधियोंने इस मुकदमेको कोई महत्त्व ही नहीं दिया। पुराने लेन-देनके सम्बन्धमें अमूमन् उन्होंने बहुत कम छानबीन की थी। उनके वकील भी आत्मसंतुष्ट-से थे। उन्हें अपने मामलेके पोख्तापनपर आवश्यकतासे अधिक विश्वास था और उन्होंने व्यर्थ ही असावधानीके साथ खुद अपने मुँहसे कई ऐसी बातें स्वीकार कर लीं जो उनके लिए हानिकर साबित हुईं। वे अपनी दृढ़ रक्षा-पंक्तिपर, अवधि सम्बन्धी संविधिपर, पूरा भरोसा किये बैठे रहे। जब मुकदमेपर विचार प्रारम्भ हुआ, तब सिविल जज, जो एक मेहरबान और विनोदशील व्यक्ति था, मामलेको कोई महत्त्व देनेके लिए तैयार न था। मेरी विशद तर्कपरम्परा सुनकर, जो मैं नया वकील होनेके नाते पूरी उत्सुकता एवं उत्साहके साथ प्रस्तुत कर रहा था, वह बारबार यही हास्यमय अभ्युक्ति किया करता था—'तुम बहुत पतले, बहुत कमजोर डोरेपर अपनी गुड्डी उड़ानेका प्रयत्न कर रहे हो।' फिर भी वह मेरी बहस बराबर ध्यानसे सुनता रहा और मैंने उसके सामने समुचित प्रमाणोंका ढेर लगा दिया। जहाँतक प्रतिवादियोंका सवाल था, ज्यों ही उनकी रक्षा-पंक्ति टूटी, उनका सारा मामला ही खत्म हो गया। न्यायाधीशने अपना निर्णय स्थगित रखा। वे बड़े विवेकी व्यक्ति थे और समस्त अभिलेख वे खुद ही बड़ी सावधानीसे पढ़ा करते थे। एक महीनेके बाद, जब मैं एक और मुकदमेमें उनकी अदालतमें गया तो उन्होंने कहा—'मैं समझता हूँ कि आखिरकार तुम्हारी गुड्डी उड़कर ही रहेगी' और मैं समझ गया कि मुकदमेमें हमारी जीत हो गयी। न्यायाधीशने हमें प्रत्येक वस्तु दिला दी, फाजिल मुनाफा तथा अन्य सब चीजें भी। मैं अब भी सन्देहकी स्थितिमें था और बच्ची सिंहके लिए भयभीत हो रहा था, क्योंकि अभी सर्वोच्च न्यायालयमें इसकी अपील होना अनिवार्य था। किन्तु बच्ची सिंहका भाग्य जबर्दस्त था—अपील खारिज कर दी गयी। साल ही भरके अन्दर प्रिवी कौंसिलमें एक निर्णय हुआ, जिसका सहारा यदि लिया जाता तो बच्ची सिंहके मामलेकी धज्जियाँ उड़ जातीं। मुकदमेबाजीमें ऐसे ही अवसर आया करते हैं—यह एक तरहका जुआ है[२]।

जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ, इस मुकदमेमें वकीलको पैसा मिलनेकी उम्मीद न थी। बची सिंह बहुत ही गरीब और अकिंचन था। मैं नहीं समझता कि वह २००) से अधिक खर्च कर

---

१. अपने मित्र, श्री ब्रजेन्द्रस्वरूपको जब मैंने अपना मसौदा दिखलाया, तो वे मेरा साहस और, उन्हींके शब्दोंमें, मेरे दावेकी असाधारणता देखकर दंग रह गये। उन्होंने मुझे बतलाया कि बची सिंह कई वर्षोंसे कानपुरके प्रायः प्रत्येक वकीलको, विशेषकर प्रत्येक नये वकीलको, परेशान करता रहा है। किन्तु कोई भी उसका मुकदमा हाथमें लेनेको तैयार नहीं होता था, क्योंकि मामलेके कोई कागज-पत्र ही न थे, कोई सामग्री न थी, अतः उसमें भारी कठिनाई थी और वह कमजोर पड़ता था। सबसे बुरी बात तो यह थी कि उसमें वकीलको समुचित फीसतक मिलनेकी आशा न थी।

२. हाईकोर्टका फैसला संक्षेपमें इलाहाबादके लॉ जर्नलमें छपा था, दे० नारायणदास बनाम बची सिंह (१९१२, मुकदमों सम्बन्धी टिप्पणियाँ)। विवरण भेजनेवालेको उस मानवी नाटकका क्या पता था जो इस मामलेके पीछे विद्यमान था और न उसे यही ज्ञात था कि वकालतके पेशेमें आगे बढ़नेका प्रयत्न करनेवाले नवयुवकके लिए उसका कितना अधिक महत्त्व था।

सकता था—फीस तथा मुकदमेका अन्य सब व्यय मिलाकर। मैं हाईकोर्टकी बात नहीं जानता, मेरी फीस थी ३५) और जीत हो जानेपर उसने ३५) मेरे हाथमें और थमा दिये (मेरे इनकार करनेपर भी वह नहीं माना)। मुझे परिश्रम बहुत करना पड़ा था और लम्बे अरसेतक करना पड़ा था—वस्तुतः मैंने जीवनमें इससे अधिक परिश्रम कभी नहीं किया था—किन्तु मैंने यह परिश्रम प्रेमवश स्वेच्छासे किया था और आज भी, तैंतीस वर्षके बाद मैं इस कामयाबीका स्मरण बड़े सन्तोष-के साथ करता हूँ। उसका मामला निश्चय ही इतना न्यायोचित तथा विचारणीय था।[1]

मुझे अपना पुरस्कार अन्य रूपसे मिल गया। इस मुकदमेकी खूब शोहरत हुई और वकीलोंके पुस्तकालयमें इसकी बहुत चर्चा रही तथा बहस भी होती रही। इसने उस देहाती इलाकेमें अच्छी-खासी हलचल-सी मचा दी जहाँ बच्ची सिंह रहता था और इस सबसे मुझे बड़ा लाभ पहुँचा। एक और मुकदमा—जिसका परिणाम भी ऐसा ही अनुकूल और अच्छा हुआ—कुछ बेढंगे तरीकेसे मेरे सामने आया। सन् १९१० में एक दिन जब वकालत करते हुए मेरा दूसरा वर्ष चल रहा था, मैं बार-लाइब्रेरी (पुस्तकालय) में बैठा हुआ था कि किसीने एक विचाराधीन मामलेका संक्षिप्त विवरण मेरे हाथमें थमा दिया। मुझे कुछ आश्चर्य-सा हुआ, विशेषकर इसलिए कि उसमें पहलेसे ही अधिक पुराने और अनुभवी वकील काम कर रहे थे। मुवक्किल एक साँवला-सा, तगड़ा और काफी चतुर देख पड़नेवाला व्यक्ति था। मामला बिलकुल सीधा-सादा था। वह उस मुकदमेमें प्रतिवादी था जो उसके रेहनदारने बन्धकका रुपया वसूल करनेके लिए चलाया था। सफाईमें यह दलील दी गयी थी कि रेहनपर जो ऋण लिया गया था वह पूराका पूरा अदा कर दिया गया है। इसके सबूतमें रेहनदारकी दी हुई एक रजिस्ट्री शुदा रसीद पेश की गयी। कहा यह गया कि अदायगी कई किस्तोंमें की गयी जिनमेंसे अन्तिम किस्तकी यह रसीद है और रेहनपर लिया गया कर्ज पूरी तौरसे चुका दिया गया है। इसके जवाबमें वादीने प्रतिवादी द्वारा कई किस्तोंके रूपमें की गयी अदायगीसे साफ इनकार कर दिया और कहा कि केवल एक बार आंशिक रूपसे अदायगी की गयी थी जिसकी रसीद जाब्तेसे दे दी गयी थी। दुर्भाग्यवश रसीदकी शब्दावली बड़ी संदिग्ध रह गयी थी और उसका अर्थ दोनों पक्षोंमें लगाया जा सकता था। किन्तु रेहनदारने अपने पाससे निकाल कर मूल रेहन-नामा पेश कर दिया था। यह एक महत्त्वकी चीज थी जो उसके पक्षमें जाती थी, क्योंकि भारतमें सामान्य रिवाज यही है कि पूरी अदायगी हो जानेपर रेहननामा फाड़ दिया जाता है, उसकी पुश्तपर अदायगी हो जानेकी बात लिख दी जाती है और कागज कर्ज लेनेवालेको लौटा दिया जाता है। स्पष्ट ही यह एक सीधी सी बात थी और मैं समझ नहीं पा रहा था कि आखिर इस सम्बन्धमें मेरा ध्यान आनेकी किसीको क्यों आवश्यकता पड़ी। जिस न्यायाधीशकी अदालतमें मुकदमा चल रहा था, वह भी कश्मीरी ब्राह्मण था, अर्थात् मेरे जाति-समाजका था, और मुझे बड़ा सन्देह हुआ कि

१. जब मैं ये पंक्तियाँ लिख रहा हूँ तब मेरे सामने बच्ची सिंहका पहला चित्र तो यह आता है कि वह बिलकुल बुड्ढा, दुबला-पतला, दुर्दशाग्रस्त, अकेला तथा फिक्रमन्द मेरे सामने खड़ा हो। इसके बाद उसका चित्र, फैसला होनेके बादका, सामने आता है जिसमें वह प्रसन्न, उन्नतमस्तक, अच्छे कपड़े पहने, उज्ज्वलनेत्र तथा शानीलासा देख पड़ता है, जिसके साथ तीन या चार अनुचर भी हों और जो बड़ी ठसकसे चल रहा हो, मानो कहता हो—"आओ मेरी तरफ देखो, मैंने ९० वर्षके बाद अपनी पैतृक भूमि पुनः प्राप्त कर ली है।" इतने समयके बीच कानपुर जिलेमें जमीनकी कीमतें अधिक नहीं तो कमसे कम दस गुनी बढ़ गयी हैं।

हो-न-हो उसे अधिक प्रभावित करनेके लिए ही मेरी सहायता ली जा रही है।[१] जो हो, मेरा अन्तःकरण तो बिलकुल साफ था, इसलिए मुकदमा मैंने हाथमें लेना स्वीकार कर लिया। मुवक्किलने मेरी फीस पूछी। इस तरहके मुकदमेमें नये वकीलकी जो सामान्य फीस होती है,[२] वही मैंने बतला दी और उसने वह फीस उसी वक्त वहीं चुका दी। मामला स्थगित हो गया था, कुछ दिनोंके बाद फिर उसकी पेशी शुरू हुई। मैं अपने प्रौढ़ वकील साथियोंके साथ उपस्थित था। बचे हुए गवाहोंकी भी गवाही शीघ्र समाप्त हो गयी। अन्तिम बहस बादकी तारीखके लिए स्थगित हो गयी। उस दिन मेरे प्रौढ़ साथी अन्य मामलोंमें व्यस्त थे, इसलिए मुकदमेमें बहस करनेका काम मेरे ऊपर पड़ा और मुझे शीघ्र ही मालूम हो गया कि न्यायाधीशने प्रतिवादीके विरुद्ध पक्की राय कायम कर ली थी और उसके सामने प्रतिवादी के लिए कोई आशा नहीं रह गयी थी। आखिर वही नतीजा निकला। अपने फैसलेमें उसने प्रतिवादीके गवाहोंको निकम्मा और अविश्वसनीय कहा और उसकी लेखा-बहियोंको जाली बतलाया। प्रतिवादी, जिसका नाम मोहन सिंह था, आसानीसे हार माननेवाला न था। उसने प्रौढ़ वकीलोंसे सलाह ली। उन्होंने मामलेको कमजोर बतलाया और उसे फैसला चुपचाप मान लेनेकी जोरोंसे सलाह दी। उन्होंने बतलाया कि जिला जज श्री केण्डाल बहुत सख्त आदमी हैं और वे केवल अपील ही नहीं खारिज कर दे सकते वरन् यह भी सम्भव है कि वे उलटे फौजदारीका मुकदमा चलानेकी आज्ञा दे दें। मोहन सिंहने मुझसे पूछा और मैंने भी आशा नहीं प्रकट की। किन्तु वह तो अदालतोंमें सौ लड़ाइयाँ लड़ चुकनेवाला वीर था, इसलिए वह समझदारीकी बात (या जिसे हम, उसके वकील, समझदारीकी बात समझते थे, उसे) माननेके लिए कैसे तैयार हो सकता था? उसने अपील करनेका निश्चय किया और मुझे इसकी काररवाई करनेकी हिदायत कर दी। मैंने उससे पूछा कि ज्येष्ठ वकील कौन रख रहे हो तो उसने मेरा विस्मय और परेशानी बढ़ाते हुए जवाब दिया कि किसीको भी नहीं रख रहा हूँ। मैंने देखा कि यह काम मुझे अकेले ही करना पड़ेगा। यह बड़ी जोखिम और जिम्मेदारीका काम था किन्तु उससे मैं अपने आपको बचा नहीं सकता था। इसलिए अपील दाखिल कर दी गयी और श्री केण्डालने फैसलेकी मजबूती देखकर मुख्तसर रूपसे

---

१. दुर्भाग्यवश भारतीय न्यायालयोंमें अक्सर ऐसा होता है कि अविवेकी पक्ष और, मैं दुःखके साथ स्वीकार करता हूँ कि, अविवेकी वकील भी जाति-बिरादरी सम्बन्धी इन भावनाओंसे लाभ उठानेका प्रयत्न करते हैं। बेचारा न्यायाधीश, बिलकुल अज्ञातरूपसे, इन कदाचारोंका कारण बन जाता है। पंडित पृथ्वीनाथने इस तरह की प्रवृत्तियोंसे मुझे आगाह कर दिया था और जोर देकर यह चेतावनी दे दी थी कि किसी भी वकीलको अपने आचरणसे कभी इस तरहके संयोगोंसे लाभ उठानेकी चेष्टा नहीं करनी चाहिये।

२. दीवानी अदालत की सामान्य फीस (जिसे कभी-कभी कानूनी फीस भी कहते हैं) उत्तर भारतमें वह रकम होती है जो अदालतकी डिगरीमें करके रूपमें दिखलायी जाती है, एक पार्टी तथा दूसरी पार्टीके बीच और इसका हिसाब झगड़े की सम्पत्तिके मूल्यके आधारपर लगाया जाता है। यह फीस एकमुश्त रकम होती है जो किसी खास अदालतमें चलनेवाले पूरे मुकदमेपर शुरूसे आखीरतक लगायी जाती है। अच्छी प्रैक्टिसवाले वकीलोंके लिए प्रायः रिवाज यह है कि कोई मुकदमा अकेले उसीके जिम्मे हो तो वह पूरी सामान्य फीस चार्ज करता है और यदि कोई दूसरा वकील भी उसके साथ हो तो वह आधी फीस ही लेता है। फिर भी प्रसिद्ध-प्रसिद्ध वकील बहुत अधिक फीस लेते हैं। प्रतिदिनके हिसाबसे फीस लेनेका भी रिवाज चल पड़ा है।

ही उसे नामंजूर करनेका इरादा किया किन्तु मेरा वक्तव्य सुनकर उन्होंने दूसरे पक्षके नाम नोटिस जारी कर दी और अन्तमें यह आश्चर्यकी बात हुई कि उन्होंने अपील मंजूर कर ली और वादीकी नालिश खारिज कर दी। इससे मेरा बड़ा नाम हुआ। मुकदमेपर विचार करनेवाली अदालतमें मोहन सिंहने किस उद्देश्यसे मुझे वकील नियुक्त किया, इस सम्बन्धमें किसी तरहकी शंका करना मोहन सिंहके प्रति अन्याय करना होगा (मैंने कभी इस विषयकी बातचीत उससे नहीं की), किन्तु वह मेरा स्थायी मुवक्किल ही नहीं बल्कि मेरा मित्र भी बन गया। वह एक प्रतिष्ठित ठाकुर, बड़ा जमींदार, निःसंकोच और साफ बात करनेवाला तथा मेल-जोलवाली प्रकृतिका आदमी था। इस जिलेमें उसका काफी रोबदाब था और कानपुरके बाहर भी आसपासके क्षेत्रमें अपनी बिरादरीपर उसका अच्छा प्रभाव था। जबतक वह जिन्दा रहा, मेरे पास बराबर आता रहा और मेरी वृत्तिकी दृष्टिसे वह मेरे बड़े कामका आदमी था।

दो और मुकदमोंकी याद भी मुझे अभी तक बनी हुई है जो मनुष्यकी दुर्बलताओं और स्थानीय पूर्व-धारणाओं तथा रिवाजोंके सूचक थे। उनमेंसे एकसे यह बात भी मालूम होती है कि भारतमें किसी वकीलको सफलता दिलानेमें कौनसे तत्त्व काम करते हैं, जिनका कोई उल्लेख वकालत-पेशेपर लिखी गयी पुस्तकोंमें नहीं मिलता और न उनकी गणना ही की जाती है। इन तत्त्वोंको हम असम्बद्ध तथा बाहरी ही मान सकते हैं जिनके लिए कुछ भी श्रेय उसे नहीं दिया जा सकता।

जब उसकी अपील जिला जजकी अदालतमें विचाराधीन पड़ी हुई थी, मोहन सिंह अक्सर ही मेरे यहाँ आया करता था। एक बार वह एक और सज्जनको, जिनका नाम उम्मेद सिंह था, और जो एक प्राचीन कुटुम्बका तथा प्रतिष्ठित ठाकुर था, अपने साथ लाया। उम्मेद सिंहका परिचय उसने एक बड़ी जमींदारीके सम्भावित उत्तराधिकारीके रूपमें दिया। कानपुरमें यह नोनारी रियासतके नामसे प्रसिद्ध थी जो उस समय किसी रानीके, जिनका नाम मुझे स्मरण नहीं है, अधिकारमें थी। यह उम्मेद सिंहकी नानी (माँकी सौतेली माँ) थी। रियासत उम्मेद सिंहके नानाकी थी, जिनकी मृत्यु तीस वर्षसे भी अधिक पहले हो चुकी थी, और जो हिन्दू कानूनके अनुसार, रानीकी मृत्युके बाद, उम्मेद सिंहको मिलनी चाहिये थी जो उनकी लड़कीका लड़का था। किन्तु रानी और उम्मेद सिंहमें पटरी नहीं बैठती थी इसीसे रानी कई वर्षोंसे शक्ति भर प्रयत्न कर रही थीं जिससे उम्मेद सिंहको विरासतमें यह मिल्कियत न मिलने पावे। उसके नाहक रुपया बर्बाद करनेके कारण गहरी मुकदमेबाजी शुरू हो गयी थी, किन्तु इसमें उम्मेद सिंहको सफलता नहीं मिल सकी थी। अब इस सम्बन्धमें एक और बड़ा खतरा उपस्थित हो गया था। उसने अपने पतिके नामपर एक लड़का गोद ले लिया था। यह दत्तक पुत्र, यदि उक्त महिलाको दत्तक लेनेका सचमुच कोई अधिकार हो तो, उसे उक्त सम्पत्तिसे पूर्णतः वंचित कर देगा। गोद लेनेके इस कृत्यको गैरकानूनी साबित कर देनेके लिए तुरन्त मुकदमा दायर करनेको मुझसे कहा गया। मोहन सिंहने मुझसे कहा कि—'जायदाद अधिक मूल्यकी है, इसलिए मुकदमेमें एक ज्येष्ठ वकील भी रहेगा, किन्तु मुख्य भार आपको ही सम्भालना होगा।' तदनुसार मुकदमा दायर कर दिया गया, प्रतिवादी (रानी) ने उसके जवाबमें बयान दिया और फिर मामलेपर विचार करना अगली पेशीके लिए टल गया। इसके बाद एक दिन, काफी रात बीतनेपर किसीने आकर मेरा दरवाजा खटखटाया। वह ठाकुर उम्मेद सिंहका आदमी था जो यह बतलाने आया था कि सबेरे ही रानीकी मृत्यु हो गयी और उनका शव अन्तिम संस्कारके लिए गंगाके तटपर ले जाया जा रहा है। अब आगे क्या करना चाहिये, इस सम्बन्धमें मेरी राय माँगी गयी थी। हरकारेने बतलाया कि मृत्यु होनेके बाद ही वह यहाँ भेज दिया गया और उक्त दत्तक पुत्र

उस समय गाँवमें ही (नोनारीमें) था। मैंने उससे पूछा कि गाँववाले क्या उम्मेद सिंहके पक्षमें हैं ? 'जी हाँ', उसने कहा, 'गोद लिया हुआ लड़का बिलकुल अजनबी है, यद्यपि वह रानीके ही घरमें रह रहा है।' तब मैंने सुझाव दिया कि उसे घरसे तथा गाँवसे बाहर निकाल देना चाहिये और तमाम जायदादपर कब्जा कर लेना चाहिये। यह सलाह बहुत उचित थी या नहीं, मैं कह नहीं सकता, किन्तु मैं युवक था और अनुभवी भी, अतः यही सुझाव मैंने उन्हें दिया। इसका अक्षरशः पालन किया गया और उस बेचारे दत्तक पुत्रको गाँव छोड़कर भाग जाना पड़ा। गोद लेनेकी बात बेकार हो गयी। मैं नहीं समझता कि मुझे मुकदमा और आगे लड़ना पड़ा। अब इसका एक मुख्य परिणाम क्या हुआ, वह भी सुनिये। उम्मेद सिंह जोंककी तरह मुझसे चिपक गया। कोई भी मुकदमा हो, महत्त्वपूर्ण या छोटा-सा, किसी भी अदालतमें हो, छोटीसे छोटीमें भी, और चाहे जिस जिले या परगनेमें हो, वह बराबर मुझसे अपनी ओरसे खड़े होनेका आग्रह करता। कभी-कभी मुझे कहना पड़ता कि इसमें कुछ भी करनेकी जरूरत नहीं, मामूली जाब्तेकी बात है और तुम्हारे लिए कोई वकील करना अनावश्यक है, किन्तु वह कुछ भी सुननेको तैयार न होता। इसका कारण वह यह बतलाता—'आपका मौजूद रहना आवश्यक है, क्योंकि आप हमारे लिए बड़े शुभावह हैं। आप नहीं जानते कि जबतक हमने आपको अपना वकील नहीं बनाया था, हमें कितनी हानि उठानी पड़ती थी। अतीतमें हमने कानपुर तथा इलाहाबादमें प्रसिद्ध वकीलोंको नियुक्त किया था (इनमेंसे कितनों ही के नाम वह गिना गया), किन्तु सब व्यर्थ हुआ। हम सदा असफल ही होते थे और इस तरह हमारी बड़ी बर्बादी हुई। तब आप हमारे बीचमें आये। आपने मुकदमा नहीं जीता बल्कि कहना चाहिये कि आपने ही हमारे लिए रानीकी मौत बुला दी। यह केवल आपका ही प्रसाद है कि हमें जायदाद मिल गयी, अतः हम आपको कैसे छोड़ सकते हैं ? हम कदापि ऐसा न करेंगे। आपको हर जगह और हर स्थितिमें मौजूद रहना ही होगा।' मैं समझता हूँ कि साराका सारा परिवार लगातार कई वर्षोंतक इसी तरह सोचता रहा और उसके सदस्य मेरे विश्वासी मित्र, प्रशंसक तथा समर्थक बने रहे। यही वास्तविक भारत है, जिसकी चर्चा वकालत सम्बन्धी पुस्तकोंमें नहीं मिलती।

एक संध्याकी बात मुझे अच्छी तरह याद है। एक छोटी माल-अदालत (तहसीलदारकी अदालत) में बिना झगड़ेका मामला चल रहा था। उसने आग्रह किया कि मैं उसमें अवश्य पैरवी करूँ। वह जगह कानपुरसे ४० मील तथा रेलके स्टेशनसे ९ मील दूर थी। मुकदमेकी कारवाईमें मुश्किलसे आधा घण्टा लगा होगा—उसमें कुछ अधिक करनेको था ही नहीं। उम्मेद सिंहका गाँव, नोनारी, पाँच मीलपर था। शामके चार बज चुके थे, तब हम लोग हाथीपर बैठकर नोनारी गये। मेरे लिए यह एक शानकी सवारी थी। उसने दिल खोलकर मेरा स्वागत किया जिसमें मुझे बड़ा आनन्द आया। रात मैंने वहीं बिता दी और दूसरे दिन सबेरे मैं कानपुर लौट आया। यह बहुत ही सुखद अनुभव मुझे हुआ और उम्मेद सिंहको अपने ही लोगोंके बीच इस तरह सुखी देखना बड़ा अच्छा मालूम हुआ।

उम्मेद सिंह काफी चतुर आदमी था। अपने हितोंका उसे पूरा ध्यान रहता था। इसका सबूत मुझे इसके कुछ ही दिनों बाद मिला। रानीने बहुत दिन पहले, पड़ोसीके लिहाजसे, एक भू-स्वामीको अपनी २० एकड़ जमीन फलोंका बगीचा लगानेके लिए दे दी थी। हिन्दू विधि विधानके अनुसार उसके उत्तराधिकारी उसके (रानीके) कृत्यको माननेके लिए बाध्य नहीं थे और मैंने उसे वहाँसे बेदखल करनेके लिए उम्मेद सिंहकी ओरसे अदालतमें अर्जी दे दी। वास्तवमें इसका कोई

जवाब हो ही नहीं सकता था, मुख्य प्रश्न था फलके वृक्षोंका कि उनका क्या होगा। बगीचा काफी लम्बा-चौड़ा था, जिसमें विविध तरहके फलोंके कोई हजार वृक्ष थे जिन्हें लगानेमें काफी खर्च बैठा होगा। सिविल जजने उम्मेद सिंहको खाली जमीनपर कब्जा करनेकी डिगरी दे दी, इस छूटके साथ कि प्रतिवादी यदि चाहे तो पेड़ोंको कटवाकर सब लकड़ी वहाँसे उठवा ले जाय। प्रतिवादीने अपील की। जिला जजने कहा कि सचमुच यह बड़े दुःखकी बात होगी कि इतने बहुमूल्य पेड़ काट डाले जायँ और बगीचा बर्बाद कर दिया जाय। उन्होंने मुझसे कहा कि वादीको मैं यह पूराका पूरा बगीचा जैसा वह है, दिलवा दूँगा यदि वह इसके बदले पाँच हजार रुपये देनेको तैयार हो जाय और इसी आशयकी डिगरी उन्होंने दे दी। वादीको यह रकम एक वर्षके भीतर दे देनी चाहिये और यदि वह रुपये न अदा करे तो प्रतिवादीको स्वतन्त्रता होगी कि वह अपने लगाये पेड़ोंको वहाँसे हटवा दे। जब हम लोग अदालतके कमरेसे निकलकर बाहर आये तो मैंने उम्मेद सिंहसे कहा कि यह एक न्यायोचित आदेश है और बेहतर होगा कि तुम रुपया अदा कर दो। उसने मुसकुराते हुए सिर हिलाया और जवाब दिया, 'बिना एक पैसा दिये ही सारा बगीचा मुझे मिल जायगा।' क्या आपको नहीं मालूम कि देहातमें हरे-भरे फल-वृक्षोंको काटना गो वधके समान ही महापातक माना जाता है? कोई भी हिन्दू हरे वृक्षको काटनेके लिए उसी तरह तैयार न होगा जैसे वह अपने लड़केकी हत्या करनेको न होगा। जी नहीं, मैं एक पैसा भी न दूँगा और इसके बावजूद सारा बगीचा मुझे मिल जायगा।' आखिर ऐसा ही हुआ। सालभरका समय बीत गया। हम लोग कुछ महीनोंतक ठहरे रहे और प्रतिवादीको अपने पेड़ गिरवाने तथा लकड़ी हटवा लेनेके लिए काफी समय हमने दिया किन्तु उसने कुछ भी नहीं किया और न्यायिक निर्णयके अनुसार समूचा फलोद्यान उम्मेद सिंहके हाथमें चला आया। लोगोंकी धार्मिक भावनाके सम्बन्धमें इससे मुझे सबक मिला। हमारे धार्मिक ग्रन्थोंमें उन लोगोंकी भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी है जो फल-वृक्ष लगाते हैं और सड़कोंके किनारे पेड़ लगाना तो सचमुच बड़े पुण्यका काम माना जाता है।

इसके सिवा मेरा एक और प्रिय मुवक्किल बूढ़ा रामचन्द्र था। वह सचमुच बहुत वृद्ध था, किन्तु हृष्टपुष्ट, सावधान एवं फुर्तीला तथा स्वयं बना हुआ अभिभावक, मित्र और दार्शनिक था। वह एक व्यवसायी था जिसका कारबार धड़ल्लेसे चल रहा था। न जाने कैसे वह मुझे चाहने लगा था और सबेरे गंगास्नानके बाद जब वह लौटता तब अक्सर मेरे दफ्तरसे होता जाता था। वह अपने कानूनी मामलोंकी बातें मुझे बताया करता और अपने मित्रों तथा कामकाजसे सम्बन्ध रखनेवाले परिचितोंमें मेरी प्रशंसा किया करता था। उसके शब्दोंका प्रभाव भी पड़ता था। वह एक अनुभवी मुकदमेबाज था और सफलता या असफलताको दार्शनिककी तरह समदृष्टिसे देखता था। एक बार मुझे उसका एक महत्त्वपूर्ण मुकदमा—चार हजार रुपयेके दावेका—हाथमें लेना पड़ा, जिसमें इलाहाबादसे डॉक्टर सुलेमान मेरा विरोध करनेके लिए आए थे।[1] उन्होंने कानूनके एक नुक्तेपर मेरे खिलाफ फैसला देनेके लिए सिविल जजको फुसला लिया। इस हारसे मुझे बड़ा अफसोस और दुःख हुआ, किन्तु मुवक्किल रामचन्द्रने अपने युवक वकीलको तसल्ली दी। उसने मुझसे परेशान न होनेकी प्रार्थना की और कहा कि अदालतमें जाना एक तरहका जुआ होता है, जीत तथा हार दोनोंको ही

१. श्री सुलेमान डब्लिन विश्वविद्यालयके डाक्टर आफ ला थे और बैरिस्टर भी। वे इलाहाबाद हाईकोर्टके नामी वकील थे और बादमें उसी न्यायालयके चीफ जस्टिस हो गये। १९३७में संघ न्यायालयकी स्थापना होनेपर वे उसके एक न्यायाधीश नियुक्त हुए। १९४१में उनकी मृत्यु हुई।

समानभावसे देखना चाहिये। इसी लहजेमें उसने न जाने कितनी बातचीत की और इस बातका भरोसा दिलाया कि अपील करनेपर अन्तमें जीत हमारी ही होगी। उसने ठीक ही कहा था। हमने जिला जजकी अदालतमें अपील की और जिला जज श्री केण्डालने पुनर्न्यायप्रार्थीकी ओरसे मेरा वक्तव्य सुने बिना ही डॉक्टर सुलेमानको तुरत आदेश दिया, जिससे उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ, कि फैसलेके पक्षमें आपकी जो दलीलें हों उन्हें स्पष्ट करें और उन्होंने अपील मंजूर कर ली।[१] पिछली घटनाओंपर विचार करनेसे अब यह एक अजीब-सी चीज मालूम होती है कि हारा हुआ मुवक्किल अपने वकीलका अफसोस दूर करनेवाला बना किन्तु उस समय इसमें कोई अनोखापन नहीं जान पड़ा। रामचन्द्र बिलकुल पिताकी ही तरह मेरा ख्याल रखता था। जीवनपर्यन्त वह मेरा कट्टर मित्र बना रहा। उसने नब्बे वर्षकी उम्र पायी और अन्ततक मेरे ऊपर पूरा-पूरा भरोसा किया। वकालतमें प्राप्त मेरी सफलतापर वह गर्वका अनुभव करता था।

तीन वर्षके बाद मेरी वकालत काफी बढ़ गयी और मुझे कभी-कभी लोग उन जिलोंकी मातहत अदालतोंमें भी ले जाने लगे जो कानपुर न्यायिक क्षेत्रके अन्तर्गत थे याने फतेहपुर, बाँदा तथा हमीरपुरमें। हमीरपुर जाना एक आनन्दप्रद साहसिक काम था। कानपुरसे ४० मीलपर स्थित यह एक छोटा-सा जिला है। उन दिनों कानपुर तथा हमीरपुरके बीच रेल-मार्ग नहीं बना था और देहाती क्षेत्रमें मोटर द्वारा यातायातका चलन शुरू नहीं हुआ था। इसलिए यात्रा प्रायः मंजिलोंपर चलनेवाली घोड़ागाड़ी या ऊँटगाड़ीमें करनी पड़ती थी। जब मैं ऐसी गाड़ीपर चढ़ता था तो मुझे वाशिंगटन अर्विंग तथा 'टाम ब्राउन्स स्कूल डेज'का स्मरण हो आता था, क्योंकि मैं छुट्टीकी मौजमें रहता था। हमारी यात्रा सचमुच ही बड़े साहसकी चीज होती थी। बरसातका मौसिम था। जमुना नदी बाढ़पर थी (हमीरपुर जमुनापर बसा है, जिसे घाटपरसे पार करना पड़ता था, क्योंकि वहाँ कोई पुल न था)। रात बहुत अँधेरी थी। अफवाह थी कि रास्तेमें लुटेरे फिरा करते हैं (कुछ ही दिन पूर्व यात्रियोंकी एक घोड़ागाड़ी लूट ली गयी थी, अतः हमने देहाती पुलिसकी मदद माँगी। रास्तेमें एक पहिया टूट गया। उसके स्थानपर एक छोटा पहिया लगाकर काम चलाया गया। इस प्रकार कितनी ही घटनाओंसे पार होते हुए बड़े तड़के हम कानपुरमें दाखिल हुए अर्थात् पूरे १४ घंटोंके बाद (जब कि इतनी यात्रा पूरी करनेमें सामान्यतः छः घण्टे लगते थे)।

मेरे मेजबान और हमीरपुर जानेपर मेरे सहयोगी ऐसे सज्जन थे जो कमसे कम चार हृष्ट-पुष्ट कहारोंके कंधोंपर ढोयी जायी जानेवाली पालकीमें चला करते थे। वे बड़ी शानके साथ पालकीमें ही अदालत जाया करते थे। यह सन् १९१० की बात है। कानपुर तथा बाँदाके करीब-करीब बीचमें हमीरपुर पड़ता है। कानपुरसे बाँदा रेल द्वारा जानेपर २५० मीलसे भी अधिककी चक्करदार यात्रा करनी पड़ती थी, जब कि हमीरपुरसे वह करीब ४० मीलपर ही है, जहाँ रास्ता कच्चा तथा धूलिमय था जैसा कि देहातोंमें अक्सर होता है। एक बार मेरा एक मुकदमा हमीरपुरमें निश्चित हुआ और उसके दो दिन बाद बाँदामें। बाँदाके मुवक्किलने सुझाव दिया कि 'आप सीधे हमीरपुरसे ही बैलगाड़ीमें बाँदा चले आवें। आप आरामसे यात्रा कर सकें, इसका प्रबन्ध मैं कर दूँगा। रातमें आप मेरे गाँवमें ठहर जाइयेगा।' मैंने यह बात मान ली। मुझ जैसे शहरी आदमीके लिए

१. हाईकोर्टमें पुनः अपील होनेपर श्री केण्डालका फैसला ही कायम रहा। देखिये, बेनीराम बनाम रामचन्द्र (१९१४) इं० ला० ज०, इलाहाबाद। यह एक प्रमुख वाद (मुकदमा) था और इलाहाबाद हाईकोर्टके मेरे प्रारम्भिक वादोंमेंसे एक था।

यह एक आश्चर्यजनक अनुभव था जो मुझे ग्रामीण भारतके अन्तस्तलमें ऐसी सवारीसे यात्रा करनेमें प्राप्त हुआ जो भारतमें इतिहासके प्रभातकालसे ही प्रचलित रही है और बैलोंकी गर्दनपर लटकनेवाली छोटी-छोटी घण्टियोंसे निकलनेवाली आवाज आज भी मेरे स्मृतिपटलपर अंकित है। मैंने निरन्तर ही अपने मुवक्किलोंके साथ सामाजिक रूपसे मित्र जैसा व्यवहार करना और उनसे दूर दूर रहनेकी चेष्टा न करना जीवनका नियम-सा बना लिया था। इससे मुझे तथा मेरे मुवक्किलोंको भी बहुत सहायता मिली है। मैं वकीलके रूपमें कार्यारम्भ करता हूँ और शीघ्र ही मुवक्किलके परिवारका ऐसा मित्र बन जाता हूँ, जो उनके आनन्दों तथा दुःखोंमें हिस्सा ग्रहण करता है। यह बाँदाका मुवक्किल (वास्तवमें यह हमीरपुरका ही रहनेवाला था किन्तु बाँदामें उसका मुकदमा था), एक ब्राह्मण जमींदार था—बहुत ही प्रतिष्ठित और विश्वसनीय। बाँदाके मेरे युवक वकील मित्रोंको सुनकर शायद आश्चर्य होगा कि ३३ वर्ष पहले जिला अदालतके पुराने और अनुभवी वकील भी अपने घरोंसे अदालततक बैलगाड़ीमें बैठकर जाया करते थे। अब तो अवश्य मोटर-गाड़ियोंका काफी प्रचलन हो गया है। इन जिला अदालतोंमें बड़े मजेदार लोगोंसे भेंट होती थी। मुझे एक वृद्ध सज्जनका स्मरण है जो फतेहपुरकी वकील-मण्डलीके एक सदस्य थे। अदालतमें उन्होंने मुझसे व्यवहार विधि संहिता (सिविल प्रोसीजर कोड) की प्रति माँगी और मुसकुराते हुए कहा, 'मैंने १८६०-६१ के करीब वकालत शुरू की थी। उस समय १८५९ की छपी व्यवहार विधि संहिता प्रचलित थी। मैंने उसकी एक प्रति खरीदी थी। १८७० में उसके स्थानपर दूसरी छपी, वह भी मैंने खरीद ली। फिर १८७७ में निकली। वह भी मेरे पास है। अब १९१० में फिर छपी है पर मैं अब और प्रति नहीं खरीदना चाहता। मैं उसकी काफी प्रतियाँ खरीद चुका हूँ।' और सचमुच उन्होंने अन्य प्रति नहीं खरीदी। मैं समझता हूँ कि वे इसी तरह अपना काम चलाते रहे। अपने पेशेके दरम्यान मुझे उनसे कई बार मिलना पड़ा और मैं उनके पुरानी दुनियाके शिष्ट व्यवहारसे हमेशा ही आकर्षित हुआ हूँ। उन दिनों इन छोटी जिला अदालतोंमें मुकदमोंकी विशेष भीड़भाड़ नहीं होती थी। बँधे हुए, खास तरहके मुकदमे ही अदालतोंमें पेश होते थे। वकीलोंकी संख्या बहुत अधिक न थी और प्रायः अदालतें भी गिनतीमें ज्यादा न थीं। सब काम बड़े आसानीसे और बड़े आरामसे हो जाता था।

इस समय मेरा मन बराबर 'मास्टर ऑफ लॉज' की परीक्षा पास करनेपर लगा हुआ था, जो डाक्टर ऑफ लॉजकी उपाधि प्राप्त करनेके लिए आवश्यक अर्हता मानी जाती थी। इस परीक्षाके लिए किसी भी कालेजमें व्याख्यान (लेक्चर्स) नहीं दिये जाते थे। घरमें ही पूरी तैयारी करनी पड़ती थी। परीक्षा काफी सख्त होती थी और उसके लिए विश्वविद्यालयने ऊँचा मानक स्थिर कर रखा था। परीक्षार्थियोंको सातमेंसे प्रत्येक पर्चेमें कमसे कम ६० प्रतिशत अंक प्राप्त करने पड़ते थे। हर विषयका अलग परचा होता था, जैसे रोमन विधि (कानून), हिन्दू विधि, न्यायशास्त्र, इत्यादि। परीक्षकगण पूर्ण ज्ञान तथा विस्तृत पठनकी आशा करते थे। मैं खूब पढ़ा करता था, कानूनकी पाठ्य पुस्तकें, मुकदमों सम्बन्धी पुस्तकें (जिनमेंसे कुछ अमेरिकन होती थीं) और लॉ रिपोर्ट्स (ब्रिटेनकी तथा भारतकी)। स्थिर रूपसे बढ़ती हुई वकालत और अदालतोंके थका देनेवाले दिनभरके कामके साथ, परीक्षाके लिए इतनी तैयारी करना बड़ी मेहनतका काम था। फिर भी वकीलखानेके पुस्तकालयमें और घरमें भी फुरसतका एक एक मिनट इस काममें लगा दिया जाता था। मैं सन् १९१२ में इस परीक्षामें बैठा और एक विषयमें केवल पाँच अंकोंसे फेल हो गया किन्तु अगले वर्ष (१९१३ में) भाग्यने साथ दिया और मैं उत्तीर्ण हो

गया ।[१] इस सफलताके कारण नये प्रश्न मेरे सामने आये जिनके सम्बन्धमें अधिक देर नहीं की जा सकती थी।

यहाँ मैं अपने स्वभावके थोड़ेसे अन्धविश्वासकी भी एक बात लिख देना चाहता हूँ। मेरे पिताने स्वभावतः मेरी शिक्षाका समस्त भार वहन किया था। मेरा शैक्षणिक जीवन समान रूपसे सफलतापूर्ण रहा, फिर भी वह किसी तरह बहुत उज्वल नहीं माना जा सकता। मुझे कभी कोई छात्रवृत्ति नहीं मिली और न किसी तरहका कोई काम कर या अन्य रूपसे मैंने अपने शिक्षा सम्बन्धी व्ययमें अंश दान दिया। किन्तु ज्यों ही मैंने वकालत करना शुरू किया, मैं स्वावलम्बी बन गया और रुपये-पैसेके लिए फिर मैंने पिताजी को कष्ट नहीं दिया। वस्तुतः मैंने तो यह भी ठान लिया था कि कानपुर आते समय घरसे मैं जो ५२॥) लाया था, उसे लौटा दूँ। १९१२ में एल० एल० एम० की परीक्षाके लिए मैंने जब अपना नाम विश्वविद्यालयको भेजा, तो मैंने १००) का प्रवेशशुल्क अपनी जेबसे ही निकालकर प्रेषित किया था। परीक्षामें असफल होनेसे मुझे भारी आघात लगा। इसके पहले मैं कभी अनुत्तीर्ण नहीं हुआ था और यह असफलता बिलकुल ही अनपेक्षित थी, क्योंकि मैंने कठिन परिश्रम किया था। मैंने मनमें कहा कि मेरा यह दुर्भाग्य सम्भवतः मेरे पैसेके ही कारण है। अगले वर्ष मैंने यह सब बात पिताजीको लिख दी और उनसे प्रार्थना की कि पिछले दिनोंकी ही तरह वे अपनी तनखाहमेंसे मेरी परीक्षाकी फीसके लिए १००) भेज दें। सचमुच ही उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई और उन्होंने रुपया भेज दिया। वही रकम मैंने विश्वविद्यालयको भेजी और मैं उत्तीर्ण हो गया। इसलिए यह बात सचाईके साथ कही जा सकती है कि बिलकुल आखीर तक पिताजीने ही मुझे शिक्षा दिलायी—कितनी क्षति उठाकर और कितनी कठिनाई तथा कष्ट सहकर, इसे मैं ही जानता हूँ।

९. मेरा इलाहाबाद जाना

दुनियाभरके वकालत पेशेके लोग जानते हैं कि मुकदमोंपर विचार करनेवाली अदालतोंके सामने तथा अपील सुननेवाली अदालतोंके सामने होनेवाले काममें भारी अन्तर होता है। भारतमें तो, जहाँ वकालत करनेवाले प्रत्येक व्यक्तिको (चाहे वह बैरिस्टर हो, या एडवोकेट या भारतीय डिग्री प्राप्त वकील), एक साथ दोनों काम करने पड़ते हैं, सॉलिसिटर (या अटर्नी) अर्थात् कानूनी सलाह देनेवालेका और अदालतके सामने मुकदमेकी पैरवी करनेका, यह अन्तर और भी ज्यादा होता है। जिला अदालतोंमें अधिवक्ता (एडवोकेट) को साक्ष्य एकत्र करने, ठिकानेसे उसे रखने, उसकी छानबीन करनेके बाद उसे कुशलतापूर्वक अदालतके सामने रखना पड़ता है एवं गवाहोंका परीक्षण तथा प्रतिपरीक्षण करना पड़ता है। यह उसका मुख्य काम है। मुकदमेकी बहस वह बिलकुल आखीरमें करता है किन्तु भारतमें जहाँ सभी दीवानी मामलोंपर प्रशिक्षित न्यायाधीश, न्यायसभ्योंकी सहायताके बिना ही विचार करता है और न्यायसभ्यों (जूरी) सहित विचार

१. एल० एल० एम० की परीक्षाके लिए इलाहाबाद विश्वविद्यालयने इतना ऊँचा मानक तै कर रखा था कि बहुत कम लोग ही उसमें बैठनेकी हिम्मत करते थे, सो भी कई-कई वर्षोंका अन्तर देकर, और उत्तीर्ण प्रायः कोई भी नहीं होता था। अब मानक कुछ नीचा कर दिया गया है, पास होनेके लिए प्रत्येक परचेमें ३३ प्रतिशत तथा योगमें ५० प्रतिशत पाना आवश्यक है। और मेरे बाद जो पहला परीक्षार्थी इसमें उत्तीर्ण हुआ वह १९४० में बैठा था।

करनेकी व्यवस्था केवल थोड़ेसे फौजदारी अपराधोंमें ही की गयी है, मुकदमेके बिलकुल अन्तकी बहसका उतना महत्त्व नहीं रह जाता। न्यायाधीश, जिसने गवाहोंको देखा और उनके बयानोंको सुना है, तबतक अपने निष्कर्षोंपर पहुँच चुका रहता है। अपील होनेपर भारतमें—प्रथम अपील सुननेवाली अदालतोंमें—सारेके सारे मामलेका, तथ्योंकी तथा कानूनी दृष्टियोंसे भी, पुनरावलोकन किया जा सकता है और बहस उस लिखित अभिलेखके ही आधारपर की जाती है जिसमें प्रत्येक गवाहके बयानोंका शब्दशः विवरण तथा दोनों पक्षों द्वारा प्रस्तुत किये गये लिखित साक्ष्योंका समावेश होता है। अपीली अदालतके सम्मुख बहस करनेमें अधिक कानूनी योग्यता तथा बहुत ही प्रशिक्षित और विशेष अनुभवी न्यायाधीशोंके सामने तथ्य रखनेकी दूसरे ही ढंगके अधि-वचनकी आवश्यकता होती है। जबतक कोई मुकदमा अपीली अदालततक पहुँचता है, तबतक झगड़ेकी गर्दगुबार और गर्मी शान्त हो जाती है, उसकी आवश्यक और महत्त्वपूर्ण बातें सुनिश्चित रूप ग्रहण कर लेती हैं। इससे भी अधिक महत्त्वकी बात यह है कि काम अधिक साफ हो जाता है तथा एक ऊँचे दर्जेकी अदालतके प्रशान्त वातावरणमें किया जाता है, जहाँ स्थानीय मान्यताओं तथा दलबन्दीका प्रभाव नहीं पड़ने पाता। अपील सम्बन्धी कार्य करनेकी ओर मेरा हमेशासे ही झुकाव रहा है और उसकी योग्यता भी; दीवानी मुकदमोंकी अपील सम्बन्धी पैरवीमें मेरी वकालत अच्छी चलने लगी थी तथा बढ़ती जा रही थी। जब मैं कानपुरमें था, मैंने फौजदारी मामलों सम्बन्धी कोई काम नहीं किया और केवल दो या तीन बार ही किसी दण्डाधिकारीके सामने पैरवी करने गया था। किन्तु जिला अदालतमें अपीलके मामलोंकी पैरवीका क्षेत्र सीमित ही होता है। दीवानी मामलोंमें पाँच हजार रुपयोंसे अधिकके दावोंकी अपील सीधे हाईकोर्टमें ही की जाती है और जिला अदालतोंमें अपील करनेपर जो निर्णय किये जाते हैं, कानूनी बातोंको लेकर उनकी भी दूसरी अपील हाईकोर्टमें ही की जाती है। इसी तरह दौरा जज जिन संगीन फौजदारी मामलोंपर विचार करते हैं उनकी भी अपील, तथ्यों तथा कानूनी बातोंके आधारपर, सर्वोच्च न्यायालयोंमें की जा सकती है। उन्हें उन मामलोंकी निगरानीका भी व्यापक अधिकार रहता है जिनपर मजिस्ट्रेटोंकी अदालतोंमें विचार हुआ हो तथा अपील करनेपर जिनका फैसला दौरा जजने किया हो। मतलब यह कि यदि कोई वकील हाईकोर्टमें अपील किये गये मामलोंको लेकर अपनी वकालत बढ़ानेकी महत्त्वाकांक्षा रखता हो तो उसके लिए हाईकोर्ट ही एकमात्र उपयुक्त स्थान है, अन्य अदालतें नहीं। इसके सिवा, हाईकोर्टके वकील-बैरिस्टर समूचे प्रान्तके लोगोंके सम्पर्कमें आते रहते हैं और उनमेंसे पुराने तथा अनुभवी सज्जन, कितने ही बड़े और जटिल दीवानी या फौजदारी मामलोंमें प्रायः अच्छी फीस देकर नियुक्त कर लिये जाते हैं। सुयोग्य अधिवक्ताके लिए हाईकोर्टमें वकालत करनेके लिए यह एक अतिरिक्त आकर्षण है।

किन्तु उच्च न्यायालयमें वकालतका सिक्का जमाना आसान काम नहीं। उसके लिए वर्षों प्रतीक्षा करनी पड़ती है। मामला समझकर मुवक्किलोंको वकीलतक पहुँचानेवालों (सालिसिटरों)के अभावमें नये वकीलोंकी कठिनाइयाँ और भी अधिक बढ़ जाती हैं। हाई-कोर्टके ऐसे वकीलको मुकदमा लड़नेवालों तथा दूर-दूरतक फैले हुए जिलोंके वकील-मण्डलोंके साथ सीधा सम्पर्क स्थापित करना पड़ता है। (इलाहाबाद उच्च न्यायालयके अधिकार क्षेत्रमें ३६ जिले आते हैं जिनकी आबादी लगभग ४ करोड़ है।) यदि वकीलकी आयके अन्य स्वतन्त्र साधन न हों और संकटके समय उनके लिए अन्य कोई सहारा न हो, तो उसके लिए हाईकोर्टमें वकालत शुरू करना सचमुच ही बड़ी जोखिमकी चीज होती है। मैं सारे संयुक्त प्रदेशके लिए पूर्ण अजनबी था

और आगरा प्रान्तमें तो विशेष रूपसे मेरा किसीसे भी किसी तरहका सम्पर्क या सम्बन्ध न था। निस्सन्देह मैंने कानपुरमें अच्छे सम्पर्क स्थापित कर लिये थे और पिछले छः वर्षोंमें वकालतका अच्छा सिलसिला शुरू कर दिया था। सन् १९१३-१४में मैं ४००)-५००) रुपयेकी आमदनी कर लेता था, भविष्यके आसार उज्ज्वल मालूम होते थे और वकालत भी तेजीसे बढ़ रही थी किन्तु इसके साथ ही मेरा परिवार भी बढ़ रहा था और उसीके अनुसार खर्चमें भी वृद्धि हो रही थी। मैं दो बच्चोंका पिता बन चुका था और भातीय परिवारका विस्तार भी सामान्यतया अंग्रेजी या अमेरिकन परिवारसे अधिक बड़ा होता है। मैं अधिक रुपये नहीं बचा पाया था—मुश्किलसे शायद एक हजारकी बचत कर सका होऊँ। इलाहाबाद हाईकोर्टके वकीलोंका रहन-सहनका स्तर काफी ऊँचा है, कम-से-कम कानपुरकी तुलनामें तो अधिक ऊँचा है ही। वहा मैं एक बगलवाली संकीर्ण गलीमें स्थित बड़ेसे मकानमें २५) मासिक किरायेपर रहता था। मैंने सवारीके लिए कोई गाड़ी नहीं रखी थी, एक घोड़ेवाला इक्कातक नहीं, क्योंकि उसका खर्च चलाना मेरे लिए कठिन था। बाइसिकिलपर ही मैं न्यायालय जाता था। किन्तु कानपुरमें मेरा (उज्ज्वल) भविष्य एक हदतक निश्चित सा था। इसके विपरित इलाहाबादमें सब कुछ अभी अनिश्चित ही था। मैं डॉक्टर तेज बहादुर सप्रूका उल्लेख पहले कर चुका हूँ। सन् १९०५में कुछ सप्ताहोंतक मैं उनके मकानमें रहा था, अनिर्यंत्रित नवयुवक विद्यार्थीके रूपमें। उस समय उनकी गणना भी नये वकीलोंमें ही की जाती थी किन्तु थे वे ऐसे नये वकील जिनका भविष्य निश्चित रूपसे उज्ज्वल था। वे क्षिप्रगतिसे सामनेकी पंक्तिमें आ रहे थे। वे कानूनी कक्षाके प्राध्यापक थे जो विद्यार्थियोंमें विशेष लोकप्रिय थे, क्योंकि वे केवल नोट्स लिखवा देनेके बजाय खुद पढ़ाते भी थे और व्याख्यान भी देते थे। किन्तु मुझे यह देखकर महान् दुःख हुआ कि जुलाई १९०५में मेरे इलाहाबाद पहुँचनेके चार सप्ताहोंके भीतर ही उन्होंने अपने पदसे इस्तीफा दे दिया और मैं उनके लगभग एक दर्जन लेक्चरोंमें ही उपस्थित हो सका। फिर भी उनके शिक्षणसे वंचित हो जानेके बावजूद मेरे सम्बन्ध उनके साथ और निकटके हो गये। (जब मैं लॉ क्लासमें पढ़ता था तभी) मेरा विवाह हो गया था[1] और उनकी पत्नी तथा मेरी पत्नी परस्पर चचेरी बहिनें थीं। इस प्रकार मैं डॉक्टर सप्रू तथा उनके परिवारको अच्छी तरह जानता था और जब मैं कानपुरमें रहता था तब उनसे निकटसम्पर्क बनाये रहता था और बीच बीचमें अपील सम्बन्धी मुकदमोंकी बातें समझाने, स्पष्ट करने या अन्य उद्देश्यसे इलाहाबाद चला जाया करता था। कभी-कभी मैं हाईकोर्टमें वकालत शुरू करनेकी अपनी इच्छा प्रकटकर उनके रुखकी थाह लेनेका प्रयत्न करता किन्तु वे इसके लिए मुझे अधिक प्रोत्साहन नहीं देते थे, प्रायः कोई पक्की राय ही नहीं देते थे और स्वभावतः यही कह दिया करते थे कि इस प्रश्नका समाधान मुझे स्वयं ही कर लेना चाहिये। इसलिए सन् १९१३ तक स्थिति द्रवमाण अवस्थामें ही बनी रही। किन्तु मुझे लगा कि ज्यों-ज्यों समय बीतता जाता था, त्यों त्यों कानपुर छोड़ना मेरे लिए अधिकाधिक कठिन होता जाता था। एक या दो वर्षका समय और बीत जाता तो मैं अपने आपको

---

१. ४०-५० वर्ष पूर्व भारतके शिक्षित मध्यवर्गमें भी बालविवाह प्रचलित था। मेरा विवाह १८ वर्षकी उम्रमें हुआ था, जो उस समय विवाहके लिए काफी बड़ी उम्र मानी जाती थी। अब तो नवयुवक २४-२५ वर्ष या उससे भी अधिक उम्रमें विवाह करते हैं। मेरी पत्नीके साथ श्रीमती सप्रूकी अच्छी पटरी खाती थी और वे उसे बहुत पसन्द करती थीं और जबतक वे जिन्दा रहीं (१९१० तक) उनसे मुझे बड़ी कृपा एवं अनुराग प्राप्त होता रहा।

कानपुरमें ही रखते हुए वकालत बढ़ानेकी चेष्टा करनेके लिए राजी कर लेता। किन्तु एल० एल० एम०की परीक्षामें उत्तीर्ण हो जानेके कारण सारी स्थिति ही बदल गयी। यह डिग्री योग्यता तथा कानूनी विद्वत्ताकी प्रमाण मानी जाती थी और उन दिनों, जैसा कि डॉक्टर सप्रूने एक बार कहा था कि मेरे लिए ऐसी हालतमें किसी जिला अदालतमें वकालत करना हास्यास्पद होगा, जब कि कुछ ही वर्षोंके भीतर मेरे 'डाक्टर ऑफ-लॉज'की उपाधि प्राप्त कर लेनेकी सम्भावना हो। हाईकोर्टके वकील-मण्डलमें मेरे शामिल हो जानेपर वे अधिक जोर नहीं दे रहे थे। मेरा दिल तो बराबर वहीं लगा रहता था किन्तु कुछ महत्त्वपूर्ण कारणोंसे मैं रुक जाता था और आगा पीछा करने लगता था; किन्तु एक घटनाके कारण, भले ही वह छोटी अथवा नगण्य रही हो, मामलेने जोर मारा और मैंने उसी क्षण बिना किसी झिझकके अप्रतिषेध्य निर्णय कर लिया।

इलाहाबाद हाईकोर्टमें वकालत करनेवाले अधिवक्ता (वकील) प्रायः बस्तीके बाहर सिविल लाइनके बंगलोंमें रहते हैं जिनके साथ विस्तृत अहाता होता है। इनका किराया बहुत अधिक होता है इसलिए इनसे छोटे बंगलोंकी (जिन्हें काटेज याने कुटीर कहते हैं) माँग अधिक होती है, विशेष-कर नयी उम्रके वकील-बैरिस्टरों द्वारा। इनकी संख्या तो अधिक नहीं है किन्तु इनका किराया बहुत बढ़ा हुआ नहीं होता। डॉक्टर सप्रूके मकान (नम्बर १९, अलबर्ट रोड) के समीप दो कमरोंका एक छोटा-सा मकान (काटेज) है, जो मकान दिलानेवाले दलालोंकी भाषामें, हमेशा ही 'परमवाञ्छनीय सम्पत्ति' माना जाता रहा है[1]। इसमें एक एडवोकेट रहते थे किन्तु उनका इरादा मार्च १९१४ में उसे छोड़ देनेका था। डॉक्टर सप्रूको फरवरीमें यह बात मालूम हुई और उन्होंने पत्र लिखकर मुझसे पूछा कि क्या मकान-मालिकसे मिलकर तुम्हारी तरफसे उसके लिए बातचीत की जाय। उन्होंने शीघ्र ही इसका जवाब माँगा, क्योंकि इस बातकी पूरी सम्भावना थी कि तबतक कोई अन्य महाशय उसे किरायेपर ले लें। इस चिट्ठीकी बात मुझे कितनी अच्छी तरह याद है! डाकियेने वह पत्र मुझे उस समय दिया जब मैं किरायेकी गाड़ीमें बैठकर रेलवे स्टेशन जा रहा था क्योंकि मुझे वकालतके कामसे एक दिन के लिए फतेहपुर जाना था। मैंने चिट्ठी पढ़ी, मनमें निश्चय कर लिया, कानपुर स्टेशनपर ही एक पोस्टकार्ड खरीदा और शीघ्रतामें डॉक्टर सप्रूको दो-चार पंक्तियोंमें लिख दिया कि वे मेरे लिए वह मकान अवश्य ले लें। शामको मैं घर लौट आया और मैंने अपनी स्त्रीसे कह दिया कि मैंने इस आशयका पत्र लिख दिया है। वे सामान बाँधने, ठीक करने लगीं और हम लोग चन्द हफ्तोंमें ही, मार्च १९१४ में कानपुर छोड़कर चल पड़े, जो मेरे लिए अच्छा ही हुआ। अपने परिवारमें हम लोग इस विषयकी बातचीत महीनों क्या, वर्षोंसे करते आ रहे थे, उससे क्या हानि है, क्या लाभ है, कभी कोई बात पक्षमें कही जाती, कभी विपक्षमें, किन्तु यह निर्णय जब किया गया, जो मेरे जीवनके कठिन निर्णयोंमेंसे एक था, तो वह तुरन्त एक क्षणमें ही किया गया। भविष्यके सम्बन्धमें तरह-तरहकी शंकाएँ हमारे मनमें उठा करती थीं किन्तु ईश्वरकी अनुकम्पासे मुझे कभी एक दिनके लिए भी अपने निर्णयपर पछताना नहीं पड़ा।

हाईकोर्टकी वकील-मण्डलीमें सविधि प्रविष्ट होनेके पहले भी उसके कई सदस्योंसे मेरा परिचय हो चुका था। उनमेंसे कुछ (जिनमें सुख्यात पण्डित मोतीलाल नेहरू भी शामिल थे) कश्मीरी ब्राह्मण थे और उन्होंने मेरा नाम सुना था या मुझे पहलेसे ही जानते थे। कितने ही न्यायाधीश और पुराने वकील एल० एल० एम० की परीक्षामें मेरे परीक्षक रह चुके थे। मेरी ही उम्रके कुछ नये वकील

१. इसका नम्बर १७, अलबर्ट रोड है। पिछले ३५ वर्षोंमें मैंने उसे कभी खाली नहीं पाया, हालाँ कि वह कोई अच्छी देखरेखमें रखा गया मकान नहीं है।

कानूनकी कक्षामें मेरे साथी थे। इसलिए वकील-मण्डलीसे पहली जान-पहचान स्थापित करनेमें प्रायः कोई कठिनाई नहीं हुई, किन्तु मुख्य चीज जिसने इस दिशामें मेरी सहायता की, यह तथ्य था कि मैं डॉक्टर सप्रूका युवक सहायक समझा जाता था। डॉक्टर सप्रू हमेशासे ही निष्कलंक चरित्रके तथा पूर्ण रूपसे सच्चे और ईमानदार अधिवक्ता माने जाते थे। वे अपने पेशे सम्बन्धी शिष्टाचार तथा नैतिकताके सर्वोच्च सिद्धान्तोंका स्वयं पालन करते थे और जो लोग सहायक रूपमें उनके साथ काम करते थे, उनसे भी उनका पालन कराते थे। उनका विश्वास प्राप्त कर लेना और उसे बनाये रखना कम गौरवकी बात न थी।[१] उन्होंने मुझे अपने कमरोंमें बैठनेकी अनुमति दे दी और मैं सबेरे तथा शामको, कभी-कभी रातमें देरतक उनके पास जाता तथा उनसे बातचीत करता और मुकदमोंके कागज तैयार करनेमें उनकी सहायता करता[२]। इलाहाबाद आनेके कुछ ही सप्ताहोंके बाद दूसरी बारकी अपीलोंमें मैं उनके मुकदमोंके वाद-संक्षेप रखने लगा और जल्द ही यह बात मशहूर हो गयी कि मैं डॉक्टर सप्रूका सहायक और ऐसा प्रमुख सहकारी हूँ जो अदालतमें उनके उपस्थित न हो सकने-पर भी उनके मुकदमेकी सम्भाल कर सकता है। इस प्रकार मुझे डॉक्टर सप्रूके प्रकक्षोंमें या अदालतमें सभी तरहके राशि-राशि मुकदमोंके देखने-सुनने और उनकी सम्भाल करनेका विस्तृत अवसर ही नहीं मिला, वरन् मैंने शीघ्र ही जजों तथा वकील-मण्डलीके पुराने सदस्योंकी नजरमें अपना खुदका स्थान और रुतबा प्राप्त कर लिया और फिर मैं प्रत्येक न्यायाधीशके सामने अपनी ही आवाजसे इतना परिचित हो गया कि मुझे उसका कोई भय नहीं रह गया। इस तरह (तथा अन्य तरहसे) मैं डॉक्टर सप्रूका इतना ऋणी हूँ कि मैं कभी उनसे उऋण नहीं हो सकता।

सन् १९०८ की कानपुरकी नजीरके अनुकरणपर मैंने इलाहाबादकी वकील-मण्डलीमें अपने प्रवेशकी सूचना 'इलाहाबाद ला जर्नल' में लिखे गये दो लेखों द्वारा मानों स्वयं ही शंख बजाकर दी। ये लेख विद्वत्तापूर्ण थे और मेहनतसे तैयार किये गये थे—यद्यपि यह बात मैं स्वयं ही कह रहा हूँ—जिनमें एक कठिन विषयकी मीमांसा की गयी थी, पिताकी स्वोपार्जित सम्पत्तिमें उसके सम्मिलित हिन्दू परिवारमें रहनेवाले तथा पृथक्-पृथक् रहनेवाले लड़कोंका अधिकार। इन लेखों की ओर लोगोंका ध्यान गया किन्तु उसका कोई विशेष प्रदर्शन नहीं हुआ।

किन्तु सच पूछिये तो वह कानपुर ही था जिसने मुझे हाईकोर्टमें वकालत शुरू करने तथा उसे जमानेमें पहले पहल सहायता की। समूचा कानपुर शहर और जिला अपने नगरसे आये मुझ युवक वकीलके प्रति आश्चर्यजनक रूपसे मेहरबान तथा उत्साह बढ़ानेवाला था। जिलेकी समस्त वकील-मण्डली, पुराने और नये सदस्य भी मुझे अपना संरक्ष्य समझते थे और मेरी सहायताके लिए दौड़ पड़ते थे। हाईकोर्टमें मेरे काम आनेके लिए उनमें मानो आपसमें होड़-सी मच जाती थी। ऐसे लोग भी, जिनसे मेरी बहुत कम जान-पहचान थी और जिनके ऊपर मेरा किसी तरहका

१. मैं यहाँ केवल वकीली पेशे सम्बन्धी बात कर रहा हूँ। राजनीतिमें तो दुर्भाग्यवश हम लोग विभिन्न मतोंके अनुयायी रहे हैं।

२. कानपुरकी तरह इलाहाबादमें भी वकील के काम करनेके कमरे या प्रकक्ष उसके घरमें ही होते हैं। एक कमरा तो उसके दफ्तर तथा पुस्तकालयके लिए होता है, जहाँ वह अपने मुवक्किलोंसे बातचीत करता है और मुकदमे तैयार करता है, तथा एक या दो कमरोंमें उसके मुंशी और सहायक बैठते तथा फाइलें रहती हैं। हाईकोर्ट की इमारतमें कुछ कमरे वकीलों तथा उनके पुस्तकालयोंके लिए अलग कर दिये जाते हैं और उनके मुंशियोंके लिए काम करनेके कमरे अलग होते हैं।

भी दावा नहीं हो सकता था, मेरे प्रशंसक बन गये और मेरा साहसिक अनुष्ठान सफल बनानेकी फिक्र करने लगे। बहुत-सी कोठियों तथा औद्योगिक संस्थाओंने हाईकोर्टके कामके लिए मुझे ही अपना वकील बनाये रखा। कानपुरके व्यापारियों तथा जिलेके जमींदारोंने व्यवहारतः मेरे साथ ही अपना नाता जोड़ा और वहाँके ये कारखानेदार तथा व्यवसायी शीघ्र ही अभूतपूर्व उन्नतिके युगमें प्रवेश करने जा रहे थे। १९१४-१९१८ के महायुद्धसे लाखों, करोड़ों रुपये कानपुरको मिले। पुतलीघर लगातार चौबीसों घण्टे काम करते रहते। कीमतें आकाशमें चढ़ गयीं और कानपुरके व्यवसायियों, व्यापारियोंकी आय बढ़ गयी। अदालतोंमें व्यापारिक मुकदमोंकी संख्या काफी बढ़ गयी जिससे वकीलोंको भी अच्छा लाभ हुआ और इस सर्वांगीण उन्नतिमें मुझे भी थोड़ा हिस्सा मिला। प्रत्येक आदमी अपने काममें व्यस्त था और उसके पास फालतू समय नहीं था। लोग सबेरेकी गाड़ीसे इलाहाबाद चले आते, मेरे साथ थोड़ी-सी सलाह करते, मेरे मुंशीके पास कागजपत्र तथा रुपया छोड़ देते (यदि मामला गहरा होता तो इस हिदायतके साथ कि अमुक पुराना वकील, या जिसे मैं ठीक समझूँ वह, भी नियुक्त कर लिया जाय) और दो घण्टे बाद वापस लौट आते। इस प्रकार कानपुरकी अनुकम्पाके कारण वास्तवमें मुझे कभी ऐसे दिन नहीं बिताने पड़े जब मेरे पास कोई मुकदमा न रहा हो, मुझे प्रतीक्षाके समयसे नहीं गुजरना पड़ा और न आगे टल जानेवाली ऐसी आशाके भरोसे रहना पड़ा जिससे तबीयत ऊब उठती है। शुरूसे ही मुझे इतनी काफ़ी आमदनी होने लगी कि मेरा काम बख़ूबी चल जाता।

अवश्य ही मेरे लिए प्रान्तके अन्य जिलोंमें भी जान-पहिचान बढ़ाना जरूरी था और स्वभावतः इसमें समय लगा तथा उन्नति क्रमशः ही की जा सकी, यद्यपि यह बहुत मन्द भी न थी। इस सम्बन्धमें मैं वकील-मण्डलीके पुराने सदस्योंका आभारी हूँ, विशेषकर डॉक्टर सप्रूका, जिन्होंने मुझे प्रोत्साहित किया। उनके मुकदमोंमें साथ रहनेके कारण मेरी ओर न्यायाधीशोंका ध्यान गया। मैं कठिन परिश्रम करता था और जब मुझे अपनी दलीलका पूरा निश्चय रहता था तो मैं अदालतके सामने आसानीसे झुकनेको तैयार नहीं होता था। प्रधान न्यायाधिपति (सर हेनरी रिचर्ड्स) प्रभुताशाली व्यक्ति थे जो कुछ-कुछ उतावले स्वभावके थे—सर जार्ज जैसेलके ढंगपर उनका निर्माण हुआ था—और उनके न्यायालयमें जब कोई वकील बहस करने खड़ा होता था तो हमेशा जज तथा वकीलमें विवाद होने लगता, एक तरहकी खींचतान-सी शुरू हो जाती थी। मुझे उनकी अदालतके एक मुकदमेका विशेषरूपसे स्मरण है जिसमें मैं इलाहाबाद आनेके चार महीनेके भीतर ही खड़ा हुआ था और जिसमें न्यायपीठकी ओरसे लगातार की जानेवाली टोक तथा बाधाके बावजूद मैं घण्टोंतक अपनी बातपर जमा रहा और अन्तमें बहस करते हुए अपील जीतनेमें सफलता प्राप्त कर ही ली। सरकारी अधिवक्तानेे[1] जो दूसरे पक्षसे खड़े थे, बादमें मेरी प्रशंसा करते हुए कहा था, 'मेरी जानकारीमें केवल यही एक ऐसा उदाहरण है जिसमें प्रधान न्यायाधिपतिने लगातार की गयी बातचीतसे प्रभावित होकर डिगरी दे दी हो।' मैं समझता हूँ कि प्रधान न्यायाधिपति भी अपने सामने खड़े होकर बोलनेवाले युवक वकीलका दृढ़ आग्रह देखकर प्रभावित हो उठे थे और फिर उसके बाद हमेशा ही, सन् १९१९ में उनके अवसर ग्रहण कर लेनेतक, मैं निश्चित रूपसे आशा कर सकता था कि उनकी अदालतमें जब भी मुझे बोलना पड़े, वे ध्यानपूर्वक और उदारताके साथ उसे अवश्य सुनेंगे। पण्डित सुन्दरलाल, जो वकील-मण्डलीके नेता थे, १९१४ में डेढ़ महीनेके लिए स्थानापन्न न्यायाधीश हो गये थे। उनके सामने मैंने कई मुकदमोंमें पैरवी की थी। वे आत्मसंवृत्त-से

---

१. इनका नाम था श्री ए० ई० राइव्ज, बार-ऐट-लॉ। बादमें ये हाईकोर्टके जज हो गये।

रहनेवाले सज्जन थे, किसी बातका निर्णय करनेमें विशेष सावधानी बरतते थे और अधिक बोलना पसन्द नहीं करते थे। किसी सज्जनने मेरे बारेमें उनकी राय पूछी। 'हाँ, वे ठिकानेसे सब काम करते हैं,' श्री सुन्दरलालने कहा, 'वे अपने मुकदमें सम्बन्धी सभी कागजपत्र पढ़ते हैं।' उनकी इस शुभ-सम्मतिका मैंने शीघ्र ही अच्छा लाभ उठाया। १९१४ की बड़े दिनकी छुट्टियोंमें पण्डित सुन्दरलालका एक मुवक्किल, जो अलीगढ़ जिलेका एक बड़ा उद्योगपति था, एक बड़े मुकदमेके कागजपत्र लेकर (जो उन दिनों जिलेकी एक अदालतमें चल रहा था) उनके पास पहुँचा और उसने मामलेकी चन्द बातोंपर उनकी राय जाननी चाही। पण्डित सुन्दरलालको उस समय इतना अवकाश न था कि वे खुद उन कागजोंको पढ़ते, इसलिए उन्होंने सुझाव दिया कि कागजोंको पढ़कर देखने तथा उस सम्बन्धमें एक नोट तैयार करनेके लिए मुझे रख लिया जाय और तब उनसे सलाह ली जाय। ऐसा ही किया गया और मुझे अच्छी फीस मिली, किन्तु इसके बाद इससे भी महत्त्वपूर्ण बात हुई। जब सलाह-मशविरा समाप्त हो गया, तब मुवक्किलने पण्डित सुन्दरलालसे आग्रहपूर्वक प्रार्थना की कि जिला अदालतमें आप मेरी तरफसे जरूर खड़े हों किन्तु उन्होंने इनकार कर दिया और बिना किसी हिचकिचाहटके यह कहकर मेरे नियुक्त कर लिये जानेकी सिफारिश कर दी कि इन्होंने मामला खूब अच्छी तरह समझ लिया है। यह काफी ऊँची प्रशंसा थी और महत्त्वपूर्ण सिफारिश भी, विशेषकर इसलिए कि वह पण्डित सुन्दरलाल जैसे व्यक्ति द्वारा की गयी थी। जो हो, मुकदमा बहुत ही महत्त्वका था। करोड़ों रुपयेके मूल्यवाले सूती कपड़ोंके मिलोंसे इसका सम्बन्ध था और मुवक्किल उसे पूर्णरूपसे एक नयी उम्रके वकीलके हाथ सौपनेको तैयार न था। डॉक्टर सप्रू नियुक्त कर लिये गये किन्तु उनके साथ सहायक वकीलके रूपमें मैं भी गया। यह मुकदमा कई वर्षोंतक चलता रहा। मुझे कई बार अलीगढ़ जाना पड़ा और इस प्रकार उस जिलेके लोग भी मुझे जान गये। समय बीतनेपर वहाँके बहुतसे मुकदमे मुझे मिलने लगे।

एक और घटनाका, जो इससे किञ्चित् भिन्न तरहकी थी, इसी तरहका लाभजनक परिणाम हुआ। यह बनारसकी एक प्रसिद्ध गायिका तथा नर्तकीका असाधारण मामला था। यह वृत्ति, अभी-अभी तक, क्षुद्र आचार-विचारवाली स्त्रियोंमें ही प्रचलित थी, फिर भी गाने तथा नाचनेकी कुशलताका भारतमें हमेशासे ही आदर होता रहा है और इसका अच्छा पुरस्कार भी मिलता है। जो स्त्रियाँ इस कलाकी कुशलताके लिए प्रसिद्ध हो जाती हैं, नियमित एवं अनुशासित जीवन बितानेका हमेशा ध्यान रखती हैं और केवल एक या दो सम्पन्न संरक्षकोंतक ही अपनी अनुकम्पा तथा कृपाका क्षेत्र सीमित रखती हैं। किन्तु कभी-कभी ऐसे मामले भी होते हैं, जब पैसेकी अधिक जरूरत न रह जानेके कारण वे खुद ही अपना आदमी चुन लेती हैं। कभी-कभी वे आकर्षक युवकोंकी तरफ झुक जाती हैं जिसपर वे अपने कृपाभावकी ही वर्षा नहीं करतीं वरन् रुपया-पैसा तथा जीवनकी अन्य सभी अच्छी वस्तुएँ भी उन्हें प्रदान करती हैं।

बनारसकी यह स्त्री कलाकार, जिसके पास प्रचुर धन था, एक नवयुवकपर आसक्त हो गयी, जो देखने-सुननेमें तो सुन्दर था किन्तु जिसके पास दुनियामें और कुछ भी न था। उसने उसे अपना कृपाभाजन बना लिया और अपने संरक्षणमें रख लिया। यह उसके साथ रहने लगा और उसने विविध उपहारों आदिसे उसे लाद दिया। कुछ समयके बाद उसने स्वतंत्र रूपसे अपना व्यवसाय शुरू किया, उन रुपयोंसे जो उसे उसीसे मिले थे, और इसमें उसने अच्छी सफलता प्राप्त की। अब उसने सम्माननीय बननेकी बात सोची, अपना विवाह कर लिया, अलग रहने लगा और उसे निकाल बाहर किया। वह उसके प्रेममें इतनी दीवानी हो गयी थी कि उसने प्रार्थना की कि मुझे

घरमें ही रहने दो, दासीके रूपमें ही सही किन्तु उसपर ध्यान नहीं दिया गया—पत्थरका कलेजा न पिघला, न पिघला। इस कृतघ्नताका शिकार होनेके बाद उसकी हालत खराब हो गयी। अब वह कुछ निरङ्कुश आदमियोंके हाथमें पड़ गयी जो किसी तरह अपना मतलब सिद्ध करना चाहते थे। अपना वैर भँजाना चाहते थे। उन्होंने उसकी शिकायतोंसे लाभ उठानेकी चेष्टा की और उसके नामपर दीवानी मामला दायर कर दिया। वह हिसाब-किताब तथा साझेदारी भंग करनेके लिए दिया गया चतुरतापूर्ण आवेदनपत्र था। वादीने प्रतिवादीके प्रति अपने प्रेमकी बात प्रकट करनेके बाद कहा कि वह अपनी जीविका कमा सके, इस उद्देश्यसे यह तय पाया था कि एक तरहकी साझेदारी स्थापित की जाय, रुपया-पैसा मैं लगाऊँ और प्रतिवादी काम करनेवाला साझेदारके रूपमें रहे, अपनी मेहनत लगावे तथा इससे जो लाभ हो वह दोनों पक्षोंमें बराबर-बराबर बाँट दिया जाय। प्रार्थना की गयी थी कि साझेदारी भंग कर दी जाय और १७ वर्षोंका हिसाब तैयार कराया जाय। प्रतिवादीने इस अभिकथनको माननेसे इनकार कर दिया और कहा कि मैं सम्पन्न व्यक्ति हूँ, वादीको मैंने रखेलीकी तरह रखा था और हम लोगोंके बीच साझेदारीके कामका प्रश्न ही नहीं उठता। मुकदमेपर विचार करनेवाले न्यायाधीशने निश्चय किया कि वादीकी बहुत-सी बातें सत्य हैं। प्रतिवादी निर्धन था, उसके पास अपना कोई रुपया न था किन्तु उनका मत था कि वादीने विशुद्ध दानके रूपमें वह धन उसे दे दिया था और साझेदारी सम्बन्धी समस्त अभिकथन बिलकुल मिथ्या है। वादीने हाईकोर्टमें अपील की और प्रतिवादीने एक प्रसिद्ध पुराने वकीलको नियुक्त करते हुए मुझे भी सहायकके रूपमें रहने दिया। वादीने जो अद्भुत मामला तैयार कर रखा था, उसे देखकर मैं दंग रह गया और मैंने प्रतिवादीको सलाह दी कि वह इस आशयका आदेश निकलवानेकी दरखास्त दे दे कि वादी प्रतिवादीका खर्च दे सकनेके लिए जमानत जमा कर दे। यह एक संदिग्ध-सी चीज मालूम होती थी और मेरे सहकारी मुख्य वकील जरा भी आशायुक्त नहीं थे। किन्तु मुवक्किलने जोरोंसे मेरा समर्थन किया और मैंने दरखास्त दे दी। वह मुख्य न्यायाधिपति सर हेनरी रिचर्ड्सके सामने विचारार्थ रखी गयी। मुकदमेकी असाधारणता देखकर उनका मनोरंजन हुआ। उन्होंने इसे बहुत तंग करनेवाला मुकदमा समझा। इसके सम्बन्धमें उन्होंने कई बातें हँसीमें कहीं। उन्होंने कहा, 'मैं समझता था कि नाजायज सम्बन्ध स्थापित करना काफी खर्चीला होता है किन्तु यहाँ तो बात उलटी ही हुई।' उन्होंने जमानतके तौरपर काफी रकम जमा करनेकी आज्ञा दे दी। वादीके रूपमें सट्टा खेलनेवाली महिला पीछे हट गयी और जमानत देनेको तैयार नहीं हुई और अपील खारीज कर दी गयी। इस तरह इस विचित्र मुकदमेका समयसे पहले ही अन्त हो गया। फीसके रूपमें होनेवाली मेरी बड़ी आमदनी मारी गयी किन्तु सारा बनारस शहर मेरे पक्षमें हो गया, इससे मैं लाभमें ही रहा। प्रतिवादी काफी प्रसिद्ध था और प्रभावशाली भी। मुकदमेके कारण शहरके लोगोंमें भारी दिलचस्पी उत्पन्न हो गयी थी जिससे मेरी भी स्थिति बढ़ गयी। इसके कुछ ही समय बाद प्रतिवादीने संसार-प्रसिद्ध विश्वनाथ मंदिरके मुख्य महन्तसे मेरा परिचय करा दिया और उक्त मन्दिरके प्रबन्ध सम्बन्धी विषयको लेकर चलनेवाले एक भारी मुकदमेमें मैं वकील नियुक्त कर लिया गया। इस मामलेके कारण आगे चलकर मुझे और भी कई अच्छे-अच्छे मुकदमे मिले और बनारसकी सम्पन्न नगरीमें मेरे पैर मजबूतीसे जम गये।

और भी कई बातें ऐसी थीं जिन्होंने उन प्रारम्भिक दिनोंमें मेरी सहायता की। कई वर्षोंतक मैं इलाहाबाद लॉ जर्नलके लिए मुकदमोंका विवरण तैयार किया करता था और अक्सर ही उसमें लेख तथा छोटी-छोटी टिप्पणियाँ लिखा करता था। सन् १९२० में जब डाक्टर सप्रू हट गये, तब मैं

उसका प्रधान सम्पादक बना। यह मेरे लिए कामकी चीज हुई। सन् १९१९ में मैंने 'दण्डनीय तथा मुकदमा चलाने योग्य षड्यंत्रों सम्बन्धी कानून'पर अधिनिबन्ध (थीसिस) लिखकर इलाहाबाद विश्वविद्यालयको अर्पित कर दिया। अधिनिबन्ध पसन्द कर लिया गया और दिसम्बर १९१९ में 'डाक्टर ऑफ लॉज' की उपाधि मुझे प्रदान की गयी।[१] १८ महीने बाद मेरा नाम इलाहाबाद हाईकोर्टकी वकील-सूचीमें दर्ज कर लिया गया।[२] पुनःसंघटनके बाद इलाहाबाद विश्वविद्यालय मात्र शिक्षा प्रदान करनेवाली संस्थाके रूपमें परिणत कर दिया गया और पुरानी कानून पढ़ानेकी कक्षाके बजाय एक नियमित विधि-महाविद्यालय स्थापित कर दिया गया। मुझसे दो बार इसमें अतिरिक्त लेक्चररके रूपमें कुछ महीनोंके लिए काम करनेको कहा गया और मुझे अक्सर यह सुनकर बड़ी प्रसन्नता होती थी जब विभिन्न जिलोंके युवक वकील आकर मुझसे कहते कि हम आपके विद्यार्थी रह चुके हैं। सन् १९१७ में पहली बार विश्वविद्यालयने एल-एल० बी० परीक्षाका परीक्षक नियुक्त कर मुझे सम्मानित किया और लगातार कई वर्षोंतक यह सम्मान मुझे प्राप्त रहा।

जब मैं इस तरह अपना कार्य करता जा रहा था, तब एकाएक प्रथम श्रेणीके वकीलोंकी पाँत छोटी होती गयी। छः वर्षोंके भीतर कुछकी मृत्यु हो जाने, कुछके अवकाश ले लेने, कुछके न्यायाधीशपदपर या अन्य ऊँचे ओहदेपर नियुक्त हो जानेसे इलाहबादकी वकील मण्डलीसे उसके कितने ही प्रमुख सदस्य तिरोभूत हो गये।[३] इस कारण ऊपर काफी जगह खाली हो गयी जिसमें

१. विश्वविद्यालय विनियमोंके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति जिसके पास इलाहाबाद विश्वविद्यालयकी 'मास्टर ऑफ लॉज' की डिग्री होती, 'डाक्टर ऑफ लॉज' की उपाधि पाने योग्य मान लिया जा सकता था, उस हालतमें जबकि वह (१) हाईकोर्टके दो जजों या इलाहाबाद विश्वविद्यालयके डाक्टर ऑफ लॉजकी उपाधिप्राप्त दो सज्जनोंका इस आशयका प्रमाणपत्र पेश करता कि वह एल० एल० एम० डिग्री प्राप्त करनेके बाद पाँच वर्षोंतक सम्मान एवं ख्यातिपूर्वक वकालत करता रहा है, (२) कानून अथवा न्यायशास्त्र सम्बन्धी किसी विषयपर लिखा गया अधिनिबन्ध (थीसिस) समर्पित करता जो विश्वविद्यालयको मान्य हो। सन् १८८६ के बादसे जब कि विश्वविद्यालयकी स्थापना हुई थी, मैं चौथा व्यक्ति था जिसे परीक्षाके बाद 'डाक्टर ऑफ लॉज' की उपाधि मिली हो —अन्य तीन व्यक्ति थे श्री सतीशचन्द्र बनर्जी (१९०२), श्री तेजबहादुर सप्रू (१९०३), और श्रीसुरेन्द्रनाथ सेन (१९१२)। १९१९ के बादसे १९४२ तक किसीको भी यह उपाधि इस तरह नहीं मिली।

२. 'इण्डियन बार कांउसिल ऐक्ट' पारित होनेके पूर्व इलाहाबाद हाईकोर्टमें वकीलोंकी दो सूचियाँ रखी जाती थीं। एकमें बैरिस्टरों, डाक्टर ऑफ लॉज उपाधिकारी व्यक्तियोंके नाम होते तथा दूसरीमें वकीलोंके नाम जो भारतीय विश्वविद्यालयोंसे एल-एल० बी० पास हों या हाईकोर्टकी वकील-परीक्षा उत्तीर्ण कर चुके हों। पहली सूचीवाले अधिक ऊँचे माने जाते थे। अब यह भेद मिट गया है और वकीलोंकी केवल एक सूची रखी जाती है।

३. डॉक्टर सतीशचन्द्र बॅनर्जी की मृत्यु सन् १९१५ में तथा सर सुन्दरलालकी १९१८ में हुई। पंडित मोतीलाल नेहरूने असहयोग आन्दोलनके कारण १९२० में वकालत करना छोड़ दिया और उसी साल, शरद् ऋतुमें, डॉक्टर सप्रू बड़े लाटकी कार्यसमितिमें कानून

बहुतसे नयी उम्रके व्यक्ति क्रमशः प्रविष्ट होते गये। इन्हींमेंसे मैं भी एक था। मेरी वकालत स्थिर रूपसे बराबर बढ़ती गयी। बढ़ती हुई आमदनीके लिहाजसे १९१७ में पुराना मकान बदलकर मैं बड़े मकानमें चला गया। मेरे पिताजीने एक घोड़ा मुझे उपहारमें दिया और मैंने एक ताँगा खरीद लिया। सन् १९२४ में मैंने अपना निजी मकान खरीद लिया (मेरा वर्त्तमान निवासस्थान, १९, एडमस्टन रोड)। अब मेरे लिए पीछे मुड़कर देखनेकी आवश्यकता नहीं रही।

१०. संयुक्त प्रान्तमें दीवानी मुकदमे

भारतका वह भाग जो आगरा तथा अवधका संयुक्त प्रान्त (अब उत्तरप्रदेश) कहलाता है, भारतीय इतिहासमें प्राचीन भारतवर्षके नामसे विख्यात है। प्रान्त चारों तरफ स्थलसे ही घिरा हुआ है। उत्तरमें हिमालयकी तलहटीवाली पहाड़ियोंसे सीमित है और गंगा, यमुना तथा उनकी विविध सहायक नदियोंसे अभिसिंचित है। प्रान्त हिन्दुओं तथा मुसलमानोंको समान रूपसे प्रिय है। हिन्दू उसका समादर करते हैं पवित्र नदियों तथा बनारस, मथुरा, हरिद्वार और इलाहाबाद जैसे नगरोंके कारण जो भारतमें आर्योंकी सभ्यताके शैशवकालसे विद्यमान हैं और मुसलमान उसे भारतीय मुसलिम संस्कृतिका केन्द्र मानते हैं। दिल्ली शहर जो कितने ही मुसलिम राजवंशोंकी राजधानी रहा है, यद्यपि जाब्तेसे और प्रशासनकी दृष्टिसे संयुक्त प्रान्त (उत्तरप्रदेश) में नहीं है, फिर भी वास्तवमें वह उसका ही आवश्यक अंग है। वह तीन तरफ संयुक्त प्रान्तकी सीमासे लगा हुआ है और अंग्रेजी शासनके पूर्व दिल्ली तथा आगरा व्यवहारतः एक दूसरेसे सम्बद्ध ही रहते थे। जो हो, वह एक कृषिप्रधान क्षेत्र है। औद्योगिक दृष्टिसे वह पिछड़ा हुआ है। उसका कोई भी हिस्सा समुद्रसे लगा हुआ नहीं है,[1] उसमें कोयलेकी खानें नहीं हैं, बड़े-बड़े विद्युत् उत्पादन केन्द्र नहीं हैं, कोयला, इस्पात, ताँबा, तेल तथा अन्य आवश्यक कच्चा माल यहाँ नहीं मिलता। इस तरह यहाँ बड़े पैमानेपर उत्पादन करनेवाले भारी कारखाने नहीं हैं। कानपुरको ही हम उसका औद्योगिक केन्द्र मान सकते हैं, जहाँ कई पुतलीघर हैं। लेकिन उसकी उपभूमि गन्नेकी खेतीके लिए विशेष रूपसे उपयुक्त है और इधर कुछ वर्षोंमें उसके चीनी-उद्योगमें बहुत अच्छी उन्नति हुई है। गन्ना उत्पन्न करनेवाले क्षेत्रोंमें चीनीके कई कारखाने खड़े हो गये हैं।

वह ऐसा प्रान्त रहा है जिसे हम भारतमें जमींदारीका प्रान्त कहते हैं। कृषक और भूमि जोतनेवाले किसानों तथा राजके बीच, जो सिद्धान्ततः सारी जमीनका मालिक है, जमींदार होते थे जिन्हें सीधे राजसे ही माफीके रूपमें या मालगुजारीपर जमीन प्राप्त थी। इन जमींदारोंमेंसे कुछ जो राजा या ताल्लुकेदार कहलाते थे, विस्तृत भूक्षेत्रोंके मालिक थे और दूसरे मामूली आमदनी तथा कम भूमिके मालिक थे। कृषकोंको खेतीकी जमीन, इन जमींदारोंसे ही प्राप्त होती थी, उस जमीनको छोड़कर, जो उनकी 'सीर' कहलाती है। जमींदारों और किसानोंका सम्बन्ध प्रान्तकी विषम आर्थिक समस्याओंमेंसे एक माना जाता रहा है। इन लोगोंकी भौतिक स्थिति सुधारनेके लिए, जिनमेंसे अधिकतर लोग गरीब थे, प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाको बारम्बार हस्तक्षेप करना पड़ता था और उसे स्थिर गतिसे ऐसे कानून बनाने पड़े हैं जिससे लगान और उत्तराधिकारके मामलोंमें तथा

सदस्य बना दिये गये। श्री राइव्ज, सरकारी एडवोकेट, डॉक्टर एस० एम० सुलेमान तथा श्री गोकुलप्रसाद १९२०-२२ में उच्च न्यायालयके न्यायाधीश बना दिये गये।

१. कानपुर कलकत्तेसे ६३३ मील तथा बम्बईसे ८०० मीलपर है। यही दोनों उसके सबसे निकटके बन्दरगाह हैं। कोयला उसे ४५० मीलसे मँगाना पड़ता है।

बेदखली और ऐसे ही अन्य मामलोंकी दृष्टिसे, किसानोंकी स्थिति अधिक सुरक्षित एवं सुस्थिर बनायी जा सके। प्रान्तके बहुतसे मुकदमें, जो माल अदालतों द्वारा निर्णीत कर दिये जाते थे और जिनमेंसे कुछकी अपीलका फैसला दीवानी अदालतोंमें होता था, जमींदारों तथा किसानोंके बीच उठ खड़े होनेवाले उन झगड़ोंके कारण चलाये जाते थे जिनका सम्बन्ध जोतकी भूमिसे होता था।

प्रान्त तथा उसके निवासियोंकी आर्थिक स्थिति, अन्य रूपसे, न्यायालयोंमें भी यथार्थतः प्रतिबिम्बित होती रहती है। व्यापार सम्बन्धी मुकदमें अधिक नहीं होते और निगमों सम्बन्धी कानूनके मामले भी बहुत थोड़ी संख्यामें ही सामने आते हैं। अन्तरराष्ट्रीय कानूनके व्यक्तिगत प्रश्न क्वचित् ही उत्पन्न होते हैं। वसीयतनामे कम ही लिखे जाते हैं और उत्तराधिकारके प्रश्नोंका नियमन फरीकोंसे सम्बन्ध रखनेवाले व्यक्तिगत कानूनसे होता है—हिन्दुओंके लिए हिन्दू कानूनसे और मुसलमानोंके लिए मुसलिम कानूनसे। हिन्दू कानून विवाहविच्छेदको मान्यता नहीं देता और मुसलिम कानून इसका एकतरफा अधिकार केवल पतिको देता है, जिसका प्रयोग वह अपनी मनमानी इच्छा तथा खुशीके मुताबिक कर सकता है। व्यक्तिगत अन्यायके कारण हुई क्षति पूरी करानेके लिए किये जानेवाले दावे भी कम ही देख पड़ते हैं। देहातमें लोग ऐसे मामलोंका निपटारा अक्सर घटना-स्थलपर ही खुली लड़ाई लड़कर कर लिया करते हैं, जिसके परिणामस्वरूप फौजदारी अदालतोंमें मामला चलता है। दीवानी मुकदमोंका सम्बन्ध, स्थूल रूपसे, प्रायः भूमिके साथ अथवा उत्तराधिकार, हस्तान्तरण और जमानतसे होता है। 'भूमि' शब्दका प्रयोग मैंने अचल सम्पत्तिके अर्थमें किया है, जिसमें मकान, बगीचा इत्यादि शामिल समझना चाहिए। राष्ट्रीय धन भूमिमें ही निहित है और महाजनी लेनदेन भी भूमिपर ही आधारित है।

एक बात और है। हिन्दू विधान तथा मुस्लिम विधानके सिवा कानूनकी अन्य महत्त्वपूर्ण शाखाएँ भी भारतीय विधानमण्डलों द्वारा संगृहीत कर दी गयी हैं। हमारे यहाँ सम्पत्तिके हस्तान्तरणका (बन्धकोंको शामिल करते हुए) यथोचित और व्यापक कानून बन गया है, और ठेकों सम्बन्धी, साझेदारीके हस्तान्तरणीय विलेखों सम्बन्धी, कम्पनियों सम्बन्धी कानून तथा भारतीय दण्डसंहिता और कितने ही अन्य अधिनियम भी हैं। इसके सिवा व्यवहारविधि तथा दण्डविधि (सिविल एण्ड क्रिमिनल प्रोसीजर)की संहिताएं तथा साक्ष्य सम्बन्धी संहिता भी है। यह सच है कि कानूनी चतुरता तथा न्यायिक विचक्षणता और बारीकीके कारण कानूनोंका एक बड़ा समूह अस्तित्वमें आ गया है किन्तु यह सब इस बातपर निर्भर करता है कि विधानमण्डलने जिस शब्दावलीका प्रयोग किया है उसका क्या आशय लिया जाता है एवं किस तरह उसका अर्थापन किया जाता है। इसका बहुत-सा अंश तो व्यर्थ-सा होता है, वह साफ और प्रकट बातपर केवल और अधिक जोर देता है और विधानमण्डलने जो बात अधिक उपयुक्त एवं ठीक-ठीक भाषामें कह दी है, उसे ही दोहराता है या सरल शब्दोंमें उसका मतलब समझानेका यत्न करता है।

इसलिए सन् १९१४में हाईकोर्टके सामने आनेवाले मुकदमोंमें अधिक विभिन्नता या वैचित्र्य नहीं था। प्रायः वही-वही बात सामने आती, वही राग बार बार अलापा जाता। सम्पत्तिके वास्तविक लेनदेन, बिक्री तथा रेहन सम्बन्धी मामले नियमित रूपसे न्यायालयके सामने आते। किन्तु जब बहुमूल्य जायदादोंके उत्तराधिकारको लेकर झगड़े खड़े हो जाते हैं, तब कानूनके सम्बन्धमें तथा तथ्योंके सम्बन्धमें दुरूह विवाद उत्पन्न हो जाता है। हिन्दू विधान अभीतक असंगृहीत है। उसका संकलन उन प्राचीन टीकाओंसे करना पड़ता है जो एक हजार वर्ष या उससे भी पहले लिखी गयी थीं, या फिर न्यायिक निर्णयोंकी नजीरोंसे, विशेषकर इंग्लैण्डमें स्थित

प्रिवी काउंसिलके निर्णयोंसे। इन अभिनिर्णयोंका समान कारण नहीं होता था। उनके सम्बन्धमें जटिल प्रश्न अभीतक अक्सर उठ खड़े होते हैं। वह खास तरहकी जायदाद जो हिन्दू विधानके अनुसार विधवाओं तथा लड़कियोंको प्राप्त होती है—जीवनपर्यन्त भोगी जा सकनेवाली मिलकियत जिसे पूर्णरूपसे या अंशतः हस्तान्तरित करनेका भी अधिकार किन्हीं विशेष परिस्थितियोंमें रहता है—अक्सर ही मुकदमेबाजीका कारण बन जाती है। हिन्दू पिता, हिन्दू विधवाएँ तथा हिन्दू दत्तक पुत्र—ये ही उत्तरप्रदेशके वकील-सम्प्रदायके बड़े भारी हितकर्त्ता हैं।

किन्तु पिछली घटनाओंका सिंहावलोकन करते समय कानूनकी सूक्ष्म बातोंकी तरफ उतना ध्यान नहीं दिया जाता। २५-३० वर्षकी जोरोंसे चलनेवाली वकालतमें मैंने कई हजार मुकदमोंमें पैरवी की होगी। अधिनियम सम्बन्धी प्रश्न अधिकतर उन प्रथम अपीलोंमें उद्भूत होते हैं जो नीचेकी अदालतोंके अभिनिर्णयोंके विरुद्ध की जाती हैं। दूसरी अपीलोंमें मुख्य रूपसे कानून सम्बन्धी बातोंपर ही विचार किया जाता है और उनमें कानूनकी प्रत्येक शाखापर ध्यान दिया जा सकता है। उस समय तो उनका थोड़ा-सा महत्त्व था और उनमें स्थायी दिलचस्पी थी किन्तु अब वे सब चीजें खतम हो गयीं और कानूनी रिपोर्टोंके धूलिधूसरित पृष्ठोंमें गड़ी पड़ी हैं। उनका मानवीय पहलू अवश्य ऐसी वस्तु है जो अब भी स्मृतिमें अवशिष्ट है। उसीके कारण कुछ मुकदमे हमेशा ही मनोरंजक मालूम होते हैं। कुछ मामले तो ऐसे हैं जिनसे प्रेमकथा या काल्पनिक कहानियाँ लिखनेवाले लेखकोंकी कल्पनाके लिए अच्छी सामग्री प्राप्त हो सकती है और अन्य मुकदमे ऐसे हैं जो इस कहावतको चरितार्थ करते हैं कि 'सत्य कल्पनासे भी अधिक अद्भुत होता है।'

११. एक मुसलिम पतिकी फरियाद

इस तरहके बहुतसे मुकदमोंकी शुरुआत पारिवारिक झगड़ोंसे हुई और उनके कारण न्यायालयोंमें ऐसे परस्परविरोधी साक्ष्य सामने रखे गये जिन्हें देखकर बुद्धि चकरा जाती थी। मुझे उस मुकदमेका अच्छी तरह स्मरण है जो मुख्य न्यायाधिपति सर ग्रिनवुड मीयर्सने भारत आनेपर सन् १९१९ में पहले-पहल सुना था। वे इस देशमें नये-नये आये थे और यहाँके लोगोंके रीति-रिवाजोंसे परिचित नहीं थे। उनके सामने पुनर्न्यायकी प्रार्थना करनेवाला संकटमें पड़ा हुआ एक मुसलिम पति था। उसने बतलाया कि मैंने अमुक-अमुक तारीखको, इसलामी कानून द्वारा विहित तरीकोंसे एक युवतीसे (जो इस मामलेमें प्रतिवादीके स्थानमें है) विवाह किया था किन्तु वह मेरे साथ नहीं रहती और दूसरा प्रतिवादी (एक युवक) उसे ऐसा करनेसे रोकता है, अतः मेरी प्रार्थना है कि अदालत इस आशयका आदेश जारी कर दे जिससे मेरे वैवाहिक अधिकार फिरसे मुझे प्राप्त हो जायँ। अपने लिखित वक्तव्यमें महिलाने एक अद्भुत किस्सा बयान किया। उसकी उम्र अधिक नहीं थी (मैं समझता हूँ कि वह १७ वर्षकी थी किन्तु इसलामी कानूनके अनुसार प्राप्तवयस्का थी) और उसमें बड़ी मोहकता तथा अदा थी। किन्तु इससे भी अधिक उसमें परिश्रमशीलता और कुछ दृढ़ संकल्प भी था। उसने बतलाया कि मैं वादीको बिलकुल ही पसन्द नहीं करती थी और उसके साथ विवाह करनेके प्रस्तावसे मुझे सख्त नफरत थी; किन्तु मेरे माता-पिता जोर देते थे। वे हठ कर रहे थे और मेरी इच्छाकी तरफ ध्यान देनेको तैयार नहीं थे, जो अप्रत्यक्ष रूपसे तथा समझदारीके साथ उनपर प्रकट कर दी गयी थी। वे अपने प्रस्तावको कार्यान्वित करनेके लिए आगे बढ़ते गये, यहाँतक कि उन्होंने विवाहके लिए तारीख भी मुकर्रर कर दी (यही वह तिथि थी जो वादीने बतलायी थी)। इसपर मैं बहुत डर गयी और लाचार होकर मैंने स्वयं ही आवश्यक कारवाई

करनेका निश्चय किया। मैं अपनी बुआसे मिलनेके लिए चल पड़ी जो उसी शहरमें एक दूसरी सड़कपर रहती थी। वह मुझे बहुत प्यार करती थी। मैंने अपनी विपत्ति उससे कह सुनायी और अपने दिलकी गुप्त बात भी उससे कह दी कि मैं अपने दूरके चचेरे भाई (इस मुकदमेका प्रतिवादी नम्बर दो) को बहुत ज्यादा चाहती हूँ और मेरी प्रबल इच्छा उसीसे विवाह करने की है। इसपर मेरी फूफीने (और फूफाने भी) वादीके साथ होनेवाली शादीकी सम्भावित विपत्तिसे मेरी रक्षा करनेका तथा उसके बजाय अपने दिलके प्रेमीसे विवाह करनेमें मेरी सहायता करनेका निश्चय किया। मैं फूफीके साथ ही ठहर गयी और मेरी शादी उसी तारीखको और उसी वक्त, जो वादीने बतलाया है, दूसरे प्रतिवादीके साथ, बिलकुल इसलामी कानूनके मुताबिक, विधिवत् सम्पन्न कर दी गयी। दोनों फरीकोंने मुकदमेके सिलसिलेमें बहुसंख्यक गवाहोंका संपरीक्षण किया। एक दल शपथपूर्वक कहता था कि विवाह वादीके साथ अमुक घरमें, अमुक समयपर हुआ था; दूसरा दल भी शपथ खाकर कहता था कि शादी दूसरे प्रतिवादीके साथ ठीक उसी तारीखको, उसी वक्तपर हुई किन्तु दूसरे मकानमें। मुसलिम विवाहमें इसलामी कानून इस बातपर जोर देता है कि शादीके वक्त काजी-का तथा कुछ गवाहोंका उपस्थित रहना लाजिमी है और चूँकि विवाह करानेकी रस्ममें वधू स्वयं कोई हिस्सा ग्रहण नहीं कर सकती, इसलिए किसी-न-किसीको उसका एजेण्ट बनकर वहाँ रहना चाहिये जो उसकी ओरसे प्रत्यक्षतः अधिकार पाकर सब काम करे। दोनों पक्षोंने साक्ष्यके रूपमें अपनी अपनी ओरसे काजी, एजेण्ट तथा विवाहके गवाह पेश किये। रिश्तेदार हैरान-से होकर दोनों तरफ बँट गये थे। किसीकी सहानुभूति एक पक्षके साथ और किसीकी दूसरेके साथ थी। माता-पिता तथा कुछ अन्य सम्बन्धी वादीका समर्थन कर रहे थे। फूफा, फूफी आदि उतने ही जोरोंके साथ प्रतिवादी द्वारा कही गयी बातोंकी पुष्टि कर रहे थे। मैं समझता हूँ कि दोनों ओरसे कुल मिलाकर कोई सौ गवाहोंके बयान लिये गये। मैं अब भी स्पष्ट रूपसे मानसचक्षुके सामने देख रहा हूँ कि कितनी हँसी उत्पन्न करनेवाली परेशानी और निराशाके साथ प्रधान न्यायाधिपति कागजपर लिखा हुआ यह सारा साक्ष्य पढ़ रहे थे। मेरा खयाल है कि गवाहोंके इन दोनों दलोंमें कोई भी ऐसी बात न थी जिसके आधारपर एकके बजाय दूसरे दलकी बात अधिक विश्वसनीय मानी जाती। मामला बहुत ही उलझनमें डालनेवाला था। मैं कह नहीं सकता कि न्यायाधिपतिके मनमें क्या-क्या विचार उठ रहे थे किन्तु मुझे यह जानकर आश्चर्य न होगा कि एक बाहरी चीजने फैसला देनेपर निश्चया-त्मक प्रभाव डाला हो, पहली अदालतके न्यायाधीशपर भी और हाईकोर्टके न्यायाधिपति पर भी। दोनों प्रतिवादी एक साथ रह रहे थे और उनके एक बच्चा भी उत्पन्न हो चुका था, जब कि मामले-पर, पहली अदालतमें विचार हो रहा था तथा दूसरा उस समय पैदा हुआ जब हाईकोर्टमें अपील चल रही थी। मैं समझता हूँ कि कोई भी न्यायाधीश, यदि उसका वश चले तो, मासूम बच्चोंको अवैध सन्तान घोषित करना पसन्द न करेगा। शायद इसीलिए अपील खारिज कर दी गयी।

अपने तजुर्बेमें मुझे ऐसे बहुतसे मामलोंमें पैरवी करनी पड़ी है। अवश्य ही, इस सम्बन्धमें हमें वह अन्तर न भूलना चाहिये जो दीवानी तथा फौजदारी मुकदमोंमें होता है। फौजदारी मामलोंमें नाटकमें तीव्रता होती है किन्तु खेल थोड़े ही समयतक जारी रहता है, अभिनेताओंकी संख्या छोटी होती है और प्रत्येक ब्यौरेकी बात महत्त्वपूर्ण एवं सार्थक होती है। सारी काररवाईके पीछे कोई गहरा भाव अथवा अन्य मानवोचित मनोराग काम करता रहता है, प्रेम या घृणा, प्रतिशोध या शुद्ध हत्याकी प्रवृत्ति। किन्तु दीवानी मामलोंमें, विशेषकर भारतमें, चित्रपट विस्तृत होता है और तसवीर भी बड़ी तथा घटनाका फैलाव कई वर्षोंतक होता है। ब्यौरेकी बातोंका महत्त्व तो होता है किन्तु प्रभाव

उनके स्थूल रूप या उनके सम्मिलित परिणामका ही पड़ता है। गवाहोंकी संख्या कभी-कभी बहुत अधिक होती है किन्तु, जैसा कि एक न्यायाधीश ने मुझसे कहा था, लिखित साक्ष्यका रत्तीभर टुकड़ा कभी-कभी मनों मौखिक साक्ष्यके बराबर उपयोगी होता है।

१२. लखनाका मुकदमा

सबसे पहले मैं प्रसिद्धिप्राप्त लखनाके मुकदमेका वर्णन करना चाहता हूँ, केवल इसलिए ही नहीं कि समयकी दृष्टिसे भी वह पहला था, वरन् इसलिए भी कि प्रान्तके उस भू-भागके कई जिलोंमें वह एक बुरी नजीरकी तरह देखा जाता था। लखना के मुकदमेने सारे प्रान्तमें व्यापक रूपसे दिलचस्पी उत्पन्न कर दी, विशेषकर न्यायिक प्रक्रिया सम्बन्धी उन परिवर्त्तनोंके कारण जो उसके अन्तिम प्रक्रमोंमें हुए थे। मुकदमेमें लिप्त लोगोंका व्यक्तित्व, वह भारी धन-सम्पत्ति जिसके लिए दावा किया गया था और दोनों तरफ जो बड़े-बड़े वकील नियुक्त किये गये थे, उन सबके कारण ही मुकदमेमें सर्वसाधारणकी दिलचस्पी बहुत बढ़ गयी थी। कई वर्षोंकी लम्बी अवधितक यह चलता रहा, फिर भी लोगोंकी दिलचस्पीमें कोई कमी नहीं हुई।

मैनपुरी न्यायिक क्षेत्रमें स्थित इटावा जिलेमें राव जसवंत सिंह नामके एक धनी जमींदार थे। सन् १८५७ के सैनिक-विद्रोहके समय उन्होंने ब्रिटिश सरकारकी अच्छी सेवा की थी और उसीके समुचित पुरस्कारस्वरूप उन्हें एक बड़ी जमींदारी दानमें मिली थी। उनके तीन विवाह हुए थे। पहली पत्नीसे उनके केवल एक लड़का था, बलवन्त सिंह। तीसरी पत्नी, रानी किशोरीसे लड़की थी, बेटी महालक्ष्मी बाई। जिले भरमें वे बड़े प्रतिष्ठित आदमी समझे जाते थे किन्तु उनके पुत्र बलवन्त सिंहने अपने पिताकी समस्त आशाओंपर पानी फेर दिया। वे बड़े असंयतचरित्र निकले। १८७० के करीब हत्या सम्बन्धी एक मामलेमें वे फँस गये। पिताने उन्हें बचानेके लिए भरपूर कोशिश की, अदालतोंमें उनके बचावके लिए अच्छी खासी रकम खर्च कर दी किन्तु सब व्यर्थ हुआ। बलवन्त सिंहका दोष सिद्ध हो गया और उन्हें आजन्म कारावासका दण्ड मिला। दुःख तथा क्रोधसे बूढ़े जसवन्त सिंहका कलेजा ही बैठ गया। उन्हें लगा कि इसने मेरे नाममें बट्टा लगा दिया, इसलिए उन्होंने अपनी जायदादसे बेटेको वंचित करनेका निश्चय कर लिया; किन्तु प्रत्येक हिन्दू चाहता है कि उसकी वंश-परम्परा बराबर कायम रहे और उन्होंने भी यह नहीं चाहा कि बलवन्त सिंहके पापका प्रायश्चित्त उनके बच्चोंको करना पड़े। उस समयतक बलवन्त सिंहके कोई सन्तान न थी किन्तु वे अभी जवान ही थे, अतः बादमें उन्हें बच्चे हो सकते थे। (आजन्म कारावासके दण्डका मतलब व्यवहारतः लगभग १२-१४ वर्षकी कैदका ही होता है।) जसवन्त सिंह अपनी युवती पत्नी रानी किशोरीको भी बहुत चाहते थे, इसलिए उन्होंने बड़ी होशियारीसे एक संलेख (डीड) तैयार कराया, अपने पुत्र बलवन्तको उत्तराधिकारसे वंचित कर दिया, सारी जायदाद इस मुख्य शर्तके साथ अपनी पत्नी किशोरीके नाम लिख दी कि यदि कभी बलवन्तके कोई लड़का पैदा हो और वह बालिग बन जाय तो उसे सारी मिलकियत पौत्रके हकमें छोड़ देनी पड़ेगी। संलेख काफी उलझा हुआ था, किन्तु यही उसका सारांश था। बलवन्तकी मृत्यु १८७३ में हो गयी और जायदाद रानी किशोरीके हाथमें आ गयी। वे परदेमें रहती थीं, जैसा कि उन दिनों उनकी जैसी हैसियतवाली भारतीय महिलाओंमें आम रिवाज था; किन्तु वे बहुत ही गुणवती एवं दृढ़ चरित्रवाली स्त्री थीं और बड़ी अच्छी तरह अपनी जमींदारीका प्रबन्ध करती थीं। बलवन्त सिंह १८८६ में किसी समय जेलसे छूटकर आ गये। सौतेली माँने अच्छी तरह उनका स्वागत किया और वे उन्हींके साथ, परिवारके घरमें, लखनामें रहने लगे। किन्तु झगड़ा

शीघ्र ही शुरू हो गया। बलवन्तकी अपनी भी कुछ जायदाद थी किन्तु वे अपने पिताकी मिलकियत पानेके लिए छटपटा रहे थे। यह रानी किशोरी उनके हाथमें सौंपनेको तैयार न थीं। इसलिए मुकदमे-बाजी शुरू हो गयी। बलवन्तने अपने दावेमें इस बातपर जोर दिया कि हिन्दू कानूनके अनुसार मैं अपने पिताकी सम्पत्ति उपराधिकारमें पानेसे वंचित नहीं किया जा सकता। उन्होंने एक न्यायालयके बाद दूसरेकी शरण ली किन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली। उस समयतक उनके कोई बच्चा नहीं हुआ था। उनकी स्त्री नारायन कुँवरकी उम्र अब बच्चा उत्पन्न करनेकी नहीं रह गयी थी। इसलिए, रानी किशोरीके कथनानुसार, उन्होंने व्यक्तिगत रूपसे चुनौती देते हुए उनसे कहा था—'मैं तुम्हारे लिए ऐसा जाल तैयार करूँगा जिसमें तुम फँसकर नष्ट हो जाओगी।' उन्होंने दूसरा विवाह किया और इस दूसरी पत्नीसे, जिसका नाम दुन्नाजू था, लगभग एक वर्षके भीतर सन् १८९४ में एक पुत्र पैदा हुआ। इस बच्चेका नाम नरसिंह राव रखा गया। यह बालक अपने पिताका बहुत ही दुलारा था। बलवन्त सिंह उसपर जान देते थे। वे उसे हर जगह ले जाया करते थे, उसे अपने मित्रों, सम्बन्धियों, अपने वकीलों तथा जिला अधिकारियोंको दिखाया करते थे। जहाँतक बलवन्त सिंहका सवाल था, इसमें कोई सन्देह नहीं कि वे संसारके सामने अपना पुत्र कहकर ही उसका परिचय देते थे। इस बीच रानी किशोरी भी चुप नहीं बैठी थीं। पुत्रोत्पत्तिकी खबर प्रकाशित होते ही उन्होंने इलाहाबादके एक प्रसिद्ध विधिज्ञ (पण्डित मोतीलाल नेहरू) से तथा कलकत्तेमें बंगालके एडवोकेट-जनरलसे सलाह ली। उन्होंने उन्हें निश्चित रूप से बतलाया कि दुन्नाजूने किसी बच्चेको जन्म नहीं दिया और यह किसी दूसरेका लड़का है जो अपना बनाकर प्रकट किया जा रहा है। पण्डित मोतीलालने जोर देकर सलाह दी कि इस (तथाकथित) छलका खुल्लमखुल्ला विरोध किया जाय और बलवन्त सिंहको चुनौती दी जाय कि वे अदालतमें बच्चेकी वल्दियत साबित करें। किन्तु बंगालके महाधिवक्ताकी राय थी कि जसवन्त सिंहका अपने प्रपौत्रके नाम जायदाद लिख देनेका निश्चय कानूनकी दृष्टिसे बिलकुल अमान्य था। और रानी किशोरी के लिए जायदादसे हाथ धो बैठनेका कोई खतरा न था, इसलिए उन्हें कुछ करनेकी आवश्यकता नहीं। रानी किशोरीने इस सलाहका अनुसरण किया और चुप बैठी रहीं।

सन् १९२० में बलवन्त सिंहकी मृत्यु हो गयी और उनकी निजी जायदादके उत्तराधिकारके सम्बन्धमें उनकी दोनों विधवाओंमें झगड़ा शुरू हो गया। दुन्नाजूने नरसिंह रावको अपने पिताका एकमात्र उत्तराधिकारी बताया किन्तु बलवन्तकी पहली स्त्री नारायन कुँअरने, जो रानी किशोरीके संरक्षणमें रहती थी, इस बातसे साफ इनकार कर दिया कि बलवन्त सिंहके अपना कोई लड़का था और उनकी दो विधवाओंमेंसे एक होनेके नाते जायदादका आधा हिस्सा पानेका दावा किया। कर निर्धारण आदिकी दृष्टिसे माल अधिकारियोंने मामलेकी छानबीन की और साक्ष्य अभिलिखित किया। नारायन कुँअरके वकीलने दुन्नाजूको चुनौती दी कि वे यह साबित करनेके लिए अपना डाक्टरी मुआइना करानेकी स्वीकृति दें कि उन्होंने किसी पूरे समयके बच्चेको सचमुच कभी जन्म दिया था। दुन्नाजूने इसे माननेसे रोषपूर्वक इनकार कर दिया और कहा कि एक ऊँचे खानदानकी ब्राह्मण विधवाको बदनाम और अपमानित करनेके उद्देश्यसे ही यह दरखास्त दी गयी है। माल अदालतने इसे कोई महत्त्व नहीं दिया और साक्ष्यके आधारपर पता लगाया कि नरसिंह राव बलवन्त सिंहका लड़का तथा एकमात्र उत्तराधिकारी था। जायदादपर नरसिंहका अधिकार हो गया किन्तु नाबालिग होनेके कारण जायदादका प्रबन्ध कोर्ट ऑफ वार्ड्सके हाथमें कर दिया गया, 'राव'की वंशानुगत उपाधि उसे प्रदान की गयी और उसे अच्छी शिक्षा भी दी गयी। वह बहुत ही योग्य, मनोरम

तथा देखने-सुननेमें सुन्दर युवक निकला किन्तु रानी किशोरी उसे बलवन्त सिंहका पुत्र माननेसे इनकार करनेपर बराबर अड़ी हुई थीं। सरकारके उच्चाधिकारियों तथा पड़ोसके जमींदारोंने बीच-बचाव करनेकी चेष्टा की किन्तु रानी किशोरी किसीकी भी बात सुननेको तैयार नहीं थीं। उन्होंने कहा कि मैं जानती हूँ कि वह बलवन्त सिंहका पुत्र नहीं है, इसलिए मैं उसे अपने पतिका पौत्र कैसे मान सकती हूँ।

सन् १९१५ में नरसिंह राव बालिग हो गया और उसने अपने दादाके बन्दोबस्तके अनुसार सारी जायदादपर अधिकार पानेके लिए दरखास्त दी। भूसम्पत्तिका मूल्य ५५ लाख रुपयेसे अधिक था। डॉक्टर सप्रू तथा अन्य अनुभवी वकील उसकी तरफसे खड़े थे। पंडित मोतीलाल नेहरू और उनके लड़के श्री जवाहरलाल नेहरू तथा अन्य लोग रानी किशोरीके वकील थे। सवाल यह था कि वास्तवमें तथ्य क्या है। क्या दुन्नाजू सचमुच नरसिंह रावकी माँ है? यह भी दलील दी गयी कि बन्दोबस्त ठीक नहीं था और कानूनकी दृष्टिसे टिक नहीं सकता था। दोनों पक्ष जोरोंके साथ तथा कटुतापूर्वक मुकदमा लड़ रहे थे। रानी किशोरी शुरूसे आखिरतक केवल यही नहीं कहती रहीं कि दुन्नाजूने नरसिंह रावको उत्पन्न नहीं किया वरन् यह भी कि उन्होंने अन्य किसी भी बच्चेको जन्म नहीं दिया, इस विवाहसे कोई सन्तान हुई ही नहीं। इस निश्चित हिदायतके आधारपर पंडित मोतीलाल नेहरूने मामला तैयार किया। बच्चेके जन्मके सम्बन्धमें तथा बलवन्त सिंहके व्यवहार एवं स्वीकृतिके सम्बन्धमें बहुत-सा साक्ष्य उपस्थित किया गया किन्तु मुकदमेका भविष्य वस्तुतः दुन्नाजूके साक्ष्यपर अवलम्बित था। सामान्य रूपसे भारतीय महिलाओंके बयान खुली अदालतमें नहीं लिये जाते वरन् इस कार्यके लिए एक संपरीक्षक उनके घर ही भेज दिया जाता है। जिला जजने, जो स्वयं इस मामलेपर विचार कर रहे थे, खुद दुन्नाजूके पास जाकर उनका बयान लिखनेका निश्चय किया और वे उनके निवासस्थानके लिए चल पड़े। बड़े तनावकी परिस्थितिमें उनका बयान लिया गया। पंडित मोतीलाल नेहरूने सन् १९०० का प्रश्न एकबार फिर सामने रखा और दुन्नाजूको अपनी डॉक्टरी परीक्षा करानेके लिए आमन्त्रित किया। उन्हें आशा थी कि यह अनुरोध रोषपूर्वक ठुकरा दिया जायगा किन्तु अनपेक्षित बात ही अक्सर घटित हो जाती है। महिलाने इसके जवाबमें तुरत उनकी चुनौती स्वीकार कर ली। आनन-फानन ही उन्होंने उत्तर दिया—'हाँ, हाँ, एक बार नहीं, दो बार नहीं, वरन् बीसों बार, एक-दो डॉक्टरों द्वारा नहीं बल्कि सैकड़ों द्वारा मैं परीक्षा करानेको तैयार हूँ, बशर्ते कि रानीजी अपना खजाना लुटानेपर (डॉक्टरोंको घूस आदि देनेपर) आमादा न हो जायँ।' पंडित मोतीलाल बिलकुल स्तब्ध तो रह गये थे किन्तु केवल थोड़ी देरके लिए ही। उनके सामने दूसरा कोई विकल्प नहीं रह गया था। महिलाने यदि इनकार कर दिया होता तो घटना सम्भवतः बिना टीका-टिप्पणीके बीत जाती किन्तु यहाँ तो स्थिति ही उलट गयी थी। उन्होंने भारतके तथा इंग्लैण्डके डॉक्टरों-से सलाह ली कि २४ वर्ष बीत जानेके बाद क्या अंदरूनी जाँचसे इस बातका पता लगाना सम्भव है कि किसी स्त्रीने पूरे समयके बच्चेको जन्म दिया था या नहीं। उन्हें बताया गया कि हाँ, ऐसा करना सम्भव है। इसपर कई महीनोंके बाद, उन्होंने न्यायाधीशके पास दरखास्त दी कि वे अदालत द्वारा मनोनीत कुशल डॉक्टरोंसे डॉक्टरी परीक्षा करानेके लिए दुन्नाजूको आदेश दें। यह कभी ज्ञात न हो सका कि किस बातसे प्रेरित होकर दुन्नाजूने अपने वक्तव्यमें इस तरहका निश्चित आश्वासन दे दिया था। हो सकता है कि उन्होंने केवल गीदड़-भभकी दी हो। यह भी सम्भव है कि किसीने उन्हें यह समझा दिया हो कि इतने वर्ष बीत जानेके बाद डॉक्टरी परीक्षा करना बेकार होगा और कोई भी डॉक्टर इसके लिए तैयार न होगा। बात चाहे जो रही हो, जब उनके कसौटीपर कसे जानेका अव-

सर आया तब उनकी हिम्मत टूट गयी और दोनों ओरकी काफी तू-तू मैं-मैंके बाद अन्तमें उन्होंने डॉक्टरी मुआइना करानेसे इनकार कर दिया। स्थितिने एक बार फिर पूर्ण रूपसे पलटा खाया। नरसिंह रावकी उत्पत्तिका सीधा साक्ष्य जो देखनेमें इतना विश्वसनीय एवं निश्चित मालूम होता था, सन्देहास्पद हो गया और उसका महत्त्व जाता रहा। विचार करनेवाले न्यायाधीशपर दुन्नाजूके आचरणका भारी प्रभाव पड़ा। 'शारीरिक, संपरीक्षणके लिए (ये शब्द बादमें प्रिवी काउंसिलमें लॉर्ड डिमैडिनने प्रयुक्त किये थे) तैयार होनेसे उनके इनकार कर देनेसे उनके लड़केके मामलेपर घातक प्रभाव पड़ा।' मुकदमा खारिज कर दिया गया। नरसिंह रावने अपील दायर की जिसकी सुनवाई प्रधान न्यायाधिपति (सर ग्रीनवुड मीयर्स) और सर प्रमोदचरण बनर्जीके सामने जो सबसे पुराने तथा अनुभवी न्यायाधीशोंमेंसे एक थे, हुई। अदालत दर्शकोंसे ठसाठस भरी हुई थी। नरसिंह राव—ऊँचा, चौकन्ना, सुन्दर और आकर्षक युवक—अदालतमें उपस्थित था। डॉक्टर सप्रू वहाँ नहीं थे। वे उस समय भारत सरकारके कानून सदस्य हो गये थे। उनके बदले श्री ओ' कोनर नरसिंह रावकी तरफसे खड़े थे। रानी किशोरीकी ओरसे पंडित मोतीलाल नेहरू, सफेद खादीकी पोशाक पहने, उपस्थित थे। उन्होंने असहयोग आन्दोलनके कारण वकालत करना बन्द कर दिया था किन्तु रानी किशोरी उनके इनकार करनेपर भी उन्हें छोड़नेको तैयार नहीं हुई। कारवाई शुरू हुई, न्यायाधीश बड़ी सावधानी और ध्यानके साथ श्री ओ' कोनरके विशद और प्रभावोत्पादक तर्कोंको सुनते रहे किन्तु उनके सामने सबसे बड़ी बाधा अब भी दुन्नाजूके डॉक्टरी परीक्षा करानेसे इनकार कर देनेके रूपमें विद्यमान थी। यह बाधा श्री ओ' कोनर दूर नहीं कर सके। बहसके प्रायः समाप्त हो जानेपर प्रधान न्यायाधिपतिने श्री ओ' कोनरको सम्बोधन करते हुए कहा कि नरसिंह रावके प्रति सहानुभूति होनेके कारण हम दुन्नाजूको एक मौका और देनेको तैयार हैं, अतः आप यदि सम्भव हो तो स्वयं दुन्नाजूसे मिलें और उन्हें समझावें कि उनका डॉक्टरी मुआयनेके लिए तैयार हो जाना परम वांछनीय ही नहीं, परमावश्यक भी है। आप उन्हें यह भी बतला दें कि उनके इनकार कर देनेका कितना दुःखद परिणाम उनके पुत्रके भावी जीवन एवं उन्नतिपर पड़नेकी सम्भावना है। मुकदमेकी सुनवाई कुछ दिनोंके लिए स्थगित कर दी गयी। अदालतमें मामला पुनः उपस्थित होनेपर श्री ओ' कोनरने बड़े दुःखके साथ सूचना दी कि मैंने दुन्नाजूसे मुलाकात की थी किन्तु अपने प्रयत्नमें मैं नितान्त असफल रहा। उनके आचरणका कितना घातक परिणाम हो सकता है, इस बातकी बार-बार चेतावनी देनेपर भी वे परीक्षा करानेके लिए तैयार नहीं हुईं। इस प्रकार मामला खतम हो गया। अदालतने कुछ दिनोंके बाद फैसला दिया। अपील खारिज कर दी गयी। दुन्नाजूका आचरण मामलेका निर्णायक तत्त्व माना गया और उनकी अस्वीकृति उनके दोषी अन्तःकरणकी द्योतक मान ली गयी। रानी किशोरी उस समय जिन्दा थीं और उन्होंने अपने पक्षमें दिया गया हाईकोर्टका निर्णय सुना। नरसिंह रावको पूर्णरूपसे पराजित कर देनेकी उनकी उत्कट इच्छा पूरी हो गयी और इसके कुछ ही दिनों बाद उनकी मृत्यु हो गयी।

लोगोंने समझा कि मुकदमेबाजीका अन्त हो गया। भारतीय अदालतोंमें तथ्यके प्रश्नोंपर एक रायसे दिये गये निर्णयोंपर अधिकारतः कोई अपील नहीं की जा सकती और प्रिवी काउंसिल द्वारा हस्तक्षेप भी क्वचित्[1] ही होता है। किन्तु नरसिंह राव मामूली मुकदमेबाज न था। वह बड़ा दृढ़-

---

[1] उस समय भारतीय अदालतों द्वारा किये गये फैसलोंकी अपील इंग्लैण्डमें सपरिषद् नरेशके पास की जा सकती थी। जिस पक्षको निर्णयके सम्बन्धमें असन्तोष होता, वह प्रिवी काउंसिलमें ब्रिटिश नरेशके नाम याचिका भेजकर पुनर्न्यायप्रार्थना करता था। यह याचिका

निश्चय साबित हुआ, जो अन्ततक लड़नेके लिए कृतसंकल्प था। उसने खुद इंग्लैण्डमें सपरिषद् नरेशसे अपील करनेकी अनुमति माँगी। उच्च न्यायालयने अनुमति देनेसे इनकार कर दिया। तब उसने फैसलेकी निगरानीकी दरखास्त दी। अपनी याचिकाके समर्थनमें उसने जो शपथपत्र दाखिल किया था, वह बहुत ही करुणाजनक था। उसमें उसने कहा था कि 'मैंने अपनी माँको बतलाया कि अपने दुराग्रहके कारण उसने मेरे साथ कितना अन्याय किया है और इस तरह मेरी कितनी बरबादी कर दी है। मैंने अपनी जायदाद ही नहीं खो दी वरन् जनताकी निगाहमें अज्ञात माता-पिताकी सन्तानके रूपमें मैं बदनाम हो गया हूँ। मेरी बरबादी और मेरे भावनापूर्ण प्रतिरोधके कारण वे किसी तरह बुद्धिसंगत बात माननेके लिए राजी हो गयीं और डॉक्टरी परीक्षाके लिए उन्होंने अपनी स्वीकृति दे दी। इसके बाद एक सुख्यात महिला चिकित्सक द्वारा उनका मुआयना किया गया और उसने प्रमाणपत्र दे दिया है कि उसकी रायमें दुन्नाजूमें उनकी कोखसे पूरे समयका बच्चा उत्पन्न होनेके स्पष्ट लक्षण मौजूद हैं। मेरी प्रार्थना है कि दुन्नाजूकी डाक्टरी परीक्षा अब करा ली जाय और मामलेपर फिरसे विचार किया जाय।' हाईकोर्टने ऐसा करनेसे इनकार कर दिया। तब नरसिंह रावने सीधे लन्दनमें सपरिषद् नरेशके पास अर्जी भेजकर अपीलकी विशेष अनुमति माँगी। इसमें उसे सफलता मिली और अपील करनेकी इजाजत मिल गयी। अपील उसने दाखिल कर दी। इसके बाद वह दुन्नाजूको इंग्लैण्ड ले गया और उसने उसके डॉक्टरी मुआयनेके लिए तथा मुकदमेमें नया साक्ष्य स्वीकार करनेके लिए प्रार्थनापत्र दिया। यह एक अश्रुतपूर्व प्रार्थनापत्र था, फिर भी कमेटीने उसपर विचार करना स्वीकार कर लिया। न्यायिक समितिके जिन लॉर्ड सदस्योंने उसे सुना, वे मुकदमेकी काररवाईसे तथा 'तीसरे दरजे' के प्रतिपरीक्षणके इस प्रयत्नसे जो परिणाम उद्भूत हुए उनसे बड़े चकित हुए। उनका खयाल था कि नरसिंह रावकी शिकायतके लिए यथेष्ट कारण था और उन्होंने दोनों पक्षोंपर मंजूरीके लिए अपना आदेश करीब-करीब जबरन लाद दिया। इस आदेशका रूप प्रिवी काउंसिलके न्यायिक इतिहासमें अभूतपूर्व था। उभय पक्ष इस बातमें सहमत है कि दुन्नाजूकी परीक्षा दो ऐसी महिला डॉक्टरों द्वारा की जाय जिन्हें न्यायिक समिति विशेष रूपसे इस कार्यके लिए नामजद कर दे। यदि मुआयनेके बाद डॉक्टरोंकी राय नकारात्मक हो तो मामला वहीं खत्म हो जायगा और यदि सकारात्मक हो तो उक्त प्रमाणपत्र ही इस तथ्यका निर्णायक साक्ष्य माना जायगा कि दुन्नाजूने पूरे समयके बच्चेको जन्म दिया था। यह प्रमाणपत्र दोनों फरीकोंके लिए बाध्यकारी होगा और यह मामला उक्त प्रमाणपत्रके साथ पुनः भारतको इस आदेशके साथ लौटा

एक स्थायी समितिके पास, जो प्रिवी काउंसिलकी न्यायिक समिति कहलाती थी, विचार करने और प्रतिवेदन करनेके लिए भेज दी जाती थी। लॉर्ड चांसलर, पहलेके लॉर्ड चांसलर, अपीलके विधिक लॉर्ड तथा प्रिवी काउंसिलके अन्य सदस्य जिन्हें न्याय सम्बन्धी मामलोंका अच्छा अनुभव होता, न्यायिक समितिके सदस्य होते हैं। यह कमेटी आवेदकके वकीलका कथन सुनकर नरेशके नाम दी गयी सलाहके रूपमें अपनी रिपोर्ट पेश करती थी। यह रिपोर्ट तब नरेश द्वारा मंजूर की जाती थी और जाब्तेसे काउंसिलके आदेश रूपमें प्रकाशित की जाती जो मुकदमेमें डिगरीकी तरह कार्यान्वित की जाती थी। कमेटीकी सलाहमें दिये गये तर्क लोक-भाषामें प्रिवी काउंसिलका निर्णय कहे जाते हैं। प्रिवी काउंसिलमें कोई विमति-सूचक निर्णय नहीं होता। कमेटीकी रिपोर्ट सर्वसम्मतिकी रिपोर्ट मान ली जाती है और तर्क या कारण उन सदस्योंमेंसे किसी एक द्वारा प्रस्तुत किये जाते हैं जो मामले की सुनवाईमें शामिल होते हैं।

दिया जाय कि हाईकोर्ट इस प्रमाणपत्रके आधारपर फिरसे उसपर विचार करे। कुछ लोगोंने जो यह शंका प्रकट की थी कि वह महिला जो इंग्लैण्ड लायी गयी है तथा जिसकी डॉक्टरी परीक्षा की जाने वाली है, दुन्नाजू ही है या अन्य कोई, उस सम्बन्धमें न्यायिक समितिने राय दी कि अभिज्ञान (शिनाख़्त) के मसलेकी जाँच तथा निश्चयकी काररवाई भारतमें ही हो किन्तु उसने आदेश दिया कि आवश्यक फोटोग्राफ (छायाचित्र) तथा अँगुलियोंके निशान लन्दनमें ही ले लिये जायँ। निश्चित तारीखको निर्धारित समयपर पहलेसे तय किये हुए बयानपर दोनों पक्षके लोग स्वयं या उनके कानूनी प्रतिनिधि एकत्र हुए। दो महिला डॉक्टरोंने, जिनके नाम गुप्त रखे गये थे, आकर दुन्नाजूका मुआयना किया और लिखकर इस बातकी तसदीक कर दी कि उनकी रायमें दुन्नाजूने एक पूरे समयके बच्चेको जन्म दिया था। जिस स्त्रीका मुआयना उन्होंने किया था, उसके फोटोग्राफ तथा अँगुलियोंके निशान भी उनकी उपस्थितिमें लिये गये और उनपर प्रमाणके रूपमें उन्होंने स्वयं हस्ताक्षर किये। तब यह मामला पुनः भारत भेज दिया गया। जब अपीलकी सुनवाई आरम्भ हुई, तब मैं (रानी किशोरीकी पुत्री महालक्ष्मी बाईके वकीलकी हैसियत से) न्यायालयमें उपस्थित था। मुख्य न्यायाधिपति न्यायपीठपर आसीन थे। एक दूसरे न्यायाधीशने, जिसने पहली बारकी सुनवाईमें भाग लिया था, अवसर ग्रहण कर लिया था और उसका स्थान अन्य न्यायाधीशने ग्रहण किया था। अदालतमें इस बार भी खूब भीड़ थी। पहला प्रश्न जिसपर विचार हुआ, शिनाख्त या अभिज्ञान सम्बन्धी था। इसके सम्बन्धमें आपत्ति की गयी थी और इसे साबित करनेके लिए गवाह बुलाये गये थे। दुन्नाजू अदालतके बगल-वाले कमरेमें मौजूद थीं। सबसे पहले गवाहके रूपमें नरसिंह रावका बयान लिया गया। जब पंडित मोतीलाल नेहरू उससे जिरह कर रहे थे, तब मुख्य न्यायाधिपतिने सुझाव दिया कि अभिज्ञानका प्रश्न आसानीसे हल किया जा सकता है यदि पंडित मोतीलाल नेहरूको अवसर दिया जाय कि वे महिलाको देखकर लन्दनके फोटोग्राफसे उसका मिलान कर सकें। नरसिंह रावने इसकी अनुमति देनेसे पहले दृढ़तापूर्वक इनकार कर दिया। उसने कहा कि मेरी माँ परदेमें रहती हैं और मैं विरोधी पक्षके वकीलको उन्हें देखनेकी इजाजत नहीं दे सकता। हाँ, प्रधान न्यायाधिपति द्वारा उनके देखे जानेमें मुझे कोई आपत्ति नहीं है। प्रधान न्यायाधिपति मुसकराने लगे और उन्होंने मीठे शब्दोंमें नरसिंह रावको चेतावनी दी कि मुकदमा फिर कहीं लम्बा न बढ़ता जाय। अन्तमें नरसिंह रावने उनकी सलाह मान ली। प्रधान न्यायाधिपति, दोनों पक्षोंके वकीलोंके साथ—डॉक्टर सप्रू (उस समय सर तेजबहादुर सप्रू) और महालक्ष्मीकी ओरसे पंडित मोतीलाल नेहरू—बगलके कमरेमें गये और कुछ ही मिनटोंके बाद लौट आये। उस समय प्रधान न्यायाधिपति तो न्यायाधिकारीकी तटस्थता एवं गम्भीरताकी प्रतिमूर्ति बने हुए थे, डॉक्टर सप्रू विजयसे प्रसन्न होकर मुसकरा रहे थे और पंडित मोतीलाल विचारमग्न तथा उत्साहविहीन-से प्रतीत हो रहे थे। पंडित मोतीलाल ने तुरन्त ही अभिज्ञान सम्बन्धी आपत्तियोंको वापस लेते हुए एक वक्तव्य दिया और तब अदालत खाली हो गयी। मामलेका तथ्य सम्बन्धी प्रश्न समाप्त हो गया था। साक्ष्यके सम्बन्धमें विस्तारसे बहस होती रही और तथ्योंको लेकर तर्क-वितर्क करनेमें कई दिन लग गये किन्तु परिणाम पूर्ण निश्चित था। उस समय प्रश्न इतना ही था कि दुन्नाजूने कभी किसी बच्चेको जन्म दिया था या नहीं (नरसिंह रावको जन्म दिया या नहीं, सवाल यह न था) और उसका निपटारा डॉक्टरके प्रमाणपत्रसे हो गया। अब वस्तुतः पितृत्व सम्बन्धी प्रश्नपर अधिक कुछ कहनेको नहीं रह गया था। फिर भी कानूनका प्रश्न, बन्दोबस्तकी वैधताका प्रश्न, अभी शेष था और उच्च न्यायालयने उसका समर्थन किया। इस रिपोर्टके साथ मुकदमा फिर प्रिवी काउंसिलके पास अन्तिम निपटारेके लिए भेज

दिया गया। वहाँ महालक्ष्मी बाईके वकील सर जॉन साइमनने, प्रारम्भमें ही कह दिया कि पितृत्व सम्बन्धी मामलेमें उच्च न्यायालयके निर्णयके विरुद्ध आपत्ति करनेका हमारा इरादा नहीं है—यह सन् १९२८ की बात है—और इस प्रकार १२ वर्षतक संघर्ष करनेके बाद नरसिंह राव यह साबित कर सका कि वह बलवन्त सिंहका लड़का है। फिर भी जमीन्दारी उसे नहीं मिली। कानूनके प्रश्न-पर न्यायिक समितिका उच्च न्यायालयसे मतभेद था और उसने राय दी कि बन्दोबस्त, जहाँतक कि उसका इरादा नरसिंह रावको लाभ पहुँचानेका था, कानूनकी दृष्टिसे अप्रभावी था, अतः रानी किशोरीको रियासतपर कब्जा बनाये रखनेका अधिकार है। मुकदमा पूरे खर्चके साथ खारिज कर दिया गया। परिणामसे स्पष्ट हो गया कि सन् १८९४ में बंगालके महाधिवक्ताने जो राय दी थी वह ठीक थी और यह तमाम मुकदमेबाजी समय, धन और शक्तिका पूर्ण अपव्यय ही थी। यदि नरसिंह रावने खुद ही फरियाद न की होती तो बलवन्त सिंहके पुत्र कहलानेके उसके अधिकारका किसीने विरोध न किया होता। इस तरह सुप्रसिद्ध लखनाका मुकदमा उस समय समाप्त हो गया।[1]

१३. उत्तराधिकार सम्बन्धी दो अद्भुत मामले

यह एक अद्भुत बात है कि न्यायाधीशोंकी काररवाईके कारण ऐसे अनेक मानवी नाटकोंकी सृष्टि हुई है। हो सकता है कि लखनाके मुकदमेने सर्वसाधारणकी कल्पनाशक्तिको प्रभावित किया हो और लोगोंको मिथ्या तर्क उपस्थित करनेके लिए प्रेरित किया हो। इनमेंसे कुछ मामलोंमें, जो निहायत दिलचस्प और अनोखे थे, मुझे भी खड़ा होना पड़ा था। ऐसा एक मामला दो भाइयोंके एक हिन्दू परिवारका आ पड़ा था। बड़े भाईके लड़के थे किन्तु छोटेकी कोई सन्तान न थी और उसकी पत्नी एक पुलिस अधिकारीकी लड़की थी। सन् १९१८ की शरद् ऋतुमें देश भरमें जो इन-फ्लूएंजा बुखारकी महामारी फैल गयी थी, और जिसमें छः सप्ताहके भीतर ६० लाख आदमियोंके प्राण गये थे, उसीमें छोटे भाईकी मृत्यु हो गयी। उसकी मृत्युके बाद कानूनकी दृष्टिसे स्थिति यह थी—यदि दोनों भाई संयुक्त हिन्दू परिवारके सदस्य थे और मिलकियत भी संयुक्त रूपसे दोनोंके हाथमें थी, तो बड़ा भाई ही, परिवारका जीवित बचा रहनेवाला सदस्य होनेके नाते, परिवारकी समस्त सम्पत्ति पानेका हकदार हो गया और छोटे भाईकी विधवा स्त्रीको परिवारकी निधिमेंसे केवल भरण-पोषणका खर्च पानेका अधिकार था। किन्तु यदि दोनों भाई अलग-अलग रहते रहे हों और उनमेंसे किसीकी अपुत्रावस्थामें ही मृत्यु हो जाय तो उसकी विधवा अपने पतिका हिस्सा पानेकी हकदार हो जाती है। उत्तरप्रदेशके हिन्दू परिवारोंमें यह एक बहुत ही प्रचलित विवाद है। इस मामलेमें भी झगड़ा तुरन्त शुरू हो गया। बड़े भाईने संयुक्त परिवारकी बातपर जोर देना शुरू किया और विधवाने अलग रहनेका दावा किया। पहली दौड़ दीवानी अदालतोंमें शुरू हुई जहाँ सरकारी रजिस्टरोंमें भूसम्पत्तिके मालिकोंके नाम दर्ज करानेके लिए दरख्वास्तें दी जाने लगीं। ये मामले अभी चल ही रहे थे कि एक दिन शुभ्रप्रभातके समय बड़ा भाई, जैसा कि उसने अपने दावेमें कहा था, अपनी भ्रातृवधूके पिताका इस आशयका तार पाकर भौंचक्का सा रह गया कि उनकी पुत्रीके, जो उस समय उनके साथ ही रह रही थी, लड़का हुआ है। बड़े भाईने तुरन्त उसे किसी

१. मुकदमेकी पूरी रिपोर्ट और समूचे इतिहासके लिए देखिये, नरसिंह राव बनाम बेटी महालक्ष्मी बाई। नरसिंह रावने इसके बाद फिर एक फरियाद प्रिवी काउंसिलके निर्णयका अर्थापन करानेके लिए की थी। उसका कहना था कि इस निर्णयके अनुसार महालक्ष्मी बाईकी मृत्युके बाद जायदाद पानेका हकदार मैं हो जाऊँगा।

दूसरेका बच्चा बताकर अपना विरोध प्रकट किया और कहा कि मेरे छोटे भाईकी विवाहित पत्नीसे कोई भी सन्तान नहीं हुई, उसकी पत्नीके कभी गर्भ नहीं रहा, परिवारके किसी सदस्यने यह नहीं सुना और न कभी उसे बताया गया कि उक्त विधवाके बाल-बच्चा होनेवाला है और किसी अदालती काररवाईमें भी उसके गर्भवती होनेकी कभी चर्चा नहीं की गयी।

झगड़ेकी सम्पत्तिका मूल्य काफी अधिक था, कोई दो लाख रुपये, शायद इससे भी ज्यादा। बड़े भाईने दीवानी अदालतोंमें मामला पेश किया और यह अनुमान प्रकट किया कि उक्त पुलिस अफसर अपने किसी पौत्रको, जो हालमें ही उसके परिवारमें पैदा हुआ था, अपनी पुत्रीका लड़का बताकर प्रसिद्ध करना चाहता है। विधवाने अपनी सफाईमें एक दिलचस्प कहानी सुनायी। उसने कहा कि 'जब मेरे पतिकी मृत्यु हुई तब मैं गर्भवती हो चुकी थी। बच्चेका जन्म होतेतक जिलेकी माल अदालतोंमें मैंने अपने ही अधिकारोंका दावा किया और इन मामलोंका ठीकसे संचालन करनेके लिए मैं जिलेके सदर मुकाम (एटा शहर) में छोटेसे किरायेके मकानमें अकेली एक-दो नौकरोंके साथ रहती थी। मेरे पिता एक दूसरे जिलेमें, एटासे बहुत दूर, पुलिस अधिकारीकी हैसियतसे काम करते थे। एटामें मेरी पहिचान एक भारतीय ईसाई महिलासे हो गयी जो मेरी पड़ोसिन थी और मेरे घर अक्सर आया करती थी। एक बार मेरी कमजोर-सी हालत देखकर और मेरे परिवारके झगड़ोंसे वाकिफ होनेके कारण उसने कहा कि यह बहुत सम्भव है कि तुम्हारे जेठ अपने भाईकी विधवा पत्नीके पुत्र उत्पन्न होनेकी बातमें सन्देह प्रकट करें, इसलिए तुम किसी महिला डॉक्टरसे परामर्श कर लो और उससे एक प्रमाणपत्र प्राप्त कर लो जो आवश्यकता होनेपर सबूतके रूपमें पेश किया जा सकता है। उसकी यह बुद्धिमानीकी सलाह मैंने मान ली और अपनी इस नेक सहेलीसे एक अनुभवी महिला डॉक्टरको ले आनेकी प्रार्थना की। फतेहगढ़में, जो एटासे बहुत दूर नहीं, अमेरिकनोंका एक महिला अस्पताल है जिसे सभी जानते हैं। वहाँकी प्रभारी महिला डॉक्टर कुमारी बुडर्डको भी लोग जानते हैं। ईसाई सहेलीने इन्हीं बुडर्डको बुलाया। उन्होंने आकर जच्चाके रूपमें मेरी परीक्षा की और मुझे कठोरगर्भा होनेका लिखित प्रमाणपत्र दे दिया। उन्होंने एहतियातके तौरपर परीक्षाके बाद अपने सामने ही प्रमाणपत्रपर मेरे अँगूठेके निशान ले लिये।' यह प्रमाणपत्र मुकदमेपर विचार होते समय अदालतमें पेश किया गया और महिला डॉक्टर बुडर्डका भी बयान लिया गया। जैसा कि अक्सर होता है, बहुत ज्यादा परिमाणमें साक्ष्यकी परस्परविरोधी सामग्री सामने आयी। मामलेपर विचार करनेवाला न्यायाधीश प्रतिवादीके सम्बन्धकी अविश्वसनीय-सी लगनेवाली बातों तथा पिताके घरमें उसके पुत्रकी उत्पत्ति होने तकके उसके आचरणसे बहुत प्रभावित हुआ और बुडर्ड द्वारा करायी गयी जाँचकी बातके सम्बन्धमें वह बड़ा शंकालु था। उसका खयाल था कि इस सब काण्डके पीछे कोई चतुर मस्तिष्क अवश्य रहा होगा। सारी योजना इतनी चतुराईसे तैयार की गयी है कि इन दो अनुभवविहीन स्त्रियोंने उसकी परिकल्पना की होगी, यह सोचा भी नहीं जा सकता और डॉक्टर बुडर्ड भी हो सकता है कि किसी-न-किसी तरह भुलावेमें डाल दी गयी हों या उन्हें धोखा दिया गया हो। दुर्भाग्यसे डॉक्टर बुडर्डने मुकदमेपर विचार करनेवाले न्यायाधीशके सामने जब गवाही दी, तब उन्हें मरीजको देखनेका अवसर नहीं दिया गया। जजने विधवा और उसके बच्चेके खिलाफ फैसला दिया। इसने हाईकोर्टमें पुनर्न्यायप्रार्थना की और सर जी०...तथा एक और जज श्री पिगॉटके सामने उसकी सुनवाई हुई। उन लोगोंने डॉक्टर बुडर्डको, जिन्हें दोनों ही पक्ष सच बोलनेवाला गवाह समझते थे, एक बार फिर साक्ष्य देनेके लिए बुलानेका निश्चय किया और विधवाको भी खुद अदालतमें उपस्थित होनेका आदेश दिया गया। वह पर्दानशीन महिला थी, अतः

जस्टिस पिगॉटके कमरेमें बैठा दी गयी। डॉक्टर बुडर्डको आज्ञा दी गयी कि वे पहले महिलाको देख आवें और तब शपथ दिलाकर उनका बयान लिया गया। जब उनसे पूछा गया कि क्या यह वही महिला है जिसकी आपने परीक्षा की थी और प्रमाणपत्र दिया था, तब उन्होंने जवाब दिया कि मैं उसे अच्छी तरह पहिचाननेमें असमर्थ हूँ, घटनाको हुए चार वर्ष हो गये और मुझे स्मरण है जिस महिलाकी मैंने परीक्षाकी थी, वह कुछ मोटी-सी और सुपुष्ट थी किन्तु जिसे मैंने अभी देखा है वह कुछ निर्धन-सी, दुबली-पतली और चिन्ताग्रस्त है। किन्तु एक बात मैं दृढ़ताके साथ और निश्चयपूर्वक कह सकती हूँ कि प्रमाणपत्रपर अँगूठेका जो निशान बना हुआ है वह उक्त गर्भिणीका ही था और मेरे सामने ही लिया गया था। अब सारा मामला इस संकुचित दायरेमें सीमित हो गया कि अँगूठेका निशान इसी महिलाका है या नहीं। इसलिए बने हुए निशानके साथ मिलान करनेके लिए महिलाके अँगूठेका छाप लेना जरूरी हो गया। इसपर अभी बहस चल ही रही थी कि छाप कैसे ली जाय कि इसी समय जस्टिस पिगॉटने कहा कि 'अँगूठेका निशान लेना एक सुन्दर कला है और मैं किंचित् संकोच के साथ यह स्वीकार करता हूँ कि इसका थोड़ासा ज्ञान मुझे भी है। मैं खुद ही अँगूठे की छाप ले लेता किन्तु ऐसा करना सम्भव नहीं जान पड़ता, क्योंकि यह पर्देमें रहनेवाली महिला है और मेरे सामने आ न सकेगी।' इसपर उक्त महिलाका पिता, जो अदालतमें मौजूद था, खड़ा होकर बोल उठा 'कोई हर्ज नहीं, उम्रके लिहाजसे आप उसके पिता ही हैं और यह उसकी इज्जत तथा जीवनका प्रश्न है, इसलिए ईश्वरके लिए आप स्वयं उसके अँगूठेका निशान ले लीजिये।' न्यायाधीश उठकर वहाँ गये और अँगूठेकी छाप ले आये जो सचमुच बहुत ही स्पष्ट और सुनिश्चित थी। दोनों न्यायाधीशोंको इतमीनान हो गया कि अँगूठेका यह निशान प्रमाणपत्रवाले निशानसे मेल खाता था। इससे महिलाके पक्षमें फैसला होना निश्चित हो गया। हाईकोर्टने लम्बा-चौड़ा फैसला दिया, अन्य साक्ष्योंकी भी चर्चा बड़ी तफसीलसे की किन्तु इसके बाद जब प्रिवी काउंसिलमें अपील की गयी, तब न्यायिक समितिने केवल डेढ़ पृष्ठका निर्णय दिया जो डॉक्टर बुडर्ड द्वारा दिये गये प्रमाणपत्रकी अंगुष्ठ-मुद्रापर ही पूर्णतः आधारित था। समितिने इसे मुकदमेके लिए असंदिग्ध रूपसे निर्णायक माना। फौजदारी मामलोंमें अँगुलियोंके निशान बहुधा बड़े महत्त्वके प्रमाणित हुए हैं किन्तु इतने अधिक उपयोगी और निर्णायक वे क्वचित् ही प्रमाणित हुए होंगे जितने इस मामलेमें हुए।

इसी अदालतमें एक और मामला आया था जिसमें पुत्रकी ओरसे यह साबित नहीं किया जा सका कि उसकी माँ कौन थी, क्योंकि यदि यह साबित हो जाय कि किसी स्त्रीसे, जायज सम्बन्ध द्वारा, कोई बच्चा उत्पन्न हुआ है, तो उसका पिता कौन है यह बात प्रचलित तरीकेसे अपने आप ही मान ली जाती है। किन्तु मुझे अपने जीवनमें इससे और अधिक (वाटर टाइट) ठस मामला भी देखनेको नहीं मिला और मैं भी बड़ी मुश्किलसे ही हाईकोर्टके न्यायाधीशोंको बच्चेका दावा अस्वीकार कर देनेके लिए तैयार कर सका। मामले सम्बन्धी तथ्य ध्यान देने योग्य थे। तथाकथित माँ अपने माता-पिताकी एकमात्र सन्तान थी और इस प्रकार वह समय आनेपर अपनी माताकी मृत्युके बाद पिताकी भारी सम्पत्ति पानेकी अधिकारिणी हो जाती थी—उस पिताकी जिसकी मृत्यु उस समय हो गयी थी जब वह बहुत छोटी थी। जैसा कि ऐसे मामलोंमें प्रायः होता है, विधवा में और उसके पतिके भाईमें मृत व्यक्तिकी जायदादके उत्तराधिकारका प्रश्न लेकर झगड़ा शुरू हुआ और विवाद इस बातपर आधारित था कि उनके अलग-अलग परिवार थे या दोनोंका संयुक्त परिवार था। इसमें विधवा जीत गयी। इसलिए यह छोटी लड़की, अर्थात् उक्त विधवाकी पुत्री, उसकी उत्तराधिकारिणी हुई और इस कारण वह पत्नी अथवा उस परिवारकी बहूके रूपमें, जिसमें उसका विवाह

होता, एक बहुमूल्य वस्तु समझी जाने लगी। माताने समय आनेपर एक प्रतिष्ठित जमींदारके लड़केके साथ, जो उस समय स्कूलमें पढ़ रहा था, उसका विवाह कर दिया। उसने अपने पतिकी प्रायः सब जायदाद भी उसे दे दी। अब कानूनी स्थिति यह थी कि पुत्री अपने जीवनपर्यन्त इस जायदादकी अधिकारिणी बनी रहेगी और उसकी मृत्युके बाद यदि उसके कोई पुत्र हुए तो वे ही पूर्णरूपसे सम्पत्तिके हकदार होंगे किन्तु पुत्र होनेके पहले ही यदि उसकी मृत्यु हो जाय तो जायदादपर फिर उसकी माँका हक हो जायगा और उसके भी मर जानेपर उसके चचा (अर्थात् पिताके भाई) तथा उसके लड़कोंका। इसलिए लड़कीके पति तथा उसके पिता और परिवारके अन्य सदस्योंके लिए यह बात बहुत ही महत्त्वकी थी कि वह एकाध पुत्रकी माँ बने। दुर्भाग्यवश वह अभी १८ वर्षकी भी नहीं होने पायी थी कि उसकी मृत्यु हो गयी। उसके पतिकी ओरसे यह बात कही गयी कि प्रसवके बाद ही उसकी मृत्यु हुई थी। उसके जो बचा हुआ था, वह अभी जीवित है। वस्तुतः एक बचा अदालतमें पेश भी किया गया था। अब प्रश्न यह था कि बच्चा उसीका था या किसी दूसरेका बचा उसके बच्चेके नामसे प्रसिद्ध कर दिया गया था। इसकी कथा इस तरह बतलायी गयी—

लड़की बड़ी नाजुक और दुबली-पतली थी और उसका प्रसूतिकाल निकट आते देखकर उसकी सासकी चिन्ता बढ़ने लगी। डॉक्टरने चेतावनी दे दी थी कि प्रसवमें कठिनाई उत्पन्न हो सकती है, इसलिए उस समय ऐसी जगह चले जाना बेहतर होगा जहाँ कुशल डॉक्टरकी सहायता आसानीसे प्राप्त हो सके। यह परिवार रेलमार्गसे १५ मीलपर स्थित गाँवमें रहता था किन्तु फतेहगढ़ और डॉक्टर बुडर्डका अस्पताल जिसकी चर्चा पहले की जा चुकी है, वहाँसे बहुत दूर नहीं था। डॉक्टर बुडर्डसे सलाह ली गयी तो उन्होंने कहा कि जब प्रसवका समय निकट हो तब परिवारको फतेहगढ़ चले आना चाहिए। एक मित्रने फतेहगढ़में एक मकान कुछ दिन ठहरनेके लिए देना स्वीकार कर लिया और सब प्रबन्ध कर लिया गया। इसके कुछ सप्ताहोंके बाद परिवारके बड़े लड़के रामचन्द्र सिंह (याने लड़कीके जेठ) के साथ स्त्रियाँ— लड़की, उसकी सास तथा नौकरानियाँ—बैलगाड़ीमें बैठकर स्टेशनके लिए रवाना हुईं। सफर लम्बा था, सड़क खराब थी और गाड़ीमें धचके लग रहे थे। नतीजा यह हुआ कि इन लोगोंके स्टेशन पहुँचते-पहुँचते लड़कीके पेटमें पीड़ा होने लगी। ऐसी हालतमें रेलयात्रा कैसे की जा सकती थी ? रामचन्द्र सिंह गाँवमें गया, स्कूलके मास्टरसे बातचीत की, जो उसका मित्र था, और स्कूलके होस्टल (या मास्टरके घर) में एक-दो कमरे प्राप्त कर लिये और वहाँ २४ घण्टेके भीतर ही प्रसूताने एक लड़केको जन्म दिया। सब लोगोंको बड़ी खुशी हुई, रामचन्द्र सिंह फतेहगढ़ गया, कुछ कारतूस ले आया और परिवारमें नवशिशुके आगमनकी सूचना देनेके लिए कई बार बन्दूक छोड़ी गयी। स्कूलके बच्चोंमें मिठाई बाँटी गयी, और गरीबोंको भोजन कराया गया। कुलका पुरोहित बुलाया गया और उसने बालककी जन्मपत्री तैयार कर दी। बच्चेके जन्मकी बात सरकारी जन्मके रजिस्टरमें यथोचित रूपसे दर्ज करा दी गयी, अन्य रीतिरिवाज भी साबिकदस्तूर मनाये गये किन्तु दसवें दिन जच्चा एकाएक बीमार हो गयी और मात्र दो दिनोंकी बीमारीके बाद उसकी मृत्यु हो गयी। अपने पीछे वह शिशुको जीवित छोड़ गयी। जब वह जिन्दा थी, तभी वह दुबली-पतली तथा कमजोर थी कि उसके दूध नहीं होता था, अतः बच्चेको ऊपरका दूध पिलाना पड़ता था। इससे बड़ी चिन्ता उत्पन्न हो गयी। रामचन्द्र सिंहने कहा कि एक दिन मैं अदालतके कामसे मैनपुरी गया हुआ था कि एक वकील मित्रसे शिशुके सम्बन्धमें जब बातचीत चली तो उसने सलाह दी कि एक दूध पिलानेवाली धात्रीके लिए विज्ञापन निकलवा दिया जाय। मेरे कहनेसे वकील मित्रने अंग्रेजी पत्र 'लीडर' में छपवानेके लिए, जो मेरे घरसे २५० मील दूर

इलाहाबादसे प्रकाशित होता है, एक विज्ञापन तैयार कर दिया। विज्ञापन उक्त पत्रमें ठिकानेसे एक बार प्रकाशित हुआ जिसकी एक प्रति न्यायालयमें पेश की गयी। विज्ञापनमें कहा गया था—'१५-२० दिनके एक नवजात शिशुको दूध पिलानेके लिए एक धात्रीकी आवश्यकता है, प्रार्थनापत्र रामचन्द्र सिंहके पास (घरके पतेसे) भेजा जाय।' ब्यौरेकी और भी कितनी ही बातें थीं, जैसे १० दिनोंतक वहाँके नये पतेसे चिट्ठियाँ, मनीआर्डर आदिका प्राप्त होना, स्कूलके मास्टरके नाम पतिकी छुट्टीकी दरख्वास्त इत्यादि, किन्तु स्थूलरूपसे यही मामलेकी रूपरेखा थी जिसकी पुष्टिमें बहुत-सी सामग्री तथा साक्ष्य उपस्थित किया गया था और उसकी समीक्षा भी की गयी थी। फिर भी एक बात स्वीकार की गयी थी कि लड़कीकी माताने, बच्चेके जन्मके पहिले, उसकी गर्भावस्थाके समय कोई भी उपहारादि उसे नहीं भेजा था, जैसा कि आम रिवाज है, और न उसने लड़कीकी मृत्युके बाद उसके बच्चेमें ही कोई दिलचस्पी ली थी। इसके विपरीत उसने उसे अपना नाती माननेसे ही इनकार कर दिया था। लड़कीकी माँ भी मर चुकी थी और दीवानी अदालतमें उसका बयान नहीं लिया गया था किन्तु इसके पहिलेकी माल अदालतकी काररवाईमें उसने स्पष्ट शब्दोंमें बच्चेका दावा माननेसे इनकार कर दिया था। मुकदमेपर विचार करनेवाले न्यायाधीशने बच्चेके खिलाफ निर्णय दिया किन्तु उसका फैसला कमजोर था और बहुत विश्वासोत्पादक (तसल्लीबख्श) नहीं था। हाईकोर्टमें उसकी अपील दो जजोंके सामने पेश हुई, जिनमेंसे एक थे श्री लालगोपाल मुखर्जी, जो बड़े ही अनुभवी और पुराने हिन्दू न्यायाधीश थे। अपील करनेवालेका काफी प्रभाव जजोंपर पड़ा। वास्तवमें साक्ष्य इतने अधिक और इतने सम्पूर्ण (निर्दोष) थे और विविध प्रकारसे तथा विविध दिशाओंसे इतने अच्छे तथा स्वाभाविक ढंगसे मुख्य बातपर मेल खाते थे कि सचमुच ही मामलेसे प्रभावित न होना या उसमें कोई त्रुटि निकालना मुश्किल होता। मैं बच्चेके चाचा याने प्रतिवादीकी तरफसे खड़ा हुआ था। मेरे ऊपर भी पहला प्रभाव ऐसा ही पड़ा किन्तु सारा मामला इतने विचित्र ढंगसे पूर्ण मालूम होता था और माताका व्यवहार अपनी प्यारी पुत्रीके बच्चेको माननेसे इनकार कर देनेमें इतना अस्वाभाविक एवं दुष्टतापूर्ण कि मैं जितना ही उसके सम्बन्धमें सोचता था, उतना ही मेरा सन्देह बढ़ता जाता था। मैं मुकदमेके कागज बार-बार पढ़ता, शेरलॉक होम्सकी तरह एक-एक घटनापर विचार करता और यद्यपि मेरे सन्देहमें वृद्धि ही होती जाती थी, फिर भी मामलेमें उपस्थित किये गये समस्त साक्ष्यको तथ्यहीन तथा अविश्वसनीय समझ लेना मेरे लिये कठिन हो रहा था। फिर भी एक कमजोरी उसमें मुझे मालूम हुई और मैं रक्षापंक्ति तोड़नेमें समर्थ हो गया। साक्ष्यका वह कमजोर स्थल था अंग्रेजीके दैनिक पत्र 'लीडर'में विज्ञापनका छपवाया जाना। वह वस्तुतः इस मुकदमेकी बहुत ही असाधारण बात थी, एक (झूठा) साक्ष्य तैयार करनेकी प्रकट और स्पष्ट चेष्टा। परिणाम यह हुआ कि उसके कारण साक्ष्यकी सारी इमारत ही ढह गयी। भारतीय परिवारोंमें, विशेषकर इन दोनों पक्षवालों जैसे परिवारोंमें, दूध पिलानेवाली धात्रीका नियुक्त किया जाना बहुत ही क्वचित् होनेवाली घटना है। ऐसी आकस्मिक स्थिति उत्पन्न हो जानेपर सामान्यतया होता यह है कि या तो गायका ताजा दूध पिलाकर बच्चेकी परवरिश की जाती है या फिर किसी नाते-गोतेकी स्त्रीसे, चाची या देवरानी-जेठानी आदिसे, कह दिया जाता है कि अपने बच्चेके साथ साथ वह इसे भी दूध पिला दिया करे या फिर पास-पड़ोसमें रहनेवाली किसी स्त्रीसे ऐसा करनेके लिए कह दिया जाता है। फिर, सारे संयुक्त प्रान्त (उत्तरप्रदेश) में केवल एक ही ऐसी जाति है जो आगरेके आसपास रहती है जिसकी स्त्रियाँ बच्चोंको दूध पिलानेका पेशा करती हैं और जब किसी सुशिक्षित उच्च वर्ग या मध्य वर्गके परिवारको ऐसी किसी धात्रीकी आव-

श्यकता होती है तो अक्सर कोई एक आदमी आगरे भेज दिया जाता है जो उस जातिकी उपयुक्त धात्रीको तलाश करके ले आता है। उसके लिए किसी अखबारमें—विशेषकर किसी अंग्रेजी अखबारमें—विज्ञापन छपवानेकी बात ऐसी चीज है जो किसीके दिमागमें उत्पन्न ही न होगी। अंग्रेजीके समाचारपत्र इतने कम लोग पढ़ते हैं, उनका प्रचार इतना सीमित है, कि उनमें इस आशयका विज्ञापन छपवाना धनका विशुद्ध अपव्यय ही होगा। जैसा कि, बहसके सिलसिलेमें मैंने कहा था, जहाँतक मैं जानता हूँ ऐसा कोई विज्ञापन कभी 'लीडर' में नहीं निकला था और मैंने तो यहाँतक कह दिया कि न्यायाधीशगण लीडर कार्यालयसे (जो हाईकोर्टके पास ही है) उक्त पत्रकी गत १० वर्षोंकी फाइलें मँगवाकर दिखवा ले और यदि इससे मिलता-जुलता एक भी अन्य विज्ञापन उसके किसी अंकमें छपा मिल जाय तो (मैं हार मान लूँगा और) अपीलका फैसला मेरे मुवक्किलके खिलाफ किया जा सकता है। यह बात स्वीकार कर ली गयी कि विज्ञापनके जवाबमें कोई पत्र नहीं आया, विज्ञापन केवल एक बार ही छपवाया गया और वास्तवमें कोई वैसी दूध पिलानेवाली धात्रीकी नियुक्ति नहीं की गयी। इसलिए यदि यह बनावटी साक्ष्य प्रस्तुत करनेकी चेष्टा की गयी है तो अवश्य ही इसके पीछे किसी चतुर व्यक्तिका मस्तिष्क काम कर रहा होगा, जिसके कारण साक्ष्य सम्बन्धी अन्य सब बातें आसानीसे गढ़ी जा सकती हैं। फिर, माँका व्यवहार बड़ा अस्वाभाविक-सा प्रतीत होता है। यह तो मानी हुई बात है कि वह अपनी लड़कीको जो उसकी इकलौती बेटी थी, बहुत चाहती थी। अपने जेठके साथ उसकी पटरी नहीं बैठती थी। उसके लिए अपनी लड़कीका बेटा ही सब कुछ था, फिर भी उसने उसे अपना नाती माननेसे इनकार कर दिया। इससे प्रकट होता है कि वह उसे अपनी लड़कीका पुत्र मानती ही न थी। प्रतिवादीने यह साबित करनेके लिए रिश्तेदारोंसे गवाही दिलायी है कि मृत्युके दो-तीन महीने लड़की अपनी माँके घरमें ही थी और उस समय उसके गर्भवती होनेके कोई लक्षण नहीं देख पड़ते थे। किन्तु यह साक्ष्य असन्तोषजनक था और इसका खण्डन प्रतिवादीके अन्तिम गवाह, एक नौकरानी, के बयानसे हो जाता है जिसमें उसने लड़कीका गर्भवती होना स्वीकार किया। जब मैं मामलेमें बहस करनेके लिए खड़ा हुआ तब न्यायाधीशगण, विशेषकर न्यायाधीश श्री मुखर्जी, मेरे बिलकुल खिलाफ थे और मुझे बहुत कुछ क्षमा-याचना-सी करते हुए अपना भाषण आरम्भ करना पड़ा। न्यायाधीशोंके मुँहसे ऐसी अभ्युक्तियाँ निकल चुकी थीं कि सुननेवालेकी खामखाह यही धारणा होती थी कि वे मामलेके सम्बन्धमें अपने मनमें कोई पक्का निश्चय कर चुके हैं। फिर भी मैंने हिम्मत नहीं हारी और दो दिनोंतक जोरोंके साथ बहस करता रहा, जिसमें मैंने उपर्युक्त दो बातोंपर मुख्य रूपसे ध्यान संकेन्द्रित करनेका प्रयत्न किया किन्तु ऐसा मालूम होता था कि इसका कुछ भी प्रभाव जजोंपर नहीं पड़ रहा है। लगता था कि न्यायाधीशगण मामलेकी बातें बहुत काफी सुन चुके हों, इसीसे वे ऊब उठने और अधीरताके लक्षण प्रकट करने लगे। जो हो, मैंने जाब्तेसे उस दिन बहस समाप्त नहीं की और मामला सोमवारके लिए—उस दिन शुक्रवार था—स्थगित कर दिया गया। मेरी इच्छा थी कि सोमवारको मैं लगभग आधे घण्टेमें बहस खत्म कर दूँ किन्तु उस दिन मैंने जजोंके मनोभावमें भारी अन्तर पाया। न्यायाधीशगण मेरी दलील सुननेके लिए अधिक इच्छुक दिखाई दिये और वे प्रायः प्रत्येक बातमें मेरा दृष्टिकोण माननेके लिए तैयार थे। यह सचमुच एक आश्चर्यजनक बात थी। विशेषकर मेरे प्रतिपक्षी वकीलको इससे बहुत ही आश्चर्य और दुःख हुआ (क्योंकि वे समझ बैठे थे कि बाजी मैंने जीत ली)। यही कारण है कि मेरी बहसका जवाब देने जब वे खड़े हुए तो वे खुद न्यायाधीशों द्वारा कहे गये शब्दोंको ही उन्हींके खिलाफ प्रस्तुत करने लगे। इसपर न्यायाधीश श्री मुखर्जीने,

पुनर्न्यायप्रार्थीके वकीलको सम्बोधन करते हुए, वह आश्चर्यजनक स्वीकारोक्ति की—'अन्य किसी भी मुकदमेमें मुझे इतनी अधिक परेशानी नहीं हुई। शनिवार तथा रविवारको मैंने नौ घण्टे इसके पीछे खर्च किये और अब मुझे वस्तुस्थितिका ज्ञान हो गया है। मैं इस निष्पत्तिपर पहुँच चुका हूँ कि आपका मामला झूठा है, हालाँकि यह मैं समझता हूँ कि आपके द्वारा प्रस्तुत किये गये साक्ष्यकी प्रत्येक कड़ीपर प्रहार करनेमें डॉक्टर काटजू सफल नहीं हो सके हैं। मेरा ख्याल है कि माताका व्यवहार ही इस मामलेके लिये निर्णायक और आपके पक्षके लिए घातक है। इस तरह अपील नाकामयाब हो गयी और मुकदमेके बिलकुल अन्तमें न्यायाधीशोंके मतपरिवर्त्तनका यह एक और उदाहरण है।

वास्तवमें तथ्य क्या था, मैं कह नहीं सकता किन्तु मुझे कुछ समय बाद स्थानीय वकील-मण्डलीके एक सदस्य द्वारा किये गये कथनसे आश्चर्य हुआ। उन्होंने मुझे बतलाया कि 'सच्ची बात तो जिले भरके लोगोंको मालूम थी। बच्चा सचमुचमें हुआ था, जैसा कि कहा गया है, किन्तु जन्मके कुछ ही दिनोंके भीतर उसकी मृत्यु हो गयी थी और उसके एक ही दो दिनोंके बाद माँ भी चल बसी थी।' यदि यह सही हो तो साक्ष्यका तीन-चौथाई हिस्सा बिलकुल सत्य था। मैं यहाँ यह बतला दूँ कि बच्चा उच्च न्यायालयके सामने पेश तो किया गया था किन्तु उसकी सूरत-शक्ल पितासे साफ नहीं मिलती थी। वस्तुतः मेरे मुवक्किलने मुझसे घर जानेकी इच्छा प्रकट की थी ताकि वह एक आदमीको, जिसका नाम भी उसने लिया था, जाकर फुसलावे कि वह अपने बच्चे-को उच्च न्यायालयमें पेश करनेके लिए मँगनी न दे। इसी तरह उसने कहा था। वह गया भी था किन्तु स्पष्ट है कि उसे इसमें सफलता नहीं मिली, क्योंकि अदालतमें बच्चा ठीक-ठीक ढंगसे आखिर पेश ही किया गया था।

× × ×

१४. तीन लड़कियोंके मामले

उत्तराधिकारिणी युवती महिलाओंको जिन कठिनाइयों और दुर्भाग्यपूर्ण स्थितियोंका सामना करना पड़ता है, वे संसार भरमें सर्वविदित हैं किन्तु जिन तीन मामलोंका वर्णन अब मैं करने जा रहा हूँ, वे वास्तवमें बहुत ही अपवादस्वरूप और काफी अद्भुत प्रतीत होंगे। तीनों घटनाएँ मैनपुरी जजीकी हैं।

पहले मामलेमें, जो कालक्रमकी दृष्टिसे भी प्रथम है, एक छोटी लड़की शैशवावस्थामें ही मातृ-पितृविहीन हो गयी थी। वह एक बड़ी भू-सम्पत्तिकी उत्तराधिकारिणी थी। वह अपने चाचाके संरक्षणमें रहती थी जो उसकी ओरसे जायदादका इन्तजाम करता था। लड़कीका विवाह १३ वर्षकी उम्रमें कर दिया गया और उसका पति भी उम्रमें अधिक बड़ा न था। बादमें चाचा तथा लड़कीके ससुरमें झगड़ा हो गया; किस कारणसे, मैं कह नहीं सकता—यद्यपि अलग-अलग कारण बताये गये जो किसी भी पक्षकी प्रतिष्ठाके अनुकूल नहीं कहे जा सकते—और विवाहके तीन वर्ष बाद ही चाचाने अपनी भतीजी और उसकी सम्पत्तिका संरक्षक बनाये जानेके लिए जिला जजकी अदालतमें दरखास्त दी। हिन्दू कानूनके अनुसार सामान्यतः पति ही अपनी पत्नीका अभिभावक होता है किन्तु यहाँ तो पति स्वयं भी नाबालिग था। चाचाने अपने आवेदनपत्रके समर्थनमें बहुतसे कारण बताये। दोनों फरीक इटावा जिलेके थे। मैनपुरीके जिला न्यायाधीश अक्सर हर दूसरे शनिवारको, इटावाके अभिभावकता सम्बन्धी तथा अन्य विविध मुकदमोंकी सुनवाईके लिए इटावा चले आया करते थे।

जब शनिवारके दिन चाचा तथा ससुरकी मौजूदगीमें मुकदमा अदालतमें पेश हुआ, तब चाचाने अफसोसके साथ न्यायाधीशको सूचना दी कि मामलेपर विचार करनेकी अब आवश्यकता नहीं रह गयी, क्योंकि मेरी भतीजी (नाबालिग)की थोड़ी-सी बीमारीके बाद एकाएक मृत्यु हो गयी है। न्यायाधीशने लड़कीके ससुरकी तरफ नजर डाली तो उसने चिल्लाकर कहा कि 'जी नहीं, ऐसी कोई बात नहीं है। तीन ही चार दिन तो मुझे घरसे आये हुए और उस समय मेरी बहू घरमें पूर्णरूपसे स्वस्थ हालतमें विद्यमान थी।' जज हैरान हो गया और उसने इस आदेशके साथ मुकदमेकी पेशी अगली बारके लिए, पन्द्रह दिन बाद, स्थगित कर दी कि लड़की अदालतमें हाजिर की जाय। दूसरी पेशीमें ससुरने तार भेज दिया कि अकस्मात् बीमार पड़ जानेके कारण, (स्वयं या बहूके, मुझे इसका स्मरण नहीं) अदालतमें उपस्थित होनेमें असमर्थ हूँ और उसके वकीलने थोड़े समयके लिए पेशी बढ़ानेकी प्रार्थना की। न्यायाधीशके मनमें शंका बैठ गयी और उसने पेशी बढ़ाते हुए आज्ञा दी कि अगली बार अदालतकी बैठक होनेपर लड़की अवश्य पेश की जाय, वरना मैं किसी भी तरहका बहाना न सुनूँगा। इस प्रकार १५ दिनोंके लिए मामला फिर टल गया। अगली बारकी बैठकमें फिर ससुर अनुपस्थित रहा किन्तु उसका लड़का (याने लड़कीका पति) तथा उसका बहनोई उपस्थित थे और उन्होंने बतलाया कि लड़की भी ले आयी गयी है तथा अदालतके बाहर पालकीमें हाजिर है। न्यायाधीशने चाचाको आदेश दिया कि वह जाकर लड़कीको देख आये। वह गया और वापस आकर चिल्लाते हुए कहने लगा कि बाहर पालकीमें बैठी हुई लड़की मेरी भतीजी नहीं है। मेरी भतीजी तो मर गयी और इस बीच लड़केका विवाह किसी दूसरी लड़कीसे कर दिया गया है और उसकी यह दूसरी पत्नी मेरी भतीजी बननेका स्वाँग रच रही है। जजको बहुत ज्यादा हैरानी मालूम हुई, लड़की वही है या दूसरी इसका निश्चय उस थोड़े समयकी काररवाईमें करना उसके लिए सम्भव न था। इसके सिवा चाचा उस नाबालिग लड़कीका अभिभावक नहीं नियुक्त किया जा सकता था जिसे वह अपनी भतीजी ही नहीं स्वीकार करता था। अपने आदेशमें यह अभ्युक्ति करते हुए कि इस तरहकी गड़बड़ी केवल भारतमें ही हो सकती है, विश्वके अन्य किसी स्थानमें नहीं, (वह अंग्रेज जज था) न्यायाधीशने अन्तमें पतिको ही बाहर पालकीमें बैठी हुई लड़कीका अभिभावक नियुक्त कर दिया, चाहे किसीकी लड़की वह रही हो। इस तरह यह अध्याय समाप्त हुआ।

छः वर्षके बाद—इस विलम्बका परिणाम दुर्भाग्यपूर्ण हुआ—चाचाने अपने भाईकी जायदाद-पर कब्जा पानेके लिए, जो उसकी भतीजीको जीवनपर्यन्त उत्तराधिकारमें मिली थी, मुकदमा दायर किया। उसने कहा कि जो लड़की उसकी भतीजी बतलायी गयी थी, वह वास्तवमें एक अन्य व्यक्ति-की लड़की थी—उसने इस व्यक्तिका नाम बतलाते हुए उसके परिवारका पूरा ब्यौरा भी दिया था—भतीजीकी मृत्युके बाद, उन २८ दिनोंके भीतर जब जिला जज द्वारा अभिभावकता सम्बन्धी मामला स्थगित कर दिया गया था, लड़केकी दूसरी शादी कर दी गयी थी और उसकी वह द्वितीय पत्नी उसकी भतीजी बननेका बहाना कर रही थी। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि अपनी-अपनी बात साबित करनेके लिए दोनों तरफसे जोरोंका प्रयत्न किया गया।

साक्ष्यका विरोधाभास इस बार भी आश्चर्यमें डाल देनेवाला था। चाचाने कोई बात उठा नहीं रखी। उसने अपने गाँवसे तथा पड़ोसके गाँवोंसे पुरुष तथा स्त्री-गवाहोंको बुलाया था जो या तो उसकी भतीजीके सम्बन्धी थे या उसे अच्छी तरह जानते-पहचानते थे और उन सबने निश्चित रूपसे तथा असंदिग्ध रूपसे शपथ खाकर यह बात कही कि जो लड़की उन्हें दिखायी गयी थी, वह असली लड़की नहीं थी—वह कोई अन्य थी। इसके बाद लड़कीके गाँव तथा आसपासके गवाहोंका दल भी

ससुरने यह हत्या करायी है। इस अभियोगमें उसपर मुकदमा चलाया गया था किन्तु वह निर्दोष छोड़ दिया गया। इस अपराधका कथित उद्देश्य स्पष्ट ही था—उसकी बहू ही अपनी माताकी मृत्युके बाद पिताकी मिल्कियतकी एकमात्र उत्तराधिकारिणी बने। इस घटनाके होनेकी अभी कितने ही वर्षों-तक कोई सम्भावना नहीं थी क्योंकि माँ अभी मध्यवयकी ही महिला थी। लड़कीके ससुरके निर्दोष छोड़ दिये जानेके बावजूद दोनों परिवारोंमें भारी खिंचाव उत्पन्न हो गया और कटुता बढ़ गयी, यहाँ-तक कि लड़कीको उसके पति तथा सास-ससुरने अपनी माँके यहाँ आने-जानेसे रोक दिया। जायदाद माँकी तरफसे कोर्ट ऑफ वार्डज्की देखरेख और प्रबन्धमें थी। लड़कीने अदालतमें दरखास्त दी कि जमींदारीकी लगान तथा लाभकी आमदनीमेंसे मुझे भी अलाउएंस दिलाया जाय। माँसे पूछा गया कि उसे इसमें कोई आपत्ति तो नहीं है। उसने जवाबमें कहा कि 'मैंने तो सुना है कि मेरी लड़की अब जिन्दा नहीं है, अतः मैं उसे देखना चाहूँगी और यदि मेरा इस विषयमें सन्तोष हो जाय कि वह मेरी ही लड़की है तो इसमें मुझे तनिक भी आपत्ति नहीं हो सकती।' 'जिलाधिकारी (जिला मजि-स्ट्रेट तथा कलक्टर) ही अपने जिलेकी कोर्ट ऑफ वार्डज्की रियासतोंका प्रभारी व्यवस्थापक होता है। उसने माँ-बेटीकी मुलाकातका प्रबन्ध कर दिया। दोनों एक स्थानपर मिलीं और माँने उस युवती स्त्रीको अपनी पुत्री माननेसे इनकार कर दिया जो उसे दिखलायी गयी थी। उसने कहा कि यह कोई दूसरी लड़की है। इसपर कोर्ट ऑफ वार्डज्ने उसे अलाउएंस देना नामंजूर कर दिया और लड़कीने अपना अभिज्ञान प्रमाणित करनेके लिए मौजूदा काररवाई की थी। वादीने साक्ष्य दिया और उससे बाल्यकालकी घटनाओं तथा उससे मिलती-जुलती अन्य बातोंको लेकर विस्तारके साथ जिरह की गयी। कहा गया था कि माता तथा बेटीकी शक्ल बहुत-कुछ मिलती-जुलती है और मुकदमेपर विचार करनेवाले न्यायाधीशने आज्ञा दी कि उसका फोटो ले लिया जाय और अभिलेखके रूपमें सुरक्षित रखा जाय। माँने साक्ष्य दिया और दोनों पार्टियोंने बहुसंख्यक गवाह पेश किये। मुकदमेमें कई मनोरंजक बातें तथा कितनी ही जटिल चीजें थीं किन्तु विचारक न्यायाधीशने लड़कीके पक्षमें मामलेका निर्णय दिया।[1] माँका खुद अपनी ही पुत्रीको माननेसे इनकार कर देना, सो भी उस

---

१. अवश्य ही इस तरहका बहुत ही आश्चर्यजनक मामला वह था जो बंगालमें १९४२ के करीब चलाया गया था और समस्त भारतमें 'भोवाल संन्यासीका मामला' के नामसे प्रसिद्ध हुआ। उसमें कहा गया था कि एक युवक सम्पन्न जमींदार, जो विस्तीर्ण भोवाल रियासतके तृतीयांशका स्वामी था, जोरोंसे बीमार पड़ा और दार्जिलिंग ले जाया गया। वहाँ एक दिन सन्ध्या समय वह मूर्च्छित-सा हो गया, और अन्तमें लोगोंने उसे मृत समझ लिया। उसका शरीर अन्त्येष्टिके लिए श्मशान पहुँचाया गया, जो दार्जिलिंगसे कोई तीन मीलपर था। जब अन्त्येष्टिकी तैयारी की जाने लगी और शरीर भूमिपर रखा हुआ था, तब एकाएक बड़े जोरका तूफान आया और मृतक-संस्कारके लिए आये हुए लोग अपने बचावके लिए अन्यत्र जा छिपे। कुछ घण्टोंके बाद जब वे लोग लौटे तो उन्होंने साश्चर्य देखा कि शरीर वहाँ नहीं है। वादीने बतलाया कि वह शरीर मैं ही हूँ, मैं वास्तवमें मरा नहीं था। जब मुझे होश आया तो मैंने अपनेको उस निर्जन स्थानमें पड़ा पाया। इतनेमें कुछ संन्यासी वहाँ पहुँचे और मुझे वहाँसे उठा ले गये। उसने बतलाया कि कई वर्षोंतक वह सारे भारतवर्षमें भ्रमण करता रहा और अन्तमें अपनी जायदाद वापस लेनेके लिए घर पहुँच गया। खुद उसकी पत्नीने उसे माननेसे इनकार कर दिया। उसकी मृत्यु हो गयी, ऐसा मान लिया गया था और उसकी रियासतपर अब उसकी स्त्रीका अधिकार हो गया था। उसने वादीके कथनकी यथार्थता अस्वीकार कर दी

पुत्रीको जो तीन पुत्रियोंमेंसे अकेली बच गयी थी और जब कि माँके जीवित रहते भू-सम्पत्तिपर उसका दावा होनेकी कोई सम्भावना नहीं थी, मामलेकी बहुत ही अद्भुत एवं विशेष उल्लेखनीय बात थी। यह कभी नहीं सुझाया गया था कि अपनी बहिनकी हत्यामें इस युवती स्त्रीका भी कोई हाथ था। यदि माँने केवल बदला लेनेकी भावनासे या विशुद्ध घृणाभावसे प्रेरित होकर झूठमूठ ही उसे अपनी पुत्री माननेसे इनकार कर दिया तो यह मानो ससुरके पापका दण्ड पतोहूको देना हुआ।[1]

मैनपुरी न्यायिक क्षेत्रके तीसरे मामलेमें, यदि कही गयी बातें सत्य हों, तो वह कमसिन लड़की जिसे काफी बड़ी जायदाद अपने पितासे उत्तराधिकारमें मिली थी, एक हृदयहीन तथा निष्ठुर छलनाकी शिकार बना दी गयी थी। मुझे यह कहते हुए दुःख होता है कि इस सम्बन्धमें ऐसा विश्वास करनेके लिए कारण मौजूद था कि उसकी माँ भी इस छल-कपटमें शामिल थी। पिताकी मृत्यु हो जानेके बाद यह लड़की अपनी माता सहित चाचाके संरक्षणमें रहने लगी और मैं समझता हूँ कि सारा परिवार उसी मकानमें एक साथ रहता था। मैं यह बात निश्चयपूर्वक नहीं कह सकता कि लड़कीकी शादी उसके पिताकी जीवितावस्थामें हो गयी थी या उसकी मृत्युके बाद। उसका पति एक अच्छा युवक था और उसके पिता, भ्राता आदि सब शिष्ट एवं सम्मानित व्यक्ति थे। भारतमें यह रिवाज है कि युवती पत्नी समय-समयपर अपने स्वजनोंसे मिलने और कुछ समयतक उनके

और कहा कि बहुत रात गये मेरे पतिकी मृत्यु हो गयी थी तथा सबेरा होते-होते उनकी दाह-क्रिया कर दी गयी थी, वादी कोई छलिया है। मुकदमा करीब दो वर्षतक चलता रहा जिसमें लगभग एक हजार गवाहोंके बयान लिये गये थे। प्रथम अदालतके विचारक न्याया-धीशने और अपीलमें कलकत्ता हाईकोर्टके दो जजोंने (तीसरेने मतभेद प्रकट किया था) राय दी कि वादी अपना प्रत्यभिमान साबित कर चुका है और उन्होंने उसकी जमींदारी उसे वापस दिला दी। श्मशानमें हुई घटनाओंका वर्णन आश्चर्यजनक कहानी-सा प्रतीत होता है। तथ्योंके संक्षिप्त ब्यौरेके लिए देखिए (१९४३) कलकत्ता डब्लू० एन०।

1. यहाँ पर मुझे एक अन्य जिलेमें हुई घटनाका स्मरण हो आता है, जहाँ कुछ मनोरंजक परिस्थितिमें यह प्रश्न उठ खड़ा हुआ कि एक विशिष्ट व्यक्तिकी मृत्यु हो गई है या वह जिन्दा है। एक ऋणग्रस्त व्यक्तिने ऋणकी अदायगीके रूपमें अपनी कुछ जायदाद महाजनके नाम हस्तान्तरित कर दी थी। बादमें ऋण लेनेवाले आदमीके लड़कोंने हस्तान्तरणकी बात माननेसे इनकार कर दिया और तब दोनों पक्षोंके बीच मित्रतापूर्ण ढंग से मामला तय हो गया। यह मान लिया गया कि पिताकी जिन्दगीभर महाजनका उक्त जायदादपर कब्जा रहेगा और उसके बाद वह उसके लड़कोंको वापस कर दी जायगी। इस समझौतेकी शर्तोंके अनुसार डिगरी दे दी गयी। कुछ वर्षके बाद लड़कोंने यह कहकर उक्त आदेशको कार्या-न्वित करनेका प्रयत्न किया कि पिताकी मृत्यु हो गयी है—घरमें नहीं बल्कि बाहरके एक स्थानमें जहाँ वह थोड़े समयके लिए गया हुआ था। महाजनने विरोध करते हुए कहा कि यह सब गढ़ी हुई कहानी है, उनका पिता बराबर जीवित है किन्तु कहीं छिपा हुआ है। जिलेकी अदालतोंमें महाजनको सफलता नहीं मिली। उसने मुझसे परामर्श किया किन्तु मामलेमें कानूनकी दृष्टिसे कोई दम न था। किन्तु उसकी यह निश्चित धारणा थी कि पिता जीवित है। यदि ऐसी बात थी तो स्पष्ट ही पिताने सोचा होगा कि मेरा गायब हो जाना परि-वारके लिए अधिक लाभदायक होगा बजाय इसके कि वह सार्वजनिक रूपसे किन्तु व्यर्थ ही जिन्दगी बनाये रखे।

साथ रहनेके लिए चली जाया करती है। शुरूमें वह अधिक बार नैहर जाती है तथा अधिक समयतक वहाँ रहती भी है किन्तु बादमें उसका अपना परिवार बढ़ते जानेपर पितृगृह जाना और ठहरना कम होता जाता है। एक बार जब यह षोडसी लड़की अपनी माता तथा चाचाके यहाँ गयी, तब दो वर्षतक वहीं रोक रखी गयी। नौजवान पति-पत्नी एक दूसरेको खूब प्यार करते थे और लड़की अपने घर वापस चले जानेके लिए उत्सुक थी किन्तु मामला यह कहकर बार-बार टाल दिया जाता था कि बिना बुलाये वहाँ जाना उसके लिए सम्भवतः ठीक न होगा और न यह शिष्टताके अनुरूप ही होगा। ऐसे अवसरपर आम रिवाज यही है कि लड़कीका पति या अन्य रिश्तेदार उसके पितृगृहमें जाता है और उसे अपने साथ लिवा लाता है। इस लड़कीको हृदयहीनताके साथ बारबार यह बात कह दी जाती थी कि उसके ससुरके घरसे कभी कोई आदमी उसे लिवाने नहीं आया, कभी कोई चिट्ठी नहीं आती और हर तरहसे उसकी उपेक्षा की जाती है, यहाँतक कि यह भी अफवाह है कि उसके पतिका दूसरा विवाह किया जानेवाला है। वास्तवमें उसका पति बराबर पत्र लिखा करता था किन्तु वे सब दबा दिये जाते थे और उसे कदापि दिये नहीं जाते थे। उसका पति दो या तीन बार उससे मिलने भी गया और उसे अपनी स्त्रीसे मुलाकात करनेका अवसर ही नहीं दिया गया और सासके द्वारा कोई-न-कोई बहाना बनाकर वह वापस लौटा दिया गया। उधर उस शहरमें जहाँ उसके पतिके घरके लोग रहते थे यह कानाफूसी होने लगी कि लड़की अपनी माँके घरमें रहते हुए बहक गयी है और लज्जा छिपानेके लिए वह जानबूझकर यहाँ आनेसे रोकी जा रही है। ऐसा सन्देह करनेके लिए कारण था कि ये सब अफवाहें खुद उसीके स्वजनों द्वारा फैलायी जा रही थीं जिससे उसके पति तथा ससुरका मन फिर जाय और वे पूर्णरूपसे उसका परित्याग कर दें; किन्तु जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ, उसके पतिका परिवार एक शिष्ट और सभ्य परिवार था। वे इन अफवाहोंपर विश्वास नहीं करते थे। वे लड़कीको चाहते थे और उसके बारेमें ऊँची राय रखते थे। उन्हें कुछ दालमें काला होनेका सन्देह हुआ और लड़केके एक भाईने एक एंग्लो-इण्डियन बैरिस्टरसे परामर्श किया। निश्चय हुआ कि जैसे बने वैसे लड़कीको वापस ले आनेका प्रयत्न किया जाय। एकाएक पहुँच जानेकी योजना बनायी गयी और पार्टीके साथ बैरिस्टरके भी जानेकी बात तय पायी गयी। जिस कस्बेमें लड़की रहती थी, वह रेलके स्टेशनसे १६ मीलपर है, शोर-गुलसे रहित छोटी-सी बस्ती, जहाँ किसी अंग्रेज या एंग्लो-इण्डियनका चेहरा शायद ही कभी देख पड़ता हो। वहाँ एक दिन सबेरे, बिलकुल अचानक, बिना किसी सूचना या चेतावनीके, एक बग्घीके भीतरसे उक्त बैरिस्टर तथा लड़केका भाई एवं कुछ अन्य लोग उतर पड़े। चारों तरफ खलबली मच गयी और जब उन लोगोंने लड़कीको सामने बुलानेकी बात कही, तब प्रत्येक व्यक्ति भौंचक्का-सा रह गया। उनका कहना माननेसे इनकार करनेकी किसीकी हिम्मत नहीं पड़ी। वह बुलायी गयी और वह आयी। जब उससे पूछा गया कि तुम अपने पतिके पास वापस चलना चाहती हो या नहीं तो उसने जवाब दिया कि 'जरूर चलना चाहती हूँ।' माँने बीचमें टोककर कहा कि उसका तुरन्त भेज दिया जाना असम्भव है, कितनी ही चीजोंका प्रबन्ध करना पड़ेगा, उपयुक्त पोशाक तैयार करानी पड़ेगी, कुछ आभूषण बनवाने पड़ेंगे, इत्यादि (जैसा कि रिवाज है)। किन्तु लड़कीने कहा कि मुझे कुछ भी नहीं चाहिये, मैं जो कपड़े पहने हुए हूँ, उन्हींमें साथ जानेको तैयार हूँ और वह चल खड़ी हुई तथा बग्घीके भीतर जाकर बैठ गयी। मण्डली उसे लेकर लौट आयी। बादमें पता चला कि उसे बहकाकर एक कागज लिखा लिया गया है, जिसमें उसकी माँका भी हाथ था तथा जिसका आशय यह था कि लड़कीने अपनी सारी जायदाद उस मन्दिरके नाम लिख दी है जिसके पुश्त-दर-पुश्त प्रबन्धक उसके चाचा तथा उसके लड़के बना दिये गये थे।

कागजमें यह बात कही गयी थी कि लड़की, जो अभी १६-१७ वर्षकी ही रही होगी, कई कारणोंसे अपने जीवनसे ऊब गयी है और (अपने आपको सब झंझटोंसे मुक्त करते हुए, आखिर जायदाद भी तो एक झंझट है !) पूर्ण रूपसे आध्यात्मिक चिन्तन तथा ईश्वरकी उपासनामें अनुरक्त हो जाना चाहती है। उसके फरियाद करनेपर यह प्रलेख उच्च न्यायालय द्वारा रद्द कर दिया गया। इस तरहकी नियोजित नीचता अदालतके सामने क्वचित् ही देख पड़ती है।

मुझे ऐसी एक और घटना याद आती है जिसकी समाप्ति आनन्दमय ढंगसे हो गयी और जिसमें युवती महिलाने साहस, दृढ़ता एवं सूझबूझका अच्छा परिचय दिया। वह मातृ-पितृ-विहीन हो गयी थी और एक बड़ी जायदादकी उत्तराधिकारिणी बन गयी थी। जिला जजने उसके चाचाको उसका अभिभावक तथा उसकी सम्पत्तिका संरक्षक नियुक्त कर दिया था। जब वह १६ वर्षकी हो गयी तो उसके विवाहका प्रश्न अत्यावश्यक हो गया। इतनी बड़ी सम्पत्ति रखनेवाली लड़कीके साथ विवाह करनेके लिए अनेक लोग तैयार थे—धनवान, वकील तथा कोठीवाल, अत्यन्त बांछनीय तथा बहुत ही सम्मानित किन्तु दुर्भाग्यवश उनमेंसे अधिकतर लोग मृतस्त्रीक तथा अधेड़ अवस्थाके थे। सांसारिक मामलोंमें कुशल चाचाने एक विशिष्ट व्यक्तिको चुना और जिला जजने प्रस्ताविक सम्बन्धकी स्वीकृति दे दी। मुझे सन्देह है कि उन्होंने इस मामलेमें लड़कीकी अपनी इच्छा भी जाननेकी बात मनमें कभी सोची हो। किन्तु उसके अपने निर्णायक विचार थे। वह पढ़ी-लिखी थी और अपनी ही बिरादरीके एक पूर्णतः शिष्ट नवयुवकके सम्बन्धमें उसकी बहुत ऊँची तथा अनुकूल धारणा थी। वह सुशिक्षित तथा हर तरहसे योग्य व्यक्ति था किन्तु अभाग्यवश वह धनवान् न था, एक साधारण सरकारी कर्मचारीका पुत्र था। हाईकोर्टमें अपील की गयी, जो मैं समझता हूँ कि विवाहेच्छुक एक अस्वीकृत उम्मेदवारने दाखिल की थी। इससे उस नौजवान लड़कीको (और शायद उसके नवयुवक भावी पतिको भी) अच्छा अवसर मिला। उसने अपनी मातृभाषा हिन्दीमें प्रधान न्यायाधिपतिके नाम एक पत्र लिखा। इसमें उसने विचाराधीन अपीलकी ओर उनका ध्यान दिलाते हुए एवं यह बतलाते हुए कि इस मामलेका उसके समस्त भावी जीवनके साथ कितना गहरा सम्बन्ध है, उसने लिखा कि 'ईश्वरकी इच्छासे अब मैं मातृ पितृविहीन हो गयी हूँ और प्रधान न्यायाधिपति ही इस समय मेरे माँ-बाप हैं, अतः मेरी प्रार्थना है कि आप स्वयं इस मामलेपर विचार करें।' इस तरहकी प्रार्थना कभी अकारथ नहीं जाती। अभिभावकता सम्बन्धी समस्त मामलोंमें अदालत स्वयं ही एक तरहसे माता-पिताका स्थान ग्रहणकर न्यायिक अधिकारका प्रयोग करती है। जब अपील सुननेकी तारीख नियुक्त हो गयी तब नवयुवती महिलाने फिर एक चिट्ठी प्रधान न्यायाधिपतिको लिखी (कमसे कम मुझे ऐसी ही खबर लगी थी)। उसने विवाहेच्छुक सभी व्यक्तियोंके गुण-दोषोंकी चर्चाकर उनके रूप-रंग आदिपर भी विचार किया और जिस नवयुवकको उसने अपने लिए चुना था, उसका भी वर्णन करनेके बाद अन्तमें यह भी लिखा कि 'मामलेकी सुनवाईके वक्त मैं भी उपस्थित रहना चाहती हूँ, अतः मेरी प्रार्थना है कि प्रधान न्यायाधिपति उक्त समस्त विवाहेच्छुक व्यक्तियोंको (जिस नवयुवकको मैं वरना चाहती हूँ, उसे भी) अदालतमें हाजिर रहनेका आदेश दे दें जिससे आप स्वयं यह निर्णय करनेकी स्थितिमें हो सकें कि मैंने जिसे वरीयता दी है वही सब व्यक्तियोंमें श्रेष्ठ है या नहीं।' प्रधान न्यायाधिपतिने उक्त पत्र जिला मजिस्ट्रेटके पास इस बातकी जाँच करनेके लिए कि वह उक्त लड़कीका ही लिखा हुआ है या नहीं, भेज दिया और यह रिपोर्ट मिलनेपर कि चिट्ठी उस लड़कीने ही लिखी थी और उसने उसे भेजनेकी बात भी स्वीकार की है, उन्होंने प्रार्थित आदेश जारी कर दिया। मामलेपर जब विचार आरम्भ हुआ, अदालतका कमरा

ठसाठस भर गया था (मैं भी वहाँ उपस्थित था)। प्रधान न्यायाधिपति एक अन्य न्यायाधीश-के साथ न्यायपीठपर विराजमान थे। नवयुवती महिला सामने आयी—उम्र उसकी १६-१७ वर्षकी रही होगी—भव्याकृति, बहुत ही विनयशील, कुछ शरमीली-सी, फिर भी बिलकुल शान्त एवं स्थिरचित्त। प्रधान न्यायाधिपतिने पिताकी तरह स्नेहपूर्वक उसका स्वागत किया, उसे अपने पास ही मंचपर बैठाया, मुलायमियतके साथ उससे बातचीत की, उसकी इच्छा जाननेका प्रयत्न किया और मामलेके सम्बन्धमें पूछताछ की। विवाहके अधिक उम्रवाले धनिक उम्मेदवार सबके सब गायब थे। हाँ, उक्त नवयुवक हाजिर था, बहुत सुन्दर, आकर्षक, संगतिके योग्य, सुवेशित और शिष्टतापूर्वक बातचीत करनेवाला। मुकदमेका फैसला वस्तुतः अपने आप हो गया। कमउम्र लड़की-की इच्छाके मुताबिक विवाहकी मंजूरी देते हुए अदालतने आज्ञा जारी कर दी और निर्देश कर दिया कि जिला मजिस्ट्रेट इस बातका प्रयत्न करे कि विवाहकी रस्म अविलम्ब पूरी की जाय। आज्ञा घोषित होनेके बाद नवयुवकने खड़े होकर निवेदन किया कि मुझे इस बातकी आशंका है कि बिरा-दरीके लोग, जो इस मुकदमेकी काररवाईसे प्रसन्न नहीं हैं, विवाहके पश्चात् हम दोनोंसे छेड़छाड़ करेंगे। प्रधान न्यायाधिपतिने फैसलेके अन्तमें यह निर्देश भी जोड़ दिया कि जिला मजिस्ट्रेट वर-वधू-की सुरक्षाके लिए पुलिसका प्रबन्ध करें और जिलेमें यह बात अच्छी तरह प्रसारित कर दें कि यदि इनके साथ किसी तरहकी छेड़छाड़ की गयी तो उच्च न्यायालय द्वारा अपराधियोंको यथोचित दण्ड दिया जायगा। प्रत्येक कार्य सुचारु रूपसे सम्पन्न हो गया और दोनों पति-पत्नी सुखी परिवारके रूपमें रहने लगे। इस प्रकार इस अनोखे मामलेका, कमसे कम जहाँतक भारतका प्रश्न है, एक सुखद अन्त हुआ।

१५. पत्नीकी चतुरताके दो उदाहरण

भारतीय मुकदमोंके विवरणमें परदेमें रहनेवाली भारतीय स्त्रियोंकी बहुत चर्चा रहती है। उनकी एक अलग श्रेणी-सी मानी जाती है जिन्हें न्यायालयोंके संरक्षण तथा सतर्कतापूर्ण देखरेखका, जहाँतक उनकी सम्पत्तिके साथ उनके आदान-प्रदानादिका सम्बन्ध रहता है, अधिकार प्राप्त होता है। वे संसार-की गतिविधिसे अपरिचित एवं छल और धोखेबाजीकी विशेष रूपसे शिकार होने योग्य मानी जाती हैं। अदालतोंमें इसलिए बार-बार इस बातपर जोर दिया जाता है कि उन्हें किसी शर्त या प्रतिज्ञासे बद्ध करनेके पहले यह बात साफ कर देनी चाहिये कि वे सब बातें समझ गयी हैं और जो संलेख (डीड) वे लिख रही हैं उसका क्या प्रभाव पड़ेगा, यह बात उन्हें अच्छी तरह समझा दी गयी है। अतीतकाल-में ये सब बातें सत्य रही होंगी किन्तु अब साक्षरता एवं शिक्षाका प्रसार हो जाने और स्त्रियोंको मतदान-का अधिकार मिल जाने तथा जनतामें राजनीतिक जाग्रति फैल जानेके कारण भारतीय नारियाँ भी—विशेष रूपसे मध्यवित्त परिवारों तथा धनिकवर्गकी नारियाँ—अपने मामलोंकी देखरेख खुद ही करनेके लिए पूर्णरूपसे योग्य देख पड़ती हैं। विगत ३०-४० वर्षोंके भीतर मुझे अपने पेशेके सिलसिलेमें सब वर्गों और सब जातियोंकी भारतीय नारियोंके सम्पर्कमें आनेका बार-बार मौका मिला है। मैंने अदालतों-में उनका संपरीक्षण एवं प्रतिपरीक्षण (जिरह) किया है और हमेशा ही उन्हें समझदार, सतर्क, तीक्ष्णबुद्धि, प्रतिक्षण उपयुक्त उत्तर देनेके लिए तैयार तथा अपने निजी हितोंके सम्बन्धमें पूर्ण रूपसे सावधान पाया है। बहुतोंमें तो, जब उनके अभीष्टके लिए आवश्यक होता तब, नयी बातें गढ़ लेनेकी प्रवृत्ति भी भलीभाँति विकसित देख पड़ती है, प्रतिपरीक्षणमें वे किसी भी वकीलका सामना कर सकती हैं, फिर वह वकील चाहे कितना ही तेज और अनुभवी प्रतिपरीक्षक क्यों न हो। मुझे ऐसे कितने ही

मामले स्मरण आते हैं जिनमें स्त्रियोंने महत्त्वपूर्ण हिस्सा ग्रहण किया है, किन्तु एक या दो तो इतने अद्भुत, मनोरञ्जक तथा असाधारण-से हैं कि उनका उल्लेख कर देना ही बेहतर होगा।

एक दिन सबेरे जब मैं अपने घरपर दफ्तरमें बैठा कुछ काम कर रहा था, एक महिलाके आगमनकी मुझे सूचना दी गयी। वह एक युवती स्त्री थी, एक स्कूलके अध्यापककी स्त्री, जैसा कि उसने मुझे बतलाया था और अपने पारिवारिक मामलोंके सम्बन्धमें मुझसे परामर्श करने आयी थी। मैंने खयाल किया कि यह पति-पत्नीके बीचका कोई निजी मामला होगा किन्तु मैंने गलत समझा। वह कुछ ऐसी मौरूसी जायदादका झगड़ा था जिसे पानेका, परिवारके अन्य साथी-हकदारोंकी तरह, उसे भी अधिकार था। इसके बाद उसने अपना मामला बहुत ही स्पष्ट शब्दोंमें और भावपूर्ण इंगितोंके साथ समझाया। ऐसा प्रतीत होता था कि उसके पतिके अविवेकशील भाई उसे परिवारकी सम्पत्तिका हिस्सा पानेसे बेईमानीके साथ वंचित रखकर ठग लेना चाहते थे। पति बड़ा सीधा और शान्त प्रकृतिका आदमी था जो अपना हक पानेके लिए उतना उद्योगशील न था जितना उसकी पत्नी चाहती थी। 'मैं आपको बतलाऊँ, डॉक्टर साहब' उसने आभापूर्ण नेत्रोंके साथ मुझसे कहा, 'हम लोग क्षत्रिय हैं, यदि मेरे अपने पितृगृहमें ऐसी बात हुई होती तो खून-खच्चर हो जाता। तलवारके बलपर मैंने अपना हक प्राप्त कर लिया होता। मैं अपने पतिसे मामला लड़नेको कहती हूँ पर वे तैयार नहीं होते। हमारे बच्चे भी हैं, हम क्यों उन्हें पैतृक सम्पत्तिसे वंचित रखें? किन्तु मेरे पति कहते हैं कि लड़नेका मतलब है वकीलोंसे सहायता लेना और उन्हें देनेके लिए फीस चाहिये तथा अदालतमें मामला लड़नेमें बहुत खर्च पड़ता है और पैसा मेरे पास है नहीं। मैंने उनसे कहा कि आप जायें और डॉक्टर काटजूसे परामर्श करें। वे बोले कि डॉक्टर काटजू शुरूमें ही सलाह देनेकी फीस माँगने लगेंगे। इसपर मैं बोली कि अच्छी बात है, मैं ही डॉक्टर काटजूके पास जाऊँगी और उनसे परामर्श करूँगी। वे हमारी तथा हमारे बच्चोंकी सहायता करेंगे।' इस प्रकार मेरी उदारताके प्रति बड़ी चतुराई और शिष्टताके साथ इंगित करते हुए जिस ढंगसे आग्रह किया गया, उसके सामने मैं पराभूत-सा हो गया। मैंने दबी जबानमें जबाब दिया, 'यह कानूनी काम है। बेहतर होगा कि आप अपने पतिको ही मुझसे आकर बातचीत करनेके लिए कह दें। मैं मामलेकी बातें समझकर वैसी सलाह उन्हें दे दूँगा। उसमें फीसका प्रश्न न उठेगा।'

'किन्तु मेरे पति तो यहीं हैं।'

'कहाँ?' अत्यन्त आश्चर्यचकित होकर मैंने पूछा।

'बाहर, फाटकपर वे खड़े हैं।'

'तो उन्हें कृपया भीतर बुला लें।'

महिला बाहर चली गयी, सचमुच वह बड़ी प्रसन्न थी, और कुछ ही मिनटोंके भीतर अपने पतिको लेकर वापस आ गयी, जो शान्त एवं लजीला-सा युवक था, और तब सलाह-मशविरा शुरू हुआ। उसकी चतुराई, उसकी समझदारी तथा उसकी तुरत निर्णय करनेकी क्षमतासे मैं बहुत प्रभावित हुआ। मैंने नालिश करनेकी सलाह दी। ऐसा ही किया गया; वास्तवमें दावेका कोई जवाब ही न था। दूसरे पक्षवाले स्कूल-मास्टरकी सिधाईकी बात माने बैठे थे और समझ रहे थे कि वे कुछ करेंगे नहीं। निदान झगड़ेका निपटारा सन्तोषजनक रूपसे हो गया। जहाँतक मेरा सम्बन्ध था, फीस लेनेका कोई प्रश्न ही नहीं उठा। मुझे वह युवती बहुत अच्छी लगी और मैंने उसके साथ अपनी छोटी बहिनके सदृश व्यवहार किया। कुछ वर्षों बाद उसका पत्र मिला जिसमें उसने लिखा था कि 'मैंने घरमें शिक्षा प्राप्तकर बी० ए० पास कर लिया है और अब प्रशिक्षण महाविद्यालयमें अध्यापकीका डिप्लोमा

लेनेकी तैयारी कर रही हूँ। बच्चोंकी संख्या बढ़ गयी है और पतिकी तनखाह तथा अन्य आमदनीसे काम नहीं चलता। इसलिए मैं उनकी सहायता करना चाहती हूँ।' ईश्वर उसका भला करे।

सन् १९१४-१५ में जब मैं डॉक्टर सप्रूके दफ्तरमें बैठा करता था, एक बहुत ही आश्चर्य-जनक मामला मेरे सामने आया। एक मुवक्किल एक अनोखेसे मामलेकी दूसरी अपील दाखिल करानेके लिए आया था। पुरुषों द्वारा अपने वैवाहिक अधिकार पुनः प्राप्त करनेके लिए अपनी पत्नियों तथा उनके माता-पिताओं या अन्य सम्बन्धियोंके खिलाफ दरखास्तोंका दिया जाना भारतवर्षमें सर्व-विदित ही है, और यह एक ऐसी चीज है जो अक्सर होती ही रहती है। घरमें कोई झगड़ा शुरू होता है, पति दूसरी स्त्री रख लेता है और अपनी पत्नीके प्रति लापरवाह हो जाता है या दुष्टतापूर्ण व्यवहार करने लगता है। पत्नी घरसे चली जाती है और अपने माँ-बाप या भाइयोंके साथ रहने लगती है। इसी कारण नालिश करनेकी आवश्यकता पड़ती है। किन्तु पत्नीका अपने वैवाहिक अधिकार पुनः प्राप्त करनेके लिए ऐसी दरखास्त देना क्वचित् ही देख पड़ता है। वह सामान्यतया अपने भरण-पोषणके गुजारेके लिए ही दरखास्त देती है। यहाँ इस मामलेमें एक हिन्दू नारीने अपने वैवाहिक अधिकार पुनः प्राप्त करनेके लिए ही अर्जी दी थी। विचारक न्यायाधीशने, जो भारतीय था, उसे अभूतपूर्व एवं हिन्दू कानूनमें अज्ञात कहकर खारिज कर दिया था; किन्तु अपील करनेपर अंग्रेज जिला जजने, इस बुद्धिमत्तापूर्ण कहावतके अनुसार कार्य करते हुए कि जो सुख हंस चाहता है वह हंसिनी भी चाह सकती है, उसे मंजूर कर लिया और पत्नीके पक्षमें डिगरी दे दी। यहाँतक तो जो हुआ, सो हुआ किन्तु अब पतिने अपील करनी चाही। मैं खुद भी जवान था और स्थितिके अनोखेपनसे प्रभावित होकर मैंने उसे समझाया कि इस तरहकी मुकदमेबाजी अनावश्यक ही प्रतीत होती है, बेहतर होगा कि तुम समझौता कर लो और अपनी पत्नीके प्रति अच्छा व्यवहार करने लगो। किन्तु पति बड़ा दुःखी था। उसने कहा, 'उसके प्रति मेरे दुर्व्यवहारका प्रश्न ही नहीं उठता। वह मेरे साथ ही मेरे घरमें रहती है, मैं उसका सारा खर्च बरदाश्त करता हूँ और उसे कोई भी चीज देनेमें आनाकानी नहीं करता, उससे कभी कोई कठोर शब्द नहीं कहता किन्तु सच्ची बात यह है कि मैंने दूसरी शादी कर ली है अतः यह स्वाभाविक है कि मैं नयी पत्नीके पास कुछ अधिक समय व्यतीत करूँ--इसका अर्थ यह लगाया जा रहा है कि मैं उसकी परवाह नहीं करता—और अब उसके हाथमें यह डिगरी आ गयी है। वह आग्रह करती है कि मैं हर रात उसीके पास रहूँ। वह धमकी देती रहती है कि यदि मैंने उसे छोड़ा या नयी पत्नीकी तरफ एक बार देखा भी कि वह डिगरीको कार्यान्वितकर मुझे जेल भेज देगी। जी नहीं, यह चल नहीं सकता, आप कृपाकर मेरी सहायता करें, उसने मेरा जीवन दूभर बना दिया है। अपील करना अनिवार्य है।' निदान अपील दाखिल कर दी गयी। मैं समझता हूँ कि उसकी सुनवाई-का मौका ही नहीं आया। मामला अदालतके बाहर ही निपटा लिया गया।

जो हो, मुझे विश्वास है कि अब मैं जिस मामलेका वर्णन करने जा रहा हूँ, वह इतना अनोखा और प्रथमदृष्टितः ऐसा दुरूह था जो भारतीय मुकदमोंके समूचे इतिहासमें अद्वितीय ही माना जायगा और यदि वह सत्य न होता तो सचमुच ही कोई उसपर विश्वास न करता। संयुक्त प्रान्त (उत्तरप्रदेश) के एक शहरमें, जिसका नाम यहाँ देनेकी आवश्यकता नहीं है, एक सम्पन्न परिवार रहता है जिसके पास बड़ी-सी भू-सम्पत्ति और अच्छा वृद्धिशील महाजनीका कारोबार चलता था। यह परिवार उस समय तो धनाढ्य था ही, मेरा विश्वास है कि अब भी है। पिताकी मृत्यु बहुत पहले ही हो चुकी थी और अपने पीछे वह अपनी पत्नी, एक लड़का तथा एक लड़की छोड़ गया था। ये दोनों बच्चे बहुत छोटे थे। माँ अपने लड़केकी अभिभाविका नियुक्त हुई जिसे ही परिवारकी

समूची सम्पत्ति उत्तराधिकारमें मिली थी और माँका भाई परिवारकी व्यवस्था सँभालनेमें उसकी सहायता करता था। लड़का जब बालिग हो गया तब भी वह मामाकी सलाहसे काम करता रहा। मामा बड़ा चतुर कारबारी और विधिज्ञ (कानूनदाँ) भी था। लड़केका विवाह छोटी उम्रमें ही दूसरे शहरके एक प्रसिद्ध और धनाढ्य कोठीवालकी पुत्रीसे हुआ था। बादमें जब लड़की खुद भी बालिग हो गयी तो वह अपने पतिके घर चली गयी और वहीं रहने लगी। वह चारों तरफ अपना प्रभुत्व स्थापित करनेवाली महिला प्रमाणित हुई और उसने शीघ्र ही अपने पतिपर पूर्ण नियन्त्रण तथा आधिपत्य स्थापित कर लिया। वह अपने घरकी वास्तविक स्वामिनी बन गयी, सास उससे पृथक् रहने लगी और उसके भाईको भी हट जाना पड़ा। वह परिवारके मामलों तथा परिवारकी सम्पत्तिके प्रबन्धमें दिलचस्पी लेने लगी और वह पतिके साथ ही इलाकेका दौरा करने भी जाया करती थी; बैंकोंके मीयादी खातोंमें उसके अपने नामसे बड़ी-बड़ी रकमें जमा थीं।

कुछ वर्षोंके बाद सासकी मृत्यु हो गयी और यह बात प्रकट हुई कि उसके पास बहुतसे बहुमूल्य आभूषण, सुवर्ण, और लाखों रुपये नकद विद्यमान थे। उससे मिलनेके लिए बीच-बीचमें उसकी लड़की आया करती थी और यदाकदा उसका भाई भी। कुछ ही दिनोंके बाद लड़के तथा लड़कीके बीच झगड़ा शुरू हो गया, जिसे सम्भवतः उसका मामा ही उभाड़ रहा था। यह मामा अपनी भानजीका पक्ष ले रहा था, वह अपने भानजेसे खुश नहीं था क्योंकि उसकी पत्नीने बड़े भद्दे ढंगसे उसके प्रति व्यवहार किया था। लड़कीने अपने आपको माँकी एकमात्र उत्तराधिकारिणी बताकर इस सारी सम्पत्तिपर अधिकार पानेका दावा किया। मामाने भी, गलत या सही, कहना शुरू किया कि वास्तविक अधिकार उसीका है। लड़केने अपनी बहिनके साथ समझौता कर लेनेमें ही बुद्धिमानी समझी —यद्यपि उसकी पत्नीको यह बात पसन्द नहीं आयी—और उसे बहुत बड़ी रकम दे दी। पत्नीने खयाल किया कि पति महोदयने अपने आपको बहुत ही कमजोर और दब्बू साबित कर दिखाया है और उसे भय मालूम होने लगा कि आगे चलकर उनकी इस मूर्खतापुर्ण सिधाईके कारण परिवारको और भी क्षति उठानी पड़ेगी। उसने मामला अपने हाथमें ले लेनेका निश्चय किया। उसका पति कुछ दिनोंके लिये कहीं बाहर चला गया। उसके अपने पिता तथा भाई भी समवेदना प्रकट करनेके लिए आये थे और इसी बीच कुछ ऐसी घटनायें हो गयीं जिनके कारण एक गैरमामूली ढंगकी मुकदमे-बाजी शुरू हो गयी।

जब पति घर लौट आया तो उसे मालूम हुआ कि लगभग १ लाख ४० हजार रुपयेके आभूषण गायब हो गये हैं। उसे सन्देह हुआ कि मेरी गैरहाजिरीमें पत्नीने उन्हें इधर-उधर कर दिया है। वह मामाके पास दौड़ा गया और वहाँ तय पाया कि पत्नीके पिता तथा भाईका भी हाथ उसकी यह सम्पत्ति उड़ानेकी योजनामें जरूर रहा होगा। यह मालूम होने लगा कि वह शीघ्र ही अपनी पत्नी तथा उसके सम्बन्धियोंके विरुद्ध मामला दायर करनेवाला है। पत्नीके मनमें आशंका हुई कि फैसला होनेके पहले ही कहीं पतिकी प्रार्थनापर बैंकोंमें जमा मेरे रुपयेपर रोक न लगा दी जाय। समय खोनेकी गुंजाइश न थी। उसने तुरन्त ही पूर्ण निश्चयके साथ कारवाई की। उसने एक वकील अपने साथमें लिया और मोटरमें बैठकर सैकड़ों मीलकी यात्रा पूरीकर बैंकोंके अहातोंमें दाखिल हो गयी और सूदकी कोई भी पर-वाह न कर सारेका सारा रुपया नकदीके रूपमें निकाल लिया और फिर अपने घर वापस लौट आयी तथा आगे होनेवाली घटनाओं की प्रतीक्षा करने लगी। और तब एक बहुत ही मनोरंजक एवं सुखद नाटकका आरम्भ हुआ।

पतिने अपनी पत्नी तथा उसके पिता एवं भाईके खिलाफ मामला दायर कर दिया जिसमें

कहा गया था कि इन दोनों (ससुर तथा साले)ने मेरी पत्नीके कहने और उसके सहयोगसे आभूषण तथा चाँदीके बर्तनोंसे भरे हुये कई ट्रंक मेरे घरसे हटा दिये हैं और उन्हें अपने घरमें उठा ले गये हैं। उसने यह भी दरख्वास्त दी थी कि मामलेका फैसला होनेतक मेरी पत्नीके नाम बैंकोंमें जो रुपया जमा है, उसपर प्रतिबन्ध लगा दिया जाय किन्तु यह चेष्टा बिलकुल बेकार साबित हुई। चिड़िया पहले ही उड़ चुकी थी। पींजड़ा खाली पड़ा था। बैंकों में कुछ रह ही नहीं गया था।

मुझे महिलाके पिता तथा भाईने अपना वकील नियुक्त किया था। पतिने इलाहाबादकी वकील-मण्डलीके अनुभवी वकीलोंको खड़ा किया था और कुछ वकील जिलेके वकीलोंका पूर्ण प्रतिनिधित्व कर रहे थे।

मामलेकी सुनवाई लगभग बारह महीनोंके बाद शुरू हुई। इस बीच दोनों पति पत्नी बराबर उसी मकानमें रहते रहे और उनके आपसके सम्बन्ध भी वैसे ही सौहार्दपूर्ण बने रहे। पत्नीपर पतिका अगाध प्रेम था और वह उसे सिनेमाघरों तथा उपाहारगृहोंमें ले जाया करता था। जब वह उसके साथ रहता था तो बड़ी प्रसन्न एवं समझौता करने योग्य मुद्रामें रहता था। मुझे कई बार उस महिलासे भी मिलना पड़ा। (यद्यपि वह कभी मेरे सामने नहीं आयी) जब मैं उसके पिता तथा भाईसे परामर्श करने जाया करता था। एक बार मैंने उसे समझाया भी कि सारी स्थिति कितनी हास्यास्पद तथा ऊटपटांग सी मालूम पड़ती है। उसने जवाब दिया कि स्थितिकी विचित्रता मैं भी समझ रही हूँ किन्तु मैं विवश हूँ। तब मैंने उससे कहा कि 'तुम अपने पतिसे क्यों नहीं इस विषयमें बातचीत कर देखती ?' उसने कहा, 'यही तो कठिनाई है, डॉक्टर साहब, जब भी मैं इस विषयकी चर्चा छेड़नेका प्रयत्न करती हूँ और मामलेका उल्लेख करने लगती हूँ, वे मुझे रोक देते हैं। वे कहने लगते हैं—मामलेकी चर्चा मुझसे न करो, और चाहे जिस चीजके बारेमें बातचीत करो किन्तु मुकदमेकी बात न चलाओ। बात करना आवश्यक हो तो मामासे बात कर लो। ऐसी स्थितिमें मैं कर ही क्या सकती हूँ ? मैं कुछ नहीं कर सकती।' इस प्रकार यह मामला कई सप्ताहोंतक न्यायालयमें चलता रहा। लम्बा-चौड़ा साक्ष्य उपस्थित किया गया और बड़े सुन्दर ढंगसे गढ़ी हुई कहानी भी जो उन लोगों द्वारा ब्यौरेके साथ वर्णित की जाती थी जो अपने आपको प्रत्यक्षदर्शी गवाह कहते थे; किस तरह स्त्रीने तथा उसके पिता और भाईने सारी योजना बनायी थी, किस तरह रातोरात सारे ट्रंक चुपचाप हटा दिये गये और गाड़ीमें रखकर रेलवे स्टेशन पहुँचा दिये गये, इत्यादि। पति, पत्नी, उसके पिता, भाई, (पतिके) मामा तथा प्रत्येक अन्य व्यक्तिने बयान दिये और दोनों पक्षोंने एक दूसरेके साक्ष्यका मनमाने तौरसे एवं बिना किसी हिचकिचाहटके खण्डन किया। परिवारका सारा इतिहास कुरेद डाला गया। फिर भी पति-पत्नीके आपसी सम्बन्ध बराबर अच्छे बने रहे, मानो उन्हें इस सारे तमाशेमें आनन्द आ रहा हो। किन्तु यह बहुत ही व्यय-साध्य तमाशा था। मुकदमेमें दोनों पक्षको ५० हजार रुपयेसे भी अधिक की चपत लगी होगी। विचारक न्यायाधीशने पिता तथा भाईके विरुद्ध मामला खारिज कर दिया। ट्रंकोंको हटा ले जानेकी सारी कहानी उसे झूठी मालूम हुई किन्तु पत्नीके खिलाफ उसने डिगरी दे दी। उसकी धारणा थी कि ट्रंक उसीके पास हैं और वही उनके लिए जिम्मेदार है। इसके बाद इस मुकदमेंसे मेरा सम्बन्ध नहीं रह गया। पत्नीने उच्च न्यायालयमें अपील की किन्तु उसकी सुनवाईका मौका ही नहीं आया। या तो उसने उसे वापस ले लिया, या फिर अभियोग चलानेवालेके अभावमें वह खुद ही खारिज कर दी गयी, किन्तु इतनेसे ही मामलेकी समाप्ति नहीं हो गयी। पतिने अपनी पत्नीके खिलाफ दी गयी डिगरीको कार्यान्वित करानेका प्रयत्न किया। न्यायाधीश उसे कार्यान्वित करानेके लिए स्वयं पतिके घरतक गये। उन्होंने

ऐसा इसलिए किया कि उन्हें बतलाया गया था कि उस समय कुछ उपद्रव हो जानेकी आशंका है और उनका उपस्थित रहना उपयोगी होगा। उसकी पत्नीके कमरोंकी भी तलाशी ली गयी। पति उस धनको ढूँढ़ निकालने और उसे अपने अधिकारमें कर लेनेके लिए चिन्तित था जो उसने इतनी शीघ्रतासे बैंकसे निकाल लिया था। उसे सन्देह था कि उसने उसे अपने निजी कक्षमें ही छिपा रखा है, इसलिए उसकी भी तलाशी ली गयी। दीवारमें एक गड्ढा जैसा, एक नकली दरवाजा सा दिखाई दिया और उसीके भीतर आभूषणोंसे भरे हुए ट्रंक पाये गये। उस दृश्यकी और उस समयकी उत्तेजनाकी कल्पना सहज ही की जा सकती है। इसके बाद जो घटनाएँ हुईं उनका ठीक-ठीक तारतम्य मुझे स्मरण नहीं है। ट्रंकोंके ताले खोलकर उन्हें देखा नहीं गया और न उनमेंके सामानकी सूची ही तैयार की गयी। अँधेरा हो गया था और फैसलेके अनुसार मानी गयी कर्जदार पत्नीने दृढ़तापूर्वक आग्रह किया कि ये ट्रंक मेरी निजी सम्पत्ति हैं और न्यायिक आदेशमें इन्हें कब्जेमें ले लेनेकी चर्चा न होनेके कारण ऐसा किया नहीं जा सकता। जजने (जो विचारक जजके स्थानपर नियुक्त होकर आया था), प्रतिवादीकी आपत्तिपर विचार करना सवेरा होनेतक स्थगित कर दिया और इस समय उक्त ट्रंक पत्नीको ही इस शर्तपर लौटा दिये कि दूसरे दिन वे अदालतमें पेश किये जायँ—ऐसा इसलिए किया गया था, जैसा कि कहा गया था, कि उस वक्त रात हो जानेके कारण अदालतके कमरोंमें उन्हें सुरक्षित रूपसे रखनेकी व्यवस्था नहीं की जा सकती थी।

दूसरे दिन वादी-प्रतिवादी न्यायालयमें पहुँचे और ट्रंक भी ले जाये गये। न्यायाधीशने गंभीरताके साथ तर्क-वितर्क सुने और निश्चय किया कि इस काररवाईमें ट्रंक जब्त करनेका भी अधिकार उसे है। उसने हुक्म दिया कि वे खोले जायँ। उस उत्तेजनापूर्ण वातावरणमें वैसा ही किया गया और तब मालूम हुआ कि उनमें पत्थर भरे हुए हैं। आभूषण सब गायब थे। इस बार भी पक्षी पहले ही उड़ चुके थे।

न्यायाधीशपर आफत आयी। न्यायाधीशपर और बड़ा नहीं तो कमसे कम पक्षपातका आरोप तो किया ही गया। उसके व्यवहारकी जाँच करनेके लिए एक आयोगकी नियुक्ति की गयी जिसने उसके प्रतिकूल रिपोर्ट प्रस्तुत की और वह नौकरीसे बरखास्त कर दिया गया।

पति और पत्नीमें फिर पूरा-पूरा मेल हो गया। उन दोनोंमें, सच पूछो तो वास्तविक वैमनस्य कभी हुआ ही न था। पत्नीकी केवल इतनी ही शिकायत थी कि पति महोदय आवश्यकतासे अधिक अच्छे आदमी थे और बहुत जल्दी ही दूसरोंके, विशेषकर एक बूढ़े कृपापात्र नौकर तथा अपने मामाके, प्रभावमें आ जाते थे। ये लोग अपना स्वार्थ पूरा करनेके लिए उनके हृदयकी सरलतासे अनुचित लाभ उठाया करते थे। इसलिए पत्नीने उक्त नौकरको अलग कर दिया। मामाका आदर-सत्कार बन्द कर दिया गया और अब तो उनकी मृत्यु भी हो गयी है। पति और पत्नीमें अब परस्पर ऐसा अनुराग है कि देखकर लोगोंको ईर्ष्या हो सकती है। वे साथ-साथ रहते हुए सुखी जीवन बिता रहे हैं और उनका परिवार भी बढ़ रहा है। इस तरहके अन्य किसी मामलेकी बात न मैं जानता हूँ और न मैंने कभी पढ़ी है जिसमें ऐसी नाटकीय घटनाएँ घटित हुई हों और ऐसा सुखद परिणाम हुआ हो—सबके लिए सुखद, केवल उस न्यायाधीशको छोड़कर जिसे अपनी नौकरीसे हाथ धोना पड़ा। ट्रंकोंके पता लगा लिये जानेकी घटनासे मुझे हठात् शेरलॉक होम्स और उसके एक आश्चर्यजनक मामलेका स्मरण हो आया।[१] वह ऐसी घटना थी जिसके अनुसन्धानमें उसकी असाधारण सूझ और चतुराईका समुचित प्रयोग किया जा सकता था।

१. शेरलॉक होम्सकी 'एडवेंचर्स' नामक रचनामें 'मेमायर्स' (याने 'संस्मरण') नामक मामलेका वर्णन देखिये।

गोत्र सम्बन्धी मुकदमे

१६. नरहन तथा गंगवालके गोत्र सम्बन्धी मामले

दो प्रसिद्ध मुकदमे जिनसे मेरा घनिष्ठ सम्बन्ध था हिन्दू गोत्रोंके प्रश्नसे सम्बद्ध थे। दोनों ही मुकदमोंमें— विशेषकर नरहन गोत्रके मामलेमें—नाटकके सभी तत्व, आश्चर्य, अप्रत्याशित एवं आकस्मिक घटनाओंका होना, वादलग्न व्यक्तियोंका भाग्य और अद्‌भुत परिणाम आदि बातें विद्यमान थीं जिनसे प्रतीत होता था कि मुकदमेबाजी विशुद्ध जुआ है जिसमें हारजीत केवल संयोगकी चीज होती है। मैं पुरातत्वप्रेमी हूँ और वे सब वस्तुएँ तथा संस्थाएँ, जिनकी जड़ें प्राचीन कालतक फैली हों, मुझे सबसे अधिक आकर्षित करती हैं और उस मुकदमेको ही, जबतक वह चलता रहता है, मनोरंजक अध्ययनका विषय बना देती हैं।

किन्तु मैं उन अहिन्दू पाठकोंकी कल्पना कर सकता हूँ जो पूछेंगे कि गोत्र है क्या चीज। अस्तु, गोत्र आर्य हिन्दुओंकी एक बहुत ही प्राचीन परम्परा है। वह हिन्दू समाजकी आधारभूत रचनाका अंग है। जैसा कि लोगोंको अच्छी तरह ज्ञात है, यह समाज बहुत प्राचीन कालसे ही कर्मके अनुसार चार वर्णों (जातियों) में विभाजित था। पहली जाति थी ब्राह्मणकी, जो समाजके पुरोहित थे, विद्वान् थे, ईश्वरप्रदत्त विधि (कानून) के भाष्यकार थे और राजके महान् अमात्य थे। इनके बाद क्षत्रिय लोग थे, शासक श्रेणीके लोग, वे योद्धा जो युद्ध करते थे तथा शान्ति एवं व्यवस्था कायम रखते थे। तीसरी जाति थी वैश्योंकी जो बनिया और व्यापारी थे। अन्तमें थे शूद्र जो सेवा करते थे। किसी समय प्रथम तीन वर्णोंके लोग आर्य थे जो बाहरसे आकर भारतमें बस गये थे, जब कि शूद्र लोग यहींके निवासी थे जिन्हें आर्योंने जीतकर अपना सेवक बना लिया था। उत्पत्ति चाहे जैसे भी हुई हो, हिन्दू धर्मने जिसमें अन्य लोगोंको आत्मसात् करनेकी भारी क्षमता थी, सारे समाजको इन्हीं चार वर्णोंके आधारपर प्रस्थापित किया था। प्रथम तीनों वर्ण ऊँची जातियाँ समझी जाती थीं और उनके लिए कुछ विशिष्ट धार्मिक संस्कार निर्धारित कर दिये गये थे जिन्हें उनके दूसरे जन्मकी संज्ञा दी जाती थी, इसीसे इन तीनोंको द्विज (अर्थात् दो बार जन्म लेनेवाली) जातियाँ कहते थे। इन द्विज वर्णोंमेंसे प्रत्येक व्यक्तिका चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, अपना कोई-न-कोई गोत्र अवश्य होता है।

इन गोत्रोंकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें विद्वानोंने काफी खोजबीन की है और इस विषयपर प्रचुर साहित्य उपलब्ध है।[१] इस शब्दकी उत्पत्ति प्रारम्भमें संस्कृत शब्दसे हुई थी जिसका अर्थ होता है 'गायोंका बाड़ा'। इस प्रकार इसका अर्थ होता है वे लोग जो एक ही घेरेके, एक ही गिरोहके, एक ही मूलके हों। ब्राह्मणोंमें उसका अर्थ होता है एक ही पूर्वपुरुषसे, पुरुषकी पीढ़ीके अनुसार, वंशोत्पत्ति। शुरू-शुरूमें इस तरहके कुल आठ वंश-पितामह (ऋषि) थे, जो आठ मूल गोत्रोंके प्रतिष्ठापक थे। किन्तु ये आठ गोत्र वृक्षकी जड़ोंके समान थे, जिनमेंसे प्रत्येक, उसके वंशजोंकी संख्या बढ़ जानेपर, अनेकानेक शाखा-गोत्रोंके रूपमें प्रस्फुटित हो गया। कुछ वंशजोंने अपनी विद्वत्ता एवं धर्म-

---

१. समस्त विषयके ठीक-ठीक और विशद विवेचनके लिए 'डिसकवरी ऑफ फेथ्स' नामक पुस्तकमें गोत्रोंपर लिखा गया विद्वत्तापूर्ण लेख देखिये।

शीलताके कारण विशेष कीर्त्ति अर्जित कर ली और उनके वंशज उन्हें अपने वंश-पितामह मानने लगे। इस प्रकार प्रारम्भके ८ गोत्र शाखाओंमें बँटकर २४ हो गये और बादमें इसी तरह इनकी संख्या १०० हो गयी। अब सैकड़ों गोत्र विद्यमान् हैं और सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दृष्टिसे समगोत्र वाले ब्राह्मणोंकी वंशोत्पत्तिका पर्याप्त रूपसे पता लगानेका प्रयत्न किया जाय, चाहे वे कहीं भी रहते हों, तो मालूम होगा कि पुरुषपरम्परामें उनका उद्भव एक ही पूर्वपुरुषसे हुआ है। इस प्रकार ब्राह्मणोंमें गोत्रोंका समान होना इस बातका द्योतक है कि दो अन्य द्विज जातियों अर्थात् क्षत्रियों तथा वैश्योंके भी गोत्र होते हैं और उनके गोत्र भी वही हैं जो ब्राह्मणोंके हैं। उनके सम्बन्धमें इन गोत्रोंसे यह नहीं सूचित होता कि इनका रुधिरसम्बन्ध उन-उन नामधारी ऋषियोंके साथ है। इसलिए क्षत्रियों तथा वैश्योंके भी वही गोत्र कैसे हो गये, यह हमेशासे ही उलझनमें डालनेवाला प्रश्न रहा है। एक प्राचीन विद्वान् लेखकने, जिसने लगभग २००० वर्ष पूर्व अपनी कृतिकी रचना की थी, जो व्याख्या की है, वही सामान्यतया मान्य समझी जाती है। उसका कथन है कि क्षत्रियों तथा वैश्योंके गोत्र (वास्तवमें) उनके कुलगुरुओंके ही गोत्र होते हैं। कहा जाता है कि प्रागैतिहासिक कालमें पुरातन-पूजा सम्बन्धी धार्मिक कृत्य कराते समय पुरोहितके लिए अपने यजमानके गोत्रका उच्चारण करना आवश्यक होता था, तब वह उसके लिए भी अपना ही गोत्र कह देता था, क्योंकि क्षत्रियों तथा वैश्योंका अपना कोई निजी गोत्र नहीं होता था।[1] जो हो, क्षत्रियों एवं वैश्योंके भी अब निश्चित गोत्र हो गये हैं और हजारों वर्षोंसे ऐसे ही चले आ रहे हैं। प्रत्येक व्यक्तिका अपना गोत्र होता है, जिसे वह कुलके पुरोहितके बदल जाने या अन्य कारणसे भी बदल नहीं सकता। वह मानों एक तरहसे उसकी चमड़ीका अंग बन गया है। इन लोगोंमें भी समगोत्रका होना इस बातका सूचक होता है कि वे पुरुषपरम्परामें एक ही पूर्वपुरुषके वंशज हैं।

जिस गोत्रमें कोई व्यक्ति उत्पन्न होता है, उसे यदि वह बदलता है, या बदल सकता है तो इसके दो ही तरीके ज्ञात हैं। एक तरीका केवल पुरुषोंपर और दूसरा केवल स्त्रियोंपर लागू होता है। पुरुषोंमें गोत्रपरिवर्तन तभी होता है जब वह दूसरे परिवारमें गोद ले लिया जाता है। हिन्दुओंमें गोद लेना बहुत ही औपचारिक (जाब्तेकी) चीज होती है। उसकी सामाजिक स्थिति बदल जाती है, जिस परि-वारमें जन्म हुआ हो उससे पूर्ण सम्बन्धविच्छेद हो जाता है और उस व्यक्तिके परिवारमें ही वह घुल-मिल जाता है जो उसे गोद लेता है। वह बिलकुल उसी तरह होता है जिस तरह एक वृक्षकी कलम दूसरेमें लगा दी जाती है। यदि कोई आदमी अपना पुत्र अपने किसी भाईको गोद लेनेके लिए दे देता है, तो फिर गोद ले लिये जानेके बाद वह उस पुत्रका पिता नहीं रह जाता और उसका चाचा बन जाता है और विरासत तथा उत्तराधिकारके मामलेमें उसके साथ इसी दृष्टिसे व्यवहार किया जायगा। इसलिये गोद ले लिये जानेपर वह व्यक्ति जो इस तरह गोद लिये जानेके लिए दे दिया जाता है, अपने निजी गोत्रसे वंचित हो जाता है और सब कार्योंके लिए गोद लेनेवाले पिताका ही गोत्र प्राप्त कर लेता है।

इसी तरह स्त्रियोंके सम्बन्ध में है। विवाह हो जानेपर वे अपने पतिका गोत्र प्राप्त कर लेती हैं अपने पिताके गोत्रसे वंचित हो जाती हैं और यतः एक ही गोत्रवालोंमें परस्पर विवाह निषिद्ध माना जाता है, अतः विवाहके बाद स्त्रीका गोत्रपरिवर्तन अनिवार्य हो जाता है।

---

१. देखिये याज्ञवल्क्य स्मृतिपर विज्ञानेश्वर द्वारा लिखी गयी 'मिताक्षरा' नामक टीका। यह टीका लगभग एक हजार वर्ष पूर्व लिखी गयी थी और आजकल भारतके अधिकतर भागमें हिन्दू विधिकी एक प्रामाणिक व्याख्या मानी जाती है।

गोत्रोंकी आवश्यकता नित्य ही पड़ती है। सबेरे तथा शामको सन्ध्या करते समय प्रत्येक द्विज हिन्दूको अपने गोत्रका उच्चारण करना पड़ता है। ऐसे सब अवसरोंपर गोत्रोंका उच्चारण किया जाता है जब या तो पूर्वपुरुषोंका आवाहन किया जा रहा हो या वैवाहिक कृत्य सम्पन्न हो रहा हो। यह सत्य है कि आजकल किसी आदमीके नामके साथ उसका गोत्र जुड़ा नहीं रहता और न किसी विधिक प्रलेखमें ही, जो उसने लिखा हो या जो उसके पक्षमें लिखा गया हो, उसका वर्णन करते समय सामान्यतया उसका उल्लेख किया जाता है। किन्तु प्राचीन कालकी प्रथा आजसे भिन्न थी और व्यक्तियोंकी चर्चा तथा उनका निर्देश गोत्रोंके साथ ही किया जाता था। एक बहुत प्रसिद्ध उदाहरण मैं यहाँ देता हूँ। बुद्धधर्मके प्रवर्तक, गौतम बुद्धका उदाहरण लीजिये। वे क्षत्रिय राजकुमार थे। उनका नाम था सिद्धार्थ और उनके पिताका शुद्धोदन। वे क्षत्रियोंकी शाक्य शाखामें उत्पन्न हुये थे। गौतम उनका गोत्र था (जो आठ मूल गोत्रोंमेंसे एक है) और सारा संसार इन ढाई तीन हजार वर्षोंसे उन्हें गोत्रके नामसे ही गौतम बुद्धके रूपमें जानता रहा है। 'बुद्ध' का अर्थ होता है जिसे ज्ञान हो गया हो, इसीसे उनका नाम 'गौतम बुद्ध' पड़ा। प्राचीन ताम्रपत्रों तथा ताम्रलेखोंमें जिन-जिन व्यक्तियोंके नाम दिये रहते हैं; उन सबके साथ उनके गोत्रोंका उल्लेख भी बिना भूले-भटके अवश्य किया रहता है।

सारांश यह है कि हाईकोर्टमें नरहनका मुकदमा पेश होनेके पहले यह हिन्दू कानून जिस तरह समझा जाता था, वह यह था कि एक ही पूर्वपुरुषकी पुत्रपरम्परामें उत्पन्न होनेका दावा करनेवाले सभी व्यक्तियोंका एक ही गोत्र होना अनिवार्य था, जबतक कि किसी व्यक्तिविशेषके किसी अन्य गोत्रवाले परिवारमें गोद ले लिये जानेके कारण पितृसम्बन्धमें कोई व्याघात न पड़ गया हो। एक और सुप्रचलित नियम यह था कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी मृत्युपर्यन्त उसी परिवारका सदस्य माना जाता था जिसमें उसका जन्म होता था और यदि कोई ऐसा इंगित करता या कहता था कि मैं गोद ले लिये जानेके कारण अन्य परिवारका अंग बन गया हूँ तो उसके लिए समुचित साक्ष्यके द्वारा यह बात प्रमाणित करना आवश्यक था।

नरहनका मुकदमा हमें दो सौ वर्ष पूर्व ले जाता है जब सन् १७३९में नादिरशाह द्वारा दिल्लीकी लूट होनेके बाद मुगल साम्राज्य शीघ्रतापूर्वक छिन्न-भिन्न होने लगा था। परिश्रमशील साहसी व्यक्ति चारों तरफ उठ खड़े हो रहे थे और अपने लिए छोटा या बड़ा राज्य स्थापित करनेका प्रयत्न कर रहे थे। उन्हींमेंसे एक थे राजा बलवन्त सिंह। वे गौतम गोत्रके भूमिहार ब्राह्मण थे। वे एक छोटे जमींदार थे किन्तु बड़ी ही सूझबूझके, साहसी और उद्योगशील व्यक्ति थे। थोड़े ही समयके भीतर उन्होंने बनारस शहर, बनारस जिला तथा आसपासके क्षेत्रपर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया और मुगल सम्राट् तथा उनके वाइसराय—अवधके नवाब वजीर—ने उन्हें बनारसके राजाके रूपमें जाब्तेसे मान्यता दे दी और लगान या करके रूपमें नाममात्रकी रकम देते रहनेकी शर्तपर उनके अधीन समस्त क्षेत्र एक करद राज्य मान लिया गया। राजा बलवन्त सिंहकी एक पत्नी थी जो उन्हींकी जाति-बिरादरीकी ब्राह्मण महिला थी और जिससे उनके केवल एक कन्या थी। इस लड़कीका विवाह देवकीनन्दन सिंह नामक एक व्यक्तिसे हुआ था जो बिहार प्रान्तके मुजफ्फरपुर जिलेमें स्थित नरहन ग्रामके एक सम्मानित जमींदार परिवारका सदस्य था। (इसी नरहन जमींदारीसे उस मुकदमेका सम्बन्ध था जिसका वर्णन मैं यहाँ करने जा रहा हूँ)। राजा बलवन्त सिंहकी एक उपपत्नी भी थी, जो क्षत्रिय जातिकी स्त्री थी और जिससे उनके चेतसिंह नामक एक पुत्र था। अवश्य ही यह उनकी अवैध सन्तान थी, इसलिए अपने पिताकी रियासतपर इसका कोई विधिविहित अधिकार

न था। किन्तु राजा बलवन्त सिंहकी यह बड़ी इच्छा थी कि उनकी मृत्युके बाद उनका राज्य चेतसिंहको ही प्राप्त हो। सन् १७७२में उनका निधन हो गया और यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि अवधके मुगल वाईसरायको घूस देकर तथा वारन हैस्टिंग्जकी सहायतासे, जिसका उक्त वाइसरायपर विशेष प्रभाव था, चेतसिंह दिल्ली सम्राट् द्वारा अपने पिता बलवन्त सिंहका वैध उत्तराधिकरी मान लिया गया और वह बनारसका राजा बन गया। राजा चेतसिंह १२ वर्षसे भी अधिक समयतक बनारसके राजा बने रहे। सन् १७७३में अवधके नवाब वजीर द्वारा बहुत-सा इलाका, जिसमें बनारस राज्य भी शामिल था, ईस्ट इण्डिया कम्पनीको अर्पित कर दिया गया और इस प्रकार बनारसके राजाका ईस्ट इण्डिया कम्पनी तथा उसके गवर्नर-जनरल, वारन हेस्टिंग्जसे सीधा सम्बन्ध स्थापित हो गया। चेतसिंहके प्रति किये गये वारन हेस्टिंग्जके व्यवहारकी कहानी उन लोगोंको अच्छी तरह ज्ञात ही है जो भारतमें स्थित उक्त ब्रिटिश प्रान्ताधिकारीके कार्यों या काले कारनाभोंसे परिचित हैं। बादमें जब सरदार सभामें इंग्लैण्डकी कामन्स सभा द्वारा वारन हेस्टिंग्जपर मुकदमा चलाया गया, तब उसमें चेतसिंहके नामकी चर्चा कई बार आयी। मेरे लिए विस्तारके साथ यह बतलाना अनावश्यक है कि किस तरह वारन हेस्टिंग्जने उनपर अत्याचार करनेकी चेष्टा की जिससे उन्हें विद्रोह करनेके लिए बाध्य होना पड़ा। इस सम्बन्धमें मेकालेकी रचनासे निम्नलिखित अवतरण दे देना बेहतर होगा[1]—

चेतसिंहकी पराजय एवं पलायनके बाद बनारसका राज्य वारन हेस्टिंग्जकी दयापर रह गया। वह चाहता तो उसे सीधे ईस्ट इण्डिया कम्पनीके नियन्त्रण और प्रबन्धमें रख दे सकता था किन्तु, जैसा कि उसने स्वयं अपने एक खरीतेमें स्वीकार किया था, यह एक बड़ी अप्रिय-सी कारवाई होती और इसके परिणामस्वरूप और भी अधिक अवांछनीय घटनाएँ घटित हो सकती थीं। इसलिए उसने खुद अपने अधिकारसे, बिना अपनी कौंसिलकी अनुमति या स्वीकृतिके (छ हजार मील दूर लन्दनमें स्थित ईस्ट इण्डिया कम्पनीके संचालकोंकी तो बात ही छोड़िये) उसे पुनः राजा बलवन्तसिंहके वैध उत्तराधिकारियोंको लौटा देनेका निश्चय किया। उसने हिन्दू विधि (कानून) जाननेवाले ब्राह्मणोंसे सलाह ली। उन्होंने बतलाया कि उनके सबसे निकटकी उत्तराधिकारिणी उनकी अर्थात् बलवन्त सिंहकी विधवा पत्नी ही है। उसके बाद उनकी पुत्री और तब नातीका नम्बर आता है। दोनों ही महिलाएँ लड़कीके पुत्रके पक्षमें अपना अधिकार छोड़ देनेके लिए राजी और समुद्यत हो गयीं। लड़कीके दो लड़के थे जिनमें बड़े का नाम था महीपनारायणसिंह। इसलिए एक बड़े खुले दरबारमें धूमधामकी तैयारीके साथ इस बातकी घोषणा कर दी गयी कि बनारसका पूरा राज्य अब महीपनारायणके अधिकारमें आ गया है। नियमित रूपसे उनका अभिषेक कर दिया गया और सार्वभौम सत्ता द्वारा काशी-नरेशके रूपमें उन्हें मान्यता दे दी गयी। वर्त्तमान काशीनरेश श्री विभूतिनारायण सिंह स्वर्गीय महाराज श्री आदित्यनारायण सिंहके दत्तक पुत्र हैं। ये आदित्यनारायण उन्हीं महीपनारायणके पुरुष-परम्पराके अनुसार, सीधे वंशज हैं।[2]

---

१. वारन हेस्टिंग्जपर लिखित लेख देखो (या अन्य कोई इतिहासकी पुस्तक)।

२. इस प्रकार बनारस राज्यका अस्तित्व पूर्ण रूपसे वारन हेस्टिंग्जकी कूटनीतिक उदारताका ही परिणाम है। वारन हेस्टिंग्जके समयसे उसके इतिहासमें काफी रद्दोबदल हुआ है। उसका बहुत-सा भाग छीन लिया गया और बनारसका शहर अंग्रेजोंने शुरूसे ही अपने अधिकारमें रख लिया था, जिसे उन्होंने महीपनारायणको कभी नहीं लौटाया। राजाकी स्थिति बड़ी अनियमित-सी थी और सन् १९१६ में जाकर कहीं उन्हें ब्रिटिश सरकारने नियमानुकूल विलेख द्वारा भारतीय राज्यके शासकका पद प्रदान किया।

जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ, महीपनारायण सिंह एक जमींदार परिवारके नवयुवक थे जो नरहन, बिहार,में रहते थे। उनके पिता कई भाई थे और उन्हें अपने खुदके अधिकारसे एक छोटा हिस्सा पानेका हक था। उनकी मृत्युके बाद उनके दो लड़के थे। बड़े लड़के, महीपनारायण (बनारसके राजा) ने कभी अपने पिताकी जायदादके लिए दावा नहीं किया और वह सारी की-सारी जायदाद उनके छोटे भाई तथा उनके भतीजेके हाथमें (क्रमानुसार) चली गयी और उन लोगोंकी मृत्युके बाद उनके चचेरे भाइयों तथा उनके परिवारमें हस्तान्तरित हो गयी। १२५ वर्षोंतक बनारसके किसी भी राजाका, याने महीपनारायणके किसी वंशजका, नरहन-स्थित अपनी पुरानी पैतृक भू-सम्पत्तिके किसी भी हिस्सेसे कोई सम्बन्ध नहीं रह गया था।

सन् १९२० तक नरहनकी स्थिति नीचे लिखे वंश वृक्षसे संक्षेपमें दिखलायी जा सकती है—
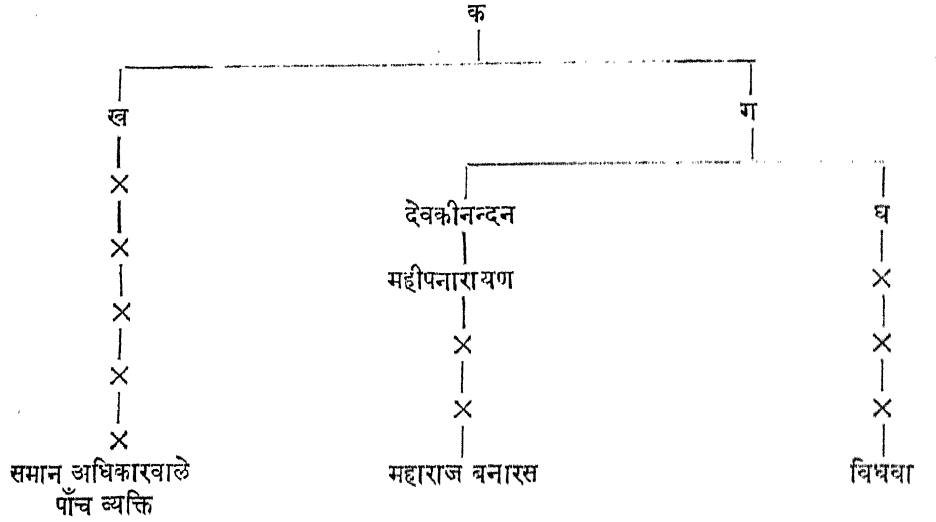
ऊपरके वंशवृक्षसे स्पष्ट हो गया होगा कि समूची नरहन जमींदारी देवकीनन्दन (महीपनारायणके पिता) के एक भाईके वंशजोंके हाथमें चली गयी थी और सन् १९२० तक उक्त भाईका भी वंश समाप्त हो गया था और परिवारमें अन्तिम उत्तराधिकारीकी केवल एक विधवा और बाकी रह गयी थी। उसकी मृत्युके बाद जायदाद सबसे निकटके वंशजके हाथमें चली जानेवाली थी और वह निकटतम वंशज, वंशोत्पत्तिके अनुसार, निस्सन्देह महाराज बनारस ही थे। इस प्रकार वे निर्विवाद रूपसे नरहन जमींदारीके सबसे निकटके उत्तराधिकारी थे और उन्होंने उसे पानेका दावा किया। सन् १७७५ में उसकी जो कीमत और आमदनी रही हो, सम्भवतः वह बहुत कम ही थी, पर पिछले डेढ़ सौ वर्षोंके भीतर अवश्य ही उसका मूल्य बहुत बढ़ गया था—लगान तथा मुनाफेके रूपमें उसकी विशुद्ध वार्षिक आय तीन लाख रुपये तथा कीमत ८० लाख रुपये या इससे भी अधिक हो गयी थी।

वह इतनी बहुमूल्य वस्तु बन गयी थी कि अब वह महाराज बनारसको भी लुभानेके लिए काफी थी।

किन्तु उनके दावेका विरोध उनके दूरके चचेरे भाइयोंने किया जो देवकीनन्दनके एक चाचाके वंशज थे। उन्होंने इस बातपर जोर दिया कि बनारसके वर्त्तमान (तत्कालीन) महाराज हमारे परिवारके सदस्य नहीं रह गये हैं। वे दूसरे गोत्रके—राजा बलवन्त सिंहके गोत्रके—हो गये हैं, वे

राजा बलवन्त सिंहके ही पूर्वजोंका श्राद्ध करते हैं और कानूनकी दृष्टिसे नरहन-परिवारसे उनका कोई सम्बन्ध नहीं रह गया है तथा नरहनकी जमींदारी उत्तराधिकारमें पानेका उन्हें कोई हक नहीं है। इस प्रकार गोत्रका प्रश्न बड़ा महत्त्वपूर्ण हो गया। यह एक जानी हुई बात थी कि राजा बलवन्त सिंहका गोत्र गौतम था, जब कि नरहन-परिवारका गोत्र, जिसमें उनकी लड़की व्याही गयी थी, वात्स्य था। वस्तुतः इसमें दो प्रश्न खड़े हो गये। बनारसके महाराजका गोत्र क्या था? यदि वह वात्स्य गोत्र अर्थात् उनके मूल परिवारका गोत्र नहीं था, तो क्या वह कानूनकी दृष्टिसे बदला जा सकता था? दूसरे शब्दोंमें, क्या यह गोत्र-परिवर्तन वैध था और कानूनकी दृष्टिसे प्रभावी माना जा सकता था?

सन् १९२६ में विधवाकी मृत्यु हो गयी और मामला शीघ्र ही तूल पकड़ गया। जमींदारी कोर्ट ऑफ् वार्ड्जके कब्जे तथा निगरानीमें थी। उसकी मृत्युके बाद दो सप्ताहके भीतर ही महाराज बनारसने प्रतिद्वन्द्वी दावेदारोंके विरुद्ध अपना अधिकार घोषित करानेके लिए मुकदमा दायर कर दिया। नरहनकी सारी जमींदारी बिहार प्रान्तमें अवस्थित थी, जो न्यायिक दृष्टिसे पटना हाईकोर्टके अधिकारक्षेत्रमें पड़ता था और इस तरहकी नालिश सामान्यतया बिहारके ही उपयुक्त जिलेके न्यायालयमें की जानी चाहिये थी। किन्तु प्रतिवादी बहुत सम्पन्न नहीं थे और कहावत मशहूर है कि 'प्रेममें तथा युद्धमें हर चीज उचित मानी जा सकती है,' इसलिए महाराजने काररवाईके लिए अपना ही स्थान चुना—बनारससे लगा हुआ मीरजापुरका जिला। मीरजापुरकी अदालतको यह फरियाद स्वीकार करने और उसपर विचार करनेका न्यायिक अधिकार था, क्योंकि दिवंगत विधवाने मीरजापुर जिलेके विन्ध्याचल नामक तीर्थस्थानमें लगभग आधी एकड़ जमीन इस उद्देश्यसे खरीद ली थी कि जब कभी वह विन्ध्यवासिनी देवीके दर्शनोंके लिए वहाँ जाय तो उस भूमिपर उसके तम्बू खड़े किये जा सकें। प्रतिवादियोंने मुकदमेका स्थान बदलवानेकी चेष्टा की किन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली। महाराज तथा उनके कानूनी सलाहकारोंके लिए मीरजापुर बहुत ही सुविधाजनक और उसी हदतक वह प्रतिवादियोंके लिए असुविधाजनक था, किन्तु अदालती खेलके नियमोंके अनुसार वादीके सुभीतेका अधिक ख्याल रखा जाता है।

वादी महाराजका मामला सीधा-सादा, बिना उलझनका था। दावा सम्बन्धी उनके वक्तव्यमें वंशोत्पत्ति दिखलानेके बाद यह दलील दी गयी थी कि वंशपरम्पराकी दृष्टिसे वही सबसे नजदीकी हैं और इसीके आधारपर उन्होंने जायदाद पानेका अपना हक अभिव्यक्त किया था।

इसके जवाबमें प्रतिवादियोंने जो लिखित बयान दिया, वह सचमुच ही बहुत होशियारीसे तैयार की गयी दलील थी जो मुझे अपने समस्त वकीली जीवनमें कभी देखनेको मिली हो। मुझे बताया गया था कि उसे कलकत्तेके किसी विधिज्ञने तैयार किया था। वह एक महत्त्वपूर्ण रचना थी। उसमें वादीके दावेका विरोध करते हुए कहा गया था कि महाराज अब नरहन-परिवारके सदस्य नहीं रह गये हैं और उसमें उनका कोई उत्तराधिकार नहीं है, उनका गोत्र नरहन परिवारका गोत्र अर्थात् वात्स्य गोत्र नहीं रह गया है और अब वे गौतम गोत्रके हो गये हैं तथा अपनेको हर तरहसे राजा बलवन्त सिंहके परिवारका सदस्य मानते हैं; जिनकी विस्तृत जमींदारी उन्हें उत्तराधिकारमें मिली थी और जिनका श्राद्ध वे किया करते हैं। वकीलने तारीफके लायक काम यह किया था कि उसने यह बात कि गोत्रमें परिवर्तन किस तरह किया गया था, गोल मटोल रहने दी थी। उसने तथ्यके रूपमें इसपर जोर दिया—कैसे यह घटना घटित हुई इसकी छानबीन करनेकी परवाह उसने नहीं की—और उन परिणामोंपर उसने भरोसा किया जो गोत्रपरिवर्तनके बाद असंदिग्ध रूपसे निकलते हैं।

सर तेजबहादुर सप्रू जिला अदालतमें महाराजके वकील थे और प्रतिवादियोंकी ओरसे कुमारी कारनेलिया सोराबजी बार-ऐट-लॉ पैरवी कर रही थीं।[१] मुकदमेमें दोमेंसे किसी भी पक्ष द्वारा मौखिक साक्ष्य प्रस्तुत नहीं किया गया। किन्तु कतिपय प्रश्नोंके उत्तरमें प्रतिवादियोंने महाराज बनारससे कुछ महत्त्वपूर्ण बातें कबुलवा लीं। उन्होंने यह स्वीकार किया था कि नित्यकी सन्ध्या और पूजा-पाठमें तथा श्राद्धके तथा अन्य धार्मिक अवसरोंपर जब प्रायः गोत्रका उच्चारण किया जाता था, वे गौतम गोत्रका ही उच्चारण किया करते थे किन्तु इसके साथ ही उन्होंने यह बात भी कही कि मेरा वास्तविक गोत्र वात्स्य गोत्र है और गोत्रोच्चारणमें परिवर्तन हमारे एक पूर्वजने 'किसी नीतिके कारण' किया था, जिसकी हमें कोई जानकारी नहीं है। राजा बलवन्त सिंहका श्राद्ध करनेकी बात उन्होंने अस्वीकार कर दी। उनके वकीलने अदालतको पहले यह सूचना दे दी कि खुद अपनी ओरसे गवाही देते हुए महाराजका सम्परीक्षण किया जायगा किन्तु बादमें, जब इस सम्परीक्षणके लिए स्थान और तिथि निर्धारित कर दी गयी तब, यह कहा गया कि वे खुद साक्ष्य न देंगे, क्योंकि उन्हें सलाह दी गयी थी कि उनके लिए ऐसा करना अनावश्यक है। बादमें हम देखेंगे कि महाराजके ये जवाब तथा साक्ष्य देनेके लिए स्वयं उपस्थित होनेसे इनकार कर देना उनके मुकदमेके लिए कितना घातक प्रमाणित हुआ।

विचारक न्यायाधीशने महाराजके पक्षमें फैसला दिया। वह एक विशद प्रलेख था किन्तु मुख्य बात बहुत थोड़ेमें कह दी गयी थी। उनकी राय थी कि गोदमें लिये जानेपर ही गोत्रमें परिवर्तन किया जा सकता था और यह प्रतिवादियोंका काम है कि वे साफ-साफ बतायें कि गोद लेनेका कार्य सम्पन्न हुआ था या नहीं और यदि हुआ था तो उसका प्रमाण उपस्थित करें। इस तरह गोद लिये जानेकी कोई बात कही नहीं गयी थी और सभी ऐतिहासिक साक्ष्य तथा राज्यके कागजपत्रोंसे यह निश्चित रूपसे प्रमाणित हो जाता था कि महीपनारायण सिंह जो वारन हेस्टिंग्ज द्वारा बनारसके राजा घोषित गये और मान लिये गये थे, उसका कारण यह नहीं था कि वे राजा बलवन्त सिंह द्वारा गोदमें लिये गये थे बल्कि यह कि वे उनके दत्तक पुत्र थे। विद्वान जजकी राय थी कि गोद लेना कई कारणोंसे अवैध होता। इसलिए सन्ध्या आदिके समय गोत्रके उच्चारणमें परिवर्तन हो जाना बिलकुल बेमतलब है और कानूनकी दृष्टिसे उसका कोई महत्त्व नहीं।

प्रतिवादियोंमेंसे तीनने मुझसे इलाहाबाद हाईकोर्टमें अपील दायर करनेको कहा। ये तीनों सगे भाई थे और मुकदमा लड़ रहे थे, जब कि उनके दूरके दो चचेरे भाइयोंने जिन्हें भी इस मुकदमेके परिणाममें दिलचस्पी थी, महाराजके साथ आपसी समझौता कर लिया था और अब उधर विशेष ध्यान नहीं दे रहे थे। वे महज ऐसे तमाशबीन थे जो दूसरोंके परिश्रमसे लाभ उठानेको तैयार थे। मैंने विचारक न्यायालयका फैसला पढ़ा और मैं स्वीकार करता हूँ कि मुझे मुकदमें कोई दम नहीं मालूम हुआ। मैंने मुवक्किलोंसे भी यह बात कह दी। मैंने उनसे पूछा कि 'आप लोगोंने भी महाराजके साथ समझौता क्यों नहीं कर लिया?' और इसका जो जवाब मुझे मिला वह अपने ढंगका निराला था। तीन भाइयोंमेंसे एक, जो वृद्ध था, मुझे मामलेके सम्बन्धमें हिदायत दिया करता था। उसने कहा, 'हम तीनों अब बूढ़े हुए और हम लोगोंके बीचमें केवल एक ही लड़का है। हमें अब अधिक दिनोंतक तो जीना नहीं है और हमने निश्चय कर लिया है कि हम या तो अपना पूरा हक लेंगे या कुछ भी न लेंगे। या तो हम अपने लड़केको राजा बनायेंगे, या फिर हम जैसे हैं वैसे ही

१. यह पहला ही मामला था जिसमें कोई महिला विधिज्ञ संयुक्तप्रान्तकी किसी अदालतमें किसी मुकदमेकी पैरवी करनेके लिए खड़ी हुई हो। सन् १९२८ के बादसे संयुक्तप्रदेशमें तीन महिला विधिज्ञ हुई हैं—कुमारी श्यामकुमारी नेहरू, कुमारी क्लार्क और बेगम फारूकी।

रहेंगे। हमें उन थोड़ी-सी रियायतों और धनकी परवाह नहीं है जो महाराज हमें देना चाहते हैं।' इसलिए इसमें और कुछ कहनेकी गुञ्जाइश नहीं थी और पुनर्न्यायप्रार्थना प्रस्तुत कर दी गयी। उस समय मुझे नहीं मालूम था कि मेरे मित्र कानपुरके बच्ची सिंहकी तरह आखिर इन लोगोंकी भी किस्मत चमकने जा रही थी।

भारतीय उच्च न्यायालयोंमें हमेशा आदमियोंकी कमी रहती है और काम ज्यादा रहता है, इसीसे बराबर चलते रहनेवाले मुकदमोंकी फाइलोंके ढेर लगते जाते हैं। इसलिए मुकदमोंके समाप्त होनेमें कभी-कभी बहुत अधिक विलम्ब लग जाता है जिसपर अनेक बार प्रिवी काउन्सिलको टीका-टिप्पणी करनी पड़ी है।

इस अपीलकी सुनवाई शुरू होनेमें चार वर्षसे भी अधिक समय लग गया। महाराजकी ओर-से खड़े हुए सर तेजबहादुर तो सचमुच चाहते थे कि सुनवाई जल्दसे जल्द शुरू हो जाय किन्तु अपील करनेवालोंकी आर्थिक स्थिति इतनी चिन्ताजनक थी कि विलम्बका एक तरहसे उन्होंने स्वागत ही किया, क्योंकि इससे उन्हें अपीलका खर्चा अपनी सुविधाके अनुसार जुटानेका मौका मिल गया और जैसा कि वास्तवमें हुआ, सुनवाईमें देर लगनेसे ही उनकी मुक्तिका द्वार खुल गया, वही उनके लिए विजय दिखलानेवाली कृपाण साबित हुई। आखिरकार, ९ मई, १९३२ की तारीख अपील सुननेके लिए निर्धारित कर दी गयी।

मामलेके लिए बहुत-सी ऐतिहासिक सामग्रीका सूक्ष्म अध्ययन आवश्यक था किन्तु जितना ही मैं वादसंक्षेप तैयार करनेके लिए परिश्रम करता था, उतना ही कम आशाजनक वह मुझे मालूम पड़ता था। किन्तु ठीक एक सप्ताह पहले मामलेका रंग ही एकाएक बदल गया। उस दिन—मुझे कितनी अच्छी तरह उसकी याद है—मुझे लन्दनसे इलाहाबाद लॉ जर्नलमें प्रकाशित करनेके लिए प्रिवी काउंसिलके बिलकुल हालमें किये गये फैसलोंकी अग्रिम प्रतिलिपि प्राप्त हुई जो मेरे लन्दन स्थित कानूनी संवाददाताने नियमानुसार डाक द्वारा भेजी थी। मैं जिज्ञासा भावसे यों ही उसे देख रहा था कि एकाएक मेरी नजर उस निर्णयपर पड़ी जो बीते हुए मार्च महीनेमें किया गया था और जो प्रत्यक्ष रूपसे नरहनके मामलेमें भी अपीलांटोंके अनुकूल लागू होता था और जो मुझे मुरदेमें जान फूँक देनेवाला जैसा प्रतीत हुआ। यह एक प्रारम्भिक फैसला था जिसमें एक विशिष्ट प्रश्नपर विचार करनेके लिए गंगवालका मामला लखनऊ-स्थित अवध चीफ कोर्टके पास वापस भेजनेकी बात थी। गंगवाल मुकदमेमें भी एक विधवाकी मृत्युके बाद जमींदारीके लिए दूरके एक सपिंडने दावा किया था, जिसकी वंशोत्पत्तिके सम्बन्धमें झगड़ा खड़ा हो गया था। वंशोत्पत्ति उसने प्रमाणित कर दी किन्तु इसके बाद गोत्रोंके सम्बन्धमें कुछ मतभेद उत्पन्न हो गया। चीफ कोर्टने, नरहनके मुकदमेपर विचार करनेवाले न्यायाधीशकी ही तरह, इस मतभेदको महत्त्वहीन ठहराया था किन्तु प्रिवी काउंसिलकी न्यायसमितिने राय दी कि वादीका कर्त्तव्य था कि वह केवल अपना रक्तसम्बन्ध अर्थात् वंशोत्पत्ति ही प्रमाणित न करे वरन् अपनी समगोत्रता भी दिखलावे। उक्त समितिके विचारसे गोत्र सम्बन्धी विशिष्ट प्रश्नपर विचार होते समय समगोत्रताका प्रश्न पर्याप्त स्पष्टतासे नहीं उठाया गया। लार्ड महोदयों द्वारा प्रकट किये गये मतका सारांश देनेके बजाय बेहतर होगा कि मैं उसका आवश्यक अवतरण ही यहाँ दे दूँ (क्योंकि नरहनका सारा मामला उसीपर अवलम्बित था)—

न्यायसमितिका अभिनिर्णय सुनाते हुए लार्ड थैंकरटनने कहा था, 'अपनेको गोत्र सपिण्ड साबित करनेके लिए वादीको दो बातें सन्तोषजनक रूपसे दिखलानी चाहिये—(क) एक तो यह कि वह उसी गोत्रका अर्थात् एक ही पूर्वपितामहकी सन्तान है, और (ख) दूसरे यह कि वह मृत व्यक्तिका

सपिण्ड है अर्थात् समान पूर्वपुरुष द्वारा रक्तसम्बन्धसे जुड़ा हुआ है, यह सम्बन्ध पुरुषपरम्परासे ही होना चाहिये। वादीने अपनी वंशोत्पत्ति प्रमाणित कर दी है। इसलिए दोमेंसे एक शर्त्त तो उसने पूरी कर दी अर्थात् यह कि वह मृतात्माका सपिण्ड है किन्तु उसे अभी दूसरी बात भी साबित करनी है अर्थात् यह दिखलाना है कि वह उसी पूर्वपुरुषकी सन्तान है, सगोत्र है। यदि इस बातपर दूसरे पक्ष द्वारा कोई आपत्ति न की जाय तो हो सकता है कि वादीका यह साबित कर देना ही कि वह मृतात्माका सपिण्ड है, इस बातका द्योतक मान लिया जाय कि वह गोत्रज भी है। किन्तु यदि इस सम्बन्धमें प्रतिवादी द्वारा कोई आपत्ति पेश कर दी जाती है तो फिर वादीका यह काम है कि वह अदालतको इस बातकी तसल्ली दिला दे कि यह दूसरी शर्त्त भी उसने पूरी कर दी है, तभी वह उत्तराधिकारके लिए किये गये अपने दावेमें सफल हो सकता है।' और इसके आगे 'गोत्रमें अन्तर पड़नेका कारण यही हो सकता है कि दोनों पक्षके सामान्य पूर्वपुरुषके बाद वादी या उसका कोई पैतृक पूर्वपुरुष अन्य गोत्रके परिवारमें गोद ले लिया गया था[१]।'

अपील यथासमय दो न्यायाधीशोंकी बेंच (न्यायाधीश वर्ग)के सामने विचारार्थ रखी गयी। मुझे अच्छी तरह स्मरण है कि न्यायाधीशोंके मंचपर एक तीसरे महाशय भी बैठे हुए थे। यह एक अंग्रेज सैनिक अधिकारी था—जो सम्भवतः दोमेंसे किसी एक जजका अपना निजी मित्र था—और शायद सेनामें जज या एडवोकेट बननेकी तैयारी कर रहा था। वह सारा मामला बहुत ही सावधानीसे समझनेका प्रयत्न कर रहा था और नौ दिनोंतक समस्त दलीलोंको अत्यन्त ध्यानपूर्वक सुनता रहा। इस मुकदमेके सम्बन्धमें अन्तमें उसने क्या राय कायम की, मैं कह नहीं सकता।

मैंने जब अपीलपर बोलना आरम्भ किया और अपना तर्क सामने रखा, विशेषकर वह जिसमें इस बातपर जोर दिया गया था कि दावेदारको इस बातका प्रमाण उपस्थित करना चाहिये कि जायदादके अन्तिम पुरुष अधिकारीका और उसका गोत्र समान ही है, तब न्यायाधीशगण मेरे कथनकी तरफ उदासीन-से थे और वे उससे किञ्चित् भी प्रभावित होते-से नहीं जान पड़ते थे। मैंने प्रारम्भिक बहस-मुबाहिसोंमें और अधिक समय बर्बाद नहीं किया और तुरन्त ही उनके सामने लार्ड थैंकरटनका अभिनिर्णय उपस्थित कर दिया। इसपर वे स्पष्टरूपसे आश्चर्यचकित रह गये। उन्हें यह एक बिलकुल नयी चीज-सी मालूम हुई। वह अभीतक किसी भी कानून सम्बन्धी रिपोर्ट या समाचारमें प्रकाशित नहीं हुई थी और उन्होंने उसे नहीं देखा था। अभिनिर्णय बार-बार पढ़ा गया और उसके एक-एक अंशपर अच्छी तरह बहस की गयी। उनमेंसे एक न्यायाधीशका यह विचार प्रतीत होता था—उस स्थितिमें इधर या उधर कोई निश्चित राय कायम कर सकना बहुत जल्दबाजीका काम होता—कि इस फैसलेका बहुत महत्त्वपूर्ण लगाव उस मामलेसे है जो उनके सामने विचारार्थ उपस्थित था; किन्तु उनके बन्धुको इसमें अधिक सन्देह मालूम होता था। जो हो, इसका इतना प्रभाव तो पड़ा ही कि न्यायाधीशगण मेरी बात ध्यानसे सुनने लगे और वे यह समझने लगे कि मामलेमें कुछ कठिन और दुरूह बातें विद्यमान हैं और उसपर गम्भीरतापूर्वक विचार करना आवश्यक है। यदि अपनी बहस आरम्भ करनेके पहले कोई वकील न्यायाधीशके मनपर ऐसा प्रभाव डालनेमें सफल हो जाता है तो कहना चाहिये कि खेलकी पहली दौड़ उसने जीत ली।

महाराजने जो बातें स्वीकार कर ली थीं, उनसे मैंने बड़ा लाभ उठाया और इस बातसे भी कि उन्होंने साक्ष्य देनेसे इनकार कर दिया था। मैंने जोर देकर कहा कि महाराज एक परम श्रद्धालु

---

१. देखो, दुलहिन जदुनाथ कुँअर बनाम विशेशरबख्श सिंह (१९३२) ३० इलाहा० लॉ जर्नल ६३२, पृ० ६३९–६४०।

हिन्दू हैं और बनारसके सनातनी हिन्दुओंके नेता हैं, उस बनारसके जो खुद प्राचीन हिन्दू धर्मका गढ़ है, अतः यह बात कभी विचारमें भी नहीं लायी जा सकती कि जब वे ईश्वरका ध्यान या उपासना करें और जब पवित्र अवसरोंपर अपने पूर्वजोंका आवाहन करें, तब झूठ बोलकर—एक झूठ गोत्रका उच्चारणकर—अपने कृत्यका प्रारम्भ करें। मैंने आग्रह किया कि यह सुझाव हास्यास्पद तथा बेहूदा है कि एक विशिष्ट नीतिके कारण गोत्रका उच्चारण करनेमें परिवर्तन कर दिया गया। धार्मिक तथा आध्यात्मिक मामलोंमें 'विशिष्ट नीति' की बात चल नहीं सकती। और कोई भी धर्मभीरु हिन्दू इस तरह अपने पूर्वजोंके साथ छल करनेकी बात स्वप्नमें भी नहीं सोच सकता, भले ही वह सांसारिक मामलोंमें अपने भाइयोंको धोखा देनेके लिए तैयार हो जाय और इस प्रलोभनमें फँस जाय। महाराज एक सम्भ्रान्त तथा सत्यवादी महानुभाव हैं और उन्होंने साक्षीके रूपमें बयान देने और झूठ बात कहनेसे अन्तिम क्षणमें इनकार कर दिया। उचित रूपसे नियुक्त कानूनी प्रतिनिधिके हस्ताक्षरसे कोई वक्तव्य दाखिल करा देना एक बात है और खुली अदालतमें व्यक्तिगत रूपसे शपथ ग्रहणकर निष्ठा-पूर्वक वक्तव्य देना बिलकुल दूसरी चीज है। इसलिए मैं इस नतीजेपर पहुँचता हूँ कि गोत्रपरिवर्तनका वास्तविक कारण यह तथ्य है (जिसका ज्ञान महाराजको भी था) कि महीपनारायण किसी समय राजा बलवन्त सिंहके दत्तक पुत्रके रूपमें गोद ले लिये गये थे, या तो खुद राजा साहबके जीवनकालमें या उनकी मृत्युके बाद उनकी विधवा पत्नी द्वारा।

महाराजकी ओरसे सर तेजबहादुर सप्रूने इस बातपर जोर दिया कि विधिसंगत तरीकेसे किसी-के गोद ले लिये जानेपर ही किसीका गोत्र बदल सकता है, अन्य किसी तरहसे नहीं और भूलसे या किसी नीतिसे गलत गोत्रका उच्चारण, गोद ले लिये जानेकी क्रियाके अभावमें, कानूनकी दृष्टिसे कोई महत्त्व नहीं रखता और उन्होंने आग्रह किया कि महीपनारायणके गोद लिये जानेकी बात सत्य रही हो, इसकी कोई भी सम्भावना नहीं। समूचे ऐतिहासिक साक्ष्यसे इस प्रकारके किसी भी सुझावका पूर्णतः खण्डन हो जाता है। गोद लेनेकी कभी कोई कानाफूसी भी हुई हो, ऐसा नहीं प्रतीत होता। स्वयं बलवन्त सिंह द्वारा गोद लिये जानेका प्रश्न ही नहीं उठ सकता। यदि गोद लेनेका काम सम्पन्न हुआ होता तो दत्तक पुत्र ही उनका उत्तराधिकारी बना होता और कमसे कम वारन हेस्टिंग्जने बल-वन्त सिंहका दत्तक पुत्र कहकर महीपनारायणका निर्देश किया होता। गद्दीपर बैठा दिये जानेके बाद बलवन्त सिंहकी विधवा पत्नी द्वारा भी महीपनारायणका गोद लिया जाना उसी तरह असम्भाव्य है। इसका कोई प्रेरक उद्देश्य नहीं हो सकता था और फिर इसमें कानूनी कठिनाइयाँ भी थीं—लड़कीका पुत्र गोद नहीं लिया जा सकता जबतक कि परिवारमें या जाति-कबीलेमें इस तरह गोद लेनेकी स्वीकृति देनेवाला खास रिवाज प्रचलित न हो।[१] फिर महीपनारायणकी उम्र काफी अधिक हो गयी थी और इतनी उम्रमें कोई गोद नहीं लिया जाता। बलवन्त सिंहकी विधवा पत्नी भी अपने पतिके

१. हिन्दू विधिका आधारभूत नियम यह है कि जहाँतक सम्भव हो जिस व्यक्तिको गोद लेना हो, वह 'लड़केका प्रतिबिम्ब' हो और इन शब्दोंका यह अर्थ लगाया गया है कि वह ऐसी स्त्रीसे उत्पन्न हुआ हो जिसका विवाह, यदि वह अभी कुमारी होती तो, लड़का गोद लेनेवाले पिता-के साथ विधि-संगत रूपसे किया जा सकता था। यतः किसी व्यक्तिका विवाह उसकी अपनी ही लड़की, बहिन, या मौसीके साथ सम्भव नहीं, अतः उनके लड़के गोद नहीं लिये जा सकते, जबतक कि ऐसा करनेका रिवाज प्रचलित न हो। हिन्दुओंमें रूढ़ियाँ परम्परा कानूनको मात देनेवाली मानी जाती हैं (शास्त्रात् रूढिर्बलीयसी); और यदि कोई रूढ़ि प्रचलित हो गयी हो तो कानूनकी स्पष्ट शब्दावलीसे उसका अधिक महत्त्व माना जाता है।

दत्तक पुत्रके रूपमें किसीको गोद नहीं ले सकती थी, जबतक कि पतिने स्पष्ट रूपसे ऐसा करनेका अधिकार उसे न दे दिया हो और प्रतिवादियोंने यह कभी नहीं कहा कि उसे ऐसा कोई अधिकार पतिसे प्राप्त था। इस प्रकार अपनी बहुत ही प्रबल और विशद तर्कावली समाप्त करते हुए सर तेजबहादुर सप्रूने कहा कि प्रतिवादियोंने अपनी सफाईमें वस्तुतः ऐसी कोई दलील नहीं दी जिसका जवाब देना मेरे लिए आवश्यक हो। फिर भी कानूनी बहसमें जो त्रुटियाँ थीं, वह स्पष्ट ही थीं। उन्होंने यह बात मान ली थी कि ब्रिटिश न्यायाधीशोंके एक शताब्दीव्याप्त निर्णयोंके बाद, सन् १९३२ में कानूनका जो अर्थ किया जाता था, उसमें तथा कानूनके उस रूपमें कोई अन्तर न था जिस रूपमें वह डेढ़ सौ वर्ष पूर्व सन् १७८० में लोगों द्वारा समझा तथा प्रयुक्त किया जाता था। इसका कोई पक्का निश्चय न था। इस समय जो बात न्यायिक अभिनिर्णयों द्वारा अमान्य ठहरा दी गयी है, बहुत सम्भव है कि वही उस समय प्रचलित रही हो। बहसका सिलसिला दो सप्ताहतक चलता रहा और इसके समाप्त होनेपर यह बात सबको साफ मालूम पड़ने लगी कि न्यायाधीशोंमें तीव्र मतभेद उत्पन्न हो गया है। न्याय मंचपर उनका परस्पर बातचीत करना प्रायः बन्द हो गया था और जैसा कि कभी-कभी उस समय होता है जब मतभेद गहरा हो जाता है, वे वकीलके जरिये ही एक दूसरेसे बातचीत किया करते थे। स्वभावतः अभिनिर्णय कुछ समयके लिए सुरक्षित रखा गया। जब मैं न्यायालयसे निकलकर बाहर आया तो मेरा खयाल हुआ कि मुकदमेमें हार होगी,[1] और मेरे मुवक्किलके लिए यह सम्भव न होगा कि वह फिर हाईकोर्टमें या प्रिवी काउंसिलमें अपील करने या पुनः सुनवाई करानेका व्यय सहन कर सके।

फैसला एक महीने बाद सुनाया गया और मुझे यह देखकर बड़ा आश्चर्य और प्रसन्नता हुई कि वह उभयसम्मत और मेरे अनुकूल था। महाराजकी फरियाद रद्द कर दी गयी। बहुत दिनोंके बाद मैंने उन दोनोंमेसे एक जजसे बातचीत की—जिस न्यायाधीशके सामने किसी मुकदमेमें मैंने बहस की हो, उससे कुछ पूछने-पाछनेका यह मेरा पहला और एकमात्र प्रयत्न था—और उससे पूछा कि क्या आप इस रहस्यका उद्घाटन करनेकी कृपा करेंगे, इस रहस्यका कि एकाएक आप लोगोंमें यह मतैक्य हो कैसे गया ? 'यह बिलकुल सीधी-सी बात है', उसने जवाब दिया, 'हम दोनों प्रायः प्रतिदिन ही अपने प्रकोष्ठोंमें इस मुकदमेके सम्बन्धमें बातचीत किया करते थे, जब कि हम अलग-अलग और एक दूसरेसे बिलकुल भिन्न अभिनिर्णय लिख रहे थे। हममेंसे प्रत्येक अपने अन्य बन्धुकी राय बदलवानेका प्रयत्न करता था किन्तु दोमेंसे किसीको भी इसमें सफलता नहीं मिली। अन्तमें एक दिन मेरे भाईने आकर कहा कि यदि हम लोग एक रायके न हो सके और हमने अलग-अलग एक दूसरेसे भिन्न फैसला दिया, तो यह बहुत ही दुर्भाग्यपूर्ण और ऐसी चीज होगी जो न्यायालयकी प्रतिष्ठाके अनुकूल नहीं कही जा सकती। मैं नहीं समझता था कि न्यायालयकी प्रतिष्ठासे इसका कोई सम्बन्ध था और यही मैंने उनसे कह दिया। लेकिन वे अपनी बातपर जोर देते रहे, तब मैंने उनसे कहा कि जब इस सम्बन्धमें आपकी भावना इतनी तीव्र है तो बेहतर होगा कि आप ही मेरी राय स्वीकार कर लें। दूसरे दिन उन्होंने कहा कि वे ऐसा ही करेंगे, इसीसे आपने देखा कि हम लोगोंने एक ही (उभयसम्मत) अभिनिर्णय किया। इसमें और कोई रहस्य न था।' यही कारण है जो मैं

---

१. भारतमें प्रचलित व्यवहार विधिके अनुसार जब न्यायाधीशोंमें परस्पर मतभेद उत्पन्न हो जाता है, तब अपील खारिज हुई मान ली जाती है, जबतक कि न्यायालय यह निर्देश न दे दे कि जिस विषयांगपर जजोंमें मतभेद हो गया हो वह अभिनिर्णयार्थ किसी तीसरे न्यायाधीशके सामने रखा जाय।

कहता हूँ कि मुकदमेबाजी एक तरहका जुआ है। किन्तु जुएका यह खेल अभी समाप्त नहीं हुआ था।

महाराजने सपरिषद् नरेशके समक्ष अपील दायर करनेमें विलम्ब नहीं किया किन्तु बादमें उभयपक्षने आपसके समझौतेसे मामलेका निपटारा कर लिया। नरहनकी जमींदारी महाराज तथा प्रतिवादियोंमें, जो वंशोत्पत्तिके अनुसार बादके उत्तराधिकारी थे, बराबर-बराबर बाँट दी गयी (इस प्रकार इस आधे हिस्सेमेंसे ३।५ वाँ अर्थात् कुल जमींदारीका ३।१० वाँ भाग मेरे मुवक्किलोंको मिला)। और अब सुनिये इस सम्बन्धकी सबसे आश्चर्यजनक बात। जब यह समझौता न्यायालयमें अभिलिखित कर लिया गया और उसीके आधारपर दोनोंकी स्वीकृतिका आदेश जारी कर दिया गया, उसके कुछ ही महीनों बाद न्यायसमितिके एक पञ्चमण्डलने (जिसके सदस्योंमें लार्ड थैंकरटन नहीं थे), गंगवाल मुकदमेकी पुनः सुनवाईके समय लार्ड थैंकरटनके कथनका बिल्कुल दूसरा ही अर्थ कर डाला। लार्ड मैकमिलनने, जिन्होंने बादका अभिनिर्णय सुनाया, करीब-करीब यही कह दिया कि लार्ड थैंकरटनका मतलब लोगोंने ठीकसे समझा नहीं। दूसरे शब्दोंमें, सामान्य लोगोंकी भाषामें इसका अर्थ हुआ कि उनका वह आशय नहीं था जो उन्होंने कहा था।[१] लार्ड मैकमिलनका कथन यहाँ दे देना बेहतर होगा—

'अवध चीफ कोर्टके विद्वान् न्यायाधीशोंने उस प्रश्नपर विचार करते हुए जो उनके पास भेजा गया था, अपने अभिनिर्णयकी, जिसका यहाँ पुनरावलोकन किया जा रहा है, भूमिकामें कानूनी परिस्थिति फिरसे दे देनेका प्रयत्न किया है, जैसा कि वे समझते हैं। स्पष्ट है कि वे अपने मनमें कुछ शंकालु हो उठे थे। इस आशयके जो तर्क उनके सामने रखे गये थे कि प्रिवी काउंसिलके न्यायिक मण्डलके अभिनिर्णयकी कुछ शब्दावलीका यह अर्थ लिया जा सकता है कि स्वीकृत कानूनमें कुछ परिवर्तन किया गया है, उससे वे चिन्तित हो उठे और उन्होंने यह दिखलानेका प्रयत्न किया कि 'उक्त फैसला यदि ठिकानेसे पढ़ा जाय तो उसका ऐसा कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वे ठीक ही कहते हैं कि एक ही सामान्य पुरुषवंश और पुरुषपरम्परासे उत्पत्ति यदि प्रमाणित कर दी गयी तो एक ही गोत्र या एक ही परिवारका होना उसमें सन्निहित है'—यह कथन इस कारण और भी महत्त्वपूर्ण है कि हिन्दू 'गोत्र' शब्दका आशय ऐसे शब्दोंसे प्रकट करनेमें कठिनाई होती है, जैसे 'परिवार', 'पैत्रिक शाखा' या 'मूल महापुरुषकी शाखा'। वस्तुतः न्यायिकमण्डलने केवल इतना ही निर्णय किया था कि यतः इस मामलेमें सगोत्रताके सम्बन्धमें ऐसे साक्ष्यके कारण जो उससे मेल नहीं खाता था, कुछ शंका प्रकट की गयी थी, इसलिए दावा करनेवालेके लिए यह प्रमाणित करना आवश्यक था कि 'किसी समान पूर्वजके उत्पन्न होनेवालोंकी समवंशोत्पत्ति वादीकी वंशशाखाके किसी व्यक्तिके अन्य गोत्र या परिवारमें चले जानेसे भंग नहीं होती।' सामान्य मामलोंमें जहाँ गोद लिये जानेकी घटनाके तथा-कथित आधारपर उत्तराधिकारकी सामान्य परिपाटीमें परिवर्तन करना अभीष्ट हो—

'वहाँ उस पक्षका, जो कानूनी अधिकारीके विरुद्ध अपना दावा पेश कर रहा हो, स्पष्ट कर्त्तव्य हो जाता है कि वह गोद लिये जानेकी घटनाको प्रमाणित करे और यह दिखलावे कि गोद लेनेवालेको ऐसा करनेका अधिकार था तथा यदि गोद लिये जानेकी बातमें सन्देह प्रकट किया गया हो तो उसके सच होनेका भी प्रमाण उपस्थित करे।'

× × ×

१. (१९३७) ए० जेड० एस० १०४७ सिद्धान्ततः इङ्गलैण्डमें न तो प्रिवी काउंसिल और न लार्ड सभाके सदस्य ही कभी एक दूसरेके अभिनिर्णयोंको निरस्त करनेका प्रयत्न करते हैं। अवश्य ही वे लोग यदाकदा अपनी भूल सुधारनेका प्रयत्न किया करते हैं और ऐसा करते समय सब तरहकी मुलायम तथा गोलमोल भाषाका प्रयोग करते हैं।

यह सुझानेका कोई भी इरादा नहीं था कि हर मामलेमें मौजूदा हक प्रमाणित करना लाजिमी होगा और न दूसरे गोत्रमें लिये जानेके सुझावको अमान्य ही ठहरानेका इरादा था।

फिर भी चीफ कोर्टने उपस्थित किये गये साक्ष्यके आधारपर सारे मामलेकी छानबीन की और यह निष्पत्ति निकाली कि 'न तो जुगराज और न जुगराजकी वंशपरम्परामें वादीकाका कोई पूर्वज ही कभी गोद लिया गया था।'

इसके बाद बतलाया गया है कि 'इस निष्पत्तिका यह परिणाम निकला कि वादीका गोत्र वही है जो राजा सूरजप्रकाश सिंहका था।' ऐसा होना अनिवार्य-सा था, जब गोत्रमें अन्तर होनेका एकमात्र सम्भावित कारण गलत प्रमाणित कर दिया गया हो।

इस प्रकार कानूनका रूप फिर वही हो गया जैसा कि वह लार्ड थैंकरटनके हस्तक्षेपके पहले था। और अब मैं गंगवालके मुकदमेकी ओर बढ़ता हूँ।

गंगवाल अवधके बहराइच जिलेका एक ताल्लुका है। वहाँ एक विधवाके निस्सन्तान मर जानेपर दूरके वंशजोंमें उत्तराधिकारके लिए स्पर्द्धा शुरू हुई और जमींदारीके लिए एक सपिण्ड पुरुषने दावा किया जो अपनेको जायदादके अन्तिम पुरुषअधिकारी (विधवाके पति) का पुरुषपरम्परामें दूसरा या तीसरा चचेरा भाई और एक ही पूर्वजकी सन्तान बतलाता था। मुकदमेमें मुख्य प्रश्न यही था कि दावा करनेवालेने अपनी जो वंशोत्पत्ति बतलायी थी, वह सत्य थी या नहीं। जो प्रमाण प्रस्तुत किया गया था वह असंदिग्ध मालूम होता था, क्योंकि वह सरकारी अभिलेखों तथा बहुत ही विश्वसनीय जबानी साक्ष्यपर आधारित था। वंशोत्पत्ति पूर्णरूपसे प्रमाणित कर दी गयी थी। वादीने स्वयं अपने ही गवाहके रूपमें साक्ष्य दिया और प्रतिपरीक्षणमें उससे पूछा गया कि 'तुम्हारा गोत्र क्या है?' उसने बतलाया कि 'मेरा अत्रि गोत्र है।' जिरह करनेवाला वकील वहीं रुक गया और उसने, जैसा कि बादमें मालूम हुआ, यह प्रश्न न पूछकर बड़ी गलती की कि 'गंगवालके स्वर्गीय राजाका गोत्र क्या था?' यदि यह प्रश्न पूछा गया होता तो बहुत सम्भव है कि वकीलको अपने अनुकूल जवाब मिल जाता। उस समय गोत्रके पहलूको—यदि मैं ऐसा एक पद गढ़ लूँ तो—इतना अधिक महत्त्व प्राप्त नहीं हुआ था जितना बादमें हो गया। बादमें यह बात प्रमाणित हो गयी कि इस विशेष बिरादरीमें लोग समगोत्रताको अधिक महत्त्व नहीं देते थे और सरकारी अभिलेखोंके अनुसार सर्वस्वीकृत एक ही पूर्वपुरुषके वंशमें उत्पन्न विभिन्न सदस्योंने अपने परिवारके भिन्न-भिन्न गोत्र बतलाये थे। इसलिए बहुत सम्भव है कि वादीने अपने उत्तरमें यह कहा होता कि गंगवालके राजाका गोत्र अत्रि गोत्रसे भिन्न था। किन्तु ऐसा कोई प्रश्न पूछा ही नहीं गया और वादी इस परेशानीसे बच गया। बादमें प्रतिवादीने अपने बयानमें यह दिखलानेके लिए साक्ष्य प्रस्तुत किया कि गंगवालके राजाका गोत्र व्यग्रह गोत्र था। विचारक न्यायाधीशके सामने तथा अवध चीफ कोर्टमें की गयी अपील-में बहसके समय गोत्रकी इस विभिन्नतापर बहुत जोर दिया गया और कहा गया कि इससे वादीके वंशोत्पत्तिके दावेका निश्चित रूपसे खण्डन हो जाता है। बहसमें कहा गया कि यदि वादीका, पुरुष-परम्परामें एक ही पूर्वपुरुषके जरिए, स्वर्गीय राजासे सपिण्ड सम्बन्ध था तो उसका गोत्र भी वही होना चाहिये था जो गंगवालके राजाका था। इसलिए उसका उनसे वैसा सम्बन्ध न था और उसका वंशोत्पत्ति सम्बन्धी कथन झूठा था। किन्तु, जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ, वंशोत्पत्ति सम्बन्धी प्रमाण बिलकुल पक्का था और विद्वान् न्यायाधीशोंने उसे मान लिया। गोत्रकी भिन्नता उलझनमें डालने-वाली चीज जरूर थी किन्तु उसका अधिक महत्त्व न था। वस्तुतः अपीलमें चीफ कोर्टने इस प्रश्नको लेकरकी गयी बहसको 'बहुत अधिक प्राविधिक' (हाइली टेक्निकल) बतलाया था और कहा

था कि 'इसपर अधिक विचार करते-करते हम हिन्दुओंकी प्राचीन परम्पराके क्षेत्रमें घुस आये हैं।'[१]

किन्तु प्रिवी काउंसिलमें अपील होनेपर लार्ड थैंकरटनने मुकदमेको दूसरा ही रूप दे दिया। रुधिरसम्बन्ध तो प्रमाणित हो गया, इसमें सन्देह नहीं, किन्तु इतना ही पर्याप्त न था। दावा करनेवालेका तथा दिवंगत अन्तिम पुरुषअधिकारीका गोत्र एक ही था, यह भी पक्के साक्ष्य द्वारा प्रमाणित किया जाना चाहिये। ऐसा साक्ष्य आसानीसे प्राप्त हो सकता था। लार्ड थैंकरटनने कहा कि 'वादीका तथा स्वर्गीय राजाका गोत्र एक ही था, यह बात न्यायिक सन्देह अथवा अटकलबाजीसे परे दिखा देनी चाहिये। ये गोत्र उन सम्बन्धियोंको अच्छी तरह विदित रहे होंगे जो श्राद्धके समय उपस्थित रहे होंगे जब कि पहलेकी तीन पीढ़ियोंके गोत्रका उच्चारण किया जाता है और ऐसा साक्ष्य बिलकुल ही उपस्थित नहीं किया गया।' 'हिन्दू-परम्पराके क्षेत्र में' में उतरनेकी कोई आवश्यकता ही नहीं है। किन्तु वादीको मामलेके इस पहलूपर कुछ कहनेका उचित अवसर ही नहीं मिला। बहसके समय यह प्रश्न उठाया नहीं गया और न उससे इस सम्बन्धमें कोई प्रश्न ही पूछा गया—यह एक अनर्थकारी भूल थी जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ—और इसीलिए इस खास प्रश्नपर विचार करनेके लिए यह मामला पुनः भारत भेज दिया गया था। इसपर जुलाई १९३२ में विचार आरम्भ हुआ, जब इलाहाबाद हाईकोर्टमें नरहनके मुकदमेकी अपीलका फैसला हुए एक महीना हो गया था। मैं उस समय गोत्र सम्बन्धी प्रश्नोंका प्रामाणिक जानकार समझा जाता था और अवध चीफ कोर्टमें गंगवालका मामला पेश होनेपर प्रदिवादीने मुझे अपना वकील नियुक्त किया था। तीन महीनों तक उसकी सुनवाई होती रही। कई सप्ताहों तक उभय पक्षके गवाहोंकी कभी न टूटनेवाली सी प्रतीत होनेवाली कतार न्यायालयके सामने आती रही। जो जिस पक्षका गवाह होता वह उस पक्षकी ओरसे बयान देते हुए कहता कि मैंने वादी या प्रतिवादीको विवाह, जन्म, मृत्यु और श्राद्धके समय अमुक-अमुक गोत्रका उच्चारण करते सुना है। साक्ष्यमें पारस्परिक विरोध निराशाजनक था किन्तु न्यायाधीशोंको वादीका कथन सत्य मान लेनेमें कोई कठिनाई नहीं हुई। मामला लौटकर वापस आनेके पहले अवध कोर्टमें जो अभिनिर्णय किया गया था, उसमें सर वजीर हसन भी एक न्यायाधीश थे और मामलेपर फिर बहस होते समय उन्होंने खुल्लम-खुल्ला स्वीकार किया कि लार्ड थैंकरटनकी विचारोक्तिका आशय समझनेमें मैं असमर्थ हूँ और अपने दूसरे फैसलेमें भी उन्होंने इसका संकेत कर दिया।[२] उनका कहना ठीक था, यह बादमें प्रमाणित हो गया। प्रिवी काउंसिलमें लार्ड मैकमिलन द्वारा उस समय किये गये अभिनिर्णयकी ओर दुबारा निर्देश करना मेरे लिए अनावश्यक है जब गंगवालका मामला दूसरी बार न्यायसमितिके सामने गया था[३]। इस प्रकार गोत्र सम्बन्धी इन दो बड़े मुकदमोंका अन्त हुआ। लार्ड थैंकरटनकी अस्पष्ट-सी भाषामें की गयी विचारोक्तिके कारण गंगवाल मुकदमेके उभय पक्षोंको १२ हजार पौण्डकी और चपत लग गयी तथा महाराज बनारसको नरहनकी रियासतके आधे भागसे हाथ धोना पड़ा।

१७. बूँदी राजमन्दिरका मामला

पवित्र काशी या बनारस—वरुणा तथा अस्सी नदियोंके बीचकी भूमि जब वे लगभग एक

१. इसका ब्योरा देखिये 'आल इण्डिया रिपोर्टर' १९२ में, अवध।

२. देखिये, आल इण्डिया रिपोर्टर (१९३३), अवध १९७।

३. देखिये, वही (१९३७), ए० जेड० आई० १०४७।

मीलके फासलेपर गंगाजीमें मिलती हैं—भारतके अत्यन्त प्राचीन तीर्थस्थानोंमेंसे एक है। उसका उल्लेख रामायण तथा महाभारत, इन दोनों महाकाव्योंमें मिलता है। वह बौद्धोंके चार अत्यन्त पवित्र स्थानोंमेंसे एक है। यही वह स्थान है जहाँ भगवान् बुद्धने सबसे पहले धर्मचक्रप्रवर्त्तन किया और मानव जातिको अपना मुक्तिका सन्देश सुनाया। उनके जमानेमें भी काशी नगरी विद्याके महान् केन्द्रके रूपमें प्रसिद्ध हो चुकी थी, जहाँ ऐसा प्रत्येक व्यक्ति आया करता था जो प्राचीन दर्शनोंका अध्ययन करना चाहता था या नये दर्शनका प्रचार करना चाहता था। काशी नये विचारोंकी जन्मदात्री नहीं रही है किन्तु वह प्राचीन कालसे ही सनातन धर्मका, प्राचीन विद्याका तथा प्राचीन परम्पराओंका केन्द्र रही है और भारतके इस महान् देशकी प्रत्येक दिशासे, उत्तर-दक्खिन, पूरब-पच्छिमसे लोग काशी आया करते थे, विद्वत्ता और योग्यताका प्रमाणपत्र पानेके लिए तथा तर्क-वागीश आदिकी उपाधि प्राप्त करनेके लिए।

भक्तोंके लिए काशी शिवजीकी पवित्र नगरी है, जो विशेषरूपसे उनके संरक्षण में है, जहाँ मृत्युके देवता यमराजका शासन नहीं चलता और जिन लोगोंकी मृत्यु यहाँ होती है, वे सीधे स्वयं शिवजीके उदार आश्रयमें चले जाते हैं।

यह नगर सारे संसारमें प्रसिद्ध है। तिर्यग् गतिसे बहनेवाली पवित्र गंगा नदी तथा मीलोंतक बने हुए पक्के घाट, जिनकी सीढ़ियाँ नीचे नदीके बिलकुल तटतक पहुँचती हैं, प्रतिवर्ष लाखों-करोड़ों तीर्थयात्रियोंको ही नहीं वरन् भूमण्डलके प्रत्येक देशके बहुसंख्यक पर्यटकोंको भी अपनी ओर आकर्षित किया करते हैं। बनारसमें नावपर आरूढ़ होकर एक दिशासे दूसरी दिशाकी ओर गंगापर यात्रा करनेसे भारतका एक बहुत ही सुहावना तथा बहुत ही सुखद एवं अद्भुत दृश्य देखनेको मिलता है। किन्तु तीर्थयात्रीको या बाहरसे आनेवाले पर्यटकको इन घाटोंके इतिहासकी शायद ही कोई जानकारी हो। वह नहीं जानता कि कैसे और कब उनका निर्माण हुआ।

यद्यपि पुरानी ऐतिहासिक बातोंमें मेरी विशेष रुचि है और यद्यपि मैं पहले कई बार बनारसकी यात्रा कर चुका था, फिर भी उसकी बहुत-सी बातोंके सम्बन्धमें मैं गहरे अज्ञानमें ही था। मेरे एक बहुत ही दिलचस्प मुकदमेने मुझे इसके अतीतकी बातोंका अनुसन्धान करने और यहाँके प्राचीन इतिहाससे परिचित होनेका अवसर दिया।

जब आप नदीके एक तरफसे दूसरी तरफ जायँगे, तब पक्के घाटोंकी अविच्छिन्न-सी प्रतीत होनेवाली परम्पराके बीचमें कहीं-कहीं दो घाटोंके मध्यमें पड़नेवाली खुली हुई खाली जमीनके टुकड़े देखेंगे जिन्हें लोग कच्चे घाट कहते हैं। यहाँ लोग स्नान नहीं करते वरन् यहाँ माल पहुँचानेवाली देहाती नौकाएँ आकर ठहरा करती हैं, जो जलानेकी लकड़ी, पत्थरकी गिट्टी या ईंटों जैसे टुकड़े, चूना और मकान बनानेका अन्य सामान तथा और भी बहुत-सी चीजें ढोकर लाया करती हैं। नावका मल्लाह वहाँ नाव ठहराने या माल उतारनेके शुल्कके रूपमें एक छोटी-सी रकम जमीनके मालिकको देता है। इस प्रकार भूमिके मालिकको इन नावोंसे थोड़ी-सी आमदनी हो जाती है। कुछ घाट तो विशिष्ट व्यक्तियोंकी निजी सम्पत्ति हैं किन्तु अधिकतर घाट सरकारी भूमिके रूप में हैं और यतः किसी शहरकी म्यूनिसिपल सीमाके भीतर पड़नेवाली सरकारी भूमियोंका प्रबन्ध प्रायः नगर-निगमोंके हाथमें ही रहता है, अतः ये कच्चे घाट भी बनारस म्यूनिसिपल बोर्डके नियन्त्रणमें हैं। बोर्ड दस-बीस वर्षोंके लिए कुछ व्यक्तियोंको उनका पट्टा दे देता है और तब वे अपनी इच्छाके अनुसार उनका उपयोग करते हैं।

इस प्रकारकी खाली जमीनका एक टुकड़ा ब्रह्माघाट तथा शीतलाघाट, इन दो पक्के घाटोंके

बीचमें पड़ता है और म्यूनिसिपल अधिकारियोंने इसे भी सार्वजनिक सम्पत्ति मानकर इसे पट्टेपर दे दिया था और जिसे पट्टा दिया गया था वह उसपर दखल जमाने और उसका उपयोग करनेका दावा करता था। पक्के घाट सभीकी जानकारीके अनुसार बूँदी राज्यके थे (जो राजपूतानेकी पुरानी रियासतोंमेंसे एक था) और उक्त राज्यने उस कच्चे घाटपर अपना स्वामित्व बतलाया तथा बनारसकी जिला अदालतोंमें उसपर अपना हक स्थापित करानेके लिए दरख्वास्त दी। जमीनकी कीमत ज्यादा न थी, उसकी वार्षिक आय नगण्य-सी थी, किन्तु बूँदीके महाराज उस स्थानको बहुत महत्त्व देते थे (उसकी प्राचीन ऐतिहासिक उत्पत्तिके कारण) और उन्होंने मुझे अपना वकील नियुक्त किया। कई सप्ताहोंतक, जबतक मामला चलता रहा, मैं शुरूसे आखीरतक उनकी ओरसे पैरवी करता रहा। मेरे लिए यह मुकदमा, जो ऊपरसे महत्त्वहीन और बिल्कुल मामूली-सा प्रतीत होता था, बड़ा ही आकर्षक साबित हुआ, क्योंकि उसकी जड़ें राजपूतानेके इतिहासकी बहुत ही मनोरंजक और अद्भुत घटनाओंतक गयी हुई थीं और बनारसके सामान्य इतिहाससे, विशेषकर उस भागके इतिहाससे जो गंगातटपर अवस्थित है, उसका विशेष सम्बन्ध था।

बनारसमें गंगाके किनारे-किनारे भूमिका काफी बड़ा टुकड़ा बूँदी राज्यके अधिकारमें रहा है। वह समस्त क्षेत्र जनतामें बूँदी राजमन्दिरके नामसे प्रसिद्ध है। उसके प्रायः सभी हिस्सेमें मकान तथा गलियाँ बनी हुई हैं और मकान-मालिकोंसे भूमिके वार्षिक किरायेके रूपमें बूँदी राज्यको छोटी-छोटी रकमें मिलती रही हैं। ठीक नदीके तटपर राज्यका अपना एक बड़ा मकान है—यह राजमन्दिर कहलाता है—और इस मकानसे नीचे गंगाके किनारेतक उक्त दो पक्के घाटोंमेंसे एकके रूपमें सीढ़ियाँ चली गयी हैं।

भूमिके मालिकाना हककी शुरुआतकी छानबीन करते-करते मुझे सोलहवीं शताब्दीके उस जमानेतक जाना पड़ा जब अकबर इस देशमें अपने साम्राज्यकी स्थापना और उसके दृढ़ीकरणका प्रयत्न कर रहा था।

राजपूतानेके शक्तिशाली राजपूत राजवंशोंको मैत्रीपूर्ण व्यवहार एवं वैवाहिक सम्बन्धों द्वारा अपनी ओर मिला लेनेकी अकबरकी नीति बहुत सफल हो रही थी और राजपूतानेके कई राजा, जैसे जयपुरके महाराज मानसिंह, उसके राज्यके सबसे सुदृढ़ स्तम्भ बन गये थे। किन्तु एक राज्य ऐसा भी था जो किसी विदेशीके सामने–किसी तुर्कके सामने, जैसा कि मुगल लोग उस समय कहलाते थे—अपना गर्वान्वित मस्तक न झुकाने और अपने परिवारकी कोई लड़की विवाहमें दिल्लीश्वरको न देनेके प्रणपर अटल बना हुआ था। ये थे चित्तौड़के अमरकीर्त्ति महाराणा प्रताप। अकबरने महाराणाके साथ मित्रतापूर्ण समझौता करनेके लिए अनेक बार प्रयत्न किया किन्तु सब व्यर्थ हुआ। महाराजा मानसिंहने स्वयं बीचमें पड़कर मेल कराना चाहा और वे इसी उद्देश्यसे महाराणाके पास गये, जो उस समय बिना घर-बारके होकर अपने देशके जंगलोंमें निवास कर रहे थे। किन्तु अवांछनीय घटनाओंके कारण भेंटका उद्देश्य ही विफल हो गया और मानसिंह महाराणा प्रतापके कट्टर शत्रु बन गये।[1]

---

१. राजा मानसिंह शोलापुरकी विजयके बाद उत्तर भारतकी ओर लौट रहे थे कि उन्होंने राणा प्रतापसे मिलते चलनेका निश्चय किया जो उस समय कोमलमेरमें थे। राणा प्रताप उनका स्वागत करनेके लिए ऊदी सागरतक आये। इस झीलके ऊपरकी बाँधपर अंबरके राजा (मानसिंह) को भोज देनेकी व्यवस्था की गयी। भोजनके थाल लगा दिये गये, राजाको बुलाकर आसन दे दिया गया और उनकी आवभगत करनेके लिए राजकुमार तथा सरदारगण नियुक्त

विपत्तिके समय महाराणा प्रतापके बहुत ही कम अनुयायी तथा मित्र रह गये थे किन्तु बूँदीके महाराव उनके ऐसे बन्धु थे जो उनके साथ रक्तके सुदृढ़ बन्धनों तथा रिश्तेदारीसे बँधे हुए थे। मानसिंहने बूँदीको महाराणासे खींचकर अपनी तरफ कर लेनेका निश्चय किया। इस दृष्टिसे उन्होंने खुद उनके पास जाना तै किया। उनका वहाँ जाना सचमुच एक नाटकीय व्यापारके सदृश हुआ, उस सम्बन्धकी घटनाओं तथा उसके परिणाम दोनों ही के कारण। टाड साहबकी विशद शब्दावलीमें ही उसका समुचित वर्णन किया जा सकता है। देखिये वे क्या कहते हैं—

'रणथम्भौरकी ओर अकबरका ध्यान बहुत पहले ही गया था। उसने खुद ही उसके चारों तरफ घेरा डाला था। उसकी अजेय दीवारोंके सामने डेरा डाले हुए उसे कई दिन हो गये थे, फिर भी उसके आत्मसमर्पणकी कोई आशा नहीं देख पड़ रही थी। इसी अम्बरके शासक भगवानदास और उनके अधिक प्रसिद्ध पुत्र राजा मानसिंहने, जिन्होंने अकबरकी अधीनता ही नहीं स्वीकार कर ली थी वरन् विवाहसम्बन्ध द्वारा अपने आपको उससे सम्बद्ध कर लिया था, अपने प्रभावका प्रयोग कर सूरजन हाड़ाको 'चित्तौड़के करद राज्यके रूपमें किलेपर अधिकार बनाये रखनेकी' अपनी प्रतिज्ञा-

---

कर दिये गये किन्तु राणा स्वयं नहीं आये। उनकी अनुपस्थितिके लिए क्षमायाचना करते हुए राजकुमारने कहा कि महाराणा सिरदर्दके कारण नहीं आ सके हैं और उन्होंने कहलाया है कि राजा मानसिंह यथाविधि सब कृत्य सम्पन्न करें, हमारा आदर-सत्कार ग्रहण करें और भोजन करना शुरू कर दें। राजा मानसिंहने बड़े स्वाभिमानपूर्ण किन्तु साथ ही सम्मान-पूर्वक उत्तर दिया—'राणाजीसे कह दो कि उनके सिरदर्दका कारण मैं समझ रहा हूँ, किन्तु जो भूल हो गयी है वह अब सुधारी नहीं जा सकती और यदि वे ही मेरे सामने थाली न रखेंगे तो और कौन रखेगा ?' असल बात छिपानेका और प्रयत्न करना बेकार था। राणाने खेद प्रकट किया और कहा—'मैं ऐसे राजपूतके साथ भोजन नहीं कर सकता जिसने अपनी बहिन तुर्क को दे दी हो और जिसने सम्भवतः उसके साथ भोजन भी किया हो।' इस अपमानका खतरा उठाकर राजा मानसिंहने बुद्धिमानी नहीं की और यदि निमंत्रण राणा प्रतापकी ओरसे दिया गया था तो यह अपमान बड़ा अनुदारतापूर्ण तथा राजनीतिक दृष्टिसे अवांछनीय था किन्तु इस आरोपसे वे मुक्त हो चुके हैं। राजा मान बिना हाथ लगाये ही भोजनपरसे उठ बैठे, और चावलके उन दो-चार कणोंको उठाकर, जो उन्होंने अन्नदेवको अर्पित किये थे, उन्होंने अपनी पगड़ीपर रख लिया। जाते समय उन्होंने कहा 'आपकी प्रतिष्ठा बनाये रखनेके लिए ही हमने अपनी प्रतिष्ठाकी बलि चढ़ा दी और अपनी बहिनों तथा लड़कियोंको तुर्कोंको अर्पित कर दिया, किन्तु अब आपका यही संकल्प है तो खतरेमें पड़े रहिये, क्योंकि इस देशमें आपको स्थान नहीं मिल सकता।' और फिर वे अपने घोड़ेपर सवार हो गये कि इसी समय राणा प्रतापको सामने देखकर, जो इस प्रकार अनपेक्षित ढंगसे उनके प्रस्थानकी बात सुनकर चले आये थे, कहने लगे—'यदि मैं आपके अभिमानको मिट्टीमें न मिला दूँ तो मेरा नाम मान-सिंह नहीं।' इसपर राणाने जवाब दिया, 'मुझे आपसे मिलनेमें हमेशा ही प्रसन्नता होगी।' पीछेसे किसीने व्यंग्य कसते हुए कहा 'और हाँ, जब आप आवें तो कृपया अपने बहनोई अकबर को भी साथ लाना न भूलें।' जहाँ भोजन परोसा गया था, वह भूमि अपवित्र समझी गयी, खोद डाली गयी और गंगाजल छिड़ककर पवित्र की गयी। और जिन सरदारोंने उस व्यक्तिको जिसे वे विधर्मी समझते थे, इस तरह अपमानित होते देखा था, उन्होंने स्नान किया और अपने कपड़े बदल डाले, मानो उसकी उपस्थितिसे उन्हें छूत लग गयी हो।

से विमुख करनेका निश्चय किया।[१] उस शिष्टताके कारण, जिसका परित्याग राजपूत लोग युद्धलग्न हो जानेपर भी नहीं करते, राजा मानने किलेके भीतर प्रवेश करनेकी अनुमति प्राप्त कर ली और सम्राट् अकबर भी चोबदारके रूपमें उनके साथ गये। बातचीतके समय रावके एक चाचाने सम्राट्को पहचान लिया और उनकी प्रतिष्ठाका लिहाज करते हुए तुरन्त ही उन्हें दुर्गके प्रशासककी गद्दीपर बैठा दिया। घबराहटके कोई भी चिह्न प्रकट किये बिना अकबरने स्थिर बुद्धिके साथ कहा, 'अच्छा तो राव सूरजन, बताइये कि अब क्या किया जाय?' इसका जवाब राजा मानसिंहने दिया—'आप राणाका साथ छोड़ दीजिये, रणथम्भौर अर्पितकर, बादशाहके सेवक बन जाइये।' उच्च सम्मान एवं प्रतिष्ठित पदके सामने रखा गया यह प्रस्ताव सचमुच ही बहुत बड़ा प्रलोभन था—५२ जिलोंके क्षेत्रपर शासन करनेका पूरा अधिकार, जिसकी समस्त आय बिना पूछताछके वे ग्रहण कर सकते हैं केवल इस शर्तके साथ कि वे चली आती हुई परिपाटीके अनुसार, साम्राज्यकी रक्षाके लिए, सेनाकी एक टुकड़ी प्रस्तुत करें। उन्हें अधिकार होगा कि वे और भी जो शर्तें चाहें लिखवा लें जिनके परिपालनका पूर्ण आश्वासन सम्राट्की ओरसे दिया जायगा।[२] अम्बरके राजाकी मध्यस्थतासे उसी स्थलपर एक सन्धिपत्र तैयार किया गया, जिसे देखनेसे हिन्दुओंके उस समयके भावोंकी अच्छी झलक मिलती है—

(१) शाही महलमें डोला भेजने[३]के रिवाजसे, जो राजपूतोंके लिए अपमानजनक है, बूँदीके राजा मुक्त कर दिये जायँ।

(२) जजिया नामक कर उनसे न लिया जाय।

(३) बूँदीके राजाओंको अटकके उसपार जानेके लिए बाध्य न किया जाय।

(४) नवरोजके उत्सवके[४] समय शाही महलमें लगनेवाले मीनाबाजारमें एक दूकान लगानेके लिए अपनी स्त्रियों या स्त्री सम्बन्धियोंको भेजनेकी बाध्यतासे बूँदीके सामन्तगण मुक्त कर दिये जायँ।

(५) दीवानेआममें उन्हें अपने पूरे अस्त्र-शस्त्रोंके साथ प्रवेश करनेका विशेषाधिकार प्राप्त हो।

(६) उनके पवित्र स्थानों (मन्दिरों आदि)की रक्षा की जाय।

(७) किसी हिन्दू सेनापतिकी अधीनतामें वे कदापि न रखे जायँ।

---

१. हाड़ा राजवंशके कवियों द्वारा लिखे गये इतिहासमें अम्बरके राजा मानसिंहको 'कलियुगके प्रतिरूप' की संख्या दी गयी है—एक प्रभावोत्पादक रूपक जो यह सूचित करता है कि उसके अमंगलकारी प्रभाव तथा उदाहरणने, विवाहसम्बन्ध द्वारा अपने आपको बादशाहके साथ सम्बद्ध कर देनेकी क्रियाने राजपूतोंके चरित्रको राष्ट्रीय दृष्टिसे कमजोर बना दिया था। इस उदाहरणका अनुसरण न करनेके कारण हमने मेवाड़के राणा प्रतापके जीवनमें देशभक्तिका चित्र प्रस्तुत किया है। चित्तौड़के राणाने शस्त्रास्त्रोंकी सहायतासे जो कुछ किया, राव सूरजनने सन्धि द्वारा उसीसे अपने आपको बचानेका प्रयत्न किया।

२. मुझे यहाँ यह बात बता देनी चाहिये कि बूँदीके इतिहासका इसके बादका अंश उस ऐतिहासिक विवरणके आधारपर दिया गया है, जो बूँदी नरेशने स्वयं ही अपने अभिलेखों की सहायतासे, जिसमें बीच-बीचकी कुछ बातें चारणों द्वारा सुरक्षित इतिहाससे भी ली गयी हैं, मेरे लिए तैयार कराया था।

३. डोलाका अभिप्राय उस राजकुमारीकी पालकीसे है जो विवाहमें बादशाहको दे दी गयी हो।

४. यह तैमूरके वंशजोंकी एक पुरानी प्रथा थी जो उनके तातार पूर्वजोंके समयसे चली आ रही थी। इस उत्सवके विवरणके लिए ग्लैण्डविन द्वारा अनूदित 'आइने अकबरी' देखिये।

(८) उनके घोड़े शाही दागसे[1] अंकित न किये जायँ ।

(९) राजधानी दिल्लीमें उन्हें लाल दरवाजेतक सड़कोंपर अपना नगाड़ा बजवाते चलनेकी इजाजत रहे और उन्हें बादशाहके सामने जानेपर घुटने टेककर आदाब बजानेका[2] हुक्म न दिया जाय ।

(१०) हाड़ाओंके लिए बूँदीका स्थान उसी तरह हो जिस तरह बादशाहके लिए दिल्लीका है जो उन्हें राजधानी न बदलनेका अभिवचन दे ।

इन शर्तोंके सिवा, जिनके परिपालनका वचन बादशाहने दिया था, उसने काशीकी पवित्र नगरीमें रावके निवासके लिए भूमि भी दी । इसमें उन्हें वह विशेषाधिकार भी दिया गया जो राजपूतोंको इतना अधिक प्रिय है—किसी भी शरण चाहनेवालेको अपने यहाँ आश्रय देना, जो अभीतक उन्हें प्राप्त रहा है । इस प्रलोभनके कारण और उनकी शर्तें पूर्णरूपसे मंजूर कर लिये जानेपर यह कोई आश्चर्यकी बात न थी कि राव सूरजनने मेवाड़के अधिपतिके प्रति, जिसकी राजधानी भी अब उससे छिन गयी थी, बची-खुची निष्ठाका भी परित्याग कर दिया और मुगल सम्राट्के विजयी रथके पीछे-पीछे चलना मंजूर कर लिया ।'

अधीनता स्वीकार करनेवाली जिस मित्रतापूर्ण सन्धिपर बूँदीनरेशने हस्ताक्षर किये थे, उसकी अन्तिम शर्त यही थी कि उन्हें निवास और पूजन-अर्चन आदिके लिए काशीमें गंगातटपर उपयुक्त भूमि प्रदान की जायगी । इस सन्धिका पालन दोनों पक्षों द्वारा सचाईके साथ किया गया और बूँदी राजमन्दिर ही वह समूचा भूभाग या उसका हिस्सा है जो सन्धिके अनुसार बूँदी राज्यको प्रदान किया गया था ।[3] और भी अधिक अनुसन्धान करनेपर पता चला कि बनारसके सब घाटोंमेंसे सम्भवतः पाँच घाट ही ऐसे हैं जिनका इतिहास बहुत पुराना है और जो प्राचीन धार्मिक परम्पराके कारण विशेषरूपसे पवित्र बन गये हैं । ये हैं हरिश्चन्द्र घाट, दशाश्वमेध घाट (जहाँ दस घोड़ोंका यज्ञ किये जानेकी बात कही जाती है), मणिकर्णिका घाट (काशीका श्मशान घाट), पंचगंगा घाट और अस्सी घाट । नदीके समूचे तटपर उस समय कोई पक्का घाट नहीं बना था, यद्यपि जहाँ तहाँ दो-चार मामूली कच्चे घाट स्नानके लिए बना दिये गये होंगे । सोलहवीं शताब्दीमें अकबरके शासनकालमें, और उसके बादकी शताब्दियोंमें ही (जब शान्तिपूर्ण स्थिति विद्यमान थी), काशीके भव्य घाट हिन्दू राजाओं, राजपुत्रों और भारतके विभिन्न भागोंके बड़े-बड़े आदमियोंने बनवाये थे और उनके नाम भी घाटोंके साथ जुड़े हुए हैं । बूँदी घाट या तो अकबरके समय बनाये गये थे या उसके बाद, क्योंकि एक पत्थरपर शाहजहाँके समयकी (१७ वीं शताब्दीके पूर्वार्द्धकी) तिथि दी हुई है । बूँदी राज्यकी ओरसे दायर किये गये मामलेमें मुझे बहुपृष्ठव्यापी साक्ष्य उपस्थित करना पड़ा था किन्तु

---

१. यह दाग मस्तकपर फूलके रूपमें बनाया जाता था ।

२. ठीक उसी तरह जिस तरह चीनमें को-ताऊकी प्रथा थी । यदि हमारे राजदूतमें वैसी ही सूझ होती, जैसी राव सूरजनमें, जिन्होंने बादशाहके प्रति सम्मान प्रदर्शित करनेके लिए दबाव डाले जानेपर दृढ़ निश्चय कर लिया था कि चाहे जो भी जोखिम उठानी पड़े, इस अपमानजनक प्रथाके सामने नतमस्तक न होंगे, तो वे 'स्वर्गपुत्र' (चीन-सम्राट्) के दरबारमें निर्धारित अपने दूत सम्बन्धी विशिष्ट कार्यमें सम्भवतः सफल हो गये होते । इस घटनाके विवरणके लिए मारवाड़के इतिहासका छठाँ परिच्छेद देखिये ।

३. राजपूत नरेशोंने अन्य तीर्थस्थानोंमें भी उपयुक्त स्थल प्राप्त किये थे, उदाहरणके लिए महाराज मानसिंहको इलाहाबादका कुछ भाग और वह हिस्सा भी प्राप्त था जो आजकल कटरा कहलाता है ।

राज्यका अधिकार प्रमाणित करनेमें मुझे कोई कठिनाई नहीं हुई। इस ऐतिहासिक साक्ष्यके बावजूद यह सुझाव देना निरर्थक एवं हास्यास्पद-सा होता (और म्यूनिसिपलटीने ऐसा सुझाव दिया भी न था) कि सम्राट् अकबरने सन्धिके अनुसार यह भू-भाग बूँदीको देते समय ठीक इसके बीचका एक छोटा-सा टुकड़ा म्यूनिसिपल संस्थाके लाभार्थ छोड़ दिया था! भूमिके वस्तुतः सतत अधिकारमें बने रहनेका साक्ष्य, भारत जैसे देशके लिए भी, आश्चर्यजनक रूपसे पूरा था। बूँदी राजमन्दिरके सन् १७०० के बादसे २२५ वर्षतककी हिसाबकी बहियाँ, जो बूँदीके सरकारी अभिलेख कार्यालयमें संरक्षित थीं, न्यायालयमें प्रस्तुत की गयीं, यह साबित करनेके लिए कि विवादग्रस्त भूमिके किराये तथा लाभकी रकम बूँदी राज्यको मिलती रही है और वह उसकी मरम्मत आदिके लिए समय-समयपर रुपया खर्च करता रहा है। अदालतका फैसला बूँदी राज्यके पक्षमें हुआ और उस फैसलेके विरुद्ध—जैसा कि भारतके मुकदमोंमें कभी-कभी ही होता है—कोई अपील नहीं की गयी।

बनारसके घाटोंकी चर्चा समाप्त करनेके पहले मैं अपने मित्रों, बनारसके घाटियोंके सम्बन्धमें कुछ लिखे बिना नहीं रह सकता, जो कुछ-कुछ उपद्रवी, किन्तु फिर भी बड़ी योग्यतावाले सार्वजनिक सेवक हैं, उसके वास्तविक अर्थमें। जैसा कि भारतमें प्रत्येक व्यक्ति जानता है, सभी पवित्र नदियोंके किनारे ऐसे लोगोंके छोटे-छोटे समूह रहते हैं जो नदीतटपर स्नान तथा पूजन करनेवालोंकी सेवा करते और उन्हें सहायता पहुँचानेका काम करते हुए अपनी रोजी कमाते हैं। वहाँ उनके अपने विशिष्ट स्थान बँधे रहते हैं जहाँ वे यहाँ-से-वहाँ हटायी जा सकनेवाली लकड़ीकी चौकियोंपर नैत्यिक पूजाकी साधारण सामग्री - थोड़ा-सा पानी-मिला दूध, फूल, चन्दनका लेप तथा अन्य वस्तुएँ—लेकर बैठते हैं। धूपसे तथा वर्षासे बचनेके लिए वे आश्रय प्रदान करते हैं, अपना सारा दिन और सारा जीवन ही नदीके किनारे तथा नदीके सहारे बिताते हैं। पवित्र नदी उन्हें सहारा देती है और उनका पालन-पोषण करती है, इसलिए वे सच्चे अर्थमें 'गंगापुत्र' हैं जैसा कि वे कभी-कभी कहे जाते हैं। तीर्थयात्री तथा पर्यटक जब बनारसके घाटोंपर इन घाटियोंको चिल्लाते तथा विविध चेष्टाएँ करते देखते हैं, तब उन्हें इस बातकी कोई कल्पना भी नहीं होती कि इनके अधिकारों, कर्तव्यों तथा आपसकी बाध्यताओंका परिनियमन हजारों वर्षोंसे चली आनेवाली प्रथाओं तथा रूढ़ियोंके अनुसार होता है। प्रत्येक घाटियेको निर्विवाद अधिकार प्राप्त रहता है कि वह किसी खास जगहपर अपना लकड़ीका तख्त जमावे और नदीका पानी ऊपर चढ़ने या नीचे उतरनेके अनुसार उसे ऊपर-नीचे हटा सके और यह कि उसका यह अधिकार—घाटियाके रूपमें काम करनेका अधिकार—न्यायालयों द्वारा मान्य होता है, किसीके द्वारा उसे छीननेका प्रयत्न होनेपर कानूनन वह उसे पुनः दिलाया जाता है, वह एक पीढ़ीसे दूसरी पीढ़ीको उत्तराधिकारमें प्राप्त हो सकता है, और वह बिक्री, रेहन या दान द्वारा घाटियोंमेंसे किसीको, नियमित प्रथाके अनुसार, हस्तान्तरित किया जा सकता है। यह एक बड़ी ही असाधारण बात है कि किस तरह इन लोगोंके सामाजिक जीवनमें हर तरफ पुराने तौर-तरीकों और परम्पराओंका आश्चर्यजनक साक्ष्य हमें देख पड़ता है। ये रस्म रिवाज और परम्पराएँ ऐसी हैं जो अगणित विदेशी आक्रमणों तथा असंख्य राजवंशोंके उत्थान-पतनके बावजूद हजारों वर्षोंसे चली आ रही हैं। सचमुच ही हिन्दू संस्कृति तथा हिन्दू सभ्यता अनश्वर और अमर है।

एक बार इलाहाबाद हाईकोर्टके एक विद्वान् अंग्रेज न्यायाधीशने एक दुःखद भूल कर डाली, उसने समस्त प्राचीन प्रथाओंकी उपेक्षाकर इन घाटियोंको शुद्ध भिखमंगोंकी संज्ञा दे दी, जो भक्त तीर्थयात्रियोंके दानपर पलते हैं और जिन्हें कोई अधिकार प्राप्त नहीं होते। यह बिलकुल ही गलत दृष्टिकोण था जिसका परिमार्जन शीघ्र ही उसके अन्य न्यायाधीश बन्धुओंने एक और मामलेकी सुन-

वाईके समय कर दिया, जिसमें पैरवी करनेके लिए मैं नियुक्त किया गया था।[१]

मुझे कितने ही मुकदमे बनारसके घाटियोंकी कृपासे प्राप्त हुए थे। मेरी कामना है कि वे सदा फूलें-फलें।[२]

१८. विश्वनाथ मन्दिरका मुकदमा

बनारसके मन्दिर सारे संसारमें प्रसिद्ध हैं। हिन्दू धर्मके सभी देवताओंके भक्त बनारसमें पाये जाते हैं और उन देवताओंकी पूजाके लिए विशिष्ट रूपसे बनवाये हुए मन्दिर भी, किन्तु बनारस सबसे अधिक भगवान् शंकरकी निवास-भूमि है, जिनकी पूजा काशी विश्वनाथके नामसे की जाती है जो काशीके संरक्षक देवता माने जाते हैं। समस्त भारतके प्रत्येक शिवभक्तका हृदय भक्तिपूर्ण अभिलाषाके साथ काशी विश्वनाथके सुवर्णमन्दिरकी ओर आकृष्ट हो जाता है। वर्तमान सुवर्णमन्दिर कारीगरीकी दृष्टिसे कोई भव्य इमारत नहीं है। किन्तु यह इधर कोई १७५ वर्ष पूर्व ही एक बड़ी रानी, इन्दौरकी सुप्रसिद्ध महारानी अहिल्याबाई द्वारा बनवाया गया था। पचास वर्ष बाद पंजाबके सुख्यात महाराजा रणजीत सिंहने गुम्बजपर सोनेका पत्तर चढ़वाया, इसीसे अब वह सुवर्णमन्दिर भी कहलाता है।

इसके निकट ही पुराने मन्दिरकी जगह थी। वह एक विस्तृत वर्गाकार भूमि है जहाँ बार-बार उपद्रव होते रहे हैं। मैंने अपने पेशेके सिलसिलेमें सन् १८१० से इस वर्गभूमि सम्बन्धी कागजपत्र, काररवाइयों और आदेशोंके पत्र देखे हैं। वहाँपर कई बार दंगे हुए हैं तथा अन्य प्रकारके झगड़े भी, दीवानी तथा फौजदारी, होते रहे हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इसी वर्गाकार भूमिमें प्राचीन कालमें काशी विश्वनाथका विशाल मन्दिर बना हुआ था। ऐतिहासिक तथ्योंसे मालूम होता है कि यह मन्दिर मुसलिम शासकोंके हुक्मसे कई बार गिरा दिया गया और हिन्दुओं द्वारा फिर-फिर बनवाया गया। किसी दीवानी मुकदमेके सिलसिलेमें बनारसकी एक जिला अदालतने इस समग्र विषयकी न्यायिक दृष्टिसे छानबीन करायी थी। अन्तिम बार जब वह अपनी पुरानी जगहपर बनवाया गया,

१. देखिए, सर प्रमोदचरण बनर्जीका फैसला, सूरजप्रसाद बनाम गनेशराम (१९२१) १९ इलाहाबाद लॉ जर्नल रिपोर्ट्स, पृ० ५१६, आई० एण्ड० आर० ४३, इलाहा० ५८१।

२. जिन स्थानोंपर, इलाहाबादमें गंगा-जमुनाके संगमकी तरह, ऐसी चौड़ी नदियोंके हमेशा बदलते रहनेवाले प्रवाहके कारण कोई पक्का घाट नहीं होता, प्रत्येक घाटिया अपने बैठनेके स्थानकी पहचान करानेके लिए खास तरहका झण्डा या पताका फहरा दिया करता है। इन झण्डोंपर तरह-तरहके निशान और संकेत तथा मनुष्यों, पक्षियों एवं पशुओंके चित्र बने रहते हैं। जो लोग (हर छठें वर्ष होनेवाले) इलाहाबादके कुम्भ मेलेमें कभी गये हों, उन्हें हवामें मन्द गतिसे लहराते हुए सैकड़ों ऐसे झण्डोंका स्मरण होगा। भारतके विभिन्न भागोंसे आये हुए तीर्थयात्रियोंको इन झण्डोंके कारण अपने प्रागवालका पता लगानेमें (इलाहाबादमें घाटियोंको प्रागवाल ही कहते हैं) कोई कठिनाई नहीं होती। प्रागवालों द्वारा किसी दूसरे प्रागवालका झण्डा हड़प लेनेका प्रयत्न क्वचित् ही किया जाता है; किन्तु जब भी ऐसी ढिठाईका कोई उदाहरण सामने आता है, तब वह अदालतकी निषेधाज्ञा द्वारा बिना कठिनाईके रोक दिया जाता है और कभी-कभी स्वयं दण्डाधिकारी द्वारा अपने आदेश से। प्रत्येक प्रागवालका झण्डा उसकी निजी सम्पत्ति, अपना विशिष्ट व्यापारचिह्न होता है और इस कारण उसकी रक्षाका उसे अधिकार है।

तब अगर मैं भूल नहीं कर रहा हूँ तो भारत पर अकबरका शासन चल रहा था। सन् १६६० के करीब औरंगजेबके हुक्मसे वह पुनः गिरा दिया गया और मन्दिरकी जगहपर एक मसजिद बनवा दी गयी।[1] मसजिदके पास ही ज्ञानवापीका कुआँ है, जिसमें, कहा जाता है कि, शिवजीकी मूर्ति पुरोहितों द्वारा उस समय फेंक दी गयी थी जब मन्दिर अपवित्र कर दिया गया था।

वकालत करनेके प्रारम्भिक कालमें ही मैं बनारसके सुवर्णमन्दिर और उसके इतिहाससे बहुत परिचित हो गया था। यह मन्दिर भारतके अत्यन्त सम्पन्न मन्दिरोंमेंसे एक है, उसकी बड़ी प्रसिद्धि है और समस्त भारतसे विभिन्न वर्गोंके जो लाखों, करोड़ों यात्री उसे देखने आते हैं—राजा, धनी महाजन, बड़े जमींदार, मामूली कारीगर और किसान—उस सबके कारण इसके प्रधान पुरोहितका पद बड़े गौरव तथा सम्मानका और धार्मिक एवं सामाजिक प्रभावका पद बन गया है। एक विशेष परिवारके सदस्य ही इस मन्दिरके महन्त होते हैं और इस हैसियतसे उन्हें मन्दिरमें सार्वजनिक पूजाकी व्यवस्था जारी रखनेके लिए होनेवाला खर्च पूरा कर देनेके बाद भेंटके रूपमें चढ़ायी गयी आमदनीका शेष भाग, बँधी हुई प्रथाके अनुसार, स्वयं अपने काममें लानेका अधिकार प्राप्त है। सदस्य अपनेमेंसे किसीको प्रधान महन्त चुन लेते हैं और जैसा कि हमेशा होता है, प्रधान महन्तके कारण ईर्ष्या और डाहका भाव फैलने लगता है। इस विशेष उदाहरणमें कुप्रबन्ध, भ्रष्टाचार और निधिके धनके दुरुपयोगके अनेक तथा गम्भीर आरोप बड़े महन्तपर लगाये गये थे और उसे हटाने तथा हिसाब प्रस्तुत करानेके उद्देश्यसे उसपर मामला चलाया गया था। वह एक भारी तथा अत्यन्त जटिल मामला था जिसमें ब्योरेकी अत्यधिक सामग्री, तथ्य तथा आँकड़े, इकट्ठे करने पड़े थे। स्थानीय जिला वकील-मण्डलीके बड़े-बड़े वकील, कुछ एक पक्षसे कुछ दूसरे पक्षसे खड़े हुए थे और मुकदमा कई महीनोंतक लस्टम-पस्टम चलते हुए ऐसी मंजिलपर पहुँच गया था जब अन्तिम बहस ही बाकी रह गयी थी। वादीके वकीलने अपने मुवक्किलोंकी ओरसे किया जानेवाला भाषण (जो एक पक्षसे अधिक समयतक चलता रहा था) खत्म कर दिया था और प्रतिवादीके मुख्य वकीलका भाषण कुछ ही दिनोंके बाद आरम्भ होनेवाला था किन्तु ठीक इसी समय उसकी मृत्यु हो गयी। बहुत कम उम्रके

१. मुगल बादशाहोंमें औरंगजेबको हिन्दू लोग बड़ा कट्टर और विनाशकी साक्षात् मूर्ति ही मानते हैं। इधरके कुछ मुसलिम लेखकोंने यह दिखलानेका प्रयत्न किया है कि वास्तवमें औरंगजेब इस बदनामीके योग्य नहीं था और उसके साथ अन्याय किया गया है। इस सिलसिलेमें यह भी सन्देह प्रकट किया गया कि औरंगजेबने बनारसके मन्दिरको गिरा देनेका कभी कोई हुक्म भी दिया था क्या? किन्तु बनारसके न्यायाधीशको अखण्डनीय ऐतिहासिक सामग्रीके आधारपर यह मालूम करनेमें कोई कठिनाई नहीं हुई कि मथुराके विख्यात केशवदेवके मन्दिर तथा बनारसके विश्वनाथ मन्दिरको गिरा देनेका हुक्म सन् १६६० में दिया गया था। मेरा अपना खयाल है कि यद्यपि इसमें सन्देह नहीं कि औरंगजेब बड़ा कट्टर मुसलमान था, फिर भी शासनके प्रारंभकालमें मन्दिरोंके इस तरह गिरवाये जानेका कारण उस हदतक उसकी कट्टरता न थी जिस हदतक भारतके मुसलमानोंकी भावना अपने अनुकूल बनानेकी नीति थी। औरंगजेबने अपने पिताको कैद करने और अपने सब भाइयोंको, जिसमें उदार दारा शिकोह भी था, मरवा डालनेके बाद ही सिंहासन प्राप्त किया था। उसे बड़ी कटुताका दमन करना पड़ा था और यह कार्य उसने शायद अपने सहधर्मियोंपर यह प्रभाव डालकर करना बेहतर समझा हो कि वह एक सच्चा, धर्मप्राण मुसलिम था, जब कि दाराशिकोह वास्तवमें धर्मद्रोही या काफिर था।

वकील ही मुकदमेकी देखरेखके लिए रह गये थे और वे इतनी बड़ी जिम्मेदारी उठानेके लिए अपने आपको असमर्थ समझ रहे थे। लोग मेरे पास आये तो मैंने प्रतिवादीकी तरफसे मामलेमें बहस करना स्वीकार कर लिया। बनारस कमिश्नरीमें मेरा यह पहला बड़ा मामला था और मैंने अपनी सारी शक्ति उस काममें लगा दी। न्यायाधीशने कृपा करके थोड़े दिनके लिए पेशी और बढ़ा दी और मैंने बड़ी मेहनतसे अपने मुकदमेका विस्तृत खाका तैयार किया। इसमें मुझे जिलेके अपने कम उम्रके दो विद्वान् साथियोंसे बहुत योग्यतापूर्ण और स्वेच्छादत्त सहायता मिली।[1] मैंने लगातार आठ दिनों तक मामलेमें बहस की। सिविल जज श्री अघोरनाथ मुखर्जी सचमुच ही आश्चर्यजनक तथा असाधारण स्मृतिशक्तिवाले व्यक्ति थे। वे बड़े ध्यानसे बहस सुनते थे, कभी-कभी दो एक समुचित प्रश्न बीचमें रोककर पूछ बैठते थे किन्तु कोई भी चीज लिखते नहीं थे, एक शब्द भी नहीं। मेरा खयाल है कि तीसरे दिन उन्होंने मुझसे कहा कि 'मैं कोई चीज लिख नहीं रहा हूँ, इसका आप गलत अर्थ न लगा लें, आपकी प्रत्येक दलीलका हवाला मेरे अभिनिर्णयमें मौजूद रहेगा।' और सचमुच ऐसा ही हुआ। उनका फैसला एक लम्बा प्रलेख, विशद रचना था। मुकदमेमें लगभग ५० विशिष्ट आरोप थे और उन्होंने उनमेंसे प्रत्येककी, एकके बाद एककी चर्चा उचित विस्तारसे की थी, जिसमें ऐसी एक भी बात छूटने नहीं पायी थी जिसपर उभय पक्षमेंसे किसीने भी जोर दिया हो। मेरे लिए यह एक ज्ञानवर्द्धक अनुभव था और बादमें मुझे पता चला कि यदि किसीकी याददाश्त सामान्य रूपसे अच्छी हो, तो प्रश्न केवल इतना ही रह जाता है कि अभ्यास द्वारा किस तरह उसकी शक्ति बढ़ायी जाय। इसके सिवा आपको यह भी करना होगा कि आप शेरलॉक होम्सका अनुसरण करें, जिन सब चीजोंमें आपकी दिलचस्पी न हो उन्हें निरर्थक वस्तुकी तरह छोड़ दें और स्मृतिमें उन्हींका संचय करें जो आपके लिए उपयोगी तथा आवश्यक हों।

फैसला मुख्य रूपसे प्रतिवादीके पक्षमें हुआ। जजको मालूम हुआ कि बड़े महन्त मन्दिरका कामकाज उत्साहके साथ और विवेकपूर्वक किया करते थे तथा सार्वजनिक पूजा उचित गौरव एवं समारोहपूर्वक की जाती है और उसे अपदस्थ करनेके लिए कोई कारण नहीं दिखाई देता। निधिके दुरुपयोगके सब आरोप मिथ्या प्रमाणित हुए और न्यायाधीशने हिसाब अधिक अच्छी तरह रखनेके लिए समुचित निर्देश दे दिये। यह डिगरी हाईकोर्टमें अपील होनेपर भी कायम रही।

सुवर्णमन्दिर सम्बन्धी मुकदमेको मैं अपने वकीली पेशेकी एक महत्त्वपूर्ण घटना मानता हूँ। इससे संयुक्त प्रान्तके पूर्वी जिलोंमें मेरा नाम हो गया और इसने अच्छी आमदनी करानेवाली स्थायी भूमिकाका काम किया। किन्तु मैं इस मुकदमेको सबसे अधिक महत्त्व इस कारण देता हूँ कि इसके जरिये ही इस पवित्र नगरीसे मेरा पहला वास्तविक परिचय हुआ। पहले पहल मैं वहाँ सन् १९०५ के बड़े दिनोंमें गया था ; जब मैं भारतकी राष्ट्रीय महासभाके वार्षिक अधिवेशनमें दर्शकके रूपमें शामिल हुआ था। उसके बाद मैं एकाध बार ही वहाँ गया था जिसका कोई महत्त्व न था। किन्तु सुवर्णमन्दिरसे मैं उस समय भी और अब भी आन्तरिक प्रेरणा, आशा, साहस तथा विश्वास पाता हूँ, अपने लिए

१. यह सन् १९१९ की बात है। दोनों जूनियर वकील अभी युवक ही थे। उनमेंसे एक श्री हरचरणलाल बड़े उद्यमी तथा होनहार व्यक्ति थे जो इस पेशेमें अच्छी सफलता प्राप्त कर सकते थे किन्तु असमय ही उनकी मृत्यु हो गयी। दूसरे—श्री यतीन्द्रनाथ बनर्जी—जो मेरे निजी मित्र हैं, बनारस वकील-मण्डलीके पुराने तथा सम्मानित सदस्य हैं। बहुतसे उल्लेखनीय मुकदमोंमें हम लोगोंने साथ-साथ काम किया है। इनमेंसे एक जंगमबाड़ीका (जनवरी १९४२) हाईकोर्टका सनसनीदार मुकदमा था।

भी तथा अपने देश और मानव जातिके भविष्यके लिए भी। उस दिनसे बनारसकी पवित्र नगरीने जो हमारी हिन्दू संस्कृतिका केन्द्र है, मुझे अपना पोष्यपुत्र-सा बना लिया है और मैं उसकी रमणीयता, उसके पवित्र सम्पर्क, स्मृतिके पहलेकी परम्परा तथा मधुर स्मृतियोंका स्वेच्छया शिकार बन गया हूँ। सन् १९१९ के बादसे शहरका काफी विकास हो गया है। अपने महान् विश्वविद्यालयके जरिए वह सचमुच ही विद्याका केन्द्र बन गया है जहाँ पूरब तथा पश्चिमका ऐसा मनोरम मेल देख पड़ता है और मैं श्रद्धापूर्वक विश्वास करता हूँ कि वर्तमान सारनाथ, जो कभी भगवान् बुद्धकी चरण-रजसे पवित्र हुआ था, एक बार फिर भारतमें बौद्धकालीन गौरवका पुनरुज्जीवन करेगा।

१९. मथुराके मुकदमे

बनारसकी तरह मथुरा तथा वृन्दावन भी हिन्दू धर्मके पवित्र स्थान हैं, जो वैष्णवोंकी दृष्टिमें तो काशीसे भी अधिक पावन हैं। शिव, विनाशकारी देवता होनेके कारण विरक्त तथा एकान्तप्रिय हैं, वे गिरि-दुर्गोंमें रहते हैं या हिमाच्छादित शिखरोंपर, गलेमें नर-मुण्डोंकी माला पहनते हैं, भुजाओं-पर भुजंग लपेटे रहते हैं और शरीरपर भस्म रमाये रहते हैं। वे वास्तविकताके, जीवनकी निपट असा-रताके, प्रतीक हैं। इसके विपरीत वृन्दावन और गोकुल, बल्कि सारा व्रजमण्डल ही जीवनप्रमोदकी भूमि है, वह भूमि जहाँ कृष्णका जन्म हुआ, जहाँ उन्होंने बाल्यजीवन बिताया, खेले और नाचे तथा प्रेम किया। सचमुच व्रजभूमिका चप्पा-चप्पा भक्तजनोंकी दृष्टिमें पवित्र है।

हिन्दुओंमें, विशेषकर पढ़े-लिखे हिन्दुओंमें, नयी राष्ट्रीय जागर्ति हो जानेके बाद, आजके युगमें कृष्ण एक आदर्श कर्मयोगी माने जाते हैं और इसी रूपमें उनकी पूजा की जाती है। भगवद्गीताके रूपमें उनका दिव्य सन्देश, जबसे वह हजारों वर्ष पहले सुनाया गया था, तभीसे सचमुच चारो वेदों और समस्त उपनिषदोंका सार माना जाता रहा है और हिन्दुओंके पवित्र ग्रन्थोंमें इसका स्थान बहुत ऊँचा रहा है। हिन्दुओंके समस्त धार्मिक विचारोंपर तथा दर्शनपर गत डेढ़ हजार वर्षोंके भीतर उसका गहरा, उत्कट तथा स्थायी प्रभाव पड़ा है। किन्तु मुख्य रूपसे पिछले पचास-साठ वर्षोंमें ही भगवद्-गीताने हिन्दू समाजके विचारवान् व्यक्तियों और जीवन सम्बन्धी उनके दृष्टिकोणमें क्रान्तिकारी परि-वर्तन कर दिया है। कर्म ही कृष्णके जीवनका मर्म और उनकी शिक्षाका तत्त्व है। मुझे इस बातमें सन्देह ही है कि हिन्दू जातिके इतिहासमें इसके पहले कभी भगवद्गीताका इतने व्यापक रूपसे पाठ होता था जितना आजकल होता है। आज लाखों, करोड़ोंकी संख्यामें हिन्दू लोग प्रतिदिन गीता पढ़ा करते है, मूल संस्कृतमें, प्राचीन टीकाओंके रूपमें और भारतमें बोली जानेवाली प्रत्येक प्रान्तीय भाषामें किये गये अनुवादोंके रूपमें। गीताकी लाखों प्रतियाँ प्रतिवर्ष बेची जाती हैं। लोग पढ़ते हैं और विचार करते हैं और शतियोंसे व्याप्त अकर्मण्यता, शिथिलता एवं निद्राका परित्यागकर उठ खड़े होते हैं। इस युगका इतिहास जब लिखा जायगा, तब इतिहासकार गीताके उस प्रचण्ड प्रभावकी चर्चा किये बिना न रह सकेगा जो भारतकी स्वतन्त्रताके लिए चलाये गये राष्ट्रीय आन्दोलनके समस्त अंगोंपर—राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक—पड़ा था। 'कर्म करो और जीवन या मृत्युकी अथवा सफलता या असफलताकी चिन्ता किये बिना, एकाग्र चित्तसे कर्त्तव्यका पालन करते चलो,' यही गीताका मुख्य उपदेश है, जो दिन प्रतिदिन हिन्दुओंके मानस-पटलपर अंकित होता रहा है। कार्ल मार्क्स तथा लेनिन जैसे पश्चिममें हुए हैं, वैसे ही कृष्ण भारतके महान् क्रान्तिकारी कहे जा सकते हैं। मैं अपने मुख्य विषयसे कुछ बहक-सा गया किन्तु इन सब बातोंसे पता चलेगा कि सामान्य

हिन्दू जनतापर ही नहीं वरन् शिक्षित वर्गपर भी मथुरा और वृन्दावनका प्रभाव एवं आकर्षण क्यों बढ़ता रहा है।

मथुरा-वृन्दावनके मन्दिरोंमें बारहों महीने भक्तिपूर्ण आनन्दमय उत्सव तथा नृत्य और संगीत-का समाँ बँधा रहता है। प्रतिदिन ही निरन्तर कर्मरत जीवनके प्रतीकस्वरूप तथा भक्तिके केन्द्ररूपमें कृष्णकी उपासना की जाती है। भक्ति कई तरहकी हो सकती है, स्नेही मित्रकी भक्ति, स्वामीके प्रति सेवककी भक्ति, माताका पुत्रके प्रति अनुराग और प्रेमीकी अपने प्रेमपात्रके प्रति प्रीति। मथुरा-वृन्दावनमें भक्तिके इन सभी रूपों द्वारा कृष्णकी आराधना की जाती है किन्तु उसका अन्तिम रूप ही सबसे पवित्र तथा सर्वोत्कृष्ट है। कृष्णके प्रति राधाका अनुराग भक्तिका सर्वोत्तम प्रकार है और यद्यपि भारतके प्रत्येक हिन्दू परिवारमें इसके गीत गाये जाते हैं, फिर भी मथुरामें तो यह वहाँकी भूमि और वहाँकी जनताके प्राणोंमें ही समा गयी है। राधाकृष्ण वहाँ मानो प्रत्येक स्थलपर, हर समय, हर घड़ी विहार करते रहते हैं और वे पतितों तथा आर्त्तजनोंतकके जीवनमें मिठास भर देते, उसे मूल्यवान् बना देते और ऊँचा उठा देते हैं।

मुझे अपनी वकालतके प्रारम्भकालमें ही मथुराके लोगोंके सम्पर्कमें आना पड़ा। मेरी पत्नीके सम्बन्धी वहाँ रहते थे और उनके भाईने सन् १९१३ में वकील बननेकी योग्यता प्राप्त कर लेनेके कुछ ही समय बाद मथुरामें ही वकालत करना शुरू कर दिया। मैं कभी-कभी उनके पास जाया करता[१] और उनके कितने ही मित्रोंसे मिला करता था जो वहाँकी जिला वकील-मण्डलीके नये-नये सदस्य थे।[२] इस तरह इलाहाबादमें मेरी वकालत अच्छी तरह जमनेके पहले ही मथुरा और वहाँके मन्दिरोंसे मैं परिचित हो चुका था। मैंने वहाँके वातावरणमें ही एक तरहकी निश्चिन्तता और आह्लादपूर्णता देखी और वहाँके लोगोंको बालरूप भगवान् कृष्णके प्रेममें सराबोर पाया।

वकालतके सिलसिलेमें भी लोगोंसे मेरा सम्पर्क शीघ्र ही आरम्भ हो गया और यह तेजीसे बढ़ने लगा। प्राचीन तथा अनोखी घटनाओंके प्रति मेरी प्रवृत्तिकी पूर्णतः तृप्ति भी उन मुकदमोंके कारण हो गयी जिनमें पैरवी करनेके लिए मैं नियुक्त किया गया।

मथुरामें की गयी खुदाईसे स्पष्ट हो गया है कि प्राचीन भारतमें उसे कितना महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। कृष्णके साथ उसका पुनीत सम्बन्ध होनेके सिवा, वह एक बड़ी आबादीवाला नगर और उस युगका एक प्रसिद्ध राजनीतिक केन्द्र था। नगर सम्भवतः कई बार ध्वस्त कर दिया गया किन्तु हर बार उसका पुनर्निर्माण हो जाता था। उसके मन्दिर बार-बार भूमिसात् कर दिये गये किन्तु सब व्यर्थ। ज्यों ही अवसर मिलता, और धर्मान्ध शासक या अत्याचारीका दबदबा, उसकी मृत्यु हो जाने या अन्य कारणसे, दूर हो जाता त्यों ही धर्मशील व्यक्ति नये मन्दिर और नये भवन बनवा देनेके लिए

---

१. इनका नाम था पण्डित जगदीश्वरनाथ कौल। ये १९१९ में यू० पी० प्राविंशल जुडीशल सर्विसमें प्रविष्ट हुए और एक अच्छे जज बन गये। उद्योगशीलता, ईमानदारी, पक्षपातहीनता तथा नगरप्रेमके कारण उनकी बड़ी प्रशंसा होती थी। दुर्भाग्यवश सन् १९३६ में ही झाँसीमें उनकी अकालमृत्यु हो गयी।

२. मुझे खुशी है कि उनमेंसे कुछ, जैसे द्वारकानाथ भार्गव, अब भी मेरे घनिष्ठ मित्र हैं। किन्तु एक मित्र श्री गंगाप्रसाद भार्गवकी जो मुझे बहुत ही प्रिय थे, मृत्यु अकस्मात् इलाहाबादमें हो गयी जब वे एक मुकदमेमें मेरी सलाह लेने आये थे। उनकी मृत्युका खयालकर मुझे आज भी दुःख होता है।

तत्पर हो जाते, जो भव्यतामें, गौरवमें तथा विशालतामें, जहाँतक सम्भव होता, उन भवनोंको भी मात कर देते जो इसके पहले विद्यमान थे।

बहुतसे प्रसिद्ध मन्दिर जो इस समय मथुरा तथा वृन्दावनमें विद्यमान हैं, अकबरके शासन-कालके बने हैं। विभिन्न सम्प्रदायोंमें स्थायी एकता स्थापित करनेके उसके उदार दृष्टिकोण, सभी धर्मों-के प्रति उसकी सहिष्णुताकी नीति और प्राचीन हिन्दू ऋषियों तथा महात्माओंके आध्यात्मिक संदेशके प्रति उसकी सच्ची आस्था और निष्ठाके कारण उत्तरी भारतके समस्त तीर्थस्थानोंमें विशाल मन्दिरोंका निर्माण करनेके लिए पर्याप्त प्रेरणा मिली। मथुराका केशवदेवका अद्भुत मन्दिर और वृन्दावनका गोविन्ददेवजीका मन्दिर अकबरके ही राज्यकालमें निर्मित हुए थे।[१] मथुरा जिलेके कई मुकदमोंमें मुझे अकबरकी उदारताके ऐसे उदाहरणोंका पता चला जिनसे बड़ी प्रसन्नता हुई।

पुरानी कथा है कि अत्याचारी कंसका वध करनेके बाद कृष्णने जमुनाके तटपर विश्राम किया और वहीं स्नान किया। उस पवित्र स्थानका स्मारक वह पक्का घाट है जो विश्रामघाट कहलाता है। मथुराके घाटोंका दृश्य उतना सुन्दर तो नहीं है जितना काशीके घाटोंका है—मथुरामें नदी मोड़ नहीं लेती—फिर भी घाट कई हैं और मनोरम हैं जहाँ लोगोंकी, यात्रियोंकी तथा स्नानार्थियोंकी भीड़ दिनभर लगी रहती है। मथुरामें नदीका किनारा एक टीलेके नीचे पड़ता है और ऊपर बने हुए मकानोंपरसे नदीका दृश्य बड़ा सुन्दर दिखाई देता है। जमुनाके घाटिया चौबे कहलाते हैं। मेरा अनु-मान है कि मथुराका चौबे समाज भी उतना ही पुराना है जितना मथुरा नगर है। अकबरके राज्य-कालमें उसके अर्थमंत्री राजा टोडरमलने राजस्व विषयक नीतिके लिहाजसे सारे साम्राज्यकी भूमि का सर्वेक्षण और बन्दोबस्त कराया था। निजी जायदादके हकोंकी जाँच की गयी थी और जिनका अधि-कार सन्तोषजनक रूपसे प्रमाणित न हो सका, वे सब विवादग्रस्त भूक्षेत्र सीधे राज्यके अधिकारमें मान-लिये गये और उसी आधारपर करारोपण किया गया। मथुराके नदीतटकी भूमिकी भी नापजोख की गयी। चौबे लोगोंने उसके उपयोगका प्राचीनकालसे चला आनेवाला अधिकार प्रकट किया किन्तु राजा टोडरमलने उनका दावा माननेसे इनकार कर दिया और सारे नदीतटको राज्यकी भूमि मानकर सम्भवतः उसपर करकी मात्रा भी निर्धारित कर दी और उसे अन्य लोगोंको किरायेपर दे दिया। इससे चौबे लोगोंमें हलचल मच गयी। उनका समाज काफी बड़ा था किन्तु राजा टोडरमल जैसे शक्तिशाली मंत्रीके हुक्मके खिलाफ राहत पानेका प्रयत्न करना खतरनाक काम था और प्रत्येक आदमी उसे करनेकी हिम्मत नहीं कर सकता था। फिरभी बारह परिवारोंके प्रतिनिधि साहसकर बाद-शाहके दरबारतक जा पहुँचे—मैं निश्चित रूपसे नहीं कह सकता कि शाही दरबार उन दिनों (आगराके पास) फतेहपुर सिकरीमें था या लाहौरमें—और उन्होंने अपनी फरियाद दाखिल कर दी। मैंने इस याचिकाकी एक प्रतिलिपि देखी थी जो उस शाही फरमानके साथ संयुक्त थी जो उसपर जारी किया गया था। उसमें युगयुगसे चली आनेवाली मथुराकी पवित्रताका उल्लेख था और इसका भी कि नदीके तटका पवित्र घाटोंके रूपमें चौबे लोगों द्वारा शताब्दियोंसे प्रयोग किया जाता रहा है। उसमें आग्रह किया गया था कि राजा टोडरमलका आदेश न्यायके प्रतिकूल है जिससे प्रार्थियोंकी दुःखद

---

१. सोलहवीं शताब्दीतक वृन्दावनकी सारी याददाश्त भुला-सी दी गयी थी। वहाँ की समस्त भूमि जंगलसे व्याप्त हो गयी थी और वृन्दावनके पुनरुद्धार तथा पुनर्निर्माणका कमसे कम आंशिक श्रेय चैतन्य महाप्रभु तथा उनके दो शिष्यों, रूप और सनातन, को है। इस अव-रोक्त शिष्यने वृन्दावनको ही अपना निवासस्थान बना लिया था—देखिये यदुनाथ सरकार द्वारा लिखित 'चैतन्य, उनकी जीवनी तथा उपदेश।'

हानि होती है। बादशाहने कृपापूर्वक प्रार्थना स्वीकार कर ली, उक्त आदेश रद्द कर दिया और आज्ञा दी कि चौबे लोगोंके प्राचीन अधिकार उन्हें फिर लौटा दिये जायँ। उसके बादसे चौबे लोग बिना विघ्न-बाधाके मथुरामें और उसके घाटोंपर रहते रहे हैं। जिन बारह साहसी आदमियोंने हिम्मत बाँधकर उक्त कारवाई की थी, उन्हें अपने सुकृतका पुरस्कार मिल गया। निश्चय किया गया कि एक घाटको छोड़कर अन्य सभी घाटोंपरके मन्दिरों आदिकी चढ़ोत्री और दानका पैसा तो पहलेकी ही तरह सम्मिलित अधिकारकी वस्तु समझी जाय और सब चौबे लोगोंमें उसका समान रूपसे वितरण हो, किन्तु विश्रामघाटके एक विशिष्ट मन्दिरकी आमदनी (जहाँ खुद जमुना नदीकी पूजा की जाती है) सम्पूर्ण रूपसे मात्र उक्त बारहों परिवारके लोगोंके लिए सुरक्षित रहे। यह रिवाज सैकड़ों वर्षोंसे चला आ रहा था और अब इस शताब्दीमें एक दीवानी मुकदमा चलाकर उसके सम्बन्धमें आपत्ति की गयी थी। पुराने कागजपत्र, जिनमें अकबरका फरमान भी शामिल था, साक्ष्यके तौरपर पेश किये गये और दीवानी अदालतोंको चिरकालसे प्रतिष्ठित प्रथाका समर्थन करनेमें कोई दिक्कत नहीं हुई।

वैष्णव लोग वृन्दावनको साक्षात् स्वर्ग ही मानते हैं। वैष्णवोंमें भी वल्लभ सम्प्रदायवाले व्रजभूमिको (अर्थात् मथुराके आसपासकी उस भूमिको जिसका कृष्ण और राधाके बाल्यजीवनसे सम्बन्ध रहा है) विशेष रूपसे पवित्र मानते हैं। इस सम्प्रदायकी स्थापना दक्षिणके वल्लभाचारी नामक एक विद्वान् ब्राह्मणने की थी, जिन्होंने अपने उपदेशमें बतलाया था कि मथुरा और वृन्दावनमें कृष्णके बालरूपकी उपासना ही सबसे अच्छी और ऊँची भक्ति है। यह सम्प्रदाय अब भी विद्यमान है और उसके बहुसंख्यक तथा सम्पन्न अनुयायी समस्त भारतमें फैले हुए हैं, विशेषकर उत्तरी तथा पश्चिमी भारतमें। वल्लभाचारी अपने पीछे छः पौत्र छोड़ गये थे और इनमेंसे प्रत्येकने एक-एक पृथक् संस्थाकी और मन्दिरादिके संचालनार्थ धर्मोत्तर सम्पत्तिकी स्थापना की और स्वयं ही उसके प्रथम संचालक बने। इनकी स्थापना भिन्न-भिन्न स्थानोंमें हुई, जिनमेंसे उदयपुर राज्यके अन्तर्गत नाथद्वारा सबसे मुख्य है और मथुराके निकट गोकुलमें भी एक मठ है। गोकुल ही वह स्थान है जहाँ, कृष्ण, आधी रातमें मथुरामें उनका जन्म होनेके बाद, नन्द नामक एक गोपके घर, अपने मामा कंस द्वारा मार डाले जानेके भयसे, पहुँचा दिये गये थे। वहाँ शिशुरूपमें तथा बालरूपमें कृष्ण तबतक रहे, जबतक नन्दका परिवार वहाँसे हटकर वृन्दावनमें आकर नहीं रहने लगा। गोकुल भी सबसे पवित्र स्थानोंमेंसे एक माना जा सकता है। अकबर तथा उनके बादके बादशाहों द्वारा वल्लभ सम्प्रदायके गोकुलस्थ मठाधीश्वरोंको, जो गोसाईं कहलाते थे, दिये गये फरमान मैंने देखे हैं, जिनमें उन्हें भूसम्पत्ति और गायोंको चरानेकी तथा प्राचीन प्रथाके अनुसार अर्चन-पूजाकी अद्वितीय सुविधाएँ दी गयी थीं। गोकुल तथा अन्य पवित्र स्थानोंमें गोवधका निषेध कर दिया गया था।

सन् १९४० में सिविल न्यायाधीशकी अदालतमेंकी गयी एक मनोरंजक अपीलमें बहस करनेके लिए मैं मथुरा ले जाया गया। ढाई सौ वर्ष पहले वल्लभ सम्प्रदायके अनुयायियोंमें एक झगड़ा उठ खड़ा हुआ था। उसके ब्योरेमें जानेसे मुझे बहुत समय लगेगा। इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि उनके धार्मिक मतकी जटिलताओंसे ही उसका सम्बन्ध था। काफी बड़ी संख्यामें अनुयायी उससे पृथक् हो गये। पन्थके संस्थापक तथा उनके पुत्र एवं पौत्रके प्रति उनकी सुदृढ़ आस्था थी किन्तु उनके वंशजोंके प्रति उनका उतना आदरभाव नहीं रह गया था। उन्होंने गोकुलके निकट अपनी एक अलग बस्ती बसा ली, जैसा कि उन्होंने मुझे बतलाया, और उसका नाम गांधीपुर रखा। यह नाम सुनकर मुझे कुछ अचम्भा-सा हुआ। ढाई सौ वर्ष पूर्व पंथसे पृथक् हो जानेवाले मुख्य लोगोंमेंसे एकका नाम गांधी था। सन् १९४० का मामला एक मकानके बारेमें था, जो अपेक्षाकृत एक मामूली-

बीमारीसे छुटकारा पानेके लिए जो मेरे लिए एक भयानक स्वप्नके सदृश हो गयी थी। एक दिलचस्प घटना और किस तरह मुझे आश्चर्यजनक रूपसे बीमारीसे छुटकारा मिला, इसका भी उल्लेख यहाँ करना उचित होगा।

सन् १९२६ में मथुरा जिलेके एक भारी और मुश्किल मामलेमें मुझे हाईकोर्टमें खड़े होना पड़ा। उसमें कानूनकी बारीकीका एक प्रश्न उन पंचोंके निर्णयकी वैधताके सम्बन्धमें उठाया गया था, जिनकी नियुक्ति एक विचाराधीन मामलेमें उभय पक्षके कुछ लोगोंके निर्देशसे की गयी थी और जिसमें बिलकुल आखीरमें एकाएक लोगोंने अपनी राय बदल दी थी। अपने मुवक्किलोंको जिता देनेमें मैं किसी तरह सफल हो गया, जिससे दूसरे पक्षको भारी हानि उठानी पड़ी।[१] कुछ महीनोंके बाद मैं आगरा डिवीजनसे (मथुरा जिला इसी डिवीजनमें शामिल है) केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभाके लिए उम्मेदवारके रूपमें चुनाव लड़ रहा था और मैं जनताको अपने पक्षमें मत देनेके लिए राजी करनेका जोरदार प्रयत्न करनेके उद्देश्यसे दौरा कर रहा था। अब इत्तफाकसे हुआ यह कि ऊपरके मुकदमेमें जिस व्यक्तिकी हार हो गयी थी, वह एक प्रभावशाली मतदाता था और मैं अपने स्थानीय मित्रोंके साथ मतार्थी बनकर उसके घर जा पहुँचा। उसने बड़े प्रेम और शिष्टताके साथ हमारा स्वागत किया, बड़े अच्छे ढंगसे बातचीत की और मेरा समर्थन करनेका वचन दिया (अप्रिय मतार्थियों तथा उनके सहायक कार्यकर्त्ताओंसे अपना पिण्ड छुड़ानेके लिए हमारे देशमें बहुतसे मतदातागण महज शिष्टताके लिहाजसे ऐसा ही किया करते हैं) और जब मैं उसके मकानसे चलनेको हुआ तो उसने मुझे स्मरण दिलाया कि 'आपने तो मुझे करीब-करीब बर्बाद ही कर दिया था।' मैं भौंचक्का रह गया और मेरी समझमें कुछ भी नहीं आया---इस आदमीसे मैं पहले कभी नहीं मिला था और उस मुकदमेकी बात मुझे बिलकुल ही स्मरण नहीं थी---मैंने उनसे पूछा कि 'ऐसे अवांछनीय व्यवहारके लिए मैं किस प्रकार दोषी हो सकता हूँ।' उसके ओठोंपर एक ठण्ढी (स्नेहविहीन) मुसक्यान[२] दौड़ गयी (उस समय मौसिम भी ठण्ढका ही था) और उसने मुकदमेकी बातें कह सुनायीं। निस्सन्देह अब मुझे उसका स्मरण हो आया। उसे बीते अभी बहुत समय नहीं हुआ था और मुझे अपनी सफलतापर गर्व था किन्तु इस समय यहाँ कुछ कहना बड़ा भद्दा होता। वह ऐसा समय था जब इस सम्बन्धमें बहस करना बिलकुल निरर्थक होता। मैंने उस हानिके लिए अपना खेद प्रकट किया जिसका मैं अनजानेमें कारण तथा जरिया बन गया था और अगली बार उसके लिए अधिक अच्छी सफलताकी शुभकामना प्रकटकर मैं वहाँसे चला आया। मुझे निश्चित रूपसे नहीं मालूम कि आखिर चुनावमें उसने मेरी कोई सहायता की या नहीं। हो सकता है कि उसने की हो, क्योंकि वह देखने-सुननेमें बड़ा सज्जन-सा प्रतीत होता था। किन्तु मैं उसके मनके भावोंको अच्छी तरह समझ सकता हूँ। वह कोई राजनीतिज्ञ तो था नहीं और उस बेचारेके लिए सम्भवतः एक वकील तथा व्यवस्थापिका सभाके एक उम्मेदवारमें स्पष्टतः अन्तर करना मुश्किल था। और अब मैं अपनी रोग-मुक्तिका हाल लिखता हूँ।

सन् १९२१–२२ के जाड़ोंमें मैं बीमार हो गया—मुझे हलका-हलका ज्वर रहता था, एक तरहकी शिथिलता और थकावट-सी रहती थी और कभी-कभी खाँसी भी आती थी, जिससे कृशता और कमजोरी बढ़ रही थी। मैं अपना काम तो बराबर करता चलता था किन्तु न तो उसमें कुछ

१. मामलेका विवरण देखिए—तुलसीराम बनाम वासुदेव (१९२६), २४, ए० जेड० आई० आर० पृष्ठ ७०५।

२. ऐसा ही एक अनुभव मुझे अन्य जिलेमें हुआ था किन्तु वह इतना विषादमय नहीं था।

आनन्द आता था और न दिल में कोई उत्साह ही रहता था। मैंने अपने डॉक्टरोंसे[१] सलाह ली और तरह-तरहकी दवाओंका सेवन किया किन्तु लाभ कुछ भी न हुआ। बीमारी पूर्ववत् चलती रही और मेरा स्वास्थ्य बराबर गिरता गया। जून सन् १९२२ में मथुराका मेरा एक मुवक्किल कमिश्नरके सामने अपने दो गवाहोंका संपरीक्षण करनेके लिए मुझे राजपूतानेके व्यावर नामक स्थानमें (अजमेर-के निकट) ले गया। यह एक भारी मामला था और गवाह भी बहुत महत्त्वपूर्ण थे। उनके बयान अभिलिखित करनेमें[२] लगभग दो सप्ताह लग गये। इनमेंसे एक गवाहके ही यहाँ मैं ठहरा हुआ था, जो एक सम्पन्न महाजन था। तीन दिनोंके भीतर मेरी तबीयत एकाएक अधिक खराब हो गयी और मैंने अनुरोध किया कि कोई डॉक्टर बुला दिया जाय। मेरा मेजबान कुछ-कुछ क्षमाचायना-सी करते हुए अपनी इच्छा प्रकट करनेकी चेष्टा करने लगा। वह मेरे लिए सिविलसर्जनको (जो बहुत ही योग्य और अनुभवी चिकित्सक था) बुलानेके लिए तैयार हो गया किन्तु साथ ही उसने मुझसे कहा कि 'मैं तो आपसे एक बूढ़े, अवसरप्राप्त सब असिस्टेण्ट सर्जनकी सिफारिश करूँगा (वह सब असि-स्टेण्ट सर्जन भी था, इसमें भी मुझे सन्देह है) जो एक बहुत ही अनुभव प्राप्त चिकित्सक हैं।' मैं बहुत जल्दी करना चाहता था और मुझे डॉक्टरी सहायताकी तुरन्त आवश्यकता थी, इसलिए मैंने उससे कहा, 'आपकी जैसी इच्छा हो, कीजिये। आप जिसे चाहें उसे ही बुला दीजिये, बशर्ते कि वह शीघ्र ही यहाँ आ जावें।' कुछ ही मिनटोंके बाद एक बूढ़े सज्जन, लहलही डाढ़ी और पुराने लोगों जैसे सुहावने स्वभाववाले, मेरे पास आये। मरीजकी शय्याके पास बैठकर उसे मीठे शब्दोंमें सान्त्वना देते रहनेकी उनकी आदत थी। उन्होंने अच्छी तरह और बड़ी सावधानीसे मेरी परीक्षा की और मेरे लिए बबूल की गोंद निर्धारित कर दी। उसे मुँहमें रखकर चूसते रहना था। मैंने ऐसा ही किया और उसने जादूकी तरह अपना आश्चर्यजनक प्रभाव दिखलाया। दो-तीन दिनोंके भीतर ही मेरी तबीयत बिल्कुल ठीक हो गयी। परेशान करनेवाले मेरे सभी लक्षण दूर हो गये, तापमान साधारण रहने लगा और मैं नया जीवन प्राप्तकर घर लौटा, स्वस्थ एवं शक्तिसम्पन्न। इसके बीस वर्ष बादतक मैंने कभी यह नहीं जाना कि कठिन बीमारी कैसी होती है। इसलिए मैं बड़े आदरके साथ उक्त बूढ़े डॉक्टर साहबका अभिवादन करता हूँ और मथुराके अपने उक्त मित्रका भी जो मुझे व्यावर ले गये थे। मथुराके प्रति मेरे कृतज्ञ होनेका यह भी एक कारण है।

और अन्तमें मथुराका वर्णन समाप्त करनेके पूर्व क्या मैं उन आह्लादमय क्षणोंका भी निर्देश कर दूँ जो मैंने मथुराके सुन्दर संग्रहालयमें बैठकर बिताये हैं? जहाँ प्राचीन मूर्तिकलाके तथा अन्य पुरातन अवशेषोंके बहुमूल्य नमूने संगृहीत हैं।[३]

---

१. इनमेंसे एक योग्य महाशयने असावधानतापूर्ण जल्दबाजीमें मेरे लिए ५ ग्रेन सबक्लोर निर्धा-रित कर दी, जब कि वे वास्तवमें मुझे 'परक्लोर' देना चाहते थे। जिसके यहाँसे मैं दवा लिया करता था, वह बड़ा भला आदमी था और सौभाग्यसे वह मेरी रक्षाके लिए खड़ा हो गया—उसने मेरे लिए उक्त दवा तैयार करनेसे इनकार कर दिया। उसने मुझे बी० पी० सी० में निकालकर दिखला दिया कि सबक्लोरकी अधिकतम मात्रा १।१० ग्रेन (एक रत्ती-का बीसवाँ हिस्सा) है—५ ग्रेन (याने २॥ रत्ती) की मात्रा आध घण्टेके भीतर आदमीके प्राण ले लेनेके लिए काफी है।

२. इन दोनों गवाहोंमें एक महिला भी थी। ऐसा समझदार गवाह मैंने क्वचित् ही देखा है। एक बहुत ही अनुभवी वकीलने लगातार कई दिनोंतक थका डालनेवाली जिरह उससे की, फिर भी बड़े धैर्यके साथ उसने उसका मुकाबिला किया।

३. काशीके निकट स्थित सारनाथका संग्रहालय भी अद्भुत है और अपने आश्चर्यजनक शीर्षवाले अशोकस्तम्भके लिए प्रसिद्ध है।

अविभाज्य राज्योंके मामले (२०–२४)

२०. बारा सम्बन्धी मुकदमा

हिन्दू विधिके अनुसार समस्त सम्पत्ति साधारणतया उन सभी उत्तराधिकारियोंको प्राप्य होती है जो उसी पीढ़ीके समवंशज हों और उनमेंसे किसीके भी इच्छा और माँग करनेपर उसका विभाजन किया जा सकता है। मुसलिम विधि उत्तराधिकारियोंकी कई श्रेणियाँ मानती है और किसी व्यक्तिके मृत होनेपर उसकी सम्पत्ति बँधे हुए विशिष्ट ढंगसे, विशिष्ट अंशोंमें कई उत्तराधिकारियोंको प्राप्त होती है।

किन्तु रूढ़ियाँ उत्तराधिकार सम्बन्धी सामान्य नियमोंसे अधिक प्रभावकारी हो सकती हैं और कोई सम्पत्ति स्थानीय या फिरकेमें पायी जानेवाली कौटुम्बिक प्रथाके अनुसार अविभाज्य हो सकती है और एक ही वारिसको, उदाहरणार्थ केवल ज्येष्ठ पुत्रको ही, मिल सकती है अर्थात् कानूनी भाषामें अग्रजाधिकार सम्बन्धी नियमोंसे उसका नियन्त्रण होता हो। मुसलमानोंमें भी इसके उदाहरण देख पड़ते हैं।

प्राचीन हिन्दू विधिनिर्माताओं (स्मृतिकारों) ने स्पष्ट रूपसे स्वीकार किया है कि जो सम्पत्ति या जायदाद राज्यके, रियासतके, रूपमें हो वह केवल एक ही उत्तराधिकारीको मिलनी चाहिये। भारतमें कितनी ही बड़ी-बड़ी रियासतें इसी कारण शताब्दियोंके तूफानोंका सामना करती हुई आजतक बची हुई हैं (या अभीतक बची हुई थीं) और उनका पूर्व रूप किसी तरह अक्षुण्ण बना हुआ है या भारतीय प्रजातन्त्रकी स्थापनाके समयतक बना हुआ था।

अतीत कालमें, भारतमें ब्रिटिश शासनका आरम्भ हो जानेके बाद बड़ी रियासतोंके उत्तराधिकार सम्बन्धी झगड़े अक्सर न्यायालयोंके सामने आया करते थे। ज्येष्ठ पुत्र, या समवंशजोंमें बड़ी पाँतका प्रतिनिधि कुलकी प्रथाकी दलील पेश किया करता था और ऐसी प्रथा या रूढ़िके अस्तित्व तथा वैधताके सम्बन्धमें न्यायिक अनुसन्धानका कार्य हमेशा कठिन और लम्बे समयतक चलनेवाला होता था, जिससे वकीलोंको अच्छी आमदनी हो जाया करती थी। किन्तु समय बीतते जानेपर इस तरहके मुकदमोंकी संख्या क्रमशः कम होती गयी है। उत्तराधिकार सम्बन्धी दावे न्यायिक निर्णयों द्वारा तय किये जा चुके हैं और बहुतसे मामलोंमें कुलकी प्रथाएँ, बड़ी-बड़ी रियासतोंके सम्बन्धमें उच्चसे उच्च न्यायालयों द्वारा उद्घोषित की जा चुकी हैं। इधर कुछ कानून भी ऐसे बन गये हैं जिनके कारण रियासतोंके मालिकोंके लिए, सुनिश्चित घोषणाओं एवं पूर्वताके अनुसार अपनी जायदादके उत्तराधिकारका प्रश्न 'सीमित अधिकार' के तरीके पर तय कर देना आसान हो गया है। किन्तु ऐसे मामले अब भी यदाकदा सामने आ जाते हैं जब अविभाज्यताकी रूढ़ि या परम्पराके ही सम्बन्धमें फरीकोंमें मतभेद उत्पन्न हो जाता है। ऐसे मामले विशेष रूपसे मनोरंजक होते हैं, क्योंकि छानबीनके सिलसिलेमें हमें सैकड़ों वर्ष पूर्व किसी विशिष्ट परिवारके मूलतक तथा विवादग्रस्त रियासतके उद्गमतक चले जाना पड़ता है। अतीतकी घटनाओंमें दिलचस्पी लेनेवाले मेरे जैसे लोगोंके लिए यही इन मामलोंका विशेष आकर्षक अंग होता है।

ऐसे कितने ही मामलोंमें मैं वकील नियुक्त किया गया था किन्तु यहाँ मैं केवल दो की—

बाराराज तथा पोवायाँ राजके मुकदमोंकी—चर्चा करूँगा, क्योंकि पाठकोंके लिए ये दोनों सम्भवतः मनोरंजक साबित होंगे। पहले मैं इलाहाबाद जिलेमें स्थित बाराराजका मामला लेता हूँ।

राज सम्बन्धी मामले[1] या ताल्लुका सम्बन्धी मामले[2] जैसा कि अवधमें उन्हें कहते हैं—उत्तर-प्रदेशमें दीवानी वकीलोंकी आमदनीके सबसे बड़े साधन हैं। झगड़ेकी जायदादका मूल्य बहुत होता है, इसलिए मुकदमेका भार ग्रहण करनेवाले वकीलोंकी जिम्मेदारी भी बहुत अधिक होती है। विवाद-ग्रस्त सम्पत्तिमें सैकड़ों गाँव हो सकते हैं जिनका लगान लाखों रुपये हो सकता है। जायदादका पूँजी-गत मूल्य काफी ज्यादा, एक दो करोड़ रुपयेके लगभग हो सकता है। इसलिए उभय पक्षों द्वारा जो वकील नियुक्त किये जाते हैं, उन्हें हमेशा अच्छी आमदनी होनेकी सम्भावना रहती है। इस तरहकी मुकदमेबाजीमें विशेष रूपसे अधिक खर्च पड़ता है और सामान्यतया उभय पक्ष यह खर्च उठानेमें समर्थ भी होते हैं। जायदादपर जिस पक्षका कब्जा रहता है, उसकी आयके साधन तो उसके हाथमें रहते ही हैं। जिस पक्षका उसपर पहलेसे कब्जा न रहता, उसके पास यदि अपने यथेष्ट साधन न होते जो मुकदमेका खर्च उठानेके लिए पर्याप्त होते, तो वह अपने दावेका कुछ हिस्सा मुकदमों सम्बन्धी साहसी सट्टेबाजोंके हाथ बेच देता। इस प्रकार खरीदनेवाला मुकदमेका पूरा खर्च, सर्वोच्च न्यायालयमें की जा सकनेवाली अपीलतकका, खुद बरदाश्त करता। सिद्धान्ततः तो मुकदमोंके सम्बन्धमें सब तरहकी जुआ-खोरी या सट्टेबाजी निषिद्ध और अवैध है, किन्तु व्यवहारमें यह बराबर चलती है। भारतके प्रत्येक प्रान्तमें ऐसे धनिक पाये जाते हैं जो घुड़दौड़की तरह, मुकदमोंकी हार-जीतमें भी सट्टा खेलनेके आदी होते हैं। घोड़ोंकी तरह वे दावेदारोंकी तरफसे बाजी लगाया करते हैं और कभी-कभी सचमुच उनका भाग्य खुल जाता है, किन्तु कभी-कभी (शायद अपेक्षाकृत अधिक बार) उन्हें अपनी इस बुरी लतके पीछे काफी नुकसान उठाना पड़ता है।

इस प्रकार ऐसे मामलेके कारण चाहे वकीलको कुछ रुपया कमानेका अवसर मिल जाय किन्तु इसके निमित्त उसे लगातार कई महीनोंतक, कभी-कभी वर्षों, कठिन परिश्रम और सख्त काम करना पड़ता है। सबूत इकट्ठा करने, छानबीनकर तथ्यकी बात निकालने और उसे टिकानेसे प्रस्तुत करने तथा न्यायिक विचारके लिए कानूनी दृष्टिसे मुकदमा तैयार करने और फिर अदालतके सामने रखनेमें बड़े अनुभव, वकालत सम्बन्धी अच्छी योग्यता एवं विद्वत्ताकी आवश्यकता होती है। कभी-कभी मुकदमेमें उठाये गये प्रश्न—तथ्य सम्बन्धी तथा कानून सम्बन्धी—थोड़े तथा संकीर्ण परिधि-वाले होते हैं, जैसे विवादग्रस्त मृत्युपत्रका कार्यान्वित किया जाना, पुत्र गोद ले सकनेके अधिकारका प्रश्न, या किसी विशेष पदावलीकी रचना, किसी संविधिका धारा सम्बन्धी प्रश्न, किन्तु अक्सर ऐसे मामले आसान नहीं होते वरन् भारी और उलझनवाले होते हैं। प्रायः झगड़े उत्तराधिकार सम्बन्धी दावेके कारण होते हैं और बहुतसे मामलोंमें क्षेत्रीय, फिरकेमें या परिवारमें प्रचलित रूढ़िके अनुसार

---

१. उत्तरप्रदेशमें (तथा भारतके अन्य, भागोंमें भी) बड़ी जमींदारीको प्रायः 'राज' कहते हैं और उसके मालिकको लोग "राजा" कहते हैं और अक्सर यह उपाधि आनुवंशिक मान ली जाती है। यह भूसम्पत्ति या राज 'राजा' की मृत्युके बाद, सामान्यतया उसके ज्येष्ठ पुत्रको ही मिलता है।

२. अवधमें बड़ी जमींदारियाँ, जो राजस्व सम्बन्धी एक ही बन्दोबस्तके अधीन, किसीके कब्जेमें हों 'ताल्लुका' कहलाती हैं। ये भी एक तरहके 'राज' ही हैं पर इनका नियन्त्रण १८६९ के 'दि अवध इस्टेट्स ऐक्ट' नामक विशेष संविधिके अनुसार होता है और सरकारसे सीधे माफीके रूपमें ये प्राप्त होते हैं।

उत्तराधिकार सम्बन्धी सामान्य विधिमें परिवर्तन करनेका आग्रह किया जाता है, जैसे पुत्रियों तथा उनकी सन्तानको दाय भाग पानेसे वंचित करना, या किसी जमींदारीको अविभक्त बनाये रखना और अग्रजाधिकारका नियम लागूकर बड़े लड़केको ही उत्तराधिकारी मानना, जिसका अर्थ दूसरे शब्दोंमें यह हुआ कि छोटे भाइयोंको उनका दाय भाग न दिया जाय।[१]

हिन्दुओंमें कभी-कभी ऐसा होता है कि उत्तराधिकार वैध दायाधिकारियोंको न प्राप्त होकर किसी दूरके सम्बन्धी या परिवारके बिल्कुल बाहरके व्यक्तिको, जो गोद ले लिया जाता है, प्राप्त हो जाता है। ऐसे मामलोंमें दाय भागसे वंचित उत्तराधिकारी बहुधा उस तथाकथित गोद लेनेके कृत्यके सम्बन्धमें बड़े कठिन और विवादग्रस्त प्रश्न खड़े कर दिया करते हैं—क्या वास्तवमें गोद लेनेका कार्य कभी सम्पन्न हुआ था ? क्या वह विधि द्वारा निर्धारित परिपाटी एवं निष्ठापूर्ण ढंगसे किया गया था ? और यदि सचमुच गोद लेनेका कृत्य समुचित रीति-रस्मोंके साथ किया गया था तो क्या वह कानूनके अनुसार जायज था ? दत्तकग्रहण सम्बन्धी हिन्दू कानून अस्पष्ट तथा दुर्बोध्य-सा है और सांविधिक अधिनियमन (स्टैटुरी इनैक्टमेण्ट) के अभावमें वस्तुतः न्यायाधीशों द्वारा ही, एकके बाद दूसरे पूर्वोदाहरणके आधारपर, निर्मित हुआ है। जजों द्वारा बनाये गये प्रत्येक कानूनकी तरह इसे भी, अन्तिम और निश्चितरूप ग्रहण करनेके पूर्व, वादविवाद, परीक्षण एवं भूलोंके प्रक्रमोंसे होकर निकलना पड़ा है और यह सब विवादियोंको हानि पहुँचाकर ही सम्भव हो सका। भारतके प्रत्येक प्रान्तमें उसका अलग उच्च न्यायालय होता है। इन उच्च न्यायालयोंके अभिनिर्णयोंकी अपील ब्रिटिश शासनकालमें सपरिषद् नरेशके पास की जा सकती थी (अब यह भारतके सर्वोच्च न्यायालयमें की जाती है) किन्तु खुद आपसमें ये उच्च न्यायालय एक दूसरेके बराबर और न्यायिक दृष्टिसे समानाधिकारसम्पन्न हैं ; वे एक दूसरेसे बिलकुल स्वतन्त्र हैं और एक दूसरेके अभिनिर्णयोंको मानने, उनका अनुसरण करनेको बाध्य नहीं हैं। सच बात तो यह है कि विभिन्न उच्च न्यायालयोंको मानो एक दूसरेसे पृथक् राय रखनेमें ही विशेष आनन्द आता है और उनका यह न्यायिक मतभेद, अखिल भारतीय कानूनके लिहाजसे, बीसों वर्षतक बना रह सकता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि मानवीय न्यायमें कितनी जटिलताएँ तथा कमियाँ रहती हैं, जबतक कि उसे प्रिवी काउंसिलकी न्यायिक समिति (अब सर्वोच्च न्यायालय)की आधिकारिक घोषणा द्वारा स्थिर रूप न दे दिया जाय। ऐसे न्यायिक मतभेदके सबसे अधिक उदाहरण कदाचित् दत्तकग्रहण सम्बन्धी हिन्दू कानूनमें मिल सकते हैं। फिर दत्तकग्रहण सम्बन्धी कानूनका प्रत्येक तयशुदा नियम ऐसी प्रथा या रूढ़िके कारण व्यर्थ हो जाता है जो इसके प्रतिकूल पड़ती हो।

जब हिन्दुओं या मुसलमानोंमें किसी प्रथाकी दलील दी जाती है तब उसकी छानबीनका काम सचमुच ही बड़ा मनोरंजक होता है। अनुसन्धानका क्षेत्र आवश्यक रूपसे विस्तृत होता है और जहाँतक पारिवारिक प्रथाका सम्बन्ध है, जैसे मौरूसी जायदादकी अविभाज्यता सम्बन्धी प्रथाका, इसके लिए हमें कई शताब्दियोंतकके कालका अवगाहन करना पड़ सकता है। जनजातियों (ट्राइब्ज) या विभिन्न बिरादरियोंमें प्रचलित प्रथाओंके लिए प्रजाति-विज्ञान सम्बन्धी प्रचुर अनु-

---

१. सामान्य रूपसे भारतमें हिन्दू विधिके अनुसार भी और मुसलिम कानूनसे भी सम्पत्ति अकेले बड़े लड़केको या कई दायाधिकारियोंमेंसे केवल एकको ही उत्तराधिकारमें नहीं मिलती। सब भाइयों या उसी श्रेणीके सब दायाधिकारियोंको बराबर-बराबर हिस्सा मिलता है। मुसलमानोंमें जायदाद कई सम्बन्धियोंमें, उनके लिए पृथक्-पृथक् रूपसे निर्धारित अंशके अनुसार विभाजित कर दी जाती है।

सन्धानकी आवश्यकता पड़ सकती है। इन सब बातोंके कारण इस तरहके मुकदमोंमें काफी खर्च पड़ने और अधिक समय लगनेकी सम्भावना रहती है किन्तु साथ ही इससे जानकारी बढ़ती है तथा मनोरंजन होता है और वकालत सम्बन्धी ऊँचीसे ऊँची योग्यता तथा विधिशास्त्रगत पाण्डित्यकी आवश्यकता पड़ती है। और मामलेकी सुनवाईके समय, जो कई वर्षोंतक जारी रह सकती है, हमें बहुसंख्यक मनुष्योंके सम्पर्कमें आना पड़ता है और उन प्राथमिक प्रेरणाओं तथा मनोरागोंके अध्ययनका अवसर मिलता है जो अपने निजी मामलोंकी व्यवस्था करते समय मनुष्योंको इतना प्रभावित करते हैं। अन्ध-विश्वास, लालच, घृणा, दुराग्रह और नासमझी तथा समझौता कर लेनेकी भावनाका सर्वथा अभाव—ये सब उस मानवीय नाटकमें अपना हिस्सा ग्रहण करते हैं जिसमें वकील एक दर्शकके रूपमें, यद्यपि बिलकुल तटस्थ दर्शकके रूपमें नहीं, उपस्थित रहता है।

वकीलका जीवन बिताते समय ऐसे बहुतसे मामलोंमें मुझे पैरवी करनी पड़ी। कितने ही मामलोंमें मैंने उच्च न्यायालयमें पुनर्न्याय प्रार्थनापर विचार होते समय बहस की और अन्य कितने ही मुकदमोंमें व्यवहारके प्रत्येक प्रक्रमके समय मैं प्राथमिक विचार करनेवाली अदालतोंके सामने भी खड़ा हुआ। मैं यहाँपर केवल दो-चार मामलोंका ही वृत्तान्त देना चाहता हूँ जिनमें ऐसी विशेषताएँ विद्यमान हैं, जो सामान्य पाठकोंके लिए मनोरंजक हो सकती हैं—परिवारके इतिहासके रूपमें, उनकी जमींदारीके उद्भवके रूपमें या कानूनी कारखाईके बीचकी किसी घटनाके रूपमें। ये चीजें मानवीय उपादान सामग्रीके रूपमें अभीतक मेरी याददाश्तमें बनी हुई हैं, जब कि ऐसे बहुतसे मामले जो कानून सम्बन्धी अनोखे तथा जटिल प्रश्न उत्पन्न करनेके कारण उस समय अत्यधिक महत्त्वपूर्ण प्रतीत होते थे, मेरे स्मृतिक्षेत्रसे तिरोभूत हो गये हैं और अब कानून सम्बन्धी रिपोर्टोंकी कब्रोंमें (या पवित्र समाधियोंमें, यदि मेरे वकील बन्धु विधि-देवीके सम्मानार्थ इस शब्दका प्रयोग अधिक अच्छा समझें) गड़े पड़े हैं। वहाँ मेरे भाई उन्हें देख सकते हैं।

पहले मैं बाराका मामला लेता हूँ, इसलिए नहीं कि मेरे वकील पेशेमें इस तरहका यह सबसे शुरूका मामला था, बल्कि इसलिए कि इससे ज्ञात होता है कि किस तरह कुछ परिवार, जो इसी भूमिमें प्रतिष्ठित हैं, कई शताब्दियोंसे चले आ रहे हैं और भाग्यके कितने ही हेर-फेर तथा कितने ही राजवंशोंका उत्थान-पतन देख लेनेके बाद अभीतक विद्यमान हैं।

बाराकी जमींदारी प्रशासनकी दृष्टिसे इलाहाबाद जिलेका अंग है किन्तु भौगोलिक दृष्टिसे वह जमुनाके उस पार बुन्देलखण्डका अथवा अधिक ठीक कहें तो बघेलखण्डका हिस्सा है।[1]

बारा परिवारके लोग बघेल राजपूत हैं। ये लोग गुजरातके पाटन नामक स्थानसे, बारहवीं शताब्दीमें किसी समय, आकर यहाँ बस गये थे। इन बघेल सरदारोंमेंसे एक था कर्णदेव। वही इस समस्त परिवारकी तैंतीस पीढ़ियोंका पूर्वज है, जिससे रीवाँके राजकुलकी तथा बारा राजपरिवारकी उत्पत्तिका दावा किया जाता है। वंशोत्पत्तिका यह इतिहास उस मुकदमेमें साक्ष्यके तौरपर प्रस्तुत किया गया था जिसकी चर्चा मैं यहाँ करने जा रहा हूँ।

यह मामला परिवारके एक नयी उम्रके सदस्य (छोटे भाईके लड़के) द्वारा अपने चाचा राजा रामसिंहके विरुद्ध, जिनके अधिकारमें समस्त बाराराज था, चलाया गया था और माँग की गयी थी कि समूची जमींदारीका विभाजन कर आधा हिस्सा उसे दिलाया जाय। प्रतिवादी अर्थात्

१. 'खण्ड'का अर्थ होता है टुकड़ा या भाग, भूक्षेत्र या प्रान्त, अतः बुन्देलखण्डका अर्थ हुआ बुन्देलोंका प्रान्त तथा बघेलखण्डका बघेलोंका प्रान्त। बुन्देल तथा बघेल, ये दोनों राजपूतोंके दो प्रसिद्ध भेद हैं।

राजा रामसिंह द्वारा, जिनकी ओरसे मैं खड़ा हुआ था, सफाईमें यह दलील दी गयी कि बाराकी जमींदारी राजके ढंगकी एक प्राचीन मौरूसी जायदाद है, जो कुलप्रथा तथा जातिप्रथाके अनुसार अविभाज्य है और हमेशा अग्रजाधिकारके नियमानुसार केवल एक ही उत्तराधिकारीको अर्थात् बड़े भाईकी शाखामें ज्येष्ठ पुत्रको प्राप्त होती रही है और छोटे पुत्रों तथा भाइयोंको जमींदारीकी आयमेंसे केवल भरणपोषणका व्यय पानेका ही अधिकार रहा है। इसी दलीलपर विवाद खड़ा हो गया था और एक लम्बा मुकदमा शुरू हो गया।

परिवारके पुराने कागजों और परम्पराओं तथा राजके अभिलेखोंकी छानबीन करने और ७०० वर्ष पुराने परिवारके वंशवृक्षकी विभिन्न शाखाओंकी उत्पत्तिका अद्यतन सिलसिला ठीक करनेसे— यद्यपि यह काम बड़ा परिश्रमसाध्य तथा व्ययावह था—उल्लेखनीय परिणाम प्राप्त हुआ। यह असंदिग्ध रूपसे प्रमाणित हो गया कि बघेलवंशके लोग ६०० वर्ष पूर्व गुजरातसे आकर भारतके इस भूभागमें बस गये थे, यहाँके पुराने बाशिन्दोंको वशमें कर अपने लिए छोटे-छोटे राजोंका निर्माण कर लिया था, जिनमेंसे एक विवादग्रस्त यह बाराराज भी था। ऐसे गवाहोंके साक्ष्यसे जो बीस पुश्तोंसे कनिष्ठ पुत्रोंके वंशज रहे हैं, स्पष्ट हो गया कि जमींदारीका विभाजन कभी नहीं किया गया और उस-पर हमेशासे ही केवल बड़े पुत्रका अधिकार होता आया है जो अपने छोटे भाइयोंके भरणपोषणके लिए एक या दो गाँव निर्धारित कर देता था और ये गाँव अभीतक उन्हींके वंशजोंके अधिकारमें हैं जिन्हें वे बंटित कर दिये गये थे। रियासतके अधिकारीको वंशानुक्रमसे राजाकी उपाधि और पद प्राप्त हो जाता था, जो सम्भवतः दिल्लीके सम्राट्ने शताब्दियों पहले राजके अधिपतिको प्रदान किया था।

सन् १८०१ में ब्रिटिश शासनका इस ओर प्रसार होनेपर इस राजकी समाप्ति और परिवारकी पूरी बरबादीका समय उपस्थित हो गया था किन्तु भाग्यचक्रके एकाएक घूम जानेके कारण विनष्ट होनेसे वह बच गया। इसकी कहानी स्वयं ही एक उल्लेखनीय वस्तु है।

बारा रियासत काफी बड़ी रियासत है जो विस्तृत क्षेत्रमें फैली हुई है और उसमें सैकड़ों गाँव हैं। लगानसे होनेवाली वार्षिक आमदनी लगभग चार लाख रुपये है। इलाहाबाद जिले (तथा अन्य जिलों) पर अंग्रेजोंका अधिकार और शासन सन् १८०१ में स्थापित हुआ, जब अवधके नवाब वजीरने यह क्षेत्र उन्हें अर्पित कर दिया। इलाहाबादका प्रथम जिलाधिकारी[1] अहमूती था। वह बहुत ही घूसखोर और बेईमान था। वह कुछ प्रभावशाली भारतीयोंकी साँठगाँठमें शामिल था जो नये शासकोंके नये तरीकोंके कारण उत्पन्न अव्यवस्थित स्थितिसे लाभ उठानेके लिए आतुर थे और जिन्होंने अहमूती जैसे भ्रष्ट अफसरोंको घूस देकर पुराने जमींदारोंको अपदस्थ करा देने तथा स्वयं उनकी जायदाद प्राप्त करनेका निश्चय कर लिया था। बाराकी रियासतके सम्बन्धमें यह काररवाई शीघ्र ही शुरू हो गयी। राजस्व सम्बन्धी हिसाब-किताबमें उलट-फेर कर दिया गया और यह बताया गया कि बकाया मालगुजारीके रूपमें सरकारको एक बड़ी रकम राजसे प्राप्य है। यह सब गलत बात थी। राजाके ऊपर एक पैसा भी बकाया नहीं था। कलेक्टर (अहमूती) ने जिलेके सदर मुकाममें उनके दफ्तरमें हाजिर होनेका हुक्म दिया। राजाने ख्याल किया— और शायद उसका ऐसा सोचना ठीक ही था—कि ज्यों ही मैं अहमूतीके पास पहुँच जाऊँगा, वह मुझे जेलमें बन्द कर देगा और मुझे अपमानित करनेका प्रयत्न करेगा। राजाने समीपवर्ती रीवाँ राज्यमें पलायन करना ही ठीक समझा। मैं यहाँ यह बात बतला दूँ कि इस क्षेत्रमें याने बघेलखण्डमें पहाड़ियों और जंगलोंकी भरमार है। अहमूतीने इसकी रिपोर्ट बरेलीमें स्थित उच्चाधिकारियों तथा कलकत्तेमें सपरिषद्-गवर्नर-जनरलके पास

१. जिलेके मुख्य कार्याधिकारीको जिला मजिस्ट्रेट तथा कलेक्टर कहते हैं।

भेज दी और बकाया मालगुजारी वसूल करनेके उद्देश्यसे बाराकी समूची रियासत बेच देनेकी मंजूरी माँगी। अहमूतीने जो सूचना भेजी थी, उसके सम्बन्धमें किसी तरहका सन्देह करनेका गवर्नर जनरलके लिए कोई कारण न था और न अहमूतीकी ईमानदारीपर ही उन्हें अविश्वास था, इसलिए सुझाव मंजूर कर लिया गया। तदनुसार सन् १८०२ में ९० हजार रुपयेकी हास्यास्पद रकमके बदले रियासत बेच दी गयी। उसे महाराज बनारसके एक भाईने (महाराजके लाभार्थ) खरीद लिया। वह अहमूतीसे मिला हुआ था। इस प्रकार बाराके राजाको अपने पूर्वजोंकी जमींदारीसे हाथ धोना पड़ा। चार वर्षोंके बाद अहमूती जिला छोड़कर कहीं अन्यत्र चला गया। शीघ्र ही उसका पता लगाया गया और वह नौकरीसे पृथक् कर दिया गया। किन्तु राजाका तो सर्वस्व चला गया था। उनके साथ जो अन्याय हुआ था, उसके निराकरणका क्या उपाय था? उनके प्रति प्रत्येक अधिकारीकी सहानुभूति थी किन्तु गवर्नर जनरलका विचार था कि बिक्रीको रद्द कर देना और बाराकी रियासत फिर उन्हें लौटा देना असम्भव था। इसलिए यह प्रस्ताव पास किया गया कि लगभग ७॥ हजार रुपयेकी वार्षिक आयवाली एक छोटी-सी जमींदारी उन्हें पेन्शनके रूपमें दे दी जाय। किन्तु राजाने यह तुच्छ भेंट लेनेसे सरोष इनकार कर दिया। राजाका बड़ा पुत्र, जो राजाका उत्तराधिकारी था, एक दृढ़ संकल्पवाला और अचल स्वभावका व्यक्ति था। जब समस्त याचिकाएँ और प्रार्थनाएँ बेकार हो गयीं, तब कोई १८ वर्षोंके बाद, उसने जिलेकी दीवानी अदालतमें मालगुजारीकी वसूलीके नामपर अन्यायपूर्वक की गयी बिक्रीको रद्द कराने तथा जमींदारीपर पुनः अधिकार प्राप्त करनेके लिए कानूनी कारवाई शुरू कर दी। उस समयतक बकाया लगानकी वसूलीकी आड़में इस प्रकार छलपूर्वक जमींदारी बिकवा देनेकी घटनाओंके कारण, जो अन्य-अन्य जिलोंमें हुई थीं, इतनी बदनामी फैल गयी थी और जनतामें इतना असन्तोष उत्पन्न हो गया था कि कि सरकारको कुछ-न-कुछ कारवाई करनेके लिए बाध्य हो जाना पड़ा। सारी शिकायतोंकी छानबीन करने और कानूनकी प्राविधिक कठिनाइयोंकी, जैसे मीयाद बीत जाने सम्बन्धी बाधा, की परवाह न कर यथोचित न्याय करनेकी दृष्टिसे उसने विशेष आयोगोंकी स्थापना कर दी और उन्हें न्यायिक अधिकार भी दे दिये। बाराके राजाका मामला भी ऐसे ही आयोग (कमीशन) को सौंप दिया गया। सन् १८२६ में आयोगने राजाके पक्षमें अपना अभिनिर्णय दिया और यह भी आज्ञा दे दी कि रियासत उन्हें लौटा दी जाय। अपील होनेपर अपील सुननेवाले कमीशनने भी इसकी पुष्टि की और सन् १८४३ में लन्दनमें[१] सपरिषद् नरेशने भी उसका समर्थन किया। इस प्रकार चालीस वर्षोंके बाद राजपरिवारको फिर अपनी पुरानी जायदाद वापस मिल गयी। सन् १८०२ से १८२० के बीच यदि राजाने इतनी दृढ़तासे प्रयत्न न किया होता और आयोगोंकी नियुक्ति न की गयी होती, तो बाराकी रियासतका अन्त ही हो गया होता।

यह घटना और रियासतका अधिकार पुनः प्राप्त करनेके लिए किये गये प्रयत्नोंमें ज्येष्ठ पुत्रका प्रमुख भाग स्वयं एक महत्वपूर्ण साक्ष्य था जिससे विभाजनके लिए चलाये गये मामलेमें राजकी अविभाज्यता सम्बन्धी प्रथाका समर्थन होता था। कनिष्ठ पुत्रोंका इस सिलसिलेमें अभीतक कोई नाम भी नहीं सुन पड़ता था और न परिवारपर जो विपत्ति आ पड़ी थी उसे दूर करनेमें उन्होंने कोई दिलचस्पी ही दिखलायी थी। इसके सिवा यह बात भी साबित हो गयी थी कि बघेल राजपूतों द्वारा अधिकृत पड़ोसकी अन्य रियासतोंमें भी उत्तराधिकारका प्रश्न अग्रजाधिकारके कानूनसे तय होता था। रियासतके इतिहासमें बँटवारेका दावा पहले कभी नहीं किया गया था। इसलिए विचारक न्यायाधीशने

१. यह फैसला 'मूर्स इण्डियन अपील्स' नामक कानूनी रिपोर्टोंमें छप चुका है।

राय दी कि कुलपरम्पराके अनुसार बारा राज्य अविभाज्य है और मुकदमा उसने खारिज कर दिया। अपील होनेपर उच्च न्यायालयने भी उसका अभिनिर्णय कायम रखा।

मुकदमेमें उपस्थित किया गया बहुत-सा प्रलिखित साक्ष्य ऐतिहासिक महत्त्वका था किन्तु कुछ कागज बड़े विचित्र-से और पढ़नेपर काफी मनोरंजक तथा आह्लादजनक प्रतीत हुए। मेरा आशय उस पत्रव्यवहारसे है जो बाराके स्वर्गीय राजा (मेरे मुवक्किल राजा रामसिंह, प्रतिवादीके पिता) और उनके छोटे भाई कुँवर भरतसिंह (वादीके पिता) के बीच हुआ था। राजाका जन्म एक प्राचीन कुलमें हुआ था। वे ९० वर्षकी उम्रतक जीवित रहे, किन्तु वे बड़े दुर्बल प्रशासक थे और रियासतका प्रबन्ध उनकी ओरसे सरकारी कोर्ट ऑफ वार्ड्ज द्वारा किया जाता था। इस प्रकार एक संरक्ष्य मात्र (वार्ड) थे जिन्हें वृत्ति या भत्ता मिलता था। उनके बड़े लड़के रामसिंह रीवाँ राज्यमें मंत्री थे। दूसरे पुत्र भरतसिंह एक सुशिक्षित व्यक्ति थे और यू० पी० जुडीशल सर्विसमें जिला तथा दौरा जज थे। उनके अवकाश ग्रहण कर लेनेपर सरकारने उन्हें कोर्ट ऑफ वार्ड्जकी तरफसे बारा रियासतका प्रबन्धक नियुक्त कर दिया। इस हैसियतसे उन्हें संरक्ष्य अपने पिताके साथ सरकारी तौरपर पत्रव्यवहार करना पड़ा था। पिता-पुत्र द्वारा परस्पर लिखी गयी इन चिट्ठियोंमें अज्ञात रूपसे विनोदकी मात्रा भरी रहती थी। वृद्ध महाशय कोई चीज माँगते या कोई इनायत चाहते और पुत्र द्वारा शिष्टतापूर्वक वह अनुरोध अस्वीकृत कर दिया जाता। मैंने उसकी चर्चा इसलिए कर दी कि वह एक तरहसे मामलेकी एक मनोरंजक विशेषता थी।

२१. जौनपुर राज्यका मामला

जौनपुर राजके मामलेमें कानून सम्बन्धी कोई विशेष प्रश्न न था। वह मुख्य रूपसे तथ्योंके आधारपर चलाया गया था किन्तु इन तथ्यों का सम्बन्ध एक विस्तृत क्षेत्रसे था और उसमें भारतीय अदालतोंमें चलनेवाले मुकदमोंकी प्रायः सभी बातें आ गयी थीं। इससे मुझे कई बातोंका अनुभव हुआ और इसमें एक साथ कई प्रश्न उठ खड़े हुए थे जो बड़े मनोरंजक थे; जैसे, विवादग्रस्त वंशोत्पत्ति, वसीयतनामेका लिखा जाना (जिसकी मूल प्रति मिल नहीं रही थी), गोद लेनेकी बात, दत्तकग्रहणका और उसकी वैधताका निषेध करनेवाली रूढ़िका होना या न होना, बड़ी होशियारीसे की गयी जालसाजी जिसके साथ कुछ हिन्दू ज्योतिष विद्याकी भी कारस्तानी थी और लोभ, नासमझी तथा भाग्यका फेर जो पद-पदपर वादलग्न व्यक्तिका पीछा कर रहे थे। मुकदमेकी कहानी, कम-से-कम उसका मानवीय पहलू, बहुत ही चित्ताकर्षक है।

रियासतकी उत्पत्ति, जो काफी बड़ी थी और जिसकी लगानकी आमदनी लगभग तीन लाख रुपये वार्षिक थी, साहसिक कार्यों एवं उद्योगशीलतासे हुई थी। शिवलाल दूबे नामक एक कान्य-कुब्ज ब्राह्मणका जन्म[१] सन् १७५०में एक छोटेसे परिवारमें हुआ था, जो अमौली या मूसानगर, जो कान्यकुब्ज ब्राह्मणोंके दो प्रधान केन्द्र थे[१] इन दोमेंसे किसी स्थानमें रहता था। अपना कहनेके लिए

---

१. ब्राह्मणोंके कई उपभेद हैं जिनमें एक कान्यकुब्ज भी है। कान्यकुब्ज ब्राह्मण अपनेको अत्यन्त शुद्ध रक्तका समझते हैं और ब्राह्मणोंमें वे सबसे कट्टर माने जाते हैं। ये मूलमें कान्यकुब्जके जो १३०० वर्ष पहले एक बड़े साम्राज्यकी राजधानी था तथा उसके निकटवर्ती क्षेत्रके रहने-वाले थे।

१. अमौली अब उत्तरप्रदेशके फतेहपुर जिलेमें एक गाँव है। मूसानगर पुराने जमानेमें कानपुर ज़िलेमें अच्छी आबादीवाला नगर था। अब उसकी हालत बहुत गिर गयी है, फिर भी मुझे

उसके पास संसारमें कुछ भी न था, इसलिए युवक शिवलाल पहले अपने घरसे कोई १०० मीलपर स्थित झाँसी नगरमें जाकर रहने लगा किन्तु, वहाँ कोई चीज उसे अधिक पसन्द-सी नहीं आयी, इसलिए वहाँसे वह बनारस जा पहुँचा। वहाँ कई जगह काम कर चुकनेके बाद उसे एक मामूली नौकरी जौनपुर जिलेके (जो उस समय अवधके नवाब वजीरकी अमलदारीमें था) जिला आमिलके दफ्तरमें मिल गयी। इसके बाद वह एक पदपरसे दूसरे पर उन्नति करता गया। उसका भाग्य कैसे चमक उठा, यह एक आश्चर्यजनक-सी घटना है। जौनपुर जिलेका एक जमींदार बड़ा उद्दण्ड और दुर्दमनीय-सा व्यक्ति था। वह मालगुजारी अदा करनेमें बार-बार नागा किया करता था। जब उस-पर दबाव डाला जाता था तो वह विद्रोह कर बैठता था, अपने आपको अपनी गढ़ीमें बन्द कर लेता था और स्थानीय अधिकारियोंको अपने शस्त्रास्त्रोंके बलपर कुछ भी नहीं समझता था। वह गैर-कानूनी व्यक्ति घोषित कर दिया गया और उसे जीवित या मृत पकड़ लेनेके लिए इनाम देनेकी सूचना प्रकाशित कर दी गयी। शिवलाल दूबे बड़ा तिकड़मी और साहसी आदमी था। उसने विद्रोहीको पकड़नेके लिए दो-चार साथी तैयार किये। संघर्ष हुआ जिसमें जमींदार मारा गया और शिवलालको इनाम मिला। विद्रोहीकी जमींदारी कुछ रियायती मालगुजारीपर शिवलालको दे दी गयी और अब वह जमींदार बन गया। फिर उसने अपनी शक्ति बढ़ा ली और रुपयेका लेन-देन शुरू कर तथा छल-बलसे और उचित-अनुचित सभी उपायोंसे निकट तथा दूरमें जायदाद प्राप्त कर ली। इस प्रकार उसने एक बड़ी जमींदारीकी स्थापना कर ली। ब्रिटिश अधिकारियोंकी सहायता-से उसे दिल्लीके कठपुतली-बादशाहसे राजाकी उपाधि मिल गयी और इस प्रकार वह जौनपुरका राजा बन गया। उसने लम्बी आयु पायी और सन् १८४० में जब उसकी मृत्यु हुई तो वह जिलेका सबसे सम्पन्न जमींदार था।

उसके उत्तराधिकारियोंमें, जैसा कि ऐसे मामलोंमें अक्सर होता है, न उसके समान योग्यता थी, न चतुराई, न अधिक प्राप्त करनेकी लालसा और न परिश्रमशीलता ही। फिर भी उन्होंने परि-वारकी तथा रियासतकी प्रतिष्ठा बढ़ानेकी चेष्टा अवश्य की और उसका विभाजन न कर तथा भविष्यमें भी उसे न बाँटनेके लिए आपसमें समझौता कर उसे अविभाज्य राज बना देना चाहा किन्तु कानूनकी दृष्टिसे यह प्रयत्न बेकार था। कोई भी राज एक-दो पीढ़ियोंकी इस तरहकी चेष्टासे अविभाज्य नहीं बनाया जा सकता। राजा शिवलालका एक प्रपौत्र राजा शंकरदत्त दूबे अपव्ययी था और उससे जितना हो सका उसने उड़ा-खाकर रियासतकी बरबादी की। तब कोर्ट ऑफ वार्ड्‌जको बीचमें पड़कर उसकी व्यवस्था अपने हाथमें ले लेनी पड़ी। इस प्रकार उसने शंकरदत्तको खुद उसकी ही बरबादीसे बचाया। सन् १८८९ में उसकी मृत्यु हो गयी। अब हरिहरदत्त ही, पुरुषपरम्परामें, शिवलाल दूबेका एकमात्र वंशाधिकारी बच गया।

राजा शंकरदत्तका स्वर्गवास हो जानेके बाद (१८९७) उनकी विधवा ही रियासतकी उत्तराधिकारिणी हुई और कोर्ट ऑफ वार्ड्‌जने उनकी तरफसे[1] रियासतका प्रबन्ध अपने हाथमें ले

आशा है कि भविष्यमें वह पुनः उन्नति करेगा। वह पुरानी मुगल सड़क पर अवस्थित है और अब यह सड़क फिरसे पक्की बना दी गयी है जिससे मूसा नगरतक आने-जानेकी सुविधा हो गयी है, अतः उसकी संवृद्धि अवश्य होनी चाहिये।

१. भारतमें संविधिसे प्राप्त अधिकारोंके अनुसार कोर्ट ऑफ वार्ड्‌ज स्त्रियों, बच्चों तथा विकृत मस्तिष्कके व्यक्तियोंकी अथवा उड़ाऊ स्वभाववालोंकी भू-सम्पत्तिको अपनी देखरेख तथा प्रबन्धमें ले सकता है और तब भू-स्वामी कोर्टके संरक्ष्य बन जाते हैं तथा उन्हें संविधिके अनु-सार कुछ पाबन्दियोंका पालन करना पड़ता है।

लिया। जौनपुर राजके जिस मामलेसे मेरा सम्बन्ध रहा है, उसका आधार राजा शंकरदत्तकी अपनी मृत्युके कुछ दिन पहलेकी कारवाई तथा उनके तीन वर्ष बाद उनकी विधवाका कृत्य ही था।

राजाके कोई लड़का न था। वे या तो खुद दत्तक पुत्र ग्रहण कर सकते थे या अपनी विधवाको अपनी मृत्युके बाद दत्तक पुत्र लेनेका अधिकार दे सकते थे। कहा यह गया कि मृत्युके कुछ दिन पहले, बहुत बीमार पड़ जानेपर, उन्होंने एक वसीयतनामा लिखा दिया था जिसमें उन्होंने दत्तकग्रहणका आवश्यक अधिकार अपनी पत्नीको दे दिया था।

इस अधिकारका प्रयोग पतिकी मृत्युके बाद केवल विधवा पत्नी ही कर सकती है, अन्य कोई व्यक्ति नहीं, इसलिए ऐसे मामलोंमें आमतौरसे होता यह है कि दिवंगत पुरुषकी वंशपरम्परा जारी रखने तथा रियासतके उत्तराधिकारके उद्देश्यसे कोर्ट ऑफ वार्ड्ज विधवापर दबाव डालता है कि वह शीघ्र ही किसी बालकको गोद ले ले। विधवाको कठोर निर्णय करना पड़ता है। दत्तक ग्रहण करते ही उसके खुद अपने अधिकार समाप्त हो जाते हैं, वह रियासतकी स्वामिनी नहीं रह जाती और उसे केवल भरण-पोषणका व्यय पानेका अधिकार रह जाता है। किन्तु बहुत-सी हिन्दू विधवाएँ, धार्मिक तथा आध्यात्मिक विचारसे स्वयं ही दत्तक-ग्रहणके लिए तत्पर और उत्सुक रहती हैं। इसके सिवा प्रत्येक स्त्रीमें मातृत्वकी आन्तरिक प्रेरणा तथा भूख विद्यमान ही रहती है। फिर भी ऐसे मामलोंमें विधवाकी प्रवृत्ति प्रायः अपने ही नैहरवालोंके, जैसे अपने किसी भाई या बहिनके, लड़केको गोद लेनेकी होती है। यह इच्छा स्वाभाविक है, यद्यपि शास्त्रोंमें यह बात कही गयी है कि गोद लिया जानेवाला लड़का गोद लेनेवाले पिताका जितना निकट सम्बन्धी परिस्थिति-विशेषमें सम्भव हो, उतना होना चाहिये। इस प्रकार अपने भाईका लड़का गोद लेनेके लिए सबसे उपयुक्त होता है। किन्तु ऐसे सब निर्देश धर्मशील एवं शास्त्रोंमें निष्ठा रखनेवालोंके लिए केवल अभिस्तावके रूपमें रहते हैं। विधिक समादेशका बल उन्हें प्राप्त नहीं होता और उम्र सम्बन्धी तथा अन्य बातोंके कुछ प्रतिबन्धोंके साथ मनुष्य चाहे तो अपनी समूची जाति बिरादरीमेंसे ही ऐसा लड़का (दत्तक पुत्र) चुन सकता है।

जो हो, जौनपुरकी रानी बड़ी धर्मशील महिला थीं और वे प्राचीन स्मृतिकारोंके सभी निदेशोंका अक्षरशः पालन करना चाहती थीं। इसलिए उन्होंने अपने नैहरके परिवारकी सर्वथा उपेक्षा की और उन्होंने शिवलाल दूबेके पुराने घर, अमौली तथा भृसानगरको अपने नौकर भेजे, गोद लिये जाने योग्य ऐसे लड़कोंका पता लगानेके लिए जो एक ही पूर्वपुरुष द्वारा शिवलाल दूबेका सम्बन्धी हो। इसके बाद अनेक गरीब ब्राह्मणपरिवारोंमें लड़कोंके लिए असाधारण खोज शुरू हुई। रानीके आदमियोंको गोद लेने योग्य कुछ लड़के मिले और रानीके इच्छानुसार वे उनकी जन्मपत्रियोंकी नकलें कुशल ज्योतिषियोंसे दिखलानेके लिए लेते आये।[1] ये जन्मपत्रियाँ बनारसके विद्वान् ज्योतिषियोंके पास, उनकी राय जाननेके लिए, भेज दी गयीं। एक जन्मपत्री विशेषरूपसे ध्यान खींचनेवाली प्रतीत हुई जिसके ग्रहोंसे आभास मिलता था कि लड़का बड़ा भाग्यशाली होगा। बालक ऐसे परिवारमें उत्पन्न हुआ था जिसकी आर्थिक स्थिति ठीक नहीं थी, केवल पाँच एकड़ जमीन ही

१. हिन्दुओंमें, विशेषकर ऊँची जातिके हिन्दुओंमें, गरीब या धनी, हर परिवारमें बच्चेका जन्म होनेपर ज्योतिषियोंसे शुभाशुभ ग्रहोंके सम्बन्धमें पूछनेका और उससे उसकी जन्मपत्री तैयार करानेका रिवाज है, जिसमें इस बातकी चर्चा रहती है कि कौन-कौनसे ग्रह बच्चेके जन्मके समय प्रभाव डाल रहे थे। सभी सामाजिक तथा संस्कारादि सम्बन्धी समारोहोंके वक्त मुहूर्त्तादि देखनेके लिए जन्मपत्रीका विशेष रूपसे प्रयोग किया जाता है।

उसके पास थी। रानीने उन चार-छ लड़कोंको, जिनके सम्बन्धमें ज्योतिषियोंने अच्छी राय दी थी, खुद देखने और उनमेंसे अन्तिम चुनाव करनेके लिए अपने पास बुलवाया। कई लड़के आये। अब रानीको कुछ विचित्र-सी किन्तु साथ ही कठिन और कुछ करुणापूर्ण-सी स्थितिका सामना करना पड़ा। यदि वे शारीरिक बनावट और रूपरंगका खयाल करतीं तो उनका मन किसी एककी ओर झुकता, किन्तु यदि वे ज्योतिषियोंके कथनका लिहाज करतीं तो उन्हें बिलकुल दूसरी ओर झुकना पड़ता। अन्तमें जीत ज्योतिषियोंकी हुई और सबसे अच्छी जन्मकुण्डलीवाला बालक चुन लिया गया। जहाँतक रानीका सम्बन्ध था, बात यहाँ समाप्त हो गयी किन्तु कोर्ट ऑफ वार्ड्‌जका स्थानीय प्रधान होनेके नाते कलेक्टरसे भी सलाह लेना आवश्यक था। वह आया, देखा-सुना और स्पष्ट ही उसे दुःख तथा बेचैनी हुई। बालक कुछ काम लायक या स्वस्थ-सा नहीं देख पड़ता था और उसकी सूरत शकलसे कोई अच्छा प्रभाव नहीं पड़ता था। उसने रानीसे कहा कि यह एक ऐसी चीज है जिसका निर्णय खास तौरसे आपको ही करना है और मैं आपके निर्णयको अस्वीकार करना न चाहूँगा, किन्तु लड़केका स्वास्थ्य देखते हुए उसकी डाक्टरी परीक्षा कराना आवश्यक जान पड़ता है। जिलेके प्रधान स्वास्थ्याधिकारीने, जिसे सिविल सर्जन कहते हैं, बच्चेको अच्छी तरह देखा और अपनी राय दी कि बच्चेके असन्तोषजनक स्वास्थ्यका कारण कुपोषण तथा न्यूनपोषण ही है, अन्यथा उसमें शारीरिक या गठनमूलक कोई दोष नहीं है। इस प्रकार मामला तै हो गया और सर्वोच्च अधिकारियोंने दत्तकग्रहणकी मंजूरी दे दी। रीति-रस्म पूरी कर दी गयी, बालकका नया नाम श्रीकृष्ण-दत्त रख दिया गया और वह जौनपुर राजकी सम्पन्न रियासतका स्वत्वाधिकारी बन गया। भारतमें किसी-किसीका भाग्यचक्र इसी तरह घूम जाया करता है और ज्योतिषियों द्वारा की गयी भविष्यद्-वाणियाँ पूरी उतर जाती हैं।

यह सन् १९००की बात है। सत्रह वर्षतक कोर्ट ऑफ वार्ड्‌ज बालक राजाकी तरफसे रियासतका प्रबन्ध करता रहा, उसकी अच्छी शिक्षाका प्रबन्ध किया और जब १९१७में वह बालिग हो गया तो उसकी रियासतको अपनी देखरेखसे मुक्त कर दिया। और तब शीघ्र ही मुकदमेबाजी शुरू होनेकी आशंका उपस्थित हो गयी जिसमें राजके सम्बन्धमें उसके समस्त अधिकारको ही अवैध ठहरानेकी बात कही जाने लगी। राजा अभी नवयुवक ही था। वह अननुभवी भी था किन्तु सौभाग्यसे उसका मैनेजर (जो शिवलाल दूबेकी लड़कीका पौत्र था) इस कठिन अवसरपर बड़े उत्साह, समझ-दारी, विवेक तथा पूर्ण निष्ठाके साथ रियासतका काम सँभाले हुए था।[१]

दावेदारका नाम था केदारनाथ दूबे, जो राजा शिवलाल दूबेके एक भाईका वंशज[२] था। वह कई वर्षोंतक जौनपुरमें अध्यापक रह चुका था। उसके पढ़ाये हुए बहुतसे विद्यार्थी थे और यद्यपि वह सम्पन्न न था, लोग उसे पसन्द करते थे तथा उसने लोगोंमें अपने प्रति सहानुभूति उत्पन्न कर दी थी। उसका परिवार कई पुश्तोंसे जौनपुरमें ही रहता आ रहा था, जब कि युवक राजा बाहरी आदमी था, जिसने बीचमें आकर वास्तविक उत्तराधिकारीको अपने वैध अधिकारोंसे वंचित कर दिया था। फिर, केदारनाथ दूबे चतुर आदमी भी था, उसने सावधानीसे प्रचार कर ऐसे वाता-

१. इनका नाम था रायसाहब शम्भूनाथ शुक्ल, जो बड़े मनोरम स्वभावके बुद्धिमान् तथा योग्य आदमी थे और जिन्हें मानवप्रकृतिका व्यापक अनुभव था। वे मेरे बहुत उपयोगी निजी मित्र थे।

२. मामलेपर विचार होते समय अपना यह सम्बन्ध प्रमाणित करनेके लिए केदारनाथसे कहा गया किन्तु वास्तवमें इसके सम्बन्धमें कभी कोई विशेष सन्देह नहीं किया गया।

वरणकी, व्यापक धारणाकी सृष्टि कर दी थी कि उसका पक्ष काफी मजबूत है। उसने राजाके गोद लिये जानेकी वैधतामें ही सन्देह प्रकट किया। उसने इंगित किया कि रानीने रुपया देकर एक तरहसे लड़केको मोल लिया था और दत्तकग्रहणकी कोई रस्म ठिकानेसे नहीं की गयी। इसके सिवा उसने जहाँ-तहाँ यह भी कह रखा था कि उसके पास ऐसे अखण्डनीय पुराने कागजपत्र हैं जिनसे यह बात साफ हो जाती है कि शिवलालके परिवारमें किसीको भी दत्तकग्रहणकी और इस प्रकार पारिवारिक रूढ़ि द्वारा किसीको उत्तराधिकारसे वंचित कर देनेकी आजादी न थी। अन्तमें उसका यह भी कहना था कि स्वर्गीय राजा शंकरदत्त काफी अधिक बीमार थे और मृत्युके सप्ताहों ही नहीं, महीनों पहले भी वे विवेकपूर्वक कोई दस्तावेज नहीं लिख सकते थे और तथाकथित वसीयतनामा उनसे छलपूर्वक लिखाया गया था। कुछ भय दिखाकर और कुछ विश्वासपूर्ण कथनों द्वारा उसने अपने समर्थकोंके हृदयमें विश्वास उत्पन्न कर दिया और भारी बेचैनी तथा आसन्नसंकटकी भावना अपने विपक्षियोंमें। केदारनाथने रुपया भी प्राप्त कर लिया। दो धनवान् व्यक्तियोंने रियासतका चौथाई हिस्सा पानेकी शर्त्तपर मुकदमेका सारा खर्च, हाईकोर्टमें अपील होनेतकका, देना मंजूर कर लिया और बीचकी अवधिमें एक सन्तोषजनक मासिक वृत्ति भी केदारनाथको देना स्वीकार किया। इस-लिए केदारनाथको वह सब कुछ मिल गया जो मुकदमा लड़नेके लिए तैयार कोई व्यक्ति चाहता है, शक्तिशाली मित्र तथा आर्थिक साधन, किन्तु भाग्य उसके साथ न था और वह लालची तथा विवेकहीन व्यक्ति था। अथवा सम्भव है कि अपने दावेकी मजबूतीके सम्बन्धमें लोगोंको लगातार धोखा देते हुए वह खुद ही धोखा खा गया हो, अनुकूल परिणामकी कल्पना करनेमें उचीत सीमाका अतिक्रमण कर गया हो। उसका खयाल था कि उसका मामला बिलकुल पक्का है, जब कि वस्तुतः उसमें कोई दम नहीं था।

जिस समय केदारनाथके अभियान और उसके आक्रमण सम्बन्धी साधनोंके सम्बन्धमें तरह-तरहकी अफवाहें जौनपुरमें फैल रही थीं, भारतमें प्रथम बार महान् असहयोग आन्दोलनका आरम्भ हो चुका था। असहयोग सम्बन्धी कार्यक्रमकी एक मद थी अदालतोंका बहिष्कार तथा आपसके समझौते द्वारा अथवा पंचायत द्वारा मामलोंका निपटा लिया जाना। जौनपुरमें यह जो विवाद चल रहा था, उसमें इस बातकी अच्छी गुंजाइश थी कि आपसके समझौते द्वारा वह मुकदमेबाजी रोक दी जाय जिसमें समय और धनकी बड़ी बर्बादी होनेकी सम्भावना थी। महामान्य पण्डित मदनमोहन मालवीयने यह कार्य अपने हाथमें लिया। वे स्वर्गीय राजाके तथा रानीके विश्वासपात्र कानूनी सलाहकार थे। वे राजपरिवारके मित्र थे और सार्वजनिक जीवनमें उनका प्रमुख स्थान था, इसलिए उनकी सलाहका बड़ा महत्त्व था। उन्होंने उभय पक्षोंको बुला भेजा। राजा तथा उनके मैनेजरने बिना हिचकिचाहटके मालवीयजीकी सलाह मान लेनेकी सम्मति दे दी। केदारनाथने (जैसा कि मुझे बताया गया था, क्योंकि मैं स्वयं इस बातचीतमें सम्मिलित नहीं हुआ था) दो लाख रुपये नकदकी तथा रहनेके लिए एक बड़ेसे घरकी और एक घोड़ागाड़ीकी भी माँग की। बहुत हानि उठाकर भी मुकदमेबाजीसे बचनेके लिए मालवीयजीने इन माँगोंको स्वीकार कर लेनेकी सलाह दी और राजाने उन्हें स्वीकार कर लिया। यह भी समझौता हुआ कि आवश्यक कागजपत्र शीघ्र ही तैयार कर लिये जायँगे और रुपया जौनपुरमें दे दिया जायगा।

किन्तु केदारनाथका पीछा तो उसके पापग्रह कर रहे थे और उसकी लोभ वासना भी। उसने मनमें ख्याल किया कि मैंने राजाको बड़े सस्तेमें छोड़ दिया। राजाके मनमें भय तो समा ही गया था, अतः मैंने यदि और रकम माँगी होती तो मुझे मिल जाती। इसलिए जौनपुरमें वह

समझौतेसे मुकरने लगा (मुझे ऐसा ही पता चला था) और पत्रों या सन्देशोंका जबाब देनेसे जी चुराने लगा। अन्तमें उसने राजाके मैनेजरको सूचित किया कि मैंने गणना करने और हिसाबमें कुछ भूल कर दी थी, वस्तुतः मुझे दो लाख नहीं, चार लाख रुपये चाहिये। मैनेजरने मालवीयजीसे पुनः परामर्श किया। उन्हें बड़ा गुस्सा आया और केदारनाथको बददुआ देते हुए उन्होंने राजाको मुकदमा लड़ने तथा एक पैसा भी केदारको न देनेकी सलाह दी। इस प्रकार समझौतेकी बातचीत टूट गयी और केदारनाथने मामला दायर कर दिया। तब उसके 'अखण्डनीय' प्रलेख पहली बार सबके देखने-सुननेमें आये।

उसने कई बातोंके आधारपर गोद लेनेके कृत्यकी आलोचना की किन्तु उसकी मुख्य दलील यह थी कि कुलकी प्रथाके अनुसार या आपसी समझौतेके आधारपर (उसने एक साथ दोनों ही बातें रखीं) परिवारके किसी सदस्यको दत्तकग्रहणका अधिकार ही नहीं है। इसका आधार उसके कथनानुसार वह संलेख हैं जो सन् १८५३ में लिखा गया था और जिसपर परिवारके उन सब सदस्योंके हस्ताक्षर थे जो उस समय जीवित थे। यह कागज ही उसकी सबसे बड़ी दलील, उसका काटका पत्ता था। उसके पूरे दावेमें उसीका प्राधान्य था। उसने मूल संलेख अदालतमें पेश नहीं किया। यह कोई आश्चर्यकी बात न थी, क्योंकि उसके पूर्वजोंका उसके निर्माणमें वस्तुतः कोई हाथ न था और उसके पास मूल संलेखके होनेकी आशा ही नहीं की जा सकती थी। दरअसल उसने राजा साहबसे ही दरख्वास्त की कि वे राजके पुराने कागज-पत्रोंमें मूल प्रतिकी खोज कराकर उसे सामने रखें। किन्तु उसने बतलाया कि सन् १८५३ में इस संलेखकी सरकारी तौरपर रजिस्ट्री की गयी थी, रजिस्ट्री सम्बन्धी उस नियमके अनुसार जो उस समय प्रचलित था और उसने उक्त संलेखकी प्रमाणित प्रतिलिपि पेश की जिसके सम्बन्धमें यह बतलाया गया कि वह प्रलेखोंके निबन्धक (रजिस्ट्रार) द्वारा नवम्बर १८५३ में दी गयी थी।[१] यह प्रतिलिपि ऊपरसे देखनेपर बिलकुल ठीक मालूम होती थी। सूरत-शकलसे वह बिलकुल सच्ची नकल जान पड़ती थी। इन बातोंके सम्बन्धमें उस समय प्रचलित सभी नियमोंका उसमें निर्वाह किया गया था। वह उन दिनोंके अदालती कागजपर लिखी गयी थी और उसकी पीठपर कागज बेचने-वालेके हस्ताक्षरके साथ यह बात लिखी थी कि कागज सोमवार, तारीख ९ नवम्बर १८५३ को बेचा गया था। (यार अली खाँ) रजिस्ट्रारके दस्तखतके साथ सरकारी तौरपर यह बात प्रमाणित की गयी थी कि वह मूलकी सच्ची प्रतिलिपि है।

राजके कागजपत्रोंमें मूल प्रति ढूँढ़ निकालनेकी जी-तोड़ कोशिश की गयी। उनमें १८५२ के संलेख थे और १८५४ के भी, किन्तु १८५३ की एक भी दस्तावेजका पता न था। बादके किसी

१. संलेखों तथा अधिकार प्रदान करनेवाले पत्रोंके निबन्धन सम्बन्धी कानूनके अनुसार संलेख रजिस्ट्रार (निबन्धक) के सामने पेश किये जाते हैं और जब सम्बन्धित पक्षों द्वारा उनके लिखे जानेकी बात निबन्धकके सम्मुख उचित ढंगसे स्वीकार कर ली जाती है, तब उनका निबन्धन कर दिया जाता है और प्रत्येककी एक नकल सरकारी रजिस्टरोंमें दर्ज कर दी जाती है। निबन्धन सम्बन्धी पृष्ठांकन मूल प्रतिपर किया जाता है, जो इसके बाद उस पक्षको लौटा दिया दिया जाता है जो उसका अधिकारी होता है। इसके बाद कुछ प्रतिबन्धोंके साथ कोई भी आदमी किसी भी संलेखकी प्रमाणित प्रतिलिपिके लिए रजिस्ट्रारके पास दरख्वास्त दे सकता है और उसे प्राप्त कर सकता है। यह नकल रजिस्टरमें दर्ज प्रतिलिपि से तैयार की जाती है।

प्रलेखमें भी उसका कोई निर्देश न था। सरकारी रजिस्टर उपलब्ध नहीं थे, क्योंकि वे सन् १९५७ के विद्रोहमें नष्ट कर दिये गये थे। मनमें सन्देह होने लगा और शंका की जाने लगी कि जालसाजी तो नहीं की गयी है। (यहाँ यह बतला दूँ कि जौनपुर जिला अपने दुःसाहसपूर्ण कपट लेख्योंके लिए बदनाम है।) किन्तु यह बात साबित कैसे की जाय ? प्रतिलिपिमें कोई नुक्स नजर नहीं आ रहा था और तभी किसीके दिमागमें एक कल्पना दौड़ गयी—तुरन्त १८५२ से १८५४ तकका सरकारी गजट देखा गया तो पता चला कि रजिस्ट्रार यार अली खाँ सन् १८५२-५३ में जौनपुरमें नियुक्त था और सन् १८५४ में भी किन्तु १८५३-५४ के बीचमें कुछ महीनोंके लिए उसका तबादला अन्य जिलेमें हो गया था। नवम्बर १८५३ में वह जौनपुरमें था ही नहीं, वह दूसरी जगह काम कर रहा था और उसके बाद एक अन्य व्यक्ति निबन्धक (रजिस्ट्रार) के पद पर काम कर रहा था।[2] इससे सारे कपट-जालका भंडाफोड़ हो गया। चतुर जालसाजसे धोखेमें यह भूल हो गयी थी, जैसा कि ऐसे मामलोंमें अक्सर हो जाता है और वह पकड़में आ गया। उसके सामने सन् १८५२ तथा १८५४ के संलेख मौजूद थे। उनका निबन्धन यार अली खाँने किया था और जाली दस्तावेज तैयार करनेवालेने यह बात मान ली थी (और ऐसी कल्पना असम्भाव्य नहीं थी) कि यार अली खाँ १९५२ से १९५४ तक तीनों वर्षोंमें लगातार जौनपुरमें ही रजिस्ट्रारके पदपर काम करता रहा होगा। यदि यह भद्दी भूल न हो गयी होती तो मुझे इसमें सन्देह ही है कि इस चालबाजीका भण्डा-फोड़ इतनी अच्छी तरह हो पाता। मुझे एक गलती और मिली, जिससे में अपनी बहसमें एक सुझाव दे सका—यह बड़ा बुद्धिग्राह्य-सा था—कि इस 'प्रतिलिपि' के तैयार किये जानेकी कौन-सी तारीख हो सकती थी। अदालती कागज बेचनेवाले प्रायः स्टाम्पकी पीठपर वह तारीख और दिन दे देते हैं जिस तारीख या दिनको वह बेचा गया होता है और तारीख डालते समय उन दिनों यह रिवाज प्रचलित था कि अंग्रेजी तारीखके साथ-साथ हिन्दू (विक्रम सम्वत्की) तिथि तथा हिजरी तारीख भी दे दी जाती थी। इसलिए निर्देश सम्बन्धी सुविधाके खयालसे भारतमें तैयार किये तथा बेचे जानेवाले सभी पंचांगों या जन्त्रियोंमें बहुधा तीनों तरहकी तिथियाँ दी रहती हैं—हिन्दू तिथि, मुसलिम तिथि तथा ईसाई तारीख। इस विशिष्ट उदाहरणमें भी तीनों तिथियाँ दी हुई थीं और तीनोंका आपसमें मेल भी बैठ जाता था किन्तु दिन शनिवार होना चाहिये था, जब कि उसके बदलेमें सोमवार दिया गया था। असली दस्तावेजमें ऐसी भूल हो जाना नामुमकिन है। अदालती कागजका विक्रेता शनिवारको पृष्ठांकन करते हुए सम्भवतः ऐसी गलती नहीं कर सकता कि वह (बीचमें रविवारकी तातीलके रहते हुए) भूलसे सोमवार लिख दे। तो फिर इसका रहस्य क्या हो सकता है ? मैंने कल्पना कर डाली। उन्नीसवीं शताब्दीके अन्तिम वर्षोंमें एक पुस्तकविक्रेताने (१८०० से १९०० तक) सौ वर्षकी एक जन्त्री तैयार कराकर प्रकाशित की थी और उत्तरप्रदेशमें व्यापक रूपसे उसका प्रयोग किया जाता था, विशेषकर उन लोगों द्वारा जिन्हें अदालतोंमें या कानून सम्बन्धी कामकाज करना पड़ता था। इस जन्त्रीमें हर पृष्ठपर बारह खाने होते थे और प्रतिमासके लिए चार खाने रहते थे (तीनों तिथियोंके लिए तथा दिनके लिए)। यह जन्त्री जिस ढंगसे छापी गयी थी, उसमें देखने-वालेके लिए—यदि वह विशेष सावधानी न बरते या जल्दीमें हो—९ नवम्बर १८५३ के बजाय ९ दिसम्बर १८५३ पढ़ लेना बहुत सम्भव था और यह ९ दिसम्बर १८५३ सोमवारको पड़ता था। इसलिए मैंने सुझाव रखा कि यह विशिष्ट 'प्रतिलिपि' १८९० के बाद किसी तारीखको, उक्त जन्त्री-

२. भारतमें सरकारी अफसरोंकी नियुक्ति, स्थानान्तरण, अवकाशग्रहण आदिके समाचार प्रति सप्ताह सरकारी गजटमें छपते रहते हैं।

के प्रकाशित होनेपर, गढ़ी गयी होगी। मेरा निजी ख्याल है कि मेरा सुझाव बिलकुल ठीक था। जालसाजीका इस तरह पता चल जानेसे केदारनाथके मामलेकी मानो जड़ ही कट गयी। जालसाजीकी बात हम उससे मनवा नहीं सके। इस सबके लिए वह काफी चतुर था। उसने कहा कि 'यह कागज मुझे अपने पिताके पुराने सन्दूकमें मिला था और उन्होंने कब तथा कैसे प्राप्त किया, मैं नहीं जानता। मेरे लिए उसकी प्रमाणिकतामें सन्देहका कोई कारण न था।'

मुकदमा बहुत दिनों तक चला। जून १९२२ में उसकी सुनवाई शुरू हुई और दिसम्बर-तक छ महीने वह जारी रही। उभय पक्षकी ओरसे बहुतसे गवाहोंके बयान हुए, जैसा कि ऐसे मामलोंमें होता ही है। जाँचका क्षेत्र विस्तृत था और बहुत-सी बातें स्पष्ट करनेको थीं, फिर भी परिणामके सम्बन्धमें कोई सन्देह नहीं रह गया था, हालाँ कि बीच-बीचमें कुछ विचित्र सी घटनाएँ हो जाया करती थीं। मैं राजाके महलमें दो-तीन कमरे लेकर रहता था, इसलिए मेरे लिए सम्भव हो सका कि मैं राजके एक बड़े मामलेकी दिन-प्रति-दिनकी काररवाई-पर नजर रखता। एक दिन सबेरे, जब केदारनाथके गवाहोंका सम्परीक्षण चल रहा था, मैनेजर मेरे पास सलाह लेनेके लिए आया। उस दिन एक महत्त्वपूर्ण गवाहका बयान होनेवाला था, जो स्वर्गीय राजाके समय रियासतका अफसर होनेके कारण यह बतलानेकी स्थितिमें था कि राजाका स्वास्थ्य उस समय कैसा था और मृत्यु-पत्र किस तरह लिखा गया था। मैनेजरने मुझे बतलाया कि यह 'सचाई पसन्द आदमी' इसके लिए तैयार था कि वह इधर-उधर कहीं चला जाय और साक्ष्य देनेके लिए उपस्थित ही न हो, बशर्ते कि उसे सात सौ रुपये दे दिये जायें। 'मुझे क्या करना चाहिये?' मैनेजरने मुझसे पूछा। मैंने तुरन्त निश्चित शब्दोंमें जवाब दिया, 'गोली मारो उसे। और सब बातोंके सिवा, जिनमेंसे प्रत्येक निर्णायक है, हमें इसका भी तो ख्याल करना है कि इस तरह धमकी देकर रुपया कमानेकी घटनाओंका फिर जल्दी अन्त ही न होगा। यदि एक आदमी रुपया झटककर चलता बनता है, तो फिर चारों तरफसे लोग आ-आकर ऐसा ही करनेका प्रयत्न करेंगे।' मेरी सलाह मान ली गयी। दो घण्टेके बाद मुझे गवाहोंके कटघरेमें[1] भला आदमी-जैसा प्रतीत होनेवाला एक व्यक्ति देख पड़ा, जो अच्छे कपड़े पहने हुए, अपने भावोंपर काबू रखे हुए और देखने-सुननेमें सचमुच आकर्षक-सा मालूम होता था तथा जो तनिक भी झेंपता न था। उसने झूठके सिवा और कुछ भी नहीं कहा, सचमुच ही बड़े शान्तभावसे। और इस बीच ज्योतिषकी काररवाई भी चल रही थी। इसके कई उदाहरण मैंने देखे।

केदारनाथसे मैं काफी परिचित हो चुका था और कभी-कभी मैं उससे बातचीत भी किया करता था। एक दिन जब उससे जिरह हो रही थी और बीचमें थोड़ा-सा अवकाश हुआ, तब उसने मुझसे अलगसे कहा, 'राजा साहबने मन्त्र पढ़नेके लिए एक ब्राह्मण पंडित नियुक्त किया है जिससे मेरा दिमाग ठिगाने न रहे और मैं जिरहमें उखड़ जाऊँ।' 'तुम्हें कैसे मालूम हुआ?' मैंने पूछा। 'पंडित यहाँ कचहरीमें मौजूद जो है,' उसने जवाब दिया 'और वह मेरी दुष्कामना कर रहा है। वह देखिये, आपके पीछे ही वह खड़ा है।' मैंने अदालतकी घिरी हुई जगहमें, हम लोगोंसे अधिक दूर नहीं, एक जंगली-सा देख पड़नेवाला बिना हजामत बनवाये, लम्बे बालोंवाला आदमी देखा जो लगातार मन ही मन कुछ पढ़ रहा था और हर एकाध मिनटके बाद रुककर केदारनाथकी तरफ हाथ इस तरह हिला

---

१ उत्तरप्रदेशकी जिला अदालतोंमें 'गवाहों का कटघरा' जैसी कोई चीज नहीं होती। गवाह अक्सर न्यायाधीशके टेबिलके सामने उस स्थानमें खड़ा होता है जो दोनों तरफके वकीलोंकी टेबिलोंके बीच पड़ता है।

दिया करता था मानो उसकी तरफ कोई चीज फेंक रहा हो। शामको मैंने इसकी चर्चा मैनेजरसे की और उसने स्वीकार कर लिया कि बात ऐसी ही थी। उसने निस्संकोच होकर सब बात मुझे बतला दी और विनोदपूर्वक कहा, 'मैंने राजा साहबसे कह दिया था कि इस भारी मुकदमेमें लाखों रुपये वकीलोंकी फीस तथा अन्य कामोंमें खर्च हो जायगा। मुझे भी १० हजार रुपये पण्डितोंको नियुक्त करने और पूजा-पाठ करानेमें खर्च करने दिया जाय जिसके लाभ पहुँचानेकी क्षमतामें मुझे दृढ़ विश्वास है। राजाने मेरी प्रार्थना स्वीकार कर ली और मैंने आवश्यक पूजा करानेके लिए सोलह पण्डित नियुक्त कर लिये हैं, मैं जानता हूँ कि आप बड़ी कुशलतापूर्वक बहस करेंगे किन्तु मेरे इन उपायोंका भी प्रभाव पड़ेगा।' इसमें दखल देनेकी मेरे लिए कोई आवश्यकता न थी और मैनेजरने जो चाहा वही किया। मैं कभी-कभी देखता था कि जब मेरी मोटर गाड़ी बड़े फाटकसे बाहर जाने लगती थी तब कुछ पण्डित वहाँ खड़े या चलते हुए देख पड़ते थे या वे कुछ शुभावह वस्तुएँ हाथमें लिये रहते थे। राजाके निज पिता इस मामलेमें एक महत्त्वपूर्ण गवाह थे किन्तु वे अपढ़ और सीधे-सादे व्यक्ति थे, अतः प्रत्येकके मनमें यही आशंका थी कि अदालतके विचित्रसे वातावरणमें वे हक्का-बक्कासे रह जायँगे। उनके साथ लगातार ४ दिनोंतक जोरोंकी जिरह की गयी और उसका सामना उन्होंने बड़ी दृढ़तासे किया, यद्यपि ऐसी उनसे आशा नहीं की गयी थी। मैंने इसपर मैनेजरको बधाई दी। उसने बतलाया कि वह उन असाधारण प्रार्थनाओं-का प्रत्यक्ष परिणाम था जो उनके लिए इस उद्देश्यसे की गयी थीं कि वे इस अग्नि परीक्षामें अच्छी तरह उत्तीर्ण हो जायँ। दिनमें गर्मी पड़ती थी और कड़ी धूपमें, उघारे सिर, कई पंडित उनकी रक्षा तथा लाभके लिए प्रतिदिन पाँच घण्टे मन्त्र पढ़ते तथा प्रार्थना करते थे—१०॥ बजेसे ४ बजेतक, जब वे अदालतमें साक्ष्य देते रहते। और अन्तिम बहस शुरू हुई, तब राजाके वकीलों-को सफलता दिलानेके लिए तथा दूसरे पक्षके विद्वान् वकीलके हृदयमें घबराहट उत्पन्न कर देने-के लिए प्रार्थनाएँ की जाने लगीं।

मैं ब्रिटेन और अमेरिकाकी बात तो नहीं जानता किन्तु भारतमें हिन्दुओं तथा मुसलमानों, दोनोंमें ये आध्यात्मिक तरीके बराबर प्रयुक्त होते रहते हैं, चाहे इन्हें आप अन्धविश्वास कहिये या और कुछ। वकीलोंको जो मुकदमे मिलते हैं उनकी सफलता बहुधा ईश्वर द्वारा उनके मुवक्किलोंके पथप्रदर्शनके कारण प्राप्त होती है, यद्यपि वकीलोंको इसका बिलकुल पता नहीं चलता।

ज्योतिष एक और तरीकेसे अपना काम करता था। बिलकुल शुरूसे ही मैं इस बातके पक्षमें था कि मामलेमें अदालतके बाहर निजी तौरसे समझौता कर लिया जाय। इसका कारण यह नहीं था कि मुझे सफलताके सम्बन्धमें कोई सन्देह था, बल्कि ज्यों-ज्यों मामला आगे बढ़ता गया, यह विश्वास पक्का हो गया कि मुकदमा अवश्य खारिज हो जायगा। परिणाम पहिलेसे ही जानी हुई बात थी। किन्तु यह कुछ विचित्र-सी बात है कि जब आपसके सम्बन्धियोंमें मुकदमेबाजी होती है, तब मैंने बराबर अपने वकीली जीवनभर इस सिद्धान्तके अनुसार काम किया है कि कुछ रुपया खर्च कर शान्ति खरीद लेना और अपने भाई या चचेरे भाईकी जेबमें कुछ रुपया चले जाने देना बेहतर है, बजाय इसके कि मुकदमेबाजीमें पड़कर चिन्ता मोल ली जाय और धन ही नहीं, शक्ति तथा समयका भी अपव्यय किया जाय। अन्तमें जीतनेवाले पक्षको भी बहुधा पता चलता है कि उसे वकीलोंकी फीस तथा मुकदमेकी अन्य मदोंमें जितना रुपया खर्च कर देना पड़ा है, उससे कहीं कम रकममें ही बुद्धि-संगत समझौता किया जा सकता था।[1] किन्तु यद्यपि अपने सब मुवक्किलों-

---

१. भारतके संयुक्त प्रान्त (उत्तरप्रदेश)में—अन्य प्रान्तोंके सम्बन्धमें मैं निश्चित रूपसे नहीं कह

को मैं यही सलाह देता रहा हूँ, फिर भी मुझे कहते दुःख होता है कि एकाध बार ही मेरी यह सलाह मानी गयी है। मनुष्यका स्वभाव बड़ा विकृत होता है और पारिवारिक झगड़ोंके कारण भारी कटुता, घृणा तथा आपसकी तनातनी उत्पन्न हो जाती है। बहुधा बाहरी लोग, यहाँतक कि परिवारके वकील भी इन झगड़ोंका वास्तविक कारण नहीं जानते। कभी-कभी परिवारकी इतनी बदनामी हो जाती है कि सभी लोग उसे छिपानेका प्रयत्न करते हैं, किन्तु उसके कारण उनके मन-में एक-दूसरेके प्रति विषाक्त भावना उत्पन्न हो जाती है, फिर उसका कारण चाहे जो भी हो। इसी-से भाई-भाईके बीच तथा अन्य रिश्तेदारोंमें चलनेवाली मुकदमेबाजी अक्सर अविश्वसनीय भयंकरता-के साथ और सोच-समझकर प्रदर्शित की जानेवाली निष्ठुरताके साथ जारी रखी जाती है। उनमें यह दृढ़ निश्चय देख पड़ता है कि हम एक पैसा भी अपने विपक्षीको न लेने देंगे।

हाँ, तो जौनपुर राजका मामला इसी तरह चल रहा था कि एक दिन, पेशी होनेके ठीक पहले जब पण्डित गोकर्णनाथ[2] और मैं घरमें बैठे हुए कुछ सलाह-मशविरा कर रहे थे, हमें बतलाया गया कि विचारक न्यायाधीश मामलेकी कारखाई आरम्भ करनेके पूर्व सम्भवतः एक छोटा-सा भाषण करेगा जिसमें वह बतलायगा कि आपसमें समझौता कर लेना निहायत ही अच्छी और सुन्दर चीज है और पितृवत् दोनों पक्षोंको सलाह देगा कि जहाँतक बन पड़े वे सौजन्यपूर्वक आपसमें समझौता कर लें। अब प्रश्न यह था कि यदि न्यायाधीशने सचमुच ऐसा किया तो हमारा रुख क्या होना चाहिये। मेरी राय हुई कि हमें इस अवसरसे लाभ उठाकर मामला तय कर लेना चाहिये। अवश्य ही अब दो लाख रुपये नहीं दिये जा सकते थे, क्योंकि अब हम देख ही रहे थे कि हमारा पक्ष कितना प्रबल है, बल्कि उससे कुछ छोटी रकमपर ही समझौता हो सकता था, केवल इस उद्देश्य-से कि लम्बे समयतक चलनेवाली सुनवाईकी परेशानी और खर्चसे छुटकारा मिल जाय। यह सलाह, जो स्पष्ट ही वकीलके अपने व्यक्तिगत हितके प्रतिकूल है, शायद ही कभी किसी मुवक्किलको पसन्द आती है या उसे मान्य होती है—ऐसा विचित्र होता है मनुष्यका स्वभाव! वही बात यहाँ भी मैंने देखी और मोटे तौरसे सबकी आम राय यही थी कि बहुत छोटी रकम ही दी जाय। किन्तु हम-लोगोंकी बातचीत जब समाप्त हो गयी तो महत्त्वपूर्ण सलाह करनेके लिए मैनेजरको मैं एक तरफ खींच ले गया और मैंने उससे कहा कि राजाके हकमें बेहतर होगा कि एक लाख रुपया देकर भी वह इस मुकदमेसे छुटकारा पा लें, क्योंकि इसमें उससे भी बड़ी रकम खर्च हो जानेकी सम्भावना है। जब मुकदमेकी पुकार हुई तो जजने सुनवाई आरम्भ करनेके पूर्व अपनी सलाह दी और उसपर विचार करनेके लिए उभयपक्षसे अनुरोध किया। दोनों तरफके वकीलोंने, शिष्टाचारके नाते, जजके प्रति,

---

सकता—विजयी पक्ष प्रायः सभी बड़े मुकदमोंमें अपने विपक्षीसे उस भारी खर्चका एक टुकड़ा भी वसूल नहीं कर सकता जो उसे मामलेके पीछे उठाना पड़ता है। हाईकोर्टने नियम बनाकर यह निश्चित कर दिया है कि न्यायालय द्वारा दी जानेवाली डिगरीमें वकील या वकीलोंकी फीसके रूपमें प्रतिद्वन्द्वीसे अधिकसे अधिक तीन हजार रुपयेकी रकम ही दिलायी जा सकती है, जब कि बड़े-बड़े रियासती मामलोंमें मुकदमेकी कारखाई महीनों चलती रहती है और वकीलोंकी बड़ी-बड़ी फीस प्रतिदिन तथा विशेष पारिश्रमिक भी दिया जाता है, जिससे कुल खर्च बहुत अधिक पड़ जाता है। अन्य मदों सम्बन्धी खर्च भी जो हारे हुए पक्षसे दिलाया जाता है, वास्तवमें खर्च की गयी रकमकी तुलनामें बहुत कम होता है।

२. वे लखनऊकी अवध वकील-मण्डलीके सुख्यात सदस्य थे, जो बादमें अवध चीफकोर्टके जज हो गये थे। वे जौनपुर राजके मुकदमेमें कुछ दिनोंतक राजाकी ओरसे मेरे साथ खड़े हुए थे।

उसकी इस बहुमूल्य सम्मतिके लिए, कृतज्ञता प्रकट की और एक बुद्धिसंगत समझौता करनेके लिए अपनी तीव्र इच्छा तथा तत्परता प्रकट की। जजने यह समझनेके लिए मामूली पूछताछ की कि उन लोगोंकी दृष्टिमें बुद्धिसंगत समझौता क्या हो सकता है, तो वादीके वकीलने धीरेसे सुझाव दिया कि समूची रियासत दो बराबर हिस्सोंमें बाँट दी जाय और यदि ऐसा करना मंजूर न हो तो, उसने उदारतापूर्वक कहा, उसे उसकी आधी कीमत अर्थात् कोई १५-२० लाख रुपये नकद स्वीकार करनेमें कोई आपत्ति न होगी। राजाकी ओरसे मेरे विद्वान् मित्र गोकर्णनाथने वैसी ही स्थिरतासे जवाब दिया कि वादीको अच्छी तरह मालूम है कि उसका पक्ष कितना गया-गुजरा है, फिर भी राजा उसके सन्तोषके लिए खुशी-खुशी बीस हजार रुपया दे देंगे। मैं जजके चेहरेका वह भाव कभी भूल नहीं सकता, जो मैंने उस समय देखा जब एक बुद्धिग्राह्य समझौतेके सम्बन्धमें उभयपक्षके इतने विपरीत विचार उसने सुने। वह बिलकुल सन्न रह गया और फिर आगे कुछ कहनेकी उसकी हिम्मत ही नहीं हुई। दोनों पक्षोंके प्रस्तावोंमें आकाश-पातालका अन्तर था। मैं जानता था कि वादीका वकील केवल एक भभकी दे रहा था और मैं वास्तविक प्रयत्न किये बिना यह अवसर जाने नहीं देना चाहता था, इसलिए मैंने स्वतः अपनी प्रेरणासे इस समय हस्तक्षेप करते हुए कहा कि वादीको मालूम है कि उसका सुझाव बिलकुल सामान्य बुद्धिके विपरीत है किन्तु २० हजारकी रकम भी उपयुक्त नहीं मालूम होती, इसलिए हम लोग इसपर पुनः विचार करनेके लिए तैयार हैं यदि वादी स्वयं अपनी स्थितिके बारेमें अधिक यथार्थ दृष्टिकोण ग्रहण करनेको उद्यत हो। किन्तु मेरे इस थाह लेनेके प्रयत्नका कोई परिणाम न निकला। वादी उस समय कोई बात सुननेकी स्थितिमें न था।

पण्डित गोकर्णनाथ एक सप्ताहके बाद चले गये और मुकदमेका पूरा भार अब मेरे ही ऊपर आ पड़ा। हाँ, जिलेके कई साथी वकील मेरी सहायता करते रहे, उन कई महीनोंतक जबतक सुनवाई होती रही। परिवारका सम्बन्धी होनेके नाते वादीके प्रति मेरी प्रबल सहानुभूति थी और यह बात राजा तथा उनके मैनेजरको अच्छी तरह ज्ञात थी। मैं बारबार समझौता करानेका प्रयत्न करता था और प्रत्येक नयी चेष्टाके समय दूसरे पक्षसे कह दिया करता था कि राजाका खर्च बढ़ता जा रहा है, इसलिए समझौतेके बाद दी जानेवाली रकम भी प्रत्येक बार उसी हिसाबसे क्रमशः घटती जायगी। राजाका पक्ष बहुत मजबूत है, फिर भी मेरे अनुरोधपर वे रुपया देकर समझौता कर लेंगे। जब मुकदमेका अन्त निकट आता जायगा, तब उनके लिए समझौता करनेकी न कोई प्रेरणा रह जायगी और न कोई कारण। मैंने बार-बार यह बात वादी तथा उसके वकीलको समझा दी किन्तु सब बेकार हुआ। अपने मामलेकी आशाशून्यताका अधिकाधिक ज्ञान उसे होता जा रहा था, फिर भी वह अपने भाग्यके चंगुलमें फँसा हुआ था। जब मैं एक लाख रुपया देनेको तैयार था, तब वह दो लाख माँगता था, और जब मैं ५० हजार देता था तो वह एक लाख माँगता था। इसी तरह यह सिलसिला चलता रहा और हम लोग एक रायके हो नहीं सके। मुझे अपने मुवक्किलका स्पष्ट और पूर्ण विश्वास प्राप्त था किन्तु मैनेजर मुझे बार-बार ज्योतिषियों द्वारा की गयी भविष्यवाणियाँ बताया करता और अन्य रूपसे भी चतुरतापूर्वक मुझे अपने कर्त्तव्यका स्मरण दिलाया करता। 'डाक्टर साहब' वह कहा करता, 'हमारा आपके ऊपर विश्वास है और हम जानते हैं कि आप हमारे हितमें ही यह सब कर रहे हैं, अन्यथा यदि कोई अन्य वकील होता तो इससे गलतफहमी पैदा हो जा सकती थी। फिर भी मैं आपको बतला देना चाहता हूँ कि वादीकी सहायता करनेके आपके सब प्रयत्न बिलकुल बेकार साबित होंगे। मैंने उसकी जन्मकुण्डली दिखलाकर बनारसके नामी ज्योतिषियोंसे सलाह ली है और उन सभीने निश्चयपूर्वक कहा है कि एक पापग्रह उसके भाग्यका संचालन कर रहा है। वह

दुष्टग्रह उसका लालच बढ़ाकर उसे हानि पहुँचायेगा और इस प्रकार उसे विनाशकी ओर अग्रसर करता चलेगा। आप जितना देनेको तैयार होंगे वह उससे अधिक ही माँगेगा। उसका कोई नतीजा न निकलेगा, चाहे कितनी ही कोशिश आप क्यों न करें। बिलकुल अन्ततक आपको यह मुकदमा लड़ना पड़ेगा।' आखिर, सचमुच ऐसा ही हुआ। मुझे भारतकी प्रत्येक अदालतमें बिलकुल अन्त-तक मुकदमा लड़ना पड़ा और दरिद्रतामें आकण्ठ-निमज्जित व्यक्तिके रूपमें केदारनाथकी मृत्यु हुई।[1] उसका मामला खारिज हो गया और हाईकोर्टमें की गयी उसकी अपील भी बेकार हुई और हाई-कोर्टने मामलेको इतना स्पष्ट समझा—और सचमुच उस स्थितिमें वह वैसा था भी—कि उसने इङ्गलैण्डकी प्रिवी काउंसिलमें उसकी अपील करनेकी अनुमति नहीं दी।

पीछेकी ओर निगाह डालकर जब मैं देखता हूँ तो मैं जौनपुर राजके मामलेको अपने वकीली जीवनके सबसे सुखद अनुभवोंमेंसे एक मानता हूँ और वे छ महीने जो मैंने जौनपुरमें बिताये, जिन्दगीके सबसे आनन्दमय महीनोंमें से कुछ हैं। जब मैं जौनपुर गया था तो कुछ बीमार-सा और खिजबिजाया-सा था, हालाँकि ब्यावरके बूढ़े डाक्टरकी दवाने जिसकी चर्चामें पहले कर चुका हूँ, मुझे जो आश्चर्यजनक लाभ पहुँचाया था, उससे मैं बहुत सँभल गया था। राजा, उनके मैनेजर तथा उनके सभी लोग बड़े ही सज्जन और शिष्ट, तथा बहुत ही अच्छे अतिथि-सत्कारक थे; मेरे आराम और स्वास्थ्यका इतना ध्यान रखनेवाले, इतने सावधान कि मुझे कठिन परिश्रम नहीं करना पड़ा, प्रचुर व्यायाम हो जाता और विश्राम भी कर लेता, मोटरमें बैठकर बाहर घूमने तथा प्रमोद गोष्ठियोंमें भी सम्मिलित होनेका मौका मिल जाता ताकि शरीरसे अच्छा रहूँ और मन भी सजग तथा चुस्त रहे। राजाका महल कुछ समयके लिए मेरा दूसरा घर-सा बन गया था। और मेरा यह बड़ा सौभाग्य था कि मेरे साथी भी काफी योग्य थे, जो स्थानीय वकील-मण्डलीके कुछ प्रमुख सदस्योंमें-से थे। कुछ उस समय नयी उम्रके ही थे किन्तु उनके होनहार होनेकी आशा तभीसे की जा रही थी जो अब पूरी हो चुकी है। हम सब लोग मिलजुलकर काम करते थे, उस बन्धु समूहकी तरह जिसमें परस्पर सद्भाव एवं ऐक्यभावना हो। और सबसे बड़ी चीज तो यह थी कि हम जिसके लिए लड़ रहे थे, वह एक अच्छा मुकदमा था, बहुत मजबूत और बिलकुल साफ। इन सब मिली-जुली परिस्थितियोंके कारण जौनपुर राजका मामला मेरे लिए एक अविस्मरणीय अनुभव बन गया।[2]

---

१. मैनेजरकी बातचीतसे मुझे बम्बई हाईकोर्टकी वकील-मण्डलीके एक प्रसिद्ध अग्रणी बैरिस्टर इनवैरेरिटीकी आदतका स्मरण हो आता था। वे किसी तरहका समझौता या निपटारा पसन्द नहीं करते थे। अदालतमें जब कभी समझौतेका प्रश्न उठाया जाता वे साफ-साफ कह दिया करते थे 'महोदय, मेरे मुवक्किलने मुझे अपने मुकदमेमें पैरवी करनेके लिए नियुक्त किया है, अपनी ओरसे कोई निपटारा करनेके लिए नहीं। यदि उसे समझौता या निपटारा ही कराना होता तो वह अन्यत्र कहीं गया होता, मेरे पास न आता।' यह एक ऐसा मनोभाव है जो अच्छी तरह समझमें आ सकता है किन्तु दुर्भाग्यवश मैंने हमेशा इसके विपरीत व्यवहार किया है। मुकदमेकी जोखिम, उसकी बरबादी तथा उसकी व्यर्थता देखकर मैं अक्सर इतना दुःखित हो उठता हूँ कि मेरा बहुत-सा समय आपसमें एक माकूल निपटाराकर लेनेकी सलाह देते-देते बीता है।

२. जौनपुरकी जिला वकील-मण्डलीके सदस्योंसे उस समय मेरे बहुत सुखद सम्बन्ध स्थापित हो गये थे जो आज भी कायम हैं। इस मामलेमें उस समय जो मेरे साथ थे, वे आज मेरे घनिष्ठ मित्रोंमेंसे हैं। उनमेंसे दो, जिन्हें मैं बहुत चाहता था, अब इस दुनियामें नहीं हैं। बाबू

राजा और उनके मैनेजरके साथ मेरे सम्बन्ध कितने घनिष्ठ थे, इसके उदाहरणस्वरूप एक विचित्र घटना यहाँ देता हूँ जिसका परिणाम बड़ा आनन्ददायक हुआ। उत्तरप्रदेशमें जमींदारोंको सरकारी मालगुजारी प्रतिवर्ष दो किस्तोंमें जमा करनी पड़ती है और यद्यपि कलेक्टर कभी-कभी कुछ मुहलत दे देता है, फिर भी यह जरूरी होता है कि सब बकाया रकम प्रतिवर्ष ३० सितम्बरतक अदा कर दी जाय, जब कि माली वर्ष समाप्त होता है। राजाको मालगुजारीके रूपमें हर साल एक बड़ी रकम अदा करनी पड़ती थी। उस साल (सन् १९२२ में) उनके सामने नकद रुपयेकी कुछ कठिनाई उपस्थित हो गयी थी। मुकदमेके कारण उनका बहुत रुपया खर्च हो रहा था और समूचे राजपर उनके अधिकारका मामला ही दुविधामें पड़ जानेके कारण दूसरोंसे रुपया प्राप्ति करना मुश्किल-सा हो रहा था। जौनपुरके महाजन रुपया उधार देनेमें कुछ हिचक रहे थे और कई तो अधिकसे अधिक सीमातक ऋण पहले ही दे चुके थे। मुझे इस स्थितिका कुछ भी पता न था और यद्यपि मेरी फीसके कई हजार रुपये बकाया पड़े थे, फिर भी वह कोई ध्यान देने योग्य चीज न थी, क्योंकि मेरी फीसके बिल महीनेमें या छ सप्ताहमें एक बार चुकाये जाते थे। सितम्बर-के अन्तमें एक दिन मैंने राजाके भवनमें बहुत हलचल देखी और मैनेजरको लगान वसूल करनेकी कठिनाईका उल्लेख करते सुना। ३० सितम्बरको वह निश्चित रूपसे परेशान देख पड़ा। पानी खूब बरस रहा था और वह बार बार उस समयके खराब मौसिमकी शिकायत कर रहा था। मैंने उसके चिन्तित होनेका कारण पूछा और तब उसने सारा हाल मुझसे कहा। आठ हजार रुपये अभी और देना था। कलेक्टरने बड़ी मेहरबानी की थी किन्तु उसे पक्का वचन दे दिया गया था कि ३० सितम्बर-तक सारा बकाया साफ कर दिया जायगा और अब यह खराब मौसिम उसमें बाधा डाल रहा था। न तो पासमें पैसा था और न बाजारमें (महाजनों से) ही उपलब्ध था। योजना यह थी कि कुछ लगान पेशगी वसूल किया जायगा जिसके लिए राजा खुद ही जानेवाले थे किन्तु अब ऐसा होना असम्भव था। परिणामस्वरूप मैनेजर समझ नहीं पा रहा था कि अब क्या करना चाहिये और बहुत अधिक चिन्तित था।

मैंने थोड़ा-सा विचार किया और मनमें निश्चय कर लिया। मैंने कहा कि 'आपने इसकी चर्चा मुझसे पहले नहीं की। मैं नकद रुपये अपने घरसे याने इलाहाबादसे मँगा दे सकता था किन्तु अब तो मैं धनादेश (चेक) ही दे सकता हूँ।' मैनेजर इस तरह देखने लगा जैसे उसे अपने कानोंपर विश्वास न हो रहा हो। उसने कभी यह आशा नहीं की थी कि बाहरसे अर्थात् इलाहाबादसे बुलाया हुआ एक वकील इस तरह स्वेच्छासे मेरे बचावके लिए खड़ा हो जायगा। उसके चेहरेकी उदासी दूर हो गयी, वह खिल उठा और उसका हृदय अपार कृतज्ञतासे भर गया। उसने कहा कि 'आपके चेकसे मेरी समस्या हल हो जायगी।' तब मैंने पूछा 'उसका भुगतान कैसे होगा?' उसने जबाब दिया, 'यह कलेक्टरका काम है, मेरा नहीं। मुझे आज रुपया अदा करनेका अपना वादा पूरा करना था और चेक दे देने से वह पूरा हो जायगा।' इसलिए सबेरे ही मैंने चेक दे दिया और नित्यकी तरह कचहरी चला गया।

सन्ध्या समय मैनेजरने मेरा चेक वापस कर दिया। वह स्पष्टतः मुसकरा रहा था और बड़ा

राधामोहन, जिनकी मृत्यु सन् १९४१में हो गयी थी, एक योग्य विधिज्ञ, सम्मानित अधिवक्ता और बड़े भले आदमी थे। उनके पुत्र गोपालजी मेहरोत्रा हाईकोर्टके होनहार वकील थे और सन् १९४२ में जेलमें भी मेरे साथ थे। मेरे एक और मित्र, बाँकेलालकी भी मृत्यु सन् १९४२ में हो गयी थी।

प्रसन्न था। मेरी समझ में कुछ नहीं आया और मैंने इसका कारण पूछा। उसने यह किस्सा बयान किया—'जब यह चेक कलेक्टरको दिया गया, (जो एक मुसलिम सज्जन थे) और पूछनेपर उसे बताया गया कि आपने इसे दिया है, तो उसे इतना अचम्भा हुआ जिसकी कोई इंतिहा नहीं। उसने कहा कि मैंने न कभी सुना था और न कभी आशा ही की थी कि बाहरका कोई वकील इतना दयालु और आकस्मिक संकटके समय इतना सहायक हो सकता है। वकील लोग—विशेषकर बाहरसे आनेवाले वकील—अपनी फीस लेनेकी ही धुनमें रहते हैं, अपने मुवक्किलोंसे पैसा कमाते हैं और कभी अपना रुपया जोखिममें डालनेमें तैयार नहीं होते।' इसपर मैनेजरको मेरी बड़ाई करनेका और राजा तथा उनके वकीलके बीच विद्यमान सुखद सम्बन्धका बढ़चढ़कर वर्णन करनेका मौका मिल गया। 'हम सब लोग ऐसे ही निराले हैं,' उसने कहा। तब कलेक्टर भी भावुकतामें आ गया और कहने लगा, 'ये केवल राजाके ही नहीं, वरन् जौनपुरके प्रत्येक व्यक्तिके मेहमान हैं और यह बात कभी मान्य नहीं हो सकती कि मेहमानका चेक स्वीकार किया जाय। इसका हम विचार भी नहीं कर सकते। इससे हम सबकी बदनामी होगी।' और तब उसने सरकारी खजांचीको (जो जौनपुरका एक महाजन था) बुलाया और उससे कहा कि 'राजाके लिए-रुपयेका प्रबन्ध फौरन करो—या तो तुम खुद रुपया दे दो या फिर किसी दूसरेसे दिलवा दो। हर हालतमें राजाकी मालगुजारीका हिसाब आज साफ हो जाना चाहिये।' यह खजांचीकी जिम्मेदारी थी और उसने वैसा ही किया। मैनेजर बड़ा खुश था और मुझे अपना चेक इस महती प्रशंसाके साथ वापस मिल गया कि मैंने नाजुक वक्तपर इतनी मेहरबानी और हमदर्दी दिखलायी।'[1]

२२. साहनपुरका मुकदमा

साहनपुरके मुकदमेके कारण मुझे अपने समस्त वकीली जीवनमें सबसे अधिक चिन्तापूर्ण समय बिताना पड़ा था। वह बहुत दिनोंतक, लगभग सात महीने, चलता रहा और मुझे अकेले ही इस अत्यन्त कठिन मुकदमेकी जिम्मेदारी उठानी पड़ी जिसमें मुवक्किलकी सारी सम्पत्तिकी बाजी लगी थी। यदि अन्तमें उसकी पराजय हो जाती तो राजासे उसे किसान बन जाना पड़ता, बल्कि कहना चाहिये कि उसके बिलकुल भिक्षुक ही बन जानेकी सम्भावना थी। और सब बातें बिलकुल जौनपुर राजके मामले जैसी ही थीं। यह एक लम्बा मुकदमा था जिसमें मुझे खूब रुपया मिलता। मुवक्किलके साथ मेरे सम्बन्ध बहुत ही अच्छे थे। अच्छा मकान मुझे रहनेको मिला था, अच्छा खाना मिलता था और हर तरहसे मेरा खयाल रखा जाता था। मामला मेरठके सिविल जजकी अदालतमें चल रहा था और यह भारतके, अत्यन्त स्वास्थ्यवर्धक स्थानोंमेंसे है, किन्तु मामला कुछ ऐसे ढंगका था कि मेरे लिए उसीके कारण बहुत अन्तर पड़ जाता था। अन्तमें हम जीत तो गये किन्तु इसके लिए हमें न्यायालयोंमें भारी संघर्ष करना पड़ा जिसमें कभी-कभी कई दिनोंतक परिणाम बिलकुल अनिश्चित मालूम होने लगता था और ऐसी आशंका होने लगती थी कि हमारा हार जाना शायद रोका न जा सके।

---

1 इस कलेक्टर—बदायूँनिवासी मौलवी फसीहुद्दीन—से कई वर्ष बाद सन् १९३७ में मेरी भेंट हुई जब मैं उत्तरप्रदेशीय सरकारका एक सदस्य था। अवकाश ग्रहण करनेके बाद इन्होंने सार्वजनिक जीवन अपना लिया था और वे कई वर्षोंतक उत्तरप्रदेशीय व्यवस्थापिका सभाके सदस्य रहे। वे हमेशा अथक परिश्रम किया करते थे। सन् १९३९ में उनकी मृत्यु हो गयी।

मामलेकी कथा काफी आश्चर्यजनक थी। कुचेसर रियासत (जो अब उत्तरप्रदेशके बुलन्दशहर जिलेमें, दिल्लीसे ८० मीलपर है) एक विस्तीर्ण पुरानी रियासत थी जिसकी लगानसे प्राप्त वार्षिक आमदनी लगभग १० लाख रुपये थी। १८५७ के प्रथम भारतीय विद्रोहके कई वर्ष पहले कुचेसरके अन्तिम राजाकी मृत्यु हो गयी थी। वे अपने पीछे अपनी विधवा पत्नी तथा एक पुत्री छोड़ गये थे। इस लड़कीकी शादी कुँवर खुशपाल सिंहके साथ हुई जो वल्लभगढ़ नामक करद राज्यके उत्तराधिकारी थे (यह अब पंजाबके गुरगाँव जिलेमें है, दिल्लीसे कोई २५ मीलपर)। वल्लभगढ़के राजाने १८५७ में बगावत कर दी, उन्हें फाँसी हो गयी, और रियासत जब्त कर ली गयी। राजपरिवार बर्बाद हो गया और कुँअर खुशहाल सिंहको छ हजार रुपये वार्षिककी राजनीतिक वृत्ति दे दी गयी। यह अच्छा ही हुआ कि उन्होंने वल्लभगढ़ छोड़ दिया और अपनी पत्नीके परिवारमें कुचेसरमें आश्रय ग्रहण किया। उनकी पत्नीकी भी मृत्यु हो गयी किन्तु उनकी सास बराबर उनकी सहायता करती रहीं। उस विवाहसे कोई सन्तान नहीं हुई और स्वयं खुशहाल सिंहका कुचेसर रियासतके किसी हिस्सेपर न कोई विचारणीय अधिकार था, न स्वार्थ ही।

कुचेसरकी रानीका इन्तकाल सन् १८६८ के करीब हो गया और तब रियासतपर अधिकार पानेके लिए झगड़ा शुरू हो गया। राव उमराव सिंहने अपने आपको दत्तक पुत्र बतलाकर उसके लिए दावा किया, और कुँवर खुशहाल सिंहने दामादकी हैसियतसे तथा कुछ समवंशजोंने रुधिर-सम्बन्धके अनुसार निकटतम उत्तराधिकारीकी हैसियतसे उसे पानेका हक प्रकट किया। फिर भी इन लोगोंने बुद्धिमानीसे काम लिया और रियासतको तीन हिस्सोंमें बाँट लिया—६।१६ वाँ हिस्सा, जिसमें कुचेसर भी शामिल था, तथाकथित दत्तक पुत्र, उमराव-सिंहको मिला और शेष १०।१६ वाँ हिस्सा दो बराबर-बराबर भागोंमें अन्य दोनों दावेदारोंको मिला। कुँवर खुशहाल सिंहने सहारनपुरको अपनी राजधानी बनाया। इस समझौतेके अंगस्वरूप उसे विवाहमें एक पत्नी भी मिली। उसका विवाह उमराव सिंहकी लड़की रघुवीर कौरके साथ हुआ।

राव उमराव सिंह देशके उक्त क्षेत्रमें उस समय बड़े प्रसिद्ध व्यक्ति थे। वे दृढ़ संकल्पवाले जननेता थे, अपने निश्चयपर अटल तथा प्रभावशाली व्यक्तित्ववाले थे। वह जाटोंका स्थान था और जाट लोग भारतके उत्तम किसान होते हैं, ऊँचे, सुगठित तथा हृष्ट-पुष्ट और काफी समझदार। राव उमराव सिंह भी अपनी जातिके उत्कृष्ट प्रतिनिधि थे और वे सूझबूझके आदमी थे।

कुँवर खुशहाल सिंह और उनकी पत्नी रानी रघुवीर कुँवर सहारनपुरमें रहते थे। इस विवाहसे भी कोई सन्तति नहीं हुई। खुशहाल सिंहकी एक रखेली थी, लछमिन। वह भी सहारनपुरमें ही रहती थी।

सन् १८७९ में कुँवर खुशहाल सिंहका एकाएक देहान्त हो गया। वे मेरठ गये हुए थे—सहारनपुरसे ४० मील दूर—वहीं बीमार पड़े और दो चार दिनमें ही उनकी मृत्यु हो गयी। रानीको उनके पास पहुँचनेकी सूचना दी गयी थी, किन्तु उन्हें मेरठके रास्तेमें ही अपने पतिकी लाश मिली। विधवाकी हैसियतसे वे ही, हिन्दू कानूनके अनुसार, अपने जीवनपर्यन्त, रियासतकी उत्तराधिकारिणी हुई। इस मामलेमें एक बड़ा प्रश्न यह उठा कि क्या कुँवर खुशहाल सिंह कोई मृत्युपत्र छोड़ गये थे ? इसकी चर्चा आगे फिर की जायगी किन्तु उस समयकी अदालती कारवाई-में कोई मृत्युपत्र उपस्थित नहीं किया गया और न उसका कोई हवाला या उसकी चर्चा किसी ऐसे संलेखमें की गयी जो रानी रघुबीर कुँवरने इसके बाद बीस वर्षके भीतर कभी लिखा हो,

विशेषकर उस संलेखमें जिसके अनुसार कुछ भूमि रखेली स्त्री लछमिनको अभ्यर्पित की गयी थी।

खुशहाल सिंहकी मृत्युके तुरन्त बाद ही राव उमराव सिंहने हस्तक्षेप किया। उनकी लड़की अभी जवान ही थी और अनुभवविहीन भी, इसलिए पिताके लिए यह स्वाभाविक था कि रियासतके इन्तजाममें वे उसकी सहायता करते। किन्तु उन्होंने उसकी आवश्यकतासे अधिक सहायता की और खुद अपना ही भला किया। उन्होंने रियासतका दफ्तर कुचेसरमें स्थानान्तरित कर दिया, सारा लगान वे ही वसूल करते थे और उनकी लड़कीको केवल निर्वाह-व्यय मिलता था। इस तरह उमराव सिंह ही साहनपुर रियासत के वास्तविक स्वामी बन बैठे।

सन् १८९५ में मेरठ जिलेमें भूमिका बन्दोबस्त हो रहा था[1] और तबतक उल्लेखनीय घटना हुई। साहनपुर रियासतके एक गाँवके छोटेसे मन्दिरके ब्राह्मण पुजारीने बन्दोबस्त अफसरके पास अर्जी दी। इसमें उसने कहा कि खुशहाल सिंहने अपने जीवनकालमें १२ एकड़ भूमि मन्दिरके नाम अर्पित कर दी थी और इस दानकी पुष्टि उन्होंने अपने उस मृत्यु-पत्रमें कर दी थी जो आखिरी बीमारीके समय उन्होंने मेरठमें लिखा था, किन्तु गाँवके सरकारी कागजोंमें इस दानका कोई अभिलेख नहीं मिलता, अतः मेरी प्रार्थना है कि उक्त मृत्यु-पत्र रानीके पाससे मँगवाकर पढ़ लिया जाय और उसीके अनुसार सरकारी अभिलेख संशोधित कर दिये जायँ।

बन्दोबस्त अफसरने दरख्वास्त मंजूर कर ली और एक मातहत कर्मचारीको साहनपुरमें जाकर रानीका वक्तव्य लेने और उनके पाससे मृत्यु-पत्रकी मूल प्रति ले आनेका आदेश दिया। यह कर्मचारी जो कानूनगोकी स्थितिका था, साहनपुर गया और उसने अपनी रिपोर्ट तैयार की। इसमें उसने लिखा कि "मैंने रानीसे असली मृत्यु-पत्र दिखलानेको कहा, उन्होंने मुझे दिखलाया भी; किन्तु उसे वे मेरे हाथ सौंपनेको तैयार नहीं हुईं। उनका कहना था कि वह अधिकार प्रदान करनेवाला बड़ा महत्वपूर्ण प्रलेख है और मैं उसे एक निम्न कर्मचारीके हाथमें नहीं दे सकती, किन्तु उसे मैं खुद अपने विश्वसनीय मैनेजरके हाथ बन्दोबस्त अफसरके पास निरीक्षणके लिए भेज दूँगी। इसपर मैंने रानीसे सवाल किया कि यदि मैं इस मृत्यु-पत्रकी नकल कर लेना चाहूँ तो क्या इसमें आपको कोई आपत्ति होगी? उन्होंने जवाब दिया कि कोई आपत्ति नहीं। तब मैंने उसकी नकल कर डाली और उसे इस रिपोर्टके साथ नत्थी कर दिया। मैंने रानीसे भी बातचीत की और उनका वक्तव्य भी रिपोर्टमें शामिल कर लिया।" उसमें भी वही बात कही गयी थी जो रिपोर्टमें थी। यह रिपोर्ट, संयोजित वस्तुओंके साथ, यथासमय बन्दोबस्त अफसरके पास पहुँच गयी और सरकारी फाइलका एक अंग बन गयी। इसी फाइलमें वह दरख्वास्त भी थी जो बादमें रानीके मैनेजर द्वारा दी गयी थी तथा जिसमें कहा गया था कि मैं अपने साथ मूल मृत्यु-पत्र लेते आया हूँ जिसका निरीक्षण बन्दोबस्त अफसर कर सकते हैं। साथ ही यह भी उल्लेख था कि निरीक्षण कर लिया गया है, अतः मूल मृत्यु-पत्र अब लौटा दिया जाय। इस आशयका आदेश दे दिया गया और प्रलेख वापस कर दिया गया। इसके बाद फिर कभी वह मूल प्रति देखी नहीं गयी और न किसी दफ्तरमें या न्यायालयमें पेश की गयी। जो हो, कानूनगोकी की हुई प्रतिलिपि फाइलमें बनी रही और बादमें अन्य घटनाओंके होनेपर वही उक्त मृत्यु-पत्रकी अन्तर्वस्तु (कण्टेंट्स) का हमेशाके लिए एकमात्र प्रमाण रह गयी।

इस मृत्यु-पत्रमें अन्य बातोंके साथ-साथ मन्दिरको अर्पित की गयी भूमिका भी निर्देश था

---

१. उत्तरप्रदेशमें सब भूमियोंका बन्दोबस्त तीस वर्षोंके लिए किया जाता है और हर तीस वर्षके बाद माल अफसर फिर उसका सर्वेक्षण करता तथा पुनः करनिर्धारण करता है।

और स्पष्ट शब्दोंमें रानीको दत्तकग्रहणका अधिकार दिया गया था; किन्तु साथ ही उसमें साफ-साफ हिदायत की गयी थी कि राव उमराव सिंहके ही परिवारका लड़का गोद लिया जाना चाहिये और उसके अभावमें उसके सवंशीय सम्बन्धियोंके परिवारसे। खुशहाल सिंहके खुद अपने पैतृक सम्बन्धियों-का, वल्लभगढ़में रहनेवाले या अन्यत्रके उसमें नामतक नहीं लिया गया था।[1]

सन् १८९३ तक राव उमराव सिंहके परिवारमें कोई भी लड़का किसीके द्वारा गोद लिये जाने योग्य न था। उनका अपना लड़का जरूर था और उन्होंने अपनी लड़कीसे प्रस्ताव भी किया था कि वह इसे ही गोद ले ले। किन्तु वह राजी नहीं हुई और उसने यह कहकर उसे टाल दिया कि मैं अपने ही सौतेले भाई को कैसे गोद ले सकती हूँ। सन् १८९३ में परिवारमें प्रपौत्र का जन्म हुआ और अब उमराव सिंहका आग्रह और भी अधिक बढ़ गया। उन्होंने अपनी लड़कीपर दबाव डाला कि वह इस बालकको, अपने भतीजेको, गोद ले ले, दत्तकग्रहणका यह प्रस्ताव हर तरहसे उचित था और रानी रघुवीर कुँवर, अपनी अनिच्छाके बावजूद, पिताकी आज्ञा न मानने और उनकी इच्छाओंको ठुकरा देनेकी हिम्मत नहीं कर सकती थी। किन्तु उसके सौभाग्यसे पिताकी मृत्यु हो गयी और तब उसने तुरन्त प्रयत्न कर रियासतका नियन्त्रण और प्रबन्ध स्वयं अपने हाथमें ले लिया और दफ्तर फिर साहनपुरमें वापस ले आयी।

इस बीच दत्तकग्रहणके सम्बन्धमें परिवारमें विचार-विमर्श चल ही रहा था और उसके भाइयोंने यह विषय अपने हाथमें ले लिया। उसने अपने भाईके पुत्रको इस शर्तपर गोद लेना स्वीकार किया कि दत्तकग्रहणके बावजूद वह स्वयं ही रियासतकी अधिकारिणी बनी रहे। इस प्रस्तावके कानूनी दृष्टिसे मान्य हो सकनेमें भारी सन्देह था। उसे अपने पतिके वकील, पण्डित विशम्भर नाथको छोड़कर, जो इलाहाबाद हाईकोर्टके एक पुराने अनुभवी वकील थे, अन्य किसीपर विश्वास न था। उनसे सलाह ली गयी तो उन्होंने बतलाया कि बच्चेका अपना पिता चाहे जो भी समझौता क्यों न कर ले, गोद ले लिये जानेके बाद वह बच्चेके लिए बाध्यकारी न होगा और ज्यों ही वह दत्तक रूपमें ग्रहण किया गया कि वह अपने आप रियासतका मालिक बन जायगा और रानीका उसपर कोई हक नहीं रह जायगा। यह सलाह मिलनेपर रानीने अपने भाईके पुत्रको गोद लेनेसे साफ इनकार कर दिया। इसपर रानी और उसके भाइयोंमें मुकदमेबाजी शुरू हो गयी। एक दूसरेके खिलाफ नालिशें की जाने लगीं किन्तु उन सबकी चर्चा करना मेरे लिए अनावश्यक है।

जो हो, रानी रघुवीर कुँवरने दत्तकग्रहणका पक्का निश्चय कर लिया था और उसने अपनी ही बहिनका एक लड़का गोद ले लिया—वह भरतपुरके प्रसिद्ध महाराज छत्रसाल सिंहका पुरुषपरम्परासे वंशज था। लड़केके पिताकी मृत्यु हो चुकी थी और १८९६के बाद माँकी भी मृत्यु हो गयी। रानीने उसकी परवरिश की और अपने खर्चसे उसे पढ़ाया-लिखाया। सन् १९०३में जब वह बालिग हो गया और अपने आपको स्वतः किसी समझौतेमें बाँध सकनेकी स्थितिमें आ गया, तब रानीने इस लिखित शर्तपर उसे गोद ले लिया कि मृत्युपर्यन्त सारी रियासतपर उसके काबिज बने रहने और उसका उपभोग करनेमें वह हस्तक्षेप न करेगा। दत्तकग्रहण सम्बन्धी संलेखमें खुशहाल

1. हिन्दू कानूनके अनुसार यह बात सुनिर्धारित है कि विधवा पत्नीको अपने पतिकी उन सभी हिदायतोंको पूर्णतः पालन करना चाहिये जो उसने गोद लिये जानेके लिए लड़केका चुनाव करनेके सम्बन्धमें दी हों और यदि उसने निर्देशित किया हो कि लड़का किन्हीं विशिष्ट परिवारोंसे ही लिया जाना चाहिये, तो इन हिदायतोंकी अवहेलना कर जो दत्तक-ग्रहण किया जायगा वह अनुचित तथा क़ानूनी दृष्टिसे बेकार होगा।

सिंहके सन् १८७९के मृत्यु-पत्रका हवाला दिया गया था और दत्तकग्रहणका अधिकार जिस वाक्य-खण्डमें उसे दिया गया था, वह पूराका पूरा उद्धृत कर दिया गया था। नवयुवकका नाम बदलकर अब ब्रजराजशरण सिंह रख दिया गया। रानी रघुवीर कुँवर कुछ वर्षोंतक रियासतकी अधिकारिणी बनी रही और इसके बाद उसने स्वेच्छापूर्वक उसे अपने गोद लिये हुए पुत्रके लिए छोड़ दिया। जबतक रानी जीवित रही, खुशहाल सिंहके किसी भी वंशजने इस दत्तकग्रहणके औचित्य और वैधताके सम्बन्धमें कभी कोई आपत्ति नहीं की।[१] पास पड़ोसके तथा बिरादरीके प्रत्येक व्यक्तिने युवकके दत्तक बनाये जानेके कृत्यको बिलकुल जायज और नियमानुरूप माना। एक पुरातन तथा सम्पन्न परिवारमें उसका विवाह हो गया और वह साहनपुरके स्वामीकी हैसियतसे शान-शौकतसे रहने लगा। सन् १९२०में रानी रघुवीर कुँवरका स्वर्गवास हो गया और तब उसके खिलाफ एक तूफान उठ खड़ा हुआ।

वल्लभगढ़से कुछ लोग खड़े हो गये जो कहने लगे कि हम पितृपरम्परासे खुशहाल सिंहके समवंशज हैं और इस हैसियतसे रानीकी मृत्युके बाद रियासतपर स्वत्व पानेके हकदार हैं। कुछ सम्पन्न व्यक्ति जिनकी संख्या लगभग ४९ थी, उनका समर्थन कर रहे थे। मुकदमा लड़नेके लिए इन्होंने आपसमें मिलकर एक परिषद् बना ली थी और दावेदारोंसे आधी रियासत प्राप्त करनेका समझौता कर लिया था। पास-पड़ोसके जमींदारोंकी इस समितिके पास रुपया भी था और प्रभाव भी। वे एक मजबूतसे देख पड़नेवाले मामलेमें दाँव लगा रहे थे। हालमें ही निश्चय हुआ था कि हिन्दू-विधि (कानून) के अनुसार मातृ-पितृविहीन बालक गोद लिये जाने योग्य नहीं माना जा सकता और यह बात सबको मालूम है कि गोद लिये जानेके वक्त ब्रजराजशरण अपने माता-पितासे वंचित हो चुका था। उसके सिवा उन्होंने खुशहाल सिंहके मृत्यु-पत्रको भी जाली कहकर माननेसे इनकार कर दिया। इसमें उन्हें उमराव सिंहकी कारस्तानी मालूम पड़ती थी जो अपने परिवारके लिए रियासतपर अधिकार कर लेना चाहता था। उसके पास यह दिखलानेके लिए बहुत-सी सामग्री भी थी कि वंशोत्पत्तिके लिहाजसे अन्तिम पुरुष-स्वत्वाधिकारीसे उनका सम्बन्ध था और अपने प्रचुर आर्थिक साधनोंके कारण उन्होंने प्रान्तके दो सबसे बड़े विधिज्ञों, सर तेजबहादुर सप्रू तथा डाक्टर सुरेन्द्रनाथ सेनकी सहायता प्राप्त कर ली थी, जिनके साथ कुछ स्थानीय वकील भी थे। दूसरी तरफ थे ब्रजराजशरण सिंह जो स्वयं अकेले, अपनी आदत तथा मानसिक प्रवृत्तिके कारण, इन प्रबल प्रतिरोधियोंके विरुद्ध खड़े होनेमें असमर्थ थे। वे एक सुशिक्षित, सुसंस्कृत सज्जन थे किन्तु उनमें शराब पीनेकी लत थी और यह दुर्गुण एक रोग बन गया था जिसने उनके शरीर तथा आत्माको ग्रस्त कर लिया था और उन्हें एकदम जर्जर बना दिया था। उनका रंग-ढंग बड़ा अजीब-सा था। ८-१० दिनोंतक वे बोतलको छूतेतक न थे और जब मदिरापानकी इच्छा तीव्र हो उठती थी तो वे लगातार सप्ताह भर या १० दिनोंतक दिनरात बराबर शराब पीते रहते थे, जबतक कि वे सचमुच बिलकुल लस्त नहीं हो जाते थे, नाड़ी उनकी बिलकुल कमजोर हो जाती थी और देखनेमें उनके जीवनके लिए भी खतरा उत्पन्न हो जाता था। संकटके इन पिछले दिनोंमें परिवारका डाक्टर हमेशा उनकी शय्याके पास मौजूद रहता और उनके थके हुए दिलका स्पन्दन जारी रखनेके लिए उत्तेजक दवाकी सूई लगाया

१. रानी रघुवीर कुँवरके भतीजेने अवश्य रानी तथा ब्रजराजके खिलाफ नालिश की थी। उसने दावा किया था कि रानीने १८९५में उमराव सिंहकी मृत्युके १४वें दिन उसे गोद लिया था और इस कारण रियासतके स्वत्वका वह अधिकारी था। यह फरियाद इस आधारपर अस्वीकृत कर दी गयी कि गोद लिये जानेकी इस तरहकी कोई काररवाई हुई ही नहीं थी।

करता था। इस तरहका आदमी इतने बड़े मुकदमेका सञ्चालन करनेमें सर्वथा असमर्थ था। अपने ससुरके रूपमें उन्हें एक परित्राता मिल गया। ये थे कुँवर ओंकार सिंह, जो उच्च शिक्षाप्राप्त तथा बड़ी सूझ और तीक्ष्ण बुद्धिके, साथ ही अनन्त साधनों तथा शक्तिके आदमी थे। सबसे बड़ा गुण उनमें यह था कि वे सभी संकटोंके समय शान्त एवं स्थिरचित्त रह सकते थे। गीताकी शिक्षामें उनका निष्ठापूर्ण विश्वास था जिसके अनुसार वे अपने दैनिक जीवनमें आचरण करनेका प्रयत्न करते थे। जैसा कि बादमें हुआ भी, उन्हें एकाध बार उस अनाशक्तिकी आवश्यकता पड़ ही गयी जिसका उपदेश गीतामें दिया गया है। कुँवर ओंकार सिंहने स्वयं कानूनकी शिक्षा पायी थी और इस मुक-दमेपर लागू होनेवाले कानूनकी अच्छी जानकारी उन्हें थी, इस कारण वकीलोंको उनसे बड़ी मदद मिलती थी।

बैरिस्टर ओकोनर (इलाहाबाद वकील मण्डलीके एक सुख्यात अग्रणी) और मैंने सफाईकी दलीलें तैयार कीं। हमने दावा करनेवालोंसे अपनी वंशोत्पत्ति प्रमाणित करनेको कहा। हमने खुशहाल सिंहके मृत्यु-पत्रकी बात कही और यह भी दलील दी कि सामान्यतः सारे पंजाबमें और विशेषकर गुरगाँव जिलेमें जाट लोगोंकी प्रचलित प्रथाके अनुसार मातृ-पितृविहीन बालक भी गोद लिया जा सकता था।

इस प्रकार इन दलीलोंके अनुसार, दावा करनेवालोंकी वंशोत्पत्तिके प्रश्नको छोड़कर, मुख्य बातें दो ही थीं—एक तो वह मृत्यु-पत्र जो ४५ वर्ष पूर्व लिखाया गया बताया जाता था और दूसरे, जातिमें प्रचलित वह प्रथा जिसका प्रमाण पंजाबके एक विस्तृत भू-भागसे एकत्र करना था—और गोद लिये हुए पुत्रके लिये इन दोनोंका सबूत देना आवश्यक था, तभी उनके गोद लिये जानेकी बात पक्की मानी जा सकती थी। मृत्यु-पत्रकी मूल प्रति मिल नहीं रही थी। दत्तक पुत्र तथा उसके ससुर, दोनोंने ही अदालतमें शपथपूर्वक कहा कि वह हमारे पास या हमारे नियन्त्रणमें नहीं है। हम नहीं जानते कि वह कहाँ गयी। हमें वह कभी मिली ही नहीं और न हमने उसे कभी देखा। रानीने अपने भाईसे हुई मुकदमेबाजीके सिलसिलेमें एक बयानमें कहा था कि मैंने मूल प्रति अपने भाईको दे दी थी जब उसके पुत्रको गोद लेनेके प्रश्नपर विचार किया जा रहा था। इस मुकदमेमें भाई जब अदालतमें आहूत किया गया और उससे मृत्यु-पत्र उपस्थित करनेको कहा गया, तब उसने अपनी बहिनके बातका पूर्णरूपसे खण्डन किया और कहा कि वह मेरे पास नहीं है। चाहे जिसके पास वह रहा हो, जहाँतक प्रतिवादीका सम्बन्ध था उसे गायब ही मानना चाहिये। उसका अस्तित्व किसी अन्य साक्ष्य द्वारा ही प्रमाणित करना आवश्यक था और उस मृत्यु-पत्रमें क्या लिखा था, इसका एकमात्र अन्य सबूत वह बहुमूल्य प्रतिलिपि थी जो कानूनगो द्वारा पूर्ववर्णित परिस्थितिमें तैयार की गयी थी।[1] ऐसा कोई गवाह उपलब्ध नहीं था जो उसकी अन्तर्वस्तुका ठीक-ठीक हाल जबानी बतलाता। इसलिए उक्त प्रतिलिपिपर ही सारा मामला मुनहसर था। प्रतिलिपिसे विदित होता था कि मूल मृत्यु-पत्रकी लिखावट एक विशिष्ट लेखककी थी और हर तरहके कमसे-कम बारह गवाहोंने—जमींदार, वकील, रिश्तेदार तथा व्यवसायी—उसपर हस्ताक्षर किये थे। किन्तु ४५ वर्ष बीत चुके थे और प्रत्येक व्यक्तिकी, लेखक तथा गवाहोंकी, मृत्यु हो गयी थी। सारे मुकदमेमें मैं बार-बार इसीपर

१. मैं यहाँ बतला देना चाहता हूँ कि सन् १९३० तक संयुक्त प्रान्तमें इस कानूनका जो रूप प्रचलित था, उसके अनुसार किसी मृत्यु-पत्रकी सरकारी (अधिकृत) प्रतिलिपिके लिए आवेदन करनेकी आवश्यकता न थी और मृत्यु-पत्र चाहे लिखित या जबानी, दोनों ही हो सकते थे।

जोर देता था। साक्ष्यकी कमीके लिए दत्तक पुत्र जिम्मेदार नहीं। दावा उपस्थित करनेवालोंने गोद लिए जानेकी बातके सम्बन्धमें आपत्ति उठानेमें बहुत देर कर दी, इसीसे अधिक समय बीत जानेके कारण साक्ष्यका तिरोभाव हो गया। वादियोंने दत्तकग्रहणका विरोध उस समय किया होता जब १९०३ में बड़ी धूमधाम तथा औपचारिकताके साथ उसकी रस्म खुल्लम-खुल्ला अदा की गयी थी, तो खुद रानीके तथा साक्षीमें हस्ताक्षर करनेवाले छ अन्य व्यक्तियोंके (जो उस समय जीवित थे) बयान मृत्यु-पत्रका अस्तित्व प्रमाणित करनेके लिए लिये जा सकते थे। किन्तु दावा करनेवालोंने ठहरे रहना ही ठीक समझा और ऐसा करते समय उन्होंने खुद ही अपनेको जोखिममें डाला। समय बीत जानेसे दत्तक पुत्रके अधिकारका पक्ष कमजोर होनेके बजाय और भी मजबूत हो गया और अदालतको प्रत्येक धारणा उसकी वैधताके पक्षमें बना लेनी चाहिये। मैंने प्रिवी कौंसिलका इसके पूर्वका एक अभिनिर्णय ढूँढ़ निकाला था और मैं उसी तर्जपर इस मुकदमेकी सारी इमारत खड़ी करनेका प्रयत्न कर रहा था।[1] साक्ष्य सम्बन्धी कानूनके अनुसार, जैसा कि इलाहाबाद हाईकोर्टमें तथा भारतके अन्य हाईकोर्टोंमें उसका अर्थापन किया गया था, मैं अपनी बहसमें कह सकता था कि अदालतको कानूनगोकी प्रतिलिपिके आधारपर यह बात मान लेनी चाहिये कि मूल मृत्यु-पत्र सचमुच लिखा गया था और उसका साक्षीकरण भी किया गया था। किन्तु एहतियातके तौरपर मैंने दो पुराने नौकरों तथा तीन अन्य गवाहोंको, जिन्हें मृत्यु-पत्र सम्बन्धी कुछ बातें ज्ञात थीं, पेश कर दिया। स्वर्गीय राजाका पुराना कोचवान सन् १८७९ में अपने मालिकके साथ मेरठ गया हुआ था, तब उसने सुना कि एक मृत्यु-पत्र लिखा गया है। रानीकी ८० वर्षकी बूढ़ी एक अपढ़ नौकरानीने शपथ खाकर बयान दिया कि राजाके मैनेजरने रनिवासमें एक कागज भेजकर कहलाया था कि वह राजा साहबका वसीयतनामा है और बादमें (राजाकी मृत्युके पश्चात्) जब एक रिश्तेदार मातमपुरसीके लिए आये हुए थे, तो रानीने वह कागज उन्हें दिखलाया था। एक व्यक्तिने अपने बयानमें कहा कि "सन् १८७९ में मैं १६ वर्षका था और अपने चाचाके साथ मेरठ गया था। चाचा राजा साहबके मित्र थे और उनकी बीमारीकी खबर पाकर उनसे मिलने और हालचाल पूछनेके लिए गये हुए थे। मैं भी उनके साथ था। राजाने चाचासे बातचीत की और एक कागज दिखला कर कहा कि 'यह मेरा वसीयतनामा है, इसपर आप हस्ताक्षर कर दीजिये।' मैंने वह कागज हाथमें नहीं लिया था और न उसे पढ़ा था।" एक और गवाहने, जो रानीका सम्बन्धी था, कहा कि "जब मैं १४ वर्षका था, तब १८७९ में अपने बड़े भाईके साथ रानीके प्रति समवेदना प्रकट करनेके लिए गया था। रानीने एक कागज बड़े भाईको दिखलाकर पूछा था कि इसमें क्या लिखा है, मुझे बतलाओ। बड़े भाईने कहा कि मुझे इस प्रलेखका हाल मालूम है। यह राजाका मृत्यु-पत्र है और मैं इसके साक्षीकरणमें गवाह था। मैंने कौतूहलवश कागज अपने हाथमें ले लिया था और उसपर अपने भाईके हस्ताक्षर देखे थे। मैं अपने भाईके हस्ताक्षर पहचानता हूँ।" कुछ साक्ष्य इस आशयका भी था कि गंगातटपर अन्त्येष्टिके समय उपस्थित लोगोंमें वसीयतनामेकी चर्चा चली थी। अन्तमें एक पंजाबी महाजनने अपने बयानमें कहा कि "सन् १८९५के लगभग रानीके पिता मेरे पास आये और रानीके लिए मुझसे कुछ ऋण माँगने लगे। मैंने जब रियासत पर रानीके स्वत्वकी बात पूछी तो उन्होंने मुझे साहनपुरमें राजाका मृत्यु-पत्र दिखलाया। इसमें क्या-क्या लिखा था,

१. इस नजीरका निर्णयात्मक प्रभाव पड़ा। हाईकोर्टने इसीका पदानुसरण किया और प्रिवी कौंसिलने व्यवहारतः इसीका उद्धरण देते हुए अपने फैसलेका प्रारम्भ किया था (देखिये, प्रि० कौं० १९३५)।

इसकी मुझे बहुत ही धूमिल स्मृति है किन्तु इतना मुझे स्मरण है कि उसमें रानीको दत्तक ग्रहण करने का अधिकार दिया गया था।" बस इतना ही कुल साक्ष्य था। इन गवाहोंसे बड़ी जोरदार जिरह की गयी और खोद-खोदकर बातें पूछी गयीं और जैसा कि अपेक्षित था, इसके कारण वे जहाँ-तहाँ लड़खड़ा गये। मृत्यु-पत्रके लिखे जानेका प्रत्यक्ष साक्ष्य सचमुच ही बहुत सूक्ष्म था किन्तु इससे अधिककी आशा नहीं की जा सकती थी। मूल प्रतिके पेश न किये जानेके कारण इस तरहका विक्षिष्ट साक्ष्य लेना सम्भव न था जिससे मृत्यु-पत्र लिखनेवालेकी अथवा साक्षी रूपमें दस्तखत करने वालोंकी हस्तलिपि तथा हस्ताक्षर प्रमाणित या अप्रमाणित किये जा सकते। मृत्यु-पत्रके पक्षमें यही सब बातें थीं। वादीकी तरफसे कोई गवाह पेश नहीं किया गया था किन्तु इस बातपर बहुत जोर दिया गया था कि बहुत वर्षोंतक मृत्यु-पत्रकी बात प्रकट नहीं की गयी और रानीने जितने कागज और दस्तावेज लिखे उनमें भी कहीं उसका निर्देश नहीं किया। इसी आधारपर यह बात जोरोंसे कही गयी कि मूल पत्र जानबूझकर छिपाया जा रहा है जिसमें उसका नकलीपन प्रकट न होने पावे और उसकी जालसाजी हस्तलिपि पहचाननेवाले विशेषज्ञों द्वारा न पकड़ी जा सके। यह तो हुई मृत्यु-पत्र सम्बन्धी बात।

अब दूसरा प्रश्न यह था कि क्या स्थानीय प्रथा ऐसी थी जिसके अनुसार मातृ-पितृविहीन बालक भी गोद लिया जा सकता है? इसके लिए भारी तथा ब्योरेवार छानबीनकी आवश्यकता पड़ी। मुकदमे सम्बन्धी कागजोंकी भारी राशि, जो अथक परिश्रम करनेवाले कुँवर ओंकार सिंहने इकट्ठी की थी, मुझे उलटनी-पुलटनी पड़ी और बहुत सी सरकारी रिपोर्टें, पंजाबकी प्रथाओं तथा नजीरों सम्बन्धी पुस्तकें और अन्य साहित्य भी पढ़ना पड़ा। पंजाब प्रथाओंका प्रमुख देश है। वहाँ प्रथा या रूढ़िको प्रथम स्थान प्राप्त है और प्रत्येक वस्तु क्षेत्रीय या जातीय प्रथाओंसे नियन्त्रित होती है। मातृ-पितृविहीन बालकके गोद लिये जानेके तथाकथित उदाहरणोंको प्रमाणित या अप्रमाणित करनेके लिए दोनों पक्षोंने बड़ी संख्यामें गवाह उपस्थित किये। किन्तु स्वभावतः ऐसे उदाहरणोंकी संख्या कम ही थी। अनाथ बालकके गोद लिये जानेकी घटना क्वचित् ही होती है। इस त्रुटिकी पूर्ति करनेके लिए इस तरहका बहुत-सा साक्ष्य प्रस्तुत किया गया जिससे प्रमाणित होता था कि अन्य बातोंमें भी कभी-कभी कानूनका कड़ाईसे पालन नहीं किया जाता था। यह सब यह प्रमाणित करनेके लिए किया गया कि गुरगाँव तथा दिल्ली क्षेत्रके जाटोंमें गोद लेनेका समस्त कार्य सुनिश्चित, सुप्रतिष्ठित, रूढ़िगत नियमोंके अनुसार नियन्त्रित होता था और उनके लिए हिन्दू कानूनका अक्षरशः पालन करना बाध्यकारी नहीं था। इस अनुसन्धानमें मेरी व्यक्तिगत रुचिके लिए विशेष आकर्षण था, इसलिए उसका अनुधावन करनेमें मुझे कोई कष्ट नहीं मालूम हुआ।

गवाहोंके सम्परीक्षणमें छ महीने लग गये। इस बीच कभी-कभी समझौतेकी भी बात चल पड़ती थी। जहाँतक हमारा सवाल है, हम तो जानते ही थे कि हमारा मामला कठिन है और हम हमेशा समझौतेके लिए उद्यत रहते थे। मैं बराबर समझौता कर लेनेकी सलाह देता था किन्तु वादियोंको अपनी जीतका अत्यधिक भरोसा था। इसके सिवा वे समझौतेकी बातचीत भी सचाईके साथ नहीं करते थे। एकाध आदमी किसी दिन चला आता, शर्तोंके सम्बन्धमें बातचीत करता, इस बातकी थाह लेनेका प्रयत्न करता कि हमलोग कहाँतक झुकनेको तैयार हैं और तब यह कहते हुये चला जाता कि मैं स्वयं तो सहमत हूँ किन्तु मुझे अन्य लोगोंसे भी परामर्श कर लेना चाहिये और इसके बाद फिर कुछ भी न सुन पड़ता।

विचारक न्यायाधीशने विशद तथा विस्तृत बहस सुनी और अन्तमें दत्तक पुत्रके विरुद्ध

फैसला दिया। उसकी राय थी कि दत्तक-ग्रहण अवैध था। केवल समय बीत जानेके आधारपर ही उसने मृत्यु-पत्रकी सत्यता मान लेनेसे इनकार कर दिया। उसकी रायमें कुँवर खुशहाल सिंहने कोई मृत्यु-पत्र लिखा ही न था और प्रतिवादीने जिस मृत्यु-पत्रकी बात सामने रखी थी, वह नकली था। मृत्यु-पत्रके गुम हो जानेपर उसने विश्वास नहीं किया, बल्कि उसका खयाल था कि प्रतिवादी उसे छिपाये रखना चाहता था। यह विद्वान् जज, जिसकी अदालतमें मैं पहले भी उपस्थित हो चुका था, मौखिक साक्ष्यके सम्बन्धमें आदतन शक्की रहा करता था और दुर्भाग्यवश अन्य देशोंकी तरह भारतमें भी दीवानी मुकदमोंमें मौखिक साक्ष्य बहुधा एक पक्षकी ओर झुका रहता है, इसलिए अविश्वसनीय समझा जाता है। उसने वृत्तान्तानुमेय साक्ष्यपर जोर दिया जिससे मृत्यु-पत्रके अस्तित्व-की बात अमान्य ठहरती थी। बूढ़े कोचवान, बूढ़ी नौकरानी अथवा अन्य गवाहोंके बयानका कोई प्रभाव उसपर नहीं पड़ा। प्रथाके सम्बन्धमें भी उसका फैसला प्रतिकूल ही रहा। उसका खयाल था कि अनाथ बालकोंके गोद लिये जानेके उदाहरण पर्याप्त संख्यामें प्रमाणित नहीं किये गये थे जिससे मालूम होता कि सामान्य व्यक्तिगत कानूनकी उपेक्षा की जा सकती है। यहाँ भी मौखिक साक्ष्यका कोई प्रभाव उसपर नहीं पड़ा। किन्तु आश्चर्य है कि उसने उन सब हस्तान्तरणों, प्रभारों तथा बन्धकोंको जो दत्तक पुत्र द्वारा किये गये थे, इस बिनापर मान्य ठहराया कि वह प्रकट रूपसे सारी जायदादपर काबिज था जिसे दावेदार लोग भी जानते थे, जिन्होंने कभी उसके अधिकारके सम्बन्ध-में कोई आपत्ति नहीं उठायी थी, न उसमें सन्देह प्रकट किया था। इनके हाथसे प्रतिभूतियों, पट्टों आदिको छीन लेना बहुत ही अनुचित होगा, क्योंकि उन्होंने पूर्ण विश्वासके साथ तथा महत्वपूर्ण विचारसे कार्य किया था। जजके अभिनिर्णयका यह अंश, मामलेके मुख्य प्रश्नोंपर उसके फैसलेको देखते हुए, कानूनकी दृष्टिसे बिलकुल असमर्थनीय था। भारतमें ऐसे मामलोंमें कानून और औचित्य एक ही चीज नहीं होती। मैं यहाँ बतला दूँ कि छोटे-बड़े ऐसे ४० व्यक्ति रहे होंगे जिन्हें प्रतिभूतियाँ, पट्टे आदि हस्तान्तरित किये गये थे।

किन्तु उन्होंने मामलेमें पैसा खर्च न करनेका निश्चय कर बुद्धिमानी की और इसे बहुत कुछ हस्तान्तरकर्ता अर्थात् दत्तक पुत्रपर ही छोड़ दिया। दत्तक पुत्र राव ब्रजराजशरण सिंह की तरफसे कुँवर ओंकार सिंहने तुरन्त ही हाईकोर्टमें अपील दायर कर दी।[1] वे इस बातपर कटिबद्ध थे कि न्यायालयका फैसला कार्यान्वित न होने पावे। 'लालची सट्टेबाजोंके इस गिरोहके हाथमें', उन्होंने कहा, 'जायजाद नहीं जाने देना चाहिये।' किन्तु रियासतके पिछले तथा भविष्यके लगानों व मुनाफोंके लिए यथेष्ट प्रतिभूति दिये बिना अभिनिर्णयको कार्यान्वित होने-से रोकनेकी अनुमति पाना असम्भव था और जमानतके रूपमें देनेके लिए हमारे पास कुछ भी नहीं था। राव ब्रजराजशरण सिंहके पास कुछ नहीं रह गया था—१०० रुपये माहवारकी राज-नीतिक पेंशनके सिवा वस्तुतः कुछ भी नहीं बचा था। इसलिए मैंने एक नये उपायसे काम लेने-का इरादा किया। मैंने आदाता (मुतवल्ली रिसीव्हर) की नियुक्तिके लिए दरख्वास्त दे दी। हारे हुए प्रतिवादीके लिए इस तरहकी अर्जी देना एक असाधारण-सी चीज थी और सर तेजबहादुर

१. कुँवर ओंकार सिंहने अभिनिर्णयकी सूचना मुझे इस संक्षिप्त तार द्वारा दी—'मुकदमा हार गया।' जब वे मेरे पास आये तब मैंने उन्हें हमेशाकी ही तरह शान्त तथा अक्षुब्ध पाया, यद्यपि मैं जानता था कि इसका कितना भारी धक्का उन्हें लगा होगा। इस मुकदमेबाजी का खर्च चलानेके लिए उन्हें खुद बहुत रुपया कर्ज लेना पड़ा था और अब यह बोझ और भी अधिक भारी होने जा रहा था।

सप्रूने बड़े जोरसे इसका विरोध किया। वे बहुत चाहते थे कि उनके मुवक्किलोंको अपनी जीतका लाभ उठानेका अवसर मिले और उन्होंने जायजाद लौटानेके लिए, उस हालतमें जब उच्च न्यायालय द्वारा विचारक न्यायालयका अभिनिर्णय बदल दिया जाय, काफी जमानत देना स्वीकार किया। किन्तु मैंने इस मामलेमें अपने साथ एक और पक्षको—रियासतके हजारों कृषकों—को शामिल कर लिया जिनके उक्त सटोरियोंके गिरोह द्वारा सताये तथा चूसे जानेका वास्तविक खतरा था। इस बातकी सम्भावना थी कि ये लोग रियासतको छोटे-छोटे टुकड़ोंमें विभक्त कर देंगे और जहाँतक सम्भव हो सकेगा वहाँतक उचित या अनुचित उपायों द्वारा उसका दोहन करनेकी चेष्टा करेंगे, वे सोचेंगे कि 'जबतक सूरज चमकता है, तबतक घास इकट्ठी कर लो।' यह बात मुख्य न्यायाधिपतिके दिमागमें घर कर गयी और उच्च न्यायालयमें की गयी पुनर्न्यायप्रार्थनाका फैसला होनेतक रियासतपर कब्जा किये रहने तथा मुनाफा इकट्ठा करते चलनेके लिए मेरठ तथा बुलन्दशहरके कलेक्टर मुतवल्ली (आदाता) नियुक्त कर दिये गये। यह ठीक है कि प्रतिवादीका उसपर कब्जा नहीं रह गया, किन्तु अपर पक्षका भी तो उसपर अधिकार न हो सका। इस प्रकार हम पहली मंजिलमें पहुँच गये। 'यह एक शुभ लक्षण है', कुँवर ओंकार सिंहने कहा।

अपीलकी सुनवाई चार वर्ष बाद (सन् १९२९ में) दो न्यायाधीशों—सुलेमान तथा केण्डाल—के सामने शुरू हुई। जजोंका यह एक अनोखा न्यायिक जोड़ा था। न्यायाधीशके रूपमें सुलेमान बड़े विचक्षण, सूक्ष्म विचारक और विवेचनपटु थे, कानूनपर आधारित दलीलें उन्हें अधिक प्रभावित करती थीं किन्तु तथ्योंके मामलेमें वे मातहत अदालतके अभिनिर्णयमें बहुत कम हस्तक्षेप करना पसन्द करते थे और सच पूछिये तो वे दिवानी मुकदमेमें समस्त मौखिक साक्ष्यपर अविश्वास करते थे। उन्होंने एक बार मुझसे कहा था कि तोलेभर अपेक्षित बातों तथा वृत्तान्तानुमेय साक्ष्यका मूल्य मनभर मौखिक साक्ष्यके बराबर समझना चाहिये। फिर भी उनका मन न्यायाधीश जैसा ही था जो किसी भी समय मतपरिवर्तनके लिए तैयार रहता था, आखिरी दमतक उन्हें किसी बातका विश्वास कराया जा सकता था, जिससे तबीयत ऊब उठती थी (उनके आलोचक इसे उनकी कमजोरी समझते थे) विशेषकर तथ्योंके मामलेमें तथा विशेषकर जीते हुए पक्ष या प्रतिवादीके अनुकूल उसे ढालनेमें।

उनके साथी जस्टिस केण्डाल इसके ठीक विपरीत थे। कानूनका उन्हें बिलकुल शौक न था, वस्तुतः वे कानूनके पण्डित थे ही नहीं। किन्तु तथ्योंपर उनका ध्यान बराबर रहता था और धैर्यके साथ तथा ध्यानपूर्वक सब बातें सुनते थे। उनका मन धीरे-धीरे ही काम करता था किन्तु एक बार जब वे एकाध कदम आगे बढ़ जाते, तो क्वचित् ही पीछे मुड़ते थे। किसी भी वकीलके लिए उनके मस्तिष्कमें कोई विचार धँसाना कठिन होता था किन्तु यदि एक बार वह उसमें प्रविष्ट हो जाता तो फिर उसे वहाँसे हटाना भी मुश्किल ही होता।

बैरिस्टर ओकोनर पुनर्न्यायप्रार्थीकी ओरसे मेरे अग्रणीके रूपमें खड़े थे और सर तेजबहादुर सप्रू प्रतिवादीकी तरफसे (मातहत अदालतमें उनके जो दूसरे साथी डाक्टर सुरेन्द्रनाथ सेन थे, वे हालमें ही न्यायाधीश बना दिये गये थे)।

तथ्योंके मामलेमें ओकोनर अच्छे वकील थे। अपने मुकदमेकी एक-एक चीजसे से वाकिफ थे और तथ्योंको प्रस्तुत करनेका उनका ढंग हमेशा ही सुन्दर और प्रभावोत्पादक होता था। इस मुकदमेमें तो वे अपनी योग्यतासे भी आगे बढ़ गये और प्रिवी कौंसिल द्वारा प्रकट की गयी रायको आधार मानकर उन्होंने आश्चर्यजनक बहस आरम्भ की और न्यायालयसे लम्बी अवधि बीत जानेके

कारण, साक्ष्यमें देख पड़नेवाली समस्त त्रुटियों तथा छूटोंको क्षमा करनेकी प्रार्थना की। वादियोंने खुद ही देर कर जोखिम उठायी थी और इसकी जिम्मेदारी उन्हें ही वहन करनी चाहिये। दत्तक पुत्र व्यक्तिगत रूपसे पूर्णतः निर्दोष था और उसे वास्तविक तथ्योंकी, उदाहरणके लिए मृत्यु-पत्र सम्बन्धी, कोई जानकारी नहीं हो सकती थी। अदालतकी सहायता करनेमें उसने अधिकसे अधिक परिश्रम किया था। यह बात बहुत ही खतरनाक तथा अधिकतम मात्रामें अन्यायपूर्ण एवं अनुचित होगी, ओकोनोरने पैरवी करते हुए कहा, यदि ख्यातिसम्पन्न व्यक्तियोंको, केवल सन्देहके आधारपर, अपराधी घोषित कर दिया जाय, जब कि वह पक्ष जो इस समय उनपर अपराध्य धोखेबाजीका आरोप करता है, जान-बूझकर चुप बैठा रह गया था और जिसने अपने व्यवहारसे उनके लिए खुद अपनी सफाईमें कुछ कहना असम्भव बना दिया था। उसने अदालतसे प्रार्थना की कि वह निरपराधिता तथा साधुतापूर्ण व्यवहारके अनुकूल अपनी राय बना ले और उस दत्तक-ग्रहणका समर्थन करे जो लगभग एक शती पहले डुग्गी पीटकर किया गया था। उन्होंने पाँच दिनोंतक बहस की और मामलेके प्रत्येक प्रश्नकी चर्चा की, वे जस्टिस केण्डालपर अधिक प्रभाव डालनेमें सफल हो गये, यद्यपि जस्टिस सुलेमान कुछ-कुछ हिचकिचाहटमें पड़े हुए थे। जज केण्डालने प्रिवी कौंसिलकी अभ्युक्तियोंको ठीक तरहसे समझ रखा था। उन्होंने मुँहसे तो बहुत कम कहा था किन्तु उनकी रायका झुकाव स्पष्ट था और शीघ्र ही वह उस समय अभिव्यक्त हो गया जब सर तेज बहादुर सप्रूने प्रतिवादियोंकी ओरसे जवाब देना शुरू किया। उनका पक्ष जोरदार था और पिछला फैसला उनके अनुकूल हो चुका था किन्तु जब वे बार-बार एकाध घण्टेके लिए पहलेके प्रतिवादियोंके पक्षकी विभिन्न त्रुटियोंपर जोर देने लगते थे, तो जज केण्डाल यह कहकर बीचमें हस्तक्षेप कर उठते थे—"लेकिन, सर तेजबहादुर, प्रिवी कौंसिलने कहा है कि एक पुराने दत्तक-ग्रहणके पक्षमें हम बहुत-सी बातें मान ले सकते हैं और ये वही बातें हैं जिन्हें हमें मान लेना पड़ता है।" और तब उनका एक घण्टेका किया-कराया परिश्रम व्यर्थ हो जाता। वह एक तरहसे बड़ा मनोरंजक दृश्य था, एक न्यायाधीश (सुलेमान) तो अपेक्षित बातोंके सम्बन्धमें जो कुछ कहा जा रहा था उसकी कद्र करना चाहता था और करीब-करीब यह मान बैठा था कि उसमें कुछ सार है, बल है, फिर भी वह शान्त था और मुस्कराते हुए अपने हठी और मन्दगतिसे समझनेवाले साथीको देख रहा था जिसके मान ली जा सकनेवाली बातोंके सम्बन्धमें अपने पक्के तथा स्थिर विचार थे। जब दो-तीन दिनोंतक बारम्बार यही हुआ तो सर तेजबहादुरका धैर्य टूट गया। "मानी हुई बातोंकी एक सीमा तो होनी ही चाहिये," वे चिल्ला पड़े, "आप प्रतिवादीकी मानी हुई बातोंके पुलोंकी एक परम्परा द्वारा सब खाइयोंके पार जाने नहीं दे सकते।" इसपर जज केण्डाल जवाब देते "किन्तु ठीक यही बात तो प्रिवी कौंसिलने कही है।" इसलिए मृत्यु-पत्रके मामलेमें न्यायाधीश केण्डालके विचार बिलकुल पक्के थे और उनके बन्धुके अस्थिर।

लेकिन प्रथाके प्रश्नपर जज केण्डालका वश नहीं चलता था। वह कानून तथा तथ्य दोनोंका मिला-जुला प्रश्न था और कानून जज सुलेमानका अपना क्षेत्र था। यहाँ सर तेजबहादुर सप्रू काफी सफलता प्राप्त करते जान पड़ते थे। वे इस बातपर जोर देते थे कि प्रिवी कौंसिलके बिलकुल हालके अभिनिर्णयोंको देखते हुए प्रत्येक प्रथाका अस्तित्व प्रत्यक्ष साक्ष्य द्वारा प्रमाणित किया जाना चाहिये। कोई प्रथा अन्य कुछ प्रमाणित प्रथाओंके आधारपर स्वतःसिद्ध हो जाती है या वह उनका स्वाभाविक परिणाम है, इतना कह देनेसे काम न चलेगा। बहसके सिलसिलेमें सर तेजबहादुर सप्रूने कहा कि अनाथ बालकोंके गोद लिये जानेके बारेमें वास्तविक प्रमाण बहुत ही कमजोर है, एक तो जिन उदाहरणोंका सहारा लिया गया है उनके सम्बन्धका साक्ष्य बिलकुल अविश्वसनीय

है, दूसरे, ऐसे उदाहरणोंकी संख्या भी बहुत कम है और उनके आधारपर अदालत यह नहीं मान सकती कि सचमुच ऐसी पुरानी प्रथाका अस्तित्व प्रमाणित हो गया जो सामान्य कानूनसे कुछ भिन्न थी। अदालतपर इस तर्कका अच्छा प्रभाव पड़ा और घटनाचक्र हमारे प्रतिकूल-सा प्रतीत होने लगा। परिस्थिति उत्तेजनापूर्ण एवं गम्भीर-सी दिखाई देने लगी।

अपने प्रत्युत्तरमें ओकोनरने मामलेके तथ्य अन्तिम रूपसे सचमुच बड़े प्रभावोत्पादक ढंगसे रख दिये और प्रथाके प्रश्नपर जवाब देनेके लिए मुझसे कह दिया।[१] मैं जज सुलेमानको अच्छी तरह जानता था और यह भी समझता था कि उनका मन किस ढंगसे काम करता है। मैंने प्रश्न बिलकुल नये तर्जसे उपस्थित कर सारी स्थिति उलट दी। उस समयके अपने कृत्यका मुझे अभिमान था और एक तरहसे आज भी है (यद्यपि मुझे अपने ही मुँहसे ऐसा नहीं कहना चाहिये, किन्तु तत्कालीन वकील मण्डलीमें उसकी बड़ी प्रशंसा हुई थी)। मैंने जो तर्क सामने रखा था, वह शायद सामान्य व्यक्तिको भी जँचे, इसलिए उसे मैं थोड़ेमें यहाँ दे रहा हूँ। हिन्दुओंमें दत्तक-ग्रहणकी प्रथा बड़ी प्राचीन है और सुदूर पुरातनकालमें गोद लेनेके कई प्रकार प्रचलित थे। प्राचीन स्मृतियोंमें ऐसे पाँच तरीकोंका विशेष रूपसे उल्लेख है। सबसे अच्छा और सबसे अधिक मान्य तरीका "दत्तक"का है जिसमें बालकका पिता या माता खुद उसे गोद लेनेवालेको अर्पित करता, या करती है। देने और लेनेकी यह रस्म नितान्त आवश्यक और (रोमन कानूनकी प्रथाओं तथा अन्य प्राचीन प्रथाओंकी तरह) अनिवार्य भी है। गोद लेनेका कृत्य पूरा करनेके लिए यह आवश्यक है कि बालककी इस तरह देने और लेनेकी भौतिक रस्म अदा की जाय। गोद लेनेकी अन्य विधियोंमें इस रस्मके लिए कोई आग्रह नहीं किया जाता, यहाँतक कि दिये हुए कानूनके अनुसार इस सम्भावनाकी भी परिकल्पना की गयी है कि कोई आदमी खुद ही अपने आपको गोद लिये जानेके लिए दूसरेके हाथ अर्पित कर दे, मानो यह बिलकुल आपसके ठेकेकी बात हो। गोद लेनेकी इन विधियोंमें अनाथ बच्चोंको गोद लेनेकी मनाही नहीं की गयी है, वरन् यों कहिये कि उनकी प्रायः अनुमति ही दे दी गयी है। समय बीतते जानेके बाद ये सब प्रकार अप्रचलित हो गये और केवल पहला प्रकार, दत्तक-ग्रहणका, ही

१. इसकी एक अलग कहानी है जिसे मैं अब, जब कि श्री ओकोनरकी मृत्यु हो चुकी है, यहाँ दे सकता हूँ। पाठकोंको वह सम्भवतः मनोरंजक मालूम होगी। ओकोनर तथ्योंका विवेचन करनेमें विशेष कुशल थे किन्तु कानूनके मामलेमें वे इतने चतुर नहीं समझे जाते थे। पिछले दिनोंमें तो वे कानूनसे मानो घृणा करने लगे थे। मेरा ख्याल है कि कुँवर ओंकार सिंह भी यह बात जानते थे। इसलिये जब कानूनके मसलेपर स्थिति काफी बिगड़ती हुई-सी जान पड़ने लगी, तब उन्होंने मुझसे प्रार्थना की कि प्रत्युत्तरके समय बहस करनेका जिम्मा मैं अपने ऊपर ले लूँ। मैंने इससे साफ इनकार कर दिया और कहा कि इलाहाबाद उच्च न्यायालयके वकीलोंमें जो रिवाज प्रचलित है, उसके अनुसार मुख्य वकील ही बहस करता है। मैं किसी भी हालतमें अपने आपको उनके स्थानपर नहीं रख सकता। हाँ, यदि ओकोनर स्वयं ही मुझसे मामलेके किसी अंशपर बहस करनेके लिये कहें तो बात दूसरी है। कुँवर ओंकार सिंह उस दिन शामको और कुछ कहे बिना मेरे पाससे चले गये और फिर उन्होंने न जाने क्या, किस तरह किया कि दूसरे दिन सबेरे जब ओकोनरसे मेरी भेंट हुई तो उन्होंने मुझसे कहा "मेरी तबियत कुछ ठीक-सी नहीं मालूम होती, क्या आप प्रथाके प्रश्नपर बहस करना अपने जिम्मे ले लेंगे?" मैंने जवाब दिया कि मैं आदेशका पालन करनेको तैयार हूँ। उन्होंने यह बात अदालतसे कह दी और बहसका शेष भाग मैंने पूरा किया।

प्रचारमें रह गया। स्मृतियोंके पुराने टीकाकारोंने अपने-अपने भाष्योंमें उपर्युक्त पाँचों प्रकारोंका सम्यक् वर्णन करते हुए भी यह साफ-साफ कह दिया है कि वर्त्तमान युगमें केवल "दत्तक" विधि ही प्रचलित है और यही मान्य है।[1]

हिन्दू कानून सम्बन्धी पुस्तकोंमें अनाथ बालकको गोद लेनेका स्पष्ट निषेध नहीं किया गया है। इसके विपरीत, जैसा कि मैं कह चुका हूँ, गोद लेनेके अन्य प्रकारोंमें ऐसे बालकोंको भी गोद लेनेकी बात सोची गयी है। किन्तु कोई भी अनाथ बालक "दत्तक" विधिसे गोद नहीं लिया जा सकता, महज इस सीधेसे कारणसे कि उसे गोदमें देनेके लिए कोई व्यक्ति मौजूद नहीं रहता। गोद-में देनेका काम या तो बालकका पिता कर सकता है या माता और किसी भी हालतमें कोई भी दूसरा व्यक्ति यह काम नहीं कर सकता। इसलिए दत्तकविधिसे किसी मातृ-पितृविहीन बालकका गोद लिया जाना असम्भव है। और आजकल केवल दत्तकविधिसे ही यह कृत्य सम्पन्न किया जा सकता है, अन्य तरीकोंसे नहीं, इसलिये यह निष्पत्ति अनिवार्य हो जाती है कि अनाथ बालक बिल-कुल गोद लिया ही नहीं जा सकता। अदालतोंने यही माना है, अनाथ बालकको गोद लेनेके सम्बन्धमें बने हिन्दू कानूनके किसी विशिष्ट नियमके अनुपालनकी दृष्टिसे नहीं, वरन् सुनिश्चित प्रस्थापनाओंसे निकलनेवाले तर्कसंगत निष्कर्षके रूपमें।

मैंने न्यायाधीशोंको यह सब बतला दिया और प्रार्थना की कि यह कानूनके दो स्वतन्त्र नियमोंका मामला नहीं है, जिसमें रूढ़ि या प्रथाके कारण एक नियममें होनेवाले परिवर्तनका तत्वतः यह अभिप्राय निकलना आवश्यक नहीं कि दूसरे नियमके सम्बन्धमें भी ऐसी कोई प्रथा विद्यमान है। यदि कोई पक्ष ऐसी प्रथा प्रचलित होनेकी बात करता है तो उसे यह बात ऐसे स्वतन्त्र साक्ष्यसे जो पर्याप्त हो, प्रमाणित करनी चाहिये। किन्तु जहाँ कानूनका नियम स्वयं ही किसी अनुमतिपर, तर्क-संगत निष्पत्तिपर, आधारित हो; वहाँ यदि आप मूल प्रस्थापनाकी ही जड़ काट दें तो स्वयं नियम ही नष्ट हो जाता है, उसका अस्तित्व नहीं रह सकता। यहाँ आवश्यक प्रस्थापना बालकको देने और लेने-की रस्म है। यदि किसी विशेष सम्प्रदाय या जातिमें प्रचलित प्रथाके कारण यह रस्म अनिवार्य न हो तो स्पष्ट है कि अनाथ बालकका गोद लिया जाना न तो अव्यावहारिक रह जायगा और न असम्भव ही। मैंने दलील पेश की कि अनाथ बच्चेका गोद लिया जाना हिन्दू कानूनकी प्रकृति या आन्तरिक भावके विरुद्ध नहीं, बल्कि प्राचीन कालमें वह सचमुच प्रचलित था। वर्तमान नियम कुछ कृत्यों या रस्मोंके अनुष्ठानपर जोर देनेका परिणाम है। मेरे इस मामलेमें इस आशयका प्रचुर साक्ष्य उपलब्ध था—सरकारी अभिलेखोंमें तथा अन्यत्र भी—कि देशके इस अंचलके जाटोंमें गोद लेते समय बालकको देनेकी रस्म अदा करना आवश्यक न था। जो कुछ आवश्यक था और किया जाता था, वह यह है—गोद लेनेका विचार करनेवाला व्यक्ति अपनी बिरादरीके लोगोंके पास सूचना भेज देता था कि मेरा विचार लड़का गोद लेनेका है अतः अमुक तिथिको होनेवाले तत्सम्बन्धी समारोहमें आप सम्मिलित होनेकी कृपा करें। उस तिथिको समवेत लोगोंकी उपस्थितिमें गोद लेनेवाला व्यक्ति खड़ा होकर यह घोषित कर देता कि मैं इस इस लड़केको (उक्त बालक या नवयुवककी ओर संकेत कर) गोद ले रहा हूँ और तब बिरादरीवालोंमें मिठाई तथा नारियल बाँट दिये जाते और वे भी प्रचलित प्रथाके अनुसार लायी हुई वस्तुएँ बालकको उपहारमें देते। बस इतना ही तो होता था। लड़केके वास्तविक माता-पिताका नामका भी संकेत नहीं किया जाता था। इस कृत्यके समय उनके

1. विज्ञानेश्वरकी मिताक्षरा टीकामें (१० वीं शताब्दीमें लिखित), जो एक प्रामाणिक टीका मानी जाती है, गोद लेनेके प्रकारोंका वर्णन अच्छी तरह किया गया है।

उपस्थित रहनेतककी कोई आवश्यकता न थी। उसमें उन्हें कोई भी हिस्सा ग्रहण नहीं करना था।

यह सारा साक्ष्य प्रायः अखण्डित ही रहा, उसके सम्बन्धमें कोई आपत्ति नहीं की गयी। वादी पक्षने मामलेके इस पहलूकी ओर ध्यान ही नहीं दिया था। उनकी मुख्य चेष्टा हमारी ओरसे पेश किये गये अनाथ बालकोंके गोद लिये जानेके उदाहरणोंको तहस-नहस कर देनेभरकी थी। उन्होंने ऐसे गवाहोंका सामान्य साक्ष्य प्रस्तुत किया जिन्होंने अपने बयानमें कहा कि हमारी रायमें इस तरह गोद लेनेके कृत्य वर्जित हैं और कभी निष्पन्न नहीं हुए।

अपनी बहसमें मैंने पूर्ण विश्वासके साथ निवेदन किया कि अनाथ बालकोंके गोद लिये जानेके वास्तविक उदाहरणोंका प्रमाणित करना न तो विशेष महत्वका है और न आवश्यक ही। मुख्य चीज़ थी गोद लेनेकी विधि या तरीके सम्बन्धी प्रथाका नियम।

यह बात सुलेमानकी समझमें तुरन्त आयी। उनकी बुद्धि बहुत तीक्ष्ण थी और उन्हें ऐसी बहससे एक तरहका प्रेम-सा उत्पन्न हो जाता था जिसमें प्रथम प्रभाव उत्पन्न करनेवाली कोई बात उठायी जाती थी। यदि कोई दलील सूक्ष्म, विश्लेषणात्मक परीक्षणकी कसौटीपर खरी उतरती थी, तो वे उसे अभिव्यक्त प्रसन्नताके साथ स्वीकार कर लेते थे। उसके समर्थनमें पूर्वोदाहरणोंकी कमी या अभाव भले ही हो, उसके कारण उनके ऐसा करनेमें कोई बाधा नहीं पड़ती थी।

सर तेजबहादुर सप्रूने इसके विरोधमें बड़ा हो-हल्ला मचाया। "यह बिलकुल ही नयी चीज है, नया दृष्टिकोण है जो पहले कभी सामने नहीं रखा गया और न कभी सुझाया गया।" किन्तु जज सुलेमानके सामने आप किसी भी प्रक्रम (मंजिल)में कानूनकी बात उठा सकते हैं। उन्होंने सर तेजबहादुर सप्रूसे कह दिया कि आपको इसका जवाब देनेका अवसर दिया जायगा। इस प्रकार बादमें सप्रू साहबको एक मौका और दिया गया किन्तु मेरी दलील केवल देखनेमें ही ग्राह्य नहीं मालूम होती थी वरन् मैं तो कहूँगा कि वह अखण्डनीय भी थी और अन्तमें अदालतने उसे मान भी लिया। इससे प्रथा या रूढ़िके प्रश्नको नया स्वरूप प्राप्त हो गया, परिणामस्वरूप हमारा काम भी सचमुच आसान हो गया।

मुख्य अभिनिर्णय जस्टिस कैण्डालने तैयार किया था। उन्होंने प्रतिवादी (दत्तक पुत्र)को सभी सम्भावित अनुमानोंका लाभ उठाने दिया, मत प्रकट किया कि मूल मृत्यु-पत्रका गुम हो जाना प्रमाणित हो गया है, कानूनगोकी प्रतिलिपिसे उसकी अन्तर्वस्तुका विश्वास किया जा सकता है और अधिक समय बीत जानेका लिहाज करते हुए मृत्यु पत्रके सम्बन्धमें यह बात प्रमाणित हुई मान ली जा सकती है कि वह जाब्तेसे लिखा गया और साक्षीकृत हुआ था। अनाथ बालक भी कानूनन गोद लिया जा सकता है। अपील मंजूर कर ली गयी और (वादीकी) फरियाद खारिज कर दी गयी।

यहाँ मैं यह बतला देना चाहता हूँ कि उच्च न्यायालयमें जब अपीलपर विचार हो रहा था, उस समय भी समझौतेकी बातचीत चली थी। कुँवर ओंकार सिंह आर्थिक कष्टमें थे और मुझे इसमें सन्देह नहीं कि समझौतेमें ऐसी शर्तें मान ली जा सकती थीं जो वादी पक्षके लिए बहुत लाभदायक होतीं किन्तु उन लोगोंका दिमाग तो विचारक न्यायाधीशके सामने जीत जानेके बादसे आसमानको छू रहा था और यद्यपि उनमेंसे कुछ लोग समझौतेकी बात अवश्य करते थे किन्तु वास्तवमें कुछ तै करनेका उनका इरादा कदापि न था। या तो सब मिले या बिलकुल नहीं, यही उनका सिद्धान्त-वाक्य था।

लन्दनमें सपरिषद्-नरेशके सामने पुनर्न्यायप्रार्थनाका किया जाना अनिवार्य था और वह थोड़ी भी देर किये बिना प्रस्तुत कर दी गयी, इसलिए भी, क्योंकि हमने तुरन्त आदाताओं (मुतवल्लियों) को हटाने और जायदादका कब्जा दिलानेकी दरख्वास्त दे दी थी। अब वादी पक्षकी पारी थी कि वह हमें कब्जा पानेसे रोक दे। उन्होंने अपने निवेदनपत्रमें प्रार्थना की कि जबतक न्यायिक समिति-का फैसला नहीं हो जाता, आदाताओंको हटानेका आदेश न दिया जाय।

एक बार फिर प्रमुख न्यायाधिपति तथा अन्य न्यायाधीशोंके सामने हम लोगोंको जोरदार बहस करनी पड़ी। मैंने जोरोंसे विरोध किया और कहा कि मेरे मुवक्किल, दत्तक पुत्र ब्रजराजने चार वर्ष बड़े अर्थ-संकटमें काटे हैं और उन्हें अपने ससुरपर आश्रित रहना पड़ा है। प्रिवी कौंसिलकी अपीलमें अभी ५-६ वर्ष और लगनेकी सम्भावना है। यदि आगे भी उन्हें कष्टमें रहना पड़ा तो यह बहुत ही अन्धेरकी बात होगी। उन्हें अपनी पुत्रियोंका विवाह करना है। उनका स्वास्थ्य ठीक नहीं है और उन्हें आरामसे रहना चाहिये। इसके सिवा उन्हें प्रिवी कौंसिलकी अपीलका भारी खर्च भी अभी उठाना है। मुख्य न्यायाधिपति प्रभावित तो हुआ किन्तु उसने मुतवल्लियोंको हटाना स्वीकार नहीं किया। फिर भी उसने ऐसा निराला आदेश दिया जिससे मेरा आधा काम चल गया। उसने हिदा-यत कर दी, अपीलका चाहे जो भी नतीजा निकले और प्रतिवादीसे कोई भी जमानत माँगे बिना, कि प्रतिवादीको १५०० रुपये प्रतिमास उसके चालू खर्चके लिए, २० हजार रुपये उसकी लड़कियोंकी शादीके लिए और २३ हजार रुपये अपीलके खर्चके लिए दिया जाय। इस आदेशसे हमारी सब कठिनाइयाँ दूर हो गयीं। किन्तु बेचारे ब्रजराजशरण सिंहको अब फिर साहनपुर देखना बदा न था। अपीलका फैसला होनेके पूर्व ही उनकी तथा उनकी पत्नीकी, दोनोंकी ही मृत्यु हो गयी और कुँवर ओंकार सिंह अपने नातीके हितमें, जो १८ वर्षका नवयुवक था, बराबर परिश्रम करते रहे। भारतीय मुकदमोंमें अत्यधिक विलम्ब होना सर्वविदित है और जैसा कि एक बार लार्ड चान्सलर (लार्ड बक मास्टर)ने कहा था, ऐसे मुकदमोंमें अक्सर मानवजीवनसे भी अधिक समय लग जाता है।

यह तय हुआ कि मैं लन्दन जाऊँ और अपीलकी सुनवाई आरम्भ होनेपर सहायक वकीलके रूपमें उपस्थित रहूँ।[1] हमें सूचना दी गयी कि अपीलपर १९३३ की ग्रीष्म ऋतुमें विचार किये जानेकी सम्भावना है और मैं उस समय लन्दन गया भी किन्तु पुनर्न्यायप्रार्थी उस समय अपीलपर विचार शुरू करानेके लिए तैयार न थे। कुँवर ओंकार सिंहने बेमुरौवतीसे कहा कि वे लोग, यदि सम्भव हो तो, मुझसे पीछा छुड़ाना चाहते थे।

अपीलकी सुनवाई अन्तमें फरवरी १९३५ के लिए रखी गयी। पारिवारिक कठिनाइयोंके कारण मैं उस समय भारतसे बाहर जानेमें असमर्थ था किन्तु मैंने आग्रह किया कि मेरे स्थानपर कुँवर ओंकार सिंहको खुद ही वहाँ जाना चाहिये। मैंने कहा कि सुनवाईके समय उनका या मेरा वहाँ रहना आवश्यक है। मुकदमेका अभिलेख बहुपृष्ठव्यापी है, मामला बहुत ही पेचीदा है और कोई भी नहीं जानता कि अन्त होते-होते कौन-सी नयी बात उठ खड़ी हो। प्रधान वकीलको पर्याप्त हिदायत देनेके लिए किसी-न-किसीको वहाँ मौजूद रहना ही चाहिये। इसलिए मैंने समुद्री तार भेजकर सुनवाई एक सप्ताहके लिए स्थगित करानेकी प्रार्थना की और कुँवर ओंकार सिंह विमान द्वारा लन्दनके लिए रवाना

---

१. न्यायिक समिति भारतकी उन अदालतोंसे की जानेवाली अपीलोंमें ऐसे भारतीय वकीलोंको—भले ही वे अंग्रेजी वकील मण्डलीके सदस्य न हों—अपने सामने खड़े होनेकी अनुमति दे देती थी जो उन अदालतोंमें उपस्थित होकर पैरवी कर सकते थे।

हो गये। बादमें पता चला कि उनके वहाँ उपस्थित रहनेके ही कारण एक भारी विपत्ति आते आते बच गयी।

न्यायिक समितिके सामने सुनवाईमें पूरे तेरह दिन लग गये। प्रिवी कौंसिलमें पैरवी करनेवाले प्रधान वकील ही दोनों तरफसे खड़े हुए थे, डीग्रूथर के० सी० अपीलाण्टकी तरफसे और डन्ने के० सी० प्रतिवादीकी ओरसे। और जैसा कि एक साल बाद अनेक वकीलों और कानूनी सलाहकारोंने मुझे बतलाया, प्रिवी कौंसिलके इतिहासमें वह एक बड़ी शानदार लड़ाई थी। डीग्रूथरने छ-सात दिनतक चलनेवाले प्रारम्भिक भाषणमें असाधारण प्रभाव उत्पन्न कर दिया था तथा अपनी जीत सुनिश्चित-सी बना ली थी और बेचारे ओंकार सिंहको, जो लन्दनकी विशाल नगरीमें अकेले थे (भारतके बाहर जानेका उस बूढ़ेका यह पहला ही मौका था), आसार इतने निराशाजनक प्रतीत होने लगे थे कि उन्होंने इस आशयका समुद्री तार घर भेज दिया कि मुकदमेमें जीतकी आशा नहीं, अतः आपसी समझौतेकी आखिरी कोशिश की जानी चाहिये किन्तु अपने जवाबमें डन्ने अवसरके अनुरूप ऊपर उठ सके, उन्होंने कमाल कर दिखलाया और न्यायिक समिति आखिर उनके विचारोंसे सहमत हो गयी जिससे हार होते-होते बच गयी। अगले साल (१९३६में) डन्नेसे मेरी भेंट हुई तो उन्होंने बतलाया कि कुँवर ओंकार सिंहसे मुझे बहुमूल्य सहायता मिली, उन्हें मुकदमेकी बातें जबानी याद थीं, वे हमेशा पतेकी बातें करते थे और मुकदमा लड़नेवाले स्वार्थरत व्यक्तिके विपरीत बिलकुल बेलौस भावसे वास्तविक कठिनाइयोंपर विजय पानेके सुझाव दिया करते थे। उन्होंने यह भी कहा कि जब स्थिति इतनी निराशाजनक-सी प्रतीत हो रही थी, उस समय भी उन वृद्ध महाशयकी अम्लान मुखरेखा और शानदार व्यवहार देखकर मेरा उत्साह बढ़ा और मैंने उनके लिए अपनी पूरी शक्ति लगाकर प्रयत्न किया। उनकी मदद न मिलती तो अपीलमें हार जानेकी अधिक सम्भावना थी। डन्ने तथा ओंकार सिंह पक्के दोस्त बन गये।

न्यायिक समितिने मई १९३५ में फैसला दिया और अपील खारिज कर दी। फैसलेका आरम्भ सन् १८६९ की स्थितिका रहस्य प्रकट करनेवाले मेरे मुकदमेका हवाला देते हुए हुआ किन्तु उससे स्पष्ट हो गया कि किस तरह हम लोग पूर्ण रूपसे बर्बाद होते-होते बच गये थे। जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ, भारतके कितने ही उच्च न्यायालयोंने (जिनमें इलाहाबाद हाईकोर्ट भी शामिल है) निर्णय किया था कि अदालत चाहे तो तीस वर्ष पुरानी दस्तावेजकी प्रतिलिपिके आधारपर, उस समय भी जबकि मूल प्रति मिल न रही हो, यह मान ले सकती है कि मूल संलेख जाब्तेसे तैयार किया गया था और साक्षीकृत हुआ था। ये निर्णय भारतीय साक्ष्य अधिनियमकी ९० वीं धाराके अर्थापनपर आधारित थे। भारतमें कई वर्षोंसे उच्च न्यायालयोंके इन निर्णयोंका समान रूपसे अनुसरण किया जाता रहा है और विचारक न्यायाधीश, मातहत अदालत होनेके नाते, इलाहाबाद उच्च न्यायालयके अभिनिर्णयोंसे बँधा हुआ था। मामलेपर विचार होते समय मेरी ५० प्रतिशत इच्छा हो रही थी कि मैं रिक्थ पत्र लिखे जानेके सम्बन्धका वह कमजोर-सा तथा तुच्छ साक्ष्य प्रस्तुत न करूँ और साक्ष्य अधिनियमकी उक्त ९० वीं धाराके अनुसार इसके मान लिये जानेपर ही पूर्ण रूपसे अपनी आस्था रखूँ किन्तु बादमें कुछ सोचकर मैंने उक्त साक्ष्य प्रस्तुत कर दिया, अन्य किसी कारणसे नहीं बल्कि केवल अधिक सावधानीके लिहाजसे। यह साक्ष्य, उसका बाह्य मूल्य देखते हुए भी, इतनी दूरतक नहीं आ जाता था जिससे प्रमाणित हो जाता कि रिक्थ पत्र सचमुच उसके अनुष्ठाता द्वारा लिखाया गया था; किन्तु जो कुछ हमने किया उससे अधिकका प्रबन्ध करना हमारे लिए सम्भव न था। उच्च न्यायालयके सामने सर तेजबहादुर सप्रूने पहलेके अभिनिर्णयोंके औचित्यपर सन्देह प्रगट किया

२३. पवैयाँ राजका मुकदमा

सन् १९२४, ठीक उसी समय जब मेरठमें साहनपुरका मामला चल रहा था, मेरे हाथमें एक और मुकदमा एक अन्य जिले (शाहजहांपुर) में था। यह पवैयाँ राजका मामला था। इसमें छोटे लड़केने पैतृक रियासतके बँटवारेके लिए अपने सौतेले बड़े भाईके विरुद्ध मामला दायर कर दिया था। इसकी सुनवाईमें पूरे दो वर्ष लग गये और उसने दैत्यों जैसा आकार धारण कर लिया। उसमें पैरवी करनेके लिए १९२६ के उत्तरार्द्धमें मैं बुलाया गया। यह भी एक मनोरंजक मामला था; जिसमें ऊँचे परिवारोंके जीवनकी झलक देख पड़ती थी। यहाँ भी झगड़ेके प्रश्न थे–दावेदारकी वैध स्थिति, रिक्थ-पत्रका लिखा जाना तथा पवैयाँ राजकी अविभाज्यता सम्बन्धी रूढ़ि या परम्परा। अन्तिम परिणामकी दृष्टिसे यह मेरे लिये हुए मुकदमोंमें सबसे दुःखद साबित हुआ। इसकी समाप्ति ऐसे नुक्सके आधारपर हुई जिसका, मामलेपर विचार होते समय, दोनोंमेंसे किसी भी पक्षने स्वप्नतकमें ख्याल नहीं किया था। किन्तु अभीसे मुझे उसके परिणामकी चर्चा नहीं करनी चाहिये।

पवैय्याँ रियासत ऐसा राज है जिसकी उत्पत्ति प्राचीन समयमें हुई थी। पहले वह कथेरिया राजपूत वंशके राजाओंके हाथमें था जो शताब्दियोंसे उसपर शासन करते चले आ रहे थे। किन्तु १८ वीं शताब्दीके मध्यमें यह परिवार दुर्दिनमें पड़ गया। राजमें गड़बड़ मच गयी। रोहिल्ला लोग रियासतपर जबरन कब्जा कर लेना चाहते थे।[१] उस समय राजा अल्पवयस्क था। उसकी माँने अपने ही स्वजनोंसे सहायताकी प्रार्थना की। ये लोग समीपस्थ सीतापुर जिलेके गौड़ राजपूत थे, जो राजपूतोंका एक प्रसिद्ध उपभेद है। उसके दो भाइयोंने आकर अपने भानजोंकी सहायता की और रोहिल्लोंको मार भगाया। किन्तु कुछ वर्षों बाद वे फिर घुस आये और भाइयोंने भी फिर सहायता की। रोहिल्ला लोग हरा दिये गये। वे चले गये, किन्तु उन दोनों भाइयोंमेंसे एक भाई यहीं रह गया। उसने अपने भानजेको अपदस्थ कर स्वयं रियासतपर अधिकार कर लिया। उस समयसे राज उसीके वंशजोंके अधिकारमें चला आ रहा है, चाहे वे सपिंड रहे हों या गोद लिये गये हों। अन्यायपूर्वक अधिकार कर लेनेकी यह घटना सन् १७४८ से १७७५ के बीच हुई, ठीक-ठीक तिथि अनिश्चित है।

सन् १८०३ में अवधके नबाब वजीर द्वारा रोहिल खण्ड ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनीको अर्पित कर दिया गया। उस समय राज······राजाके अधिकारमें था। उसके बादसे १०० वर्षोंतक ऐसा क्रम चला कि पवैयाँके राजाके या तो एक ही लड़का होता था या वह निस्सन्तान होता था और उसे दत्तक पुत्र लेना पड़ता था। इसलिए रियासतके विभाजनका प्रश्न कभी उठा ही नहीं। कोई दूसरा लड़का रहता ही न था जो हिस्सा बँटवानेकी माँग करता।

सन् १८८५ में गोद लिये जानेके बाद राजा फतेह सिंह रियासतके उत्तराधिकारी हुए। उनके कई विवाह हुए और उनके दो पुत्र तथा एक पुत्री थी। उनकी पहली पत्नीसे एक लड़का था, इन्द्र-विक्रम सिंह। वही सबसे बड़ी सन्तान थी। राजा फतेह सिंहकी तीसरी रानी, कमला रानी, एक नेपाली महिला थी। नेपालके राजवंशसे सम्बन्धित परिवारोंमें आन्तरिक क्रान्ति हो गयी थी जिससे कुछ परिवारोंको बाध्य होकर नेपालसे पलायन कर भारतके विभिन्न भागोंमें बस जाना पड़ा था—देहरादून, इलाहाबाद, बनारस तथा अन्यत्र। इस प्रान्तके राजपूत सामन्तोंमें इन परिवारोंकी लड़-

१. रोहिल्ला लोग एक मुसलिम जनजातिके हैं। उत्तरप्रदेशके रोहिल्लाखण्ड नामक भागका नाम उन्हींके नामपर पड़ा है।

कियोंके साथ विवाह करनेकी बड़ी माँग थी। राजा फतेह सिंहने बनारसमें बसे परिवारकी लड़कीसे विवाह किया था। कहा जाता था कि इस महिलाकी छोटी बहिन विमला रानीसे भी, पाँचवीं पत्नीके रूपमें, उन्होंने शादी की थी। विजयवर्मा नामक एक पुत्र भी उन्हें विमला रानीसे उत्पन्न हुआ था। ज्येष्ठ पुत्र इन्द्रविक्रम सिंहने बादमें कहना शुरू किया कि वास्तवमें विवाह हुआ ही न था और विजयवर्मा अनियमित सम्पर्ककी सन्तान है।

राजा फतेह सिंह अपनी नेपाली पत्नियोंको बहुत चाहते थे और कमला रानीका उनके ऊपर विशेष प्रभाव था। उनकी छोटी बहिन विमलाकी मृत्यु कुछ ही वर्षोंके बाद, उनके जीवनकालमें ही, हो गयी थी और उसके छोटे बच्चेकी परवरिश उसकी बड़ी बहिन कमला रानी द्वारा की गयी। राजा फतेह सिंहका इस छोटे लड़केपर विशेष अनुराग था और वे इसे बहुत चाहते थे; जहाँ भी जाते थे इसे बराबर साथ लिये रहते थे। जब भी कोई उत्सव मनाया जाता या दरबार होता अथवा प्रान्तके गवर्नरका आगमन होता, यह लड़का हमेशा अपने पिताके साथ देख पड़ता था, बड़ा चंचल, बड़ा उज्ज्वल तथा आकर्षक स्वभावका बालक था। राजा साहब विजयवर्माके लिए पूरी व्यवस्था कर देना चाहते थे और रियासतका आधा हिस्सा उसके लिए सुरक्षित कर देना चाहते थे। उन्हें सम्भवतः अपने बड़े लड़के इन्द्रविक्रमसे कुछ झगड़ेकी आशंका थी, इसलिए यथोचित व्यवस्था कर देनेके लिए सबसे बढ़िया उपाय क्या हो सकता है, इस सम्बन्धमें उन्होंने कानूनी सलाह ली। उन्होंने इस बातका निश्चय नहीं किया था कि उनकी रियासत अविभाज्य मानी जा सकती है। यदि वह अविभाज्य हो तो वह केवल बड़े लड़केको ही प्राप्त होगी किन्तु राजा रिक्थ-पत्र (वसीयतनामा) लिखकर कानूनन उसकी यथोचित व्यवस्था करदे सकते थे। यदि वह अविभाज्य रियासत न हो, तो कानूनके मुताबिक दोनों लड़कोंको, अपने पिताकी मृत्युके बाद, उसका आधा आधा भाग पानेका हक था। राजाको सलाह दी गयी कि सब स्थितियोंका सामना करनेके लिए वसीयतनामा लिख देना बेहतर होगा। उन्होंने सलाह मान ली, एक प्रमुख वकील (पण्डित मोतीलाल नेहरू)से[1] वसीयतनामाका मजमून ठीक कराया किन्तु दुर्भाग्यवश उन्होंने उसे सबके सामने प्रकट नहीं किया और न उसकी रजिस्ट्री करायी (ऐसा करनेपर उन्हें खुद रजिस्ट्रारके सामने उपस्थित होना पड़ता और रिक्थ-पत्र लिखनेकी बात स्वीकार करनी पड़ती); किन्तु उन्होंने उसे गुप्त रूपसे लिखाया और एक एजेण्टके जरिये उसे मुहरबन्द लिफाफेमें सीतापुरके रजिस्ट्री दफ्तरमें जमा करा दिया।[2] यह काम भी चुपचाप किया गया, क्योंकि राजा सम्भवतः अपने जिलेमें यह बात अधिक लोगोंपर प्रकट नहीं होने देना

---

1. इस मामलेमें उनका बयान लिया गया था और यह साबित हो गया था कि रिक्थ-पत्रका मसौदा उन्होंने तैयार किया था और उसके संशोधन भी उन्हींकी हस्तलिपिमें थे।
२. भारतीय रजिस्ट्री कानूनके मुताबिक रिक्थ-पत्र उस जिलेके रजिस्ट्रारके पास जमा किया जा सकता है जिसमें उसे लिखानेवाला व्यक्ति रहता हो या जहाँ उसकी जायदादका कुछ हिस्सा अवस्थित हो। राजा शाहजहाँपुर जिलेमें रहते थे और करीब करीब सारी पवैयाँ रियासत भी, जिसकी लगानकी आय ५० लाख रुपये वार्षिक थी, उसी जिलेमें थी; किन्तु राजाके दो-तीन गाँव सीतापुर जिलेमें थे जिससे वे यह रिक्थ-पत्र उक्त जिलेमें जमा करानेमें समर्थ हो सके। कागज अपने पास जमा करनेके पहले रजिस्ट्रारको इस बातकी तसल्ली कर लेनी पड़ती है कि जो व्यक्ति कागज लेकर आया है वह या तो रिक्थ-पत्र लिखानेवाला स्वयं है या फिर उसका अधिकृत एजेण्ट है जिसे उक्त कागज जमा करानेके लिए विधिवत् अधिकार प्रदान किया गया है।

चाहते थे कि उन्होंने कोई वसीयतनामा लिखा है। राजाकी इस काररवाईका चाहे जो भी प्रेरक कारण रहा हो, इसके कारण उनकी मृत्युके बाद बड़ा वाद-विवाद उठ खड़ा हुआ।

राजा फतेह सिंहकी मृत्यु सन् १९२२ में हो गयी और रियासतके उत्तराधिकारके सम्बन्ध में झगड़ा शुरू हो गया। ज्येष्ठ पुत्र होनेके कारण इन्द्रविक्रम सिंहको कमसे कम राजाकी वंशानुगत उपाधि तथा प्रतिष्ठा पानेका अधिकार तो था ही। उनका दावा था कि राज्य अविभाज्य है और मैं ही उसका एकमात्र अधिकारी हूँ। उनका यह भी कहना था कि विजयवर्मा अवैध सन्तान हैं और किसी भी हालतमें रियासतके सम्बन्धमें उनका कोई हक नहीं है। हमारे पिताने कोई रिक्थ-पत्र लिखा ही नहीं—यह सब कमला रानी तथा राजा साहबके एजेण्टकी साँठगाँठका परिणाम है। रानीने ही तथाकथित रिक्थ-पत्र किसी तरह लिखवाकर सीतापुरके रजिस्ट्रारके दफ्तरमें जमा करा दिया था जिसका कुछ भी पता राजा साहबको न था।

इन्द्रविक्रम सिंह समूची रियासतपर अकेले ही अधिकार प्राप्त करनेमें सफल हो गये और विजयवर्माको अपने हकके लिए दावा करना पड़ा। उन्होंने वैकल्पिक कारण दिखलाकर राजका आधा हिस्सा पानेके लिए मुकदमा दायर किया। पहले तो उन्होंने कहा कि रियासत मामूली सम्मिलित मौरूसी जायदाद है और साधारण हिन्दूविधिके अनुसार मुझे उसका अर्द्धभाग पानेका अधिकार है। विकल्पसे यदि अदालत रियासतको अविभाज्य समझे तो मेरे पिताने जो वसीयतनामा लिखा था उसे कार्यान्वित किया जाय।

मैं पहले ही थोड़ेमें बतला चुका हूँ कि इन्द्रविक्रम सिंहने अपनी सफाईमें तीन दलीलें रखी थीं, विजयवर्माको वैध सन्तान न मानना, रिक्थ-पत्रका लिखा जाना अस्वीकार करना और रियासतकी अविभाज्यताकी प्रथाका सहारा लेना।

इन प्रश्नोंको लेकर उभयपक्ष अदालतमें पहुँचे। मामला किसी भी तरह मुश्किल नहीं था और यद्यपि साक्ष्यका अधिक विस्तृत होना अनिवार्य था, फिर भी एक अनुभवी न्यायाधीश उसे अनायास ही एक उचित दायरेके भीतर सीमित रख सकता था। विजयवर्माके दुर्भाग्यसे उच्च न्यायालयने जिस दीवानी जजको यह मुकदमा विचारार्थ सौंपा था, वह बेजोड़ सच्चाई और ऊँचे चरित्रका तथा सौम्य स्वभावका धर्मभीरु व्यक्ति था किन्तु साथ ही वह इस दुनियाके अनुपयुक्त कुछ ऐसा महात्मा-सा था जो मानवस्वभावके सम्बन्धमें तथा मनुष्यके कार्योंकी गतिविधिके सम्बन्धमें बड़े अनोखे विचार रखता था। इन्द्रविक्रम सिंहके पास रुपया था और वे ऋण भी ले सकते थे। वे अपने भाईको भूखों मारकर सिर झुकानेके लिए बाध्य कर देना चाहते थे और उन्होंने ऐसे वकीलोंका सहयोग प्राप्त कर लिया था जो स्पष्ट ही उनकी हिदायतोंका अक्षरशः पालन करनेको तैयार थे। इस प्रकार वादीके गवाहोंका सम्परीक्षण प्रतिवादीके वकील तथा न्यायाधीश, दोनोंके द्वारा होते रहनेसे मुकदमेकी काररवाई इतनी लम्बी हो गयी जितनी लम्बी तथा बिलकुल ही असंगत काररवाई मैंने न कभी देखी थी और न कभी सुनी थी। और जब साक्ष्य प्रस्तुत करनेकी प्रतिवादीकी पारी आयी, तब वे सौसे भी अधिक गवाह लेकर आये जिनके साक्ष्यमें गौड़ राजपूत परिवारोंकी हजारों वर्ष पुरानी प्रथाकी चर्चा की गयी जिसका सम्बन्ध नम्र अनुमानसे भी १५ हजार वर्षकी अवधिसे रहा होगा। न्यायाधीशने इस तुच्छ तथा महत्त्वहीन विवरणको भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समझा। उसमें पौराणिकता और निरर्थक बातोंका मेल था, फिर भी जजने उसे इस दृष्टिसे देखा मानो वह विश्वसनीय ऐतिहासिक सामग्री रही हो। परिणाम वही हुआ जो प्रतिवादीको अभीष्ट था। उसने मुख्य सम्परीक्षणमें लम्बे-लम्बे बयान देकर, जिसमें बीच-बीचमें न्यायाधीशके भी प्रश्न शामिल थे, अभिलेखको बहुत लम्बा

बना दिया, जिससे तमाम जिरहको ऐसा असाधारण स्वरूप प्राप्त हो गया जिसमें हजारों पृष्ठ भर गये किन्तु अन्तमें कोई ठोस तथ्य हासिल न हुआ। इस प्रकार साक्ष्य अभिलिखित करनेमें दो वर्ष लग गये और १० हजार पृष्ठोंकी पाण्डुलिपि तैयार हो गयी और यह कथन अक्षरशः सत्य है कि उन लगभग सौ पृष्ठोंको छोड़कर जिनमें उन थोड़ेसे गवाहोंके बयान लिखे गये थे जिन्होंने रिक्थ-पत्र (वसीयतनामे) के सम्बन्धमें शहादत दी थी, साक्ष्यकी एक पंक्ति भी ऐसी न थी जो विचारक न्यायाधीशकी अदालतमें अथवा अपील होनेपर उच्च न्यायालयमें उभयपक्षके वकीलों द्वारा पढ़ी गयी हो या उसकी चर्चा की गयी हो। मैं वादी अर्थात् विजयवर्माकी तरफसे खड़ा हुआ था और प्रारम्भकी योजना यही थी कि जबतक मुकदमा चलता रहे, मैं बराबर उसका संचालन करता रहूँ। मैंने तीन दिनोंतक ऐसा किया और तब अपने मुवक्किलसे कह दिया कि मेरा इस समय मुकदमेके संचालनके लिए बना रहना व्यर्थ होगा और उनके लिए यह एक तरहका अपराध होगा कि वे ऐसे न्यायाधीशके सामने जिसके विचार इतने अनोखे और अद्भुत हों, गवाहोंसे जिरह करनेके लिए एक पुराने वकीलको बनाये रखनेमें अपना रुपया बर्बाद करें। मैं चला गया और इसके बजाय साहन-पुरके मुकदमेका काम सँभालता रहा, किन्तु मैं निरन्तर सम्पर्क बनाये रखता था, मुवक्किल मुझसे बराबर सलाह लिया करता था और बीच-बीचमें महत्त्वके अवसरोंपर मैं उपस्थित भी हो जाया करता था।

इस दीर्घकालव्यापी काररवाईके कारण वादीके साथ बड़ा अन्याय हुआ। वह जायदादसे वंचित रहा और आर्थिक साधनोंकी कमीके कारण उसे अधिक मात्रामें कर्ज लेना पड़ा। प्रति-वादीको भी ऋण लेनेके लिए बाध्य होना पड़ा किन्तु सम्भवतः उसे इसकी परवाह न थी।

मुकदमेमें बहस शुरू होनेका समय सितम्बर १९२६में किसी दिन रखा गया। मैं बहसके लिए शाहजहाँपुर गया। मुझे मुकदमे सम्बन्धी बहुत सी सामग्री पढ़नी पड़ी और हमेशा उस विशिष्ट न्यायाधीशका ध्यान रखते हुए जिसे अनुकूल बनानेका काम मुझे करना था, सेरों भूसेमेंसे गेहूँके दो-चार दाने चुन लेनेकी चेष्टा करनी पड़ी। परिणामस्वरूप मैं अपनी दलीलोंको थोड़ेमें रख सका और सारी बहस सन्तोषजनक रूपसे तीन सप्ताहोंमें मैंने समाप्त कर दी।

वैधता सम्बन्धी प्रश्नमें मुझे विशेष कठिनाईका सामना नहीं करना पड़ा। व्यवहार, चिट्ठियाँ, अन्य कागज तथा फोटो इत्यादि बड़ी संख्यामें मौजूद थे और वादीके पक्षमें निर्णय होना पहलेसे मानी-समझी बात थी।

रिक्थ-पत्र तथा अविभाज्यता सम्बन्धी प्रथा, ये दोनों ही ऐसी चीजें थीं, जिनके सम्बन्धमें गम्भीरतापूर्वक विचार किया गया। दोनों ही पक्ष शुरूसे आखीरतक इस धारणापर आगे बढ़े कि या तो सारी रियासत अविभाज्य है या बिलकुल नहीं है। वह आंशिक रूपसे अविभाज्य है, यह किसीने नहीं कहा। न तो उस सम्बन्धमें कोई प्रश्न उठा और न उसके लिए कोई पैरवी की गयी, न कोई साक्ष्य उपस्थित किया गया। उस मामलेकी परिस्थितिमें कानूनकी दृष्टिसे भी वह एक असम्भव तथा अकथनीय प्रस्ताव था। बहसमें उसके सम्बन्धमें एक शब्द भी न तो वकील द्वारा कहा गया और न न्यायाधीश द्वारा। फिर भी न्यायाधीशने वस्तुतः ऐसा ही फैसला किया। उन्होंने राय दी कि अवि-भाज्यताकी प्रथा प्रमाणित नहीं की गयी, फिर भी रियासतके एक बड़े भागपर अविभाज्यताकी छाप मौजूद थी, ऐसे कारणोंके आधारपर जो किसीकी समझमें नहीं आ रहे थे। और उन २७ महीनोंमें जबतक मामलेकी सुनवाई होती रही, न्यायाधीशने दोनों पक्षोंको जरा भी इस बातका संकेत नहीं होने दिया कि उनके मस्तिष्कमें क्या चल रहा था।

इस विचारके कारण विद्वान् न्यायाधीशने खयाल किया कि मुझे रिक्थ-पत्र लिखे जानेके प्रश्न-पर कोई निश्चित अभिनिर्णय उल्लिखित करनेकी आवश्यकता नहीं। फिर भी अपने फैसलेमें उन्होंने यह सूचित कर दिया कि उन्हें इसके सम्बन्धमें बहुत सन्देह था। सन्देहके लिए उनके अपने विचार थे, ऐसे विचार जो उनकी ही जैसी प्रकृतिका आदमी अपने मनमें ला सकता था। परिणामतः मुकदमेमें आंशिक डिगरी दी गयी।

अपील करना दोनों पक्षोंके लिए अनिवार्य था और दोनोंने उसे उच्च न्यायालयमें दाखिल कर दिया और उस समय इलाहाबादके उच्च न्यायालयमें की गयी ऐसी पुनर्न्यायप्रार्थनाओंका फैसला होनेमें सामान्यतया चार वर्ष लगते थे। अपीलकी सुनवाई होनेके पहले ही दोनों भाइयोंकी मृत्यु हो गयी। विजयवर्माकी मृत्युसे मुझे बड़ा दुःख हुआ। वह एक अच्छे स्वभावके नवयुवक थे। मोटर दुर्घटनामें उनकी मृत्यु हुई। उनकी पत्नीका देवलोक उनकी जीवितावस्थामें ही हो गया था और उनकी मृत्युके बाद केवल एक छोटी लड़की ही बची थी। इस बच्चीने, अपने मामाकी अभि-भावकतामें अपने पिताकी उत्तराधिकारिणी बननेका दावा किया। इसका विरोध उनके दोनों चचेरे भाइयों अर्थात् राजा इन्द्रविक्रम सिंहके लड़कोंने किया और कहा कि जातिकी तथा परिवारकी प्रथा-के कारण लड़कियाँ पिताकी सम्पत्तिकी उत्तराधिकारिणी नहीं बन सकतीं और उक्त दोनों भाइयोंने विजयवर्माके भाईके पुत्र होनेके नाते अपने-आपको उनका सबसे निकटका उत्तराधिकारी बतलाया। इस प्रकार यह मामला और भी जटिल बन गया।

जब अपीलोंपर सुनवाई शुरू हुई तो कार्यविधिके प्रश्नपर पहले बातचीत हुई। मैं लड़कीकी तरफसे उपस्थित था और मैंने सुझाव रखा कि न्यायाधीशगण पहले योग्यताके सम्बन्धमें विचार कर लें—यदि यह राय ठहरे कि विजयवर्माको डिगरी पानेका हक है तो उनका उत्तराधिकारी कौन है, इस विषयका अभिनिर्णय किया जा सकता है। न्यायाधीश सहमत हुए और अपीलोंकी सुनवाई आरम्भ हुई।

दोनों बातोंपर उच्च न्यायालयकी राय विचारक न्यायाधीशकी रायसे भिन्न थी। रियासत तो अविभाज्य मान ली गयी किन्तु राजा फतेह सिंहका वसीयतनामा अदालतकी दृष्टिमें सन्तोषजनक रूपसे प्रमाणित हो गया। वह सम्पत्तिके उचित बँटवारेका द्योतक मान लिया गया और उसके आधारपर रियासतका आधा भाग पानेका विजयवर्माका हक स्वीकार कर लिया गया। उच्च न्यायालयने उत्तराधिकारसे लड़कियोंको वञ्चित रखनेकी प्रथाके सम्बन्धमें विचार करनेके लिए मामला फिर मातहत अदालतके पास भेज दिया।

इससे फिर एक लम्बी छानबीन अनाथ लड़कीके लिए कठिन परिस्थितिमें आरम्भ हुई। जैसा कि मैं पहले बतला चुका हूँ, शाहजहाँपुर जिलेमें स्थित पवैयाँके गौड़ राजपूत सीतापुर जिलेके, जो अवधका एक भाग है, निकटवर्ती स्थानोंसे चलकर वहाँ जा बसे थे। अवधके राजपूतोंमें इस सम्बन्धमें बड़ी तीव्र भावना पायी जाती है कि लड़कीके या उसकी सन्तानके उत्तराधिकारी बन जानेसे कोई सम्पत्ति पैतृक वंशजोंके हाथसे निकल कर अन्य परिवारमें चली जाय। और दाय भागसे लड़कीको वञ्चित रखनेकी यह प्रथा उस क्षेत्रमें प्रायः सर्वत्र व्याप्त है, सरकारी कागज-पत्रोंमें तथा गाँवोंके प्रशासन सम्बन्धी कागजोंमें व्यापकरूपसे अभिलिखित है और कितने ही मुकदमोंमें अदालतोंने न्यायिक दृष्टिसे उनकी सम्पुष्टि की है। अवध इस मामलेमें पंजाबसे मिलता-जुलता है, जहाँ ऐसा रिवाज सब जातियोंमें व्यापकरूपसे प्रचलित है। किन्तु आगरा प्रान्तमें, जो अपेक्षाकृत अधिक समयतक ब्रिटिश शासनके अन्तर्गत रहा, जनताकी भावना इतनी तीव्र नहीं है और जनभावनाके सिवा वहाँके

न्यायालय भी शुरूसे ही लड़कियोंके पक्षमें अपना जोरदार मत प्रकट करते रहे हैं। दाय भागसे उसके वंचित रखे जानेकी प्रथा न्यायिक दृष्टिसे कठोर तथा अस्वाभाविक कही गयी है और शायद ही किसी अदालतने इस तरहकी किसी दलीलका समर्थन किया हो।

इस मुकदमेमें यह लड़की यदि अपने पिताकी उत्तराधिकारिणी मान ली जाती है तो काफी बड़ा उत्तराधिकार उसे प्राप्त हो जायगा। सम्पन्न पवैयाँ राजका आधा भाग पानेका ही उसका हक नहीं हो जाता वरन् राजा इन्द्रविक्रम सिंह तथा उनके लड़कोंके हाथमें पड़ी उसके पिताके हिस्सेकी लगान तथा मुनाफेकी दस लाखसे भी अधिककी रकम पानेकी भी वह अधिकारिणी हो जाती है। ये लड़के स्वयं भी ऋणग्रस्त हो गये थे अतः इस बातका वास्तविक खतरा उत्पन्न हो गया था कि उन्हें जायदाद बेच देना पड़े और इस प्रकार समूची पवैयाँ रियासतके परिवारके हाथोंसे, सम्भवतः गौड़ राजपूतोंके भी हाथोंसे, निकल जानेकी सम्भावना थी। इस प्रकार प्रतिवादी पक्ष अपने प्रति जनताकी भारी सहानुभूति उत्पन्न करनेमें समर्थ हो गया।

शाहजहाँपुरके सिविल जजने चार महीनोंमें प्रतिवादियों द्वारा प्रस्तुत किये गये सौसे भी अधिक गवाहोंके बयान अभिलिखित किये। प्रायः सभी गवाह सीतापुर जिलेके गौड़ राजपूत थे। इनके सिवा दस्तावेजों, सरकारी अभिलेखों तथा न्यायिक पूर्वोदाहरणोंका बहुपृष्ठव्यापी साक्ष्य भी था।

लड़कीके मामाने अपनी नन्हीं-सी भानजीके लिए भरपूर प्रयत्न किया। उसने खुद अपने पाससे रुपया खर्च किया किन्तु उसे उन शक्तियोंके सामने हार खानी पड़ी जो उसके विरुद्ध खड़ी थीं। वह लड़कीके पक्षमें साक्ष्य देनेके लिए एक भी गवाह प्राप्त न कर सका। इसलिए कोई भी मौखिक साक्ष्य प्रस्तुत नहीं किया जा सका। फिर भी शाहजहाँपुर जिलेमें स्थित पवैयाँ राजके कुछ सरकारी अभिलेख साक्ष्यके रूपमें उसकी ओरसे पेश किये गये।

विचारक न्यायाधीशने (यह उस न्यायाधीशसे भिन्न था जिसने मुख्य वादपर विचार किया था) यह मत प्रकट किया कि (लड़कियोंको उत्तराधिकारसे वंचित रखने की) प्रथा प्रचलित थी, यह साबित हो गया और ऐसी ही रिपोर्ट उसने उच्च न्यायाधीशके पास भेज दी। उसका खयाल था कि सारा साक्ष्य एक ही दिशामें जाता था और सबसे एक ही निष्पत्ति निकलती थी। उसकी रायमें लड़कियोंको वंचित रखनेके विभिन्न उदाहरण सन्तोषजनक रूपसे प्रमाणित हो चुके थे।

इस रिपोर्टपर उच्च न्यायालयमें यथासमय विचार किया गया। मैं लड़कीकी तरफसे खड़ा था और मुझे कठिन लोहा लेना पड़ा; किन्तु इलाहाबाद हाईकोर्टकी न्यायिक प्रवृत्ति मेरे अनुकूल थी और मैंने उससे पूरा लाभ उठाया। मेरी मुख्य दलील यह थी कि विचारक न्यायधीशने सीतापुर जिलेके गौड़ परिवारोंके साक्ष्यको अधिक महत्त्व देकर गलत दिशामें कदम उठाया था। असल प्रश्न यह था कि खुद पवैयाँका परिवार, जो १५० वर्ष पहले सीतापुरसे चला आया था, इस प्रथाका अनुसरण करता था या नहीं और शाहजहाँपुर जिलेके, जहाँ ऐसी कोई प्रथा प्रचलित न थी, निकट-वर्ती जमींदारोंके परिवारोंकी विचारधाराको मानने लगा था या नहीं। मेरा कहना था कि पवैयाँ राजके सरकारी कागजोंमें इस प्रथाके एक भी अभिलेखका मौजूद न होना विशेष अर्थगर्भ है। उभय-पक्षकी बहस बहुतसे विषयोंको लेकर चलती रही किन्तु अन्तमें न्यायाधीशगण मेरे विचारोंसे सहमत हो गये। उनकी राय हुई कि प्रथाका अनुपालन किया जाता था, यह बात साबित नहीं की जा सकी। फैसला बादमें सुनानेके लिए नहीं छोड़ा गया वरन् बहस समाप्त होनेके तुरत बाद ही जबानी सुना दिया गया (और फैसला लिख लेनेवाले सरकारी कर्मचारीने उसे अभिलिखित कर लिया)। इसीसे उसमें कुछ शिथिलता-सी रह गयी। न तो उसकी शब्दावली सुनियोजित थी और

न सुविचारित ही। यदि परिपक्व विचारके बाद लिखित अभिनिर्णय दिया गया होता तो वह अधिक इतमीनानके लायक और वजनी हुआ होता।

पुनः अपील होनेपर सारा मामला लन्दनमें सपरिषद् नरेशके सामने पहुँचा। वहाँ प्रत्येक प्रश्नपर विचार किया जा सकता था किन्तु न्यायिक समितिने अपने-आपको केवल इस प्रश्नपर विचार करनेतक ही सीमित रखा कि लड़कीको अपने पिताकी उत्तराधिकारिणी बननेका अधिकार, प्रथाके अनुसार था या नहीं। कमेटीकी राय हुई कि उसके अधिकार पानेके विरुद्ध प्रथाका प्रचलन साबित हो जाता है और इसी बिनापर उसने उच्च न्यायालयका वह फैसला रद्द कर दिया जो लड़कीके पक्षमें दिया गया था। जहाँतक विजयवर्माके दोनों भतीजोंका प्रश्न था, कमेटीने पवैयाँ राजमें विजयवर्माके अधिकारकी बात अनिर्णीत ही छोड़ दी।

इस प्रकार १५ वर्षोंतक मुकदमा चलते रहनेके बाद भी परिणाम कुछ नहीं निकला। निर्णय हुआ भी तो ऐसे प्रश्नके सम्बन्धमें हुआ जिसकी उस समय किसीने कल्पनातक नहीं की थी जब मुकदमा शुरू हुआ था और न पवैयाँ राजसे उसका कोई सम्बन्ध ही था। राजका मुकदमा विजयवर्माके ऋणदाताओं और पवैयाँके तत्कालीन राजा अजयवर्माके बीच जो इन्द्र-विक्रम सिंहके ज्येष्ठ पुत्र थे, इसके बाद भी चलता रहा और पुराने प्रश्नोंपर फिर विचार किया गया। जो हो, वास्तविक परिणामकी दृष्टिसे ही मैं पवैयाँ राजके मामलेको अपना सबसे विषादमय मुकदमा समझता हूँ। विजयवर्माके साथ, उनके जीवनके अन्तिम वर्षमें, मेरा सम्पर्क टूट गया। मैंने कई बार शाहजहाँपुरके अपने वकील साथीसे प्रस्ताव किया था (जब मुकदमा वहाँ चल रहा था, तभी) कि सभी सम्भावित आकस्मिक घटनाओंका सामना करनेकी दृष्टिसे विजयवर्माको यह सलाह दी जानी चाहिये कि वे अपनी पत्नी तथा लड़कीके पक्षमें वसीयतनामा लिख दें। मोटर दुर्घटना-की बात तो मेरे दिमागमें न थी किन्तु विभिन्न कारणोंसे उनकी आकस्मिक मृत्यु हो जानेकी बात, जब बड़ी जायजादके लिए मनमाने ढंगसे परिवारमें मुकदमेबाजी चल रही हो, जरूर मेरे दिमागमें थी। किन्तु भारतमें हम लोग रिक्थ-पत्र लिखनेके विरोधी होते हैं, उसे बहुत अशुभ तथा अनावश्यक मानते हैं। रिक्थ-पत्रका लिखा जाना प्रायः मृत्युके दिनतक टाल दिया जाता है जिसका परिणाम बहुधा बड़ा अनिष्टकर होता है जैसा कि मेरी मातृपितृविहीना लड़की-मुवक्किलका हुआ।

२४. बैस ठाकुरका मामला

इस मुकदमेसे मुझे और पहले हुए अवधके मामलेका स्मरण हो आता है जिसमें लड़कीको उत्तराधिकारसे वंचित रखनेकी यह प्रथा ही वादका हेतु थी और जिसका फैसला अन्तमें दैवात् उत्पन्न परिस्थितिके कारण लड़कीके पक्षमें हुआ। संयोगसे इस मुकदमेका मेरे ऊपर व्यक्तिगतरूपसे बड़ा प्रभाव पड़ा, क्योंकि इसके कारण मुझे अपने हृदयके भीतर बहुत कुछ छानबीन करनेकी प्रेरणा मिली।

वादलग्न पक्ष उन्नाव (अवध) के त्रिलोकचन्दी बैस ठाकुर थे। बैस लोग सारे अवधमें फैले हुए हैं किन्तु बड़ी संख्यामें वे विशेषरूपसे उन्नाव तथा रायबरेली जिलोंमें हैं जहाँ वे बड़े-बड़े भूम्य-धिकारी हैं और उनका बड़ा प्रभाव है। वे अपनेको राजपूत कहते हैं किन्तु उनका मूल एक विवाद-ग्रस्त विषय रहा है और अब समझा यह जाता है कि आजके अधिकतर राजपूतोंकी तरह वे भी सीदि-यनोंके वंशजोंमें हैं। उनके प्रवास और अवधमें आ बसनेकी कहानी सचमुच बड़ी अद्भुत और साहस-पूर्ण पराक्रमोंसे भरी हुई है। परम्परागत कथा यह है कि अभयचन्द तथा निर्भयचन्द नामक दो भाई,

अपने कुछ अनुयायियोंके साथ धनोपार्जन करनेकी गरजसे स्यालकोट (पंजाब) से यात्रा करते हुए बारहवीं शतीमें यहाँ आये थे—उन दिनों यह बहुत अधिक दूरकी यात्रा थी—और एक बार गंगा नदीके तटपर शिविर डाले हुए पड़े थे। उस दिन स्नानका कोई पर्व था और अर्गलके राजाकी एक पुत्री (यह रियासत अभीतक मौजूद रही है) गंगास्नानके लिए आयी हुई थी। जिलेके मुसलिम गवर्नरने, राजासे निष्कृतिधनके रूपमें रुपया ऐंठने या उससे भी बदतर इरादेसे प्रेरित होकर जबरन् उसका अपहरण करनेकी चेष्टा की और उसके दलपर आक्रमण कर दिया। उसके पकड़ लिये जानेका खतरा उत्पन्न हो गया, तब उसने दोनों भाइयों, अभयचन्द तथा निर्भयचन्दसे सहायताकी प्रार्थना की और वे तुरन्त उसकी सहायताके लिए दौड़ पड़े। जमकर लड़ाई हुई जिसमें मुसलमान तो हार गये किन्तु उन दोनों भाइयोंमेंसे एक भाई भी मारा गया। दूसरे भाईने अपनी देखरेखमें राजपुत्रीको उसके पिताके निकट पहुँचा दिया। राजाने इसका समुचित एहसान माना और इस साहसी वीरके साथ पुत्रीका विवाह कर दिया तथा दहेजके रूपमें कुछ जमीन इलाका भी उसे दिया। इस प्रकार यह भाई वर्तमान फतेहपुर जिलेमें आबाद हो गया। गङ्गा नदी फतेहपुर जिलेको उन्नाव जिलेसे पृथक् करती है। उस समय वह भू-क्षेत्र घना जंगल था जहाँ भर नामक प्राचीन जनजातिके लोग रहते थे। उक्त वीर तथा उसके साथी चुपचाप बैठे नहीं रह सकते थे। उन्होंने नदी पारकर भरोंको हरा दिया और मेरा तो खयाल है कि उन्हें या तो नष्ट कर दिया या गुलाम बना लिया। जंगल उन्होंने साफ कर डाला, बस्ती बसायी और एक किला भी बनवाया जिसे 'डूँडिया खेड़ा'का नाम दिया गया। यह स्थान आज भी मौजूद है और अवधके सब बैसोंकी आदिभूमि है।

शताब्दियाँ बीतती गयीं और बैसोंकी जाति भी बढ़ती गयी तथा डूंडिया खेड़ाके आसपास दूर-दूरतक फैलती गयी। किन्तु १७ वीं शतीके आरम्भतक, अकबरके शासनकालके अन्तिम दिनों तथा उसके पुत्र जहाँगीरके राज्य करते समयतक, उनमें कोई प्रसिद्ध पुरुष उत्पन्न नहीं हुआ। उनके प्रधान पुरुष त्रिलोकचन्दने अपने परिश्रम और पराक्रमसे वर्तमान उन्नाव जिलेके प्रायः समूचे भू-भागपर तथा पड़ोसके रायबरेली जिलेके भी आधे हिस्सेपर नियन्त्रण और कब्जा स्थापित कर लिया; बैस लोग इस सब क्षेत्रमें फैल गये। त्रिलोकचन्द राजा बन गया। उसकी चार विवाहित पत्नियाँ तथा बहुसंख्यक उपपत्नियाँ (जो १५० बतलायी जाती हैं) थीं और न जाने कितने पुत्र-पौत्रादि थे। विवाहित पत्नियोंके लड़कोंके वंशज अपने-आपको अधिक ऊँची शाखाका मानते हैं और तिलोकचन्दी बैस कहलाते हैं। उनमें भी सामाजिक दृष्टिसे उनका रुतबा राजा त्रिलोकचन्दकी स्त्रियोंकी ज्येष्ठताके अनुसार बड़ा या छोटा माना जाता है। प्रथम पत्नीकी सन्तानके वंशज 'राव' कहलाते हैं और बैसोंमें सबसे श्रेष्ठ वे ही माने जाते हैं। त्रिलोकचन्दकी उपपत्नियोंके पुत्र-पौत्रादि ठाकुर कहे जाते हैं। सचमुच ही लोगोंमें प्रचलित किंवदन्तीके अनुसार त्रिलोकचन्द तो यहाँतक कहा करता था कि कोई भी स्त्री, चाहे वह किसी भी जातिकी क्यों न हो, जब मेरी छत्रच्छायामें आ जाती है, तब वह भी ठाकुर बन जाती है। किन्तु ये लोग कथ बैस कहलाते हैं। अवधका यह समूचा भू-भाग बैसवाड़ा—बैसोंकी निवासभूमि कहलाता है। बैस ठाकुरोंमेंसे कितने ही बड़ी रियासतोंके अधिकारी हैं, जिनमें कितने ही राजा तथा ऊँचे दरजेके सरदार हैं किन्तु सभी रावको अपनी जातिका पूर्वपुरुष मानते हैं।

जिस मुकदमेका अब मैं वर्णन करने जा रहा हूँ, उसका सम्बन्ध भी इस राव-परिवारसे था। परिवारके प्रधान पुरुष, राव रामबख्श सिंहने १८५७के सैनिक विद्रोहमें हिस्सा लिया था और बादमें अपने घरके निकट ही बक्सरमें उन्हें फाँसी दे दी गयी और उनकी सब जायदाद जब्त कर ली गयी, जिसमें गंगाके उस पार कानपुर जिलेमें स्थित कुछ गाँव भी थे। किन्तु उनकी विधवाओंका कहना

था कि ये गाँव राव रामबख्श सिंहकी रियासतके हिस्से न थे और ये उनकी व्यक्तिगत, सम्पत्ति—विवाहमें प्राप्त उनके स्त्री धन—के रूपमें थे। इसीसे बादमें सरकारने इन्हें उनके हाथलौटा दिया। बादमें इन विधवाओंने अपने पतिकी तरफसे एक लड़के ···सिंहको गोद लिया और वह इन गाँवोंका स्वामी बन गया। यह दत्तक पुत्र खुद ही राव-परिवारका छोटा पुत्र था। इस परिवारके कब्जेमें एक ही किन्तु बड़ा गाँव जोरावरगंज था। उसके गोद ले लिये जानेके बाद जोरावरगंजपर अकेले उसके बड़े भाईका कब्जा रह गया। निस्सन्तान अवस्थामें ही जब उसकी मृत्यु हो गयी तो उत्तराधिकारीके रूपमें उसकी विधवा पत्नी गाँवकी स्वामिनी बनी।

इस दत्तक पुत्र···सिंहके दो पुत्र तथा एक पुत्री थी। इस लड़कीका विवाह उसने मैनपुरी जिलेमें स्थित तिन्दौली ग्रामके सुप्रसिद्ध चौहान ठाकुरोंके सम्मानित तथा सम्पन्न परिवारमें किया। लड़कीके एक लड़का उत्पन्न हुआ था और तब उसके पतिकी मृत्यु हो गयी किन्तु उसके भरण-पोषणकी समुचित व्यवस्था थी। ···सिंहको इस बातकी चिन्ता थी कि गोद लिये जानेके उपरान्त मुझे जो रियासत मिली है वह मेरे दोनों पुत्रोंमें बँट कर विभक्त न हो जाय और केवल बड़े पुत्रको ही प्राप्त हो; किन्तु साथ-ही-साथ छोटे लड़केके लिए समुचित व्यवस्था कर दी जाय। उसने अपनी यह योजना छोटे पुत्र चन्द्रशेखर सिंहको अपनी विधवा भौजाईको दत्तक पुत्रके रूपमें देकर पूरी की। किन्तु दत्तकग्रहणका यह काम बड़े ही अनौपचारिक ढंगसे किया गया और इसका कोई प्रमाण दत्तकग्रहणके लिखित संलेखके रूपमें नहीं रखा गया। दत्तक लिये जानेका परिणाम यह हुआ कि छोटे पुत्रका अपने वास्तविक पिताकी सम्पत्तिमें समस्त अधिकार समाप्त हो गया।[१]

जो हो, "मेरे मन कछु और है, विधनाके कछु और।" छोटे लड़केके गोद लिये जानेके बाद, बड़े पुत्रकी निस्सन्तान अवस्थामें ही मृत्यु हो गयी। राव···सिंहने इस दुर्भाग्यपूर्ण आकस्मिक स्थितिका ख्याल भी नहीं किया था। वे अपनी जायदाद अपने छोटे पुत्र चन्द्रशेखरके नाम लिख दे सकते थे और इस तरह झगड़ेकी सम्भावना दूर हो जाती। यहाँ भी रिक्थ-पत्र न लिखनेकी अनिष्टकर भूल की गयी। कुछ ही वर्षोंमें उसकी मृत्यु हो गयी और उसके एक वर्ष बाद उसकी विधवा पत्नीका भी अन्तकाल हो गया। तब राव चन्द्रशेखरने उनकी जायदादपर कब्जा कर लिया। इसपर चन्द्रशेखरकी बहिनने उसे पानेका दावा किया। उसका कहना था कि वह अब अपने पिताका पुत्र नहीं रह गया था, क्योंकि वह दत्तक पुत्रके रूपमें दे दिया गया था और वही, मृत पिताकी पुत्री होनेके नाते, सबसे निकटकी उत्तराधिकारिणी थी और उसकी मृत्युके बाद उसका पुत्र उसका उत्तराधिकारी होगा। बेचारे राव···सिंहने स्वप्नमें भी न सोचा होगा कि उनकी योजनाका यह नतीजा निकलेगा, किन्तु हुआ यही।

---

१. हिन्दू कानूनमें दत्तकग्रहणकी क्रिया वैसी होती है जैसी किसी एक वृक्षकी टहनीको काटकर दूसरे वृक्षपर लगा देनेकी होती है। गोद ले लिये जानेके बाद बालकका कोई भी सम्बन्ध अपने वास्तविक परिवारके साथ नहीं रह जाता, मानो कभी उसका जन्म उक्त परिवार में हुआ ही न हो और समस्त कार्योंके लिए वह उसी परिवारका सदस्य बन जाता है जिसमें वह गोद लिया जाता है, ठीक उसी रूपमें मानो वह उसीमें उत्पन्न हुआ हो। वह अपने गोद लेनेवाले पिताका ही उत्तराधिकारी नहीं बनता, वरन् समवंशीय होकर उसके अन्य सम्बन्धियोंके प्रति भी उसकी वही स्थिति हो जाती है। इसका केवल एक ही अपवाद है और वह है विवाहके मामलेमें। विवाहके लिए निषिद्ध सपिण्डोंकी दृष्टिसे वह एक तरहसे दो पिताओंका पुत्र माना जाता है, अपने वास्तविक पिताका तथा गोद लेनेवाले पिताका भी।

ये लोग अवधके रहनेवाले थे किन्तु झगड़ेकी जायदाद कानपुर जिलेमें अवस्थित होनेके कारण बेदखलीकी दरख्वास्त कानपुरकी जिला अदालतमें दी गयी।

प्रतिवादी चन्द्रशेखरने अपनी सफाईमें मुख्यरूपसे दो दलीलें दीं। उसने इस बातसे इनकार कर दिया कि वह कभी अपने निजी परिवारसे बाहर चला गया था। उसने कहा कि 'मेरे पिताने मुझे दत्तक पुत्रके रूपमें मेरी चाचीको कभी दिया ही न था। वे निस्सन्तान विधवा थीं, इसलिए मात्र उन्हें तसल्ली देनेके लिए पिताने उनसे कह दिया कि वे मुझे ही अपना पुत्र समझें किन्तु जाब्ते-से मेरा दत्तकग्रहण, कानूनी तौरपर, कदापि नहीं हुआ था। दूसरे, उसने यह दलील दी कि परिवार और जातिमें प्रचलित प्रथाके कारण मेरी बहिन उत्तराधिकारिणी बन ही नहीं सकती।

जैसी कि अपेक्षा की जाती थी, प्रथा सम्बन्धी साक्ष्य परिमाणमें बहुत ज्यादा था—सरकारी अभिलेख थे, गाँवोंके प्रशासन सम्बन्धी कागजोंके अवतरण थे, अदालतकी नजीरें थीं, दर्जनों पहलेके उदाहरण थे और बहुसंख्यक गवाहोंके साक्ष्य थे। दत्तकग्रहणका प्रश्न जहाँतक था, उसे साबित करनेकी जिम्मेदारी वादीपर थी। उन्नाव जिलेकी तमाम बिरादरी उसके विरुद्ध थी और उसे दत्तक-ग्रहणकी रस्म अदा की गयी थी, यह साबित करनेके लिए एक भी आदमी न मिला जो उसकी ओर-से मौखिक साक्ष्य देनेको तैयार होता; किन्तु उसने उन संलेखोंका सहारा लिया जो स्वयं चन्द्रशेखरने लिखे थे और जिनमें उसने अपने-आपको चाचाका दत्तक-पुत्र बतलाया था और इसी हैसियतसे उसकी जायजादका, जोरावरगंज ग्रामका, उत्तराधिकारी बना था। इसके विपरीत चन्द्रशेखर यह साबित करनेके लिए बहुत काफी संख्यामें गवाह प्रस्तुत कर सका कि वस्तुतः दत्तकग्रहण नामकी कोई चीज हुई ही न थी और चन्द्रशेखरके साथ प्रत्येक व्यक्तिका व्यवहार उसके पिताके अपने पुत्र जैसा होता था।

दीवानी जजने यह सब साक्ष्य महीनोंतक अभिलिखित किया और अन्तमें इस आधारपर मुकदमा खारिज कर दिया कि गोद लिये जानेकी बात साबित नहीं की जा सकी। उसने कहा कि इस दृष्टिसे प्रथाके प्रश्नपर कोई अभिनिर्णय करना या उसकी चर्चा करना अनावश्यक था और उसने इसे अछूता रहने दिया।

उच्च न्यायालयमें वकालत शुरू किये मुझे दो या तीन वर्ष हुए थे। मुझे पुनर्न्यायप्रार्थना दाखिल करनेकी हिदायत मिली और डाक्टर सप्रू मेरे अग्रणी हुए। प्रतिवादीके वकील डाक्टर सुलेमान थे।

अपीलकी सुनवाई जस्टिस तुदबाल और जस्टिस रफीकके सामने शुरू हुई। दोनोंको अवधका निकटतम अनुभव था और कई वर्षोंतक वहाँ न्यायिक अधिकारीके रूपमें रह चुके थे। उन्हें यह बात मालूम थी कि वहाँके लोग, विशेषकर ठाकुर लोग, लड़कियोंके उत्तराधिकारके कितने विरोधी हैं। डाक्टर सप्रूने दत्तकग्रहणके प्रश्नकी चर्चासे अपना भाषण शुरू किया और न्यायिक समितिके इस सिद्धान्तका पूर्णरूपसे सहारा लेते हुए कि 'जब कोई पक्ष कोई बात खुद ही स्वीकार कर लेता है तो उसका विश्वास किया जा सकता है जबतक कि वह उसकी व्याख्या करते समय अपनी उक्तिसे मुकर न जाय,'[1] उन्होंने आग्रह किया कि प्रतिवादीने अनेक दस्तावेजोंमें जो अपने गोद लिये जाने की बात स्वीकार की है और वैसा ही व्यवहार किया है, वही दत्तकग्रहणका कृत्य प्रमाणित करनेके लिए पर्याप्त है और जो बातें ऊपरसे कही गयीं हैं वे महत्त्वहीन हैं, अतः उन्हें अमान्य ठहरा देना चाहिये। यह दलील काम कर गयी और न्यायाधीशोंने घोषित कर दिया कि इस प्रश्नपर हम मात-

१. इण्डियन ला रिपोर्टर इलाहाबाद, इण्डियन अपील्स।

हत अदालतके जजका निर्णय निरस्त कर देंगे। अब रूढ़ि या प्रथाका सवाल सबसे महत्त्वपूर्ण हो गया। समस्त साक्ष्य अभिलिखित रूपमें न्यायालयके सामने था। विचारक न्यायाधीश अवकाश ग्रहण कर चुका था और अब इस प्रश्नको किसी अन्य जजके पास जाँचके लिए भेजना बेमतलब होता और इससे उभयपक्षका खर्च व्यर्थ बढ़ जाता, अतः न्यायाधीशोंने कहा कि हम स्वयं ही इस सम्बन्धकी दलीलें तुरन्त सुनना चाहेंगे और तब मामलेका अन्तिम निर्णय करेंगे। रूढ़िका प्रचलन साबित करनेकी जिम्मेदारी प्रतिवादीपर थी और डाक्टर सुलेमानने अपना भाषण आरम्भ किया। उन्होंने देखा कि जज सचमुच ही उनकी बात ध्यानपूर्वक सुननेकी मनःस्थितिमें थे। न्यायाधीशोंने अपने अनुभवके आधारपर कहा कि अवधमें यह प्रथा इतनी अच्छी तरह प्रस्थापित है और इतने व्यापक रूपसे प्रचलित है कि यह उस हिस्सेके लिए एक सामान्य नियम-सा मानी जा सकती है। इसलिए डाक्टर सुलेमान जैसा चाहते थे वैसा ही प्रभाव जजोंपर पड़ रहा था, जो कुछ वे कहते थे उसे वे मानों अनायास ही मान लेते थे—'उनके बगुले भी हंस जैसे प्रतीत होते थे।' उनके गवाह विश्वसनीय थे। उनके उदाहरण सबके सब 'आपुंख' प्रमाणित मान लिये गये और वादी द्वारा उपस्थित किये गये तथा आधाररूप माने गये उदाहरणोंका उन्होंने सफलतापूर्वक खण्डन कर दिया। दो दिनोंके बाद वे विजयोल्लासकी स्पष्ट भावनाके साथ बैठ गये।

लड़कीकी ओरसे डाक्टर सप्रूने प्रश्नके सामान्य पहलूपर अदालतके सामने भाषण किया और फिर ब्यौरेवार चर्चा करनेका भार मेरे ऊपर छोड़ दिया, क्योंकि उन्हें आवश्यकतावश अन्यत्र चले जाना पड़ा। ऐसा ही हम लोगोंमें पहले तय हो चुका था। मेरे सामने एक कठिन कार्य था, फिर भी मैं सभी उदाहरणोंकी चर्चा भरसक बड़ी सावधानीके साथ करनेके लिए कृतसंकल्प था। दोनों ही न्यायाधीश बड़े शिष्ट थे और मेरी ओर ध्यान दे रहे थे। इतनेमें एकाएक जस्टिस रफीकने मुझसे कहा 'यह मामला तो आपसी समझौतेके योग्य मालूम होता है। यह एक कठिन प्रश्न है। उभयपक्ष इसे अन्तमें प्रिवी कौंसिलतक ले जाना चाहेंगे। वे बहुत सम्पन्न व्यक्ति नहीं हैं, अतः व्यर्थ ही बर्बाद हो जायँगे। आखिर वे दोनों भाई-बहिन ही तो हैं।' समझौतेका विचार मेरे मनमें भी कई बार आ चुका था। मेरे हृदयमें प्रतिवादीके लिए एक अव्यक्त-सी सहानुभूति थी और मैंने यह बात अपने मुवक्किलसे कह दी थी–उसका एक देवर मामलेके सम्बन्धमें हिदायत देने मेरे पास आया करता था। प्रतिवादीके परिवारकी प्राचीनता तथा अभंग परम्पराका मुझपर गहरा प्रभाव पड़ा था और मैं इसे न्यायोचित ही समझता था कि उसे अपने पिताकी जायदादका हिस्सा मिले। इसलिए मैं तुरन्त जज रफीकके प्रस्तावसे सहमत हो गया और मैंने कह दिया कि मेरी मुवक्किल अपने भाईके साथ आधी-आधी जायदाद बाँटनेके लिए तैयार हो जायगी। जजने कहा कि उसे आधेसे कम हिस्सा लेना चाहिये, आखिर वह एक औरत ही है और उसकी अपनी सम्पत्ति भी है, जब कि उसके भाईकी आवश्यकता अधिक बड़ी है, इत्यादि। उन्होंने सुझाव दिया कि रुपयेमें दस आने हिस्सा भाईको मिले और छ आने बहिन ले ले। उभयपक्षने इस पर विचार करनेके लिए कुछ समय माँगा और मामलेकी सुनवाई चार दिनोंके लिए स्थगित कर दी गयी, अगले सोमवारतक। जजने ऐसा सुझाव क्यों दिया, कहना मुश्किल है। हो सकता है कि वे उभयपक्षकी भलाईके विचारसे सचमुच प्रभावित हुए हों और उन्हें खुद अपनी ही नादानीसे बचाना चाहते हों। अथवा यह भी सम्भव है कि वे एक झंझटवाले मुकदमेसे पिण्ड छुड़ाना चाहते हों। ये दोनों जज पारी-पारीसे अभिनिर्णय तैयार करते और सुनाते थे और इस बार फैसला लिखनेकी उनकी ही पारी थी, जिसमें बहुत परिश्रम पड़नेकी सम्भावना थी। चाहे जिन कारणोंसे उन्होंने यह प्रस्ताव किया हो, वादलग्न व्यक्तियोंके लिए उसका एक

उल्लेखनीय परिणाम होना बदा था।

मैंने अपने मुवक्किलोंको जजका प्रस्ताव मान लेनेके लिए राजी कर लिया। किन्तु अपर पक्ष-वाले बड़े प्रसन्न थे। वे समझते थे कि मामलेमें जीत तो हमारी प्रायः हो ही चुकी है और कोई कारण नहीं कि हम इतनी दूरतक भी झुकनेको तैयार हों। सम्भव है कि बीच-बीचमें न्यायाधीशोंके मुँहसे जो वाक्य निकल जाते थे, उनसे वे बहक गये हों। प्रतिवादी अपनी बहिनको जायदादका रुपयेमें छ आने भाग भी देनेको तैयार न था। मैंने कहा कि मैं तृतीयांशसे भी सन्तुष्ट हो जाऊँगा। तब कहा गया कि जायदादका विभाजन तो हो ही नहीं सकता, हाँ नकद रकमके रूपमें समझौतेपर विचार किया जा सकता है। मैंने यह भी मंजूर कर लिया और कहा कि मुल्यांकन करनेवाले एक निष्पक्ष व्यक्ति द्वारा जायदादकी कीमत ठहरा ली जाय और उसकी एक तिहाई रकम वादीको दे दी जाय। यों कहनेके लिए नालिशमें जायदादका मूल्य ७६ हजार रुपये लगाया गया था किन्तु उसकी असल कीमत डेढ़ लाख रुपयेसे अधिक थी। यह प्रस्ताव भी मंजूर नहीं हुआ और प्रतिवादी अधिक-से-अधिक जो कुछ देनेको तैयार था, वह मात्र २० हजार रुपयेकी रकम थी। करीब-करीब इतना रुपया तो मुकदमेमें खर्च ही हो चुका था और इसमें लड़कीको वस्तुतः कुछ भी मिलनेकी सम्भावना न थी। उसे केवल खर्च हुई रकम ही प्राप्त हो सकेगी। मुझे यह बहुत कम मालूम हुई और इसे स्वीकार करनेकी सलाह मैं मुवक्किलको नहीं दे सका, इसलिए समझौतेकी बातचीत टूट गयी।

गवर्नमेण्ट हाउसके एक उद्यानभोजमें जब रफीकसे मेरी भेंट हुई, उन्होंने मुझसे पूछा कि दोनों पक्षोंमें कोई समझौता हो सका या नहीं? मैंने कह दिया कि बातचीत चल रही है किन्तु नतीजा क्या निकलेगा, अभीसे कहा नहीं जा सकता।

अगले सोमवारको सुनवाई फिर शुरू हुई और मैंने अदालतको सूचित कर दिया कि फरीकैन आपसमें कोई समझौता नहीं कर सके। जब रफीकने पूछा कि बाधा या हिचकका कारण क्या था? मैंने बतला दिया कि जहाँतक सम्भव था, वहाँतक जानेका प्रयत्न हमने किया और अदालतने जो छ आनेका सुझाव दिया था, उससे भी कम लेनेको राजी हो गये किन्तु अपर पक्ष टससे मस नहीं हुआ और न डाक्टर सप्रू, न मैं अपने मुवक्किलको मात्र बीस हजार रुपये स्वीकार कर लेनेकी सलाह दे सके। हमें एक नाबालिग बच्चेके भविष्यका ख्याल करना था और इस मामलेमें अपने कर्तव्यका भी। न्यायाधीशगण चुप रह गये और फिर बोले कि मामला आगे चलेगा। किन्तु अब अदालतके रुखमें एकाएक आश्चर्यजनक एवं स्पष्ट परिवर्तन हो गया। वह बिलकुल लड़कीके पक्षमें हो गया। प्रत्येक वस्तु उसके अनुकूल हो गयी। उसके गवाह अब तर्कसंगत बात कहनेवाले तथा विश्वसनीय जान पड़े और दूसरे पक्षका साक्ष्य अस्पष्ट, अनिर्णयकारी तथा अविश्वसनीय हो गया। बहस तीन-चार दिनोंतक और चलती रही किन्तु मुझे उन लोगोंको विश्वास दिलानेमें कोई कठिनाई नहीं हुई जिनका मन विश्वास करनेके लिए खुला हुआ था। डाक्टर सुलेमानने बहसका जवाब दिया किन्तु कोई प्रभाव न डाल सके। फैसला एक महीने बाद जस्टिस रफीकने सुनाया। अदालतने देखा कि रूढ़िके पक्षमें प्रस्तुत किये गये साक्ष्यसे कोई बात तय नहीं की जा सकती, कुछ बातें दोनों ओरसे प्रमाणित की गयी थीं, अदालती नजीरोंमें ऐकमत्य न था और अदालत यह माननेके लिए तैयार न थी कि प्रति-वादीने यह बात साबित कर दी, जैसा कि उसे करना चाहिये था, कि इस तरहकी कोई प्राचीन और निश्चित प्रथा थी। अपील मंजूर कर ली गयी और वादीको पूरी जायदादपर पिताकी मृत्युके बादसे उस समयतक इकट्ठे हुए लगान तथा मुनाफे सहित कब्जा दिलानेकी डिगरी दे दी गयी। मुकदमेका सारा ख़र्च भी उसे दिलाया गया। मैं समझता हूँ कि इस नतीजेने प्रतिवादी चन्द्रशेखरको

पूर्णरूपसे बर्बाद कर दिया। मुनाफे तथा खर्चकी डिगरी ४० हजार रुपयेसे अधिककी ठहरी जिसे पूरा करनेमें उसे अपना गाँव जोरावरगंज बेच देना पड़ा और उसके पास कोई भूमि नहीं रह गयी। इस प्रकार एक प्राचीन ऊँचे खानदानकी सबसे ज्येष्ठ शाखा तबाह हो गयी और उसे अकिंचन बन जाना पड़ा।

लड़कीके पक्षमें हुए उच्च न्यायालयके इस अभिनिर्णयसे समस्त बैस-ठाकुरोंमें तहलका मच गया। राव चन्द्रशेखरके पास और अपील करनेकी औकात तो रह नहीं गयी थी, इसलिए जैसा कि मुझे बताया गया, बिरादरीमें चन्दा इकट्ठा किया गया और लन्दनमें सपरिषद् नरेशके सामने पुनर्न्यायप्रार्थना प्रस्तुत कर दी गयी। न्यायिक समितिको दत्तकग्रहणके प्रश्नपर उच्च न्यायालयसे सहमत होनेमें कोई कठिनाई नहीं हुई, किन्तु जान पड़ता है कि प्रथाके मामलेमें उसके सदस्य एकमत न हो सके। मामलेकी सुनवाई पहले तीन सदस्योंकी समितिके सामने हुई, फिर एक और बड़ी समितिके सामने उसपर दुबारा विचार किया गया। इस दूसरी बारकी सुनवाईमें करीब चार दिन लगे किन्तु मेरा ख्याल है कि इसके बावजूद मतभेद बना ही रहा, क्योंकि यद्यपि अन्तमें अपील खारिज कर दी गयी, फिर भी अभिनिर्णय बहुत ही छोटा था, इतना छोटा जितना ऐसे जटिल तथा परेशानी-में डालनेवाले किन्तु महत्त्वपूर्ण मामलोंमें न्याय-समितिने क्वचित् ही दिया होगा। थोड़ेसे वाक्योंमें वंशोत्पत्तिकी तथा मुख्य बातोंकी चर्चा करनेके बाद संक्षेपमें निर्णय दे दिया गया। उसमें न तो साक्ष्य-पर विचार किया गया था और न वकीलों द्वारा प्रस्तुत किये गये तर्कोंपर ही। स्पष्ट है कि न्यायिक समिति इस बातके लिए चिन्तित थी कि यह मामला भविष्यके ऐसे मुकदमोंके लिए नजीर न मान लिया जाय, जब कि ऐसा ही प्रश्न पुनः उपस्थित हो सकता है। किन्तु यह तो ऐसी चीज न थी जिसमें बेचारे चन्द्रशेखरको थोड़ी भी दिलचस्पी हो सकती। वह तो सचमुच ही हमेशाके लिए बर्बाद हो गया। मुझे इस मुकदमेसे ऐसी शिक्षा मिली जिसे मैंने, जबतक वकालत करता रहा, बराबर स्मरण रखा—बहस होते समय न्यायाधीशोंके मुँहसे जो भी शब्द या विचारात्मक उक्तियाँ निकलें उनपर विश्वास न किया जाय और बुद्धिसंगत समझौतेसे कभी इनकार न किया जाय।

२५. नवासाके मुकदमे

हिन्दू समाजमें लोकभावना पिताकी जायदादपर लड़कीके अधिकार पानेके बहुत विरुद्ध रही है। प्राचीन हिन्दू-स्मृतियोंसे पता चलता है कि बड़ी कठिनाई तथा क्रमिक गतिसे ही उत्तराधिकार पानेवालोंकी कोटिमें किसी तरह उसकी गणना की जाने लगी। सामन्तप्रथाके आधारपर बने समाजमें जब कि सारा सामाजिक ढाँचा बिलकुल पितृसत्तात्मक ढंगपर बना था, यह स्वाभाविक था कि लड़कीका विवाहित होकर बिलकुल दूसरे परिवारमें चले जानेपर, उत्तराधिकारियोंकी सूचीमें कोई स्थान न रह जाय।

फिर भी ब्रिटिश शासनके प्रारम्भिक दिनोंमें नये विदेशी शासक, जो सर्वसाधारणकी प्रबल सामाजिक भावना तथा लोगोंकी विचार-शैलियों, प्रथाओं और रूढ़ियोंसे अपरिचित थे, हिन्दू-विधि-का, जैसा कि वे उसे समझते थे, कड़ाईसे अनुपालन करनेका प्रयत्न करते थे और यद्यपि ऐसे कानूनमें फेर-बदल कर देनेवाली प्रथाएँ भी कानूनका उचित स्रोत मानी जाती थीं, फिर भी अदालतें इन रूढ़ियोंको कोई महत्त्व नहीं देतीं थीं और वे इस सम्बन्धके बहुत ही प्रबल प्रमाणकी माँग किया करती थीं। परिणाम यह होता था कि लड़कियोंको अनुकूल स्थिति प्राप्त हो जाती थी और उनका दायाधिकार सुरक्षित हो जाता था। लोग विवश थे। अदालतके निर्णय उन्हें मानने ही पड़ते थे। फिर भी

वे विरोध करते थे और इस नये परिवर्तन तथा रूढ़िकी अवहेलनाके सम्बन्धमें अपना विरोध तथा रोष अपने ढंगपर प्रकट करते थे। लड़कियोंको वे जीने ही नहीं देते थे। बच्चियोंकी हत्याएँ बहुत बढ़ गयीं। उदाहरणके लिए १९ वीं सदीके पूर्वार्द्धमें मैनपुरी जिलेमें बच्चों तथा बच्चियोंकी संख्यामें बहुत ज्यादा अन्तर देख पड़ा। अन्य जिलोंमें भी स्थिति प्रायः इसीसे मिलती-जुलती थी। कोई ७५ वर्षतक ब्रिटिश शासन चलनेके बाद कहीं सरकारी अधिकारियोंकी समझमें यह बात आयी कि हिन्दुओंके सामाजिक जीवनमें रूढ़ियोंको अत्यधिक महत्त्व दिया जाता है और तब इन प्रथाओंकी जानकारी प्राप्त करने तथा सरकारी कागजोंमें उन्हें अभिलिखित करानेके लिए सावधानीके साथ उपाय किये गये। यही वजह है कि पंजाब तथा अवधके लोगोंमें जो सन् १८४८ के बाद ब्रिटिश शासनमें आये, ग्रन्थों में दिये हुए व्यक्ति सम्बन्धी कानूनोंकी अपेक्षा प्रथाओंका अधिक ध्यान रखा जाता है। फिर भी आगरा प्रान्तमें ऐसी कोई भी प्रथा जो १९ वीं सदीके आरम्भमें प्रचलित रही हो, अब लिखित कानूनपर न्यायालयोंके अधिक जोर देनेके कारण कारगर रूपसे नष्ट कर दी गयी है, और प्रान्तके बीचके हिस्सोंमें तो लड़कियोंका उत्तराधिकार बिना विरोधके मान लिया जाता है, भले ही वह पूरी रजामन्दीसे माना जाय। उन पश्चिमी जिलोंमें जो पंजाबकी सीमाके निकट पड़ते हैं, जाटों तथा कुछ अन्य भूमिधर जातियोंमें अब भी अपने पंजाबी बन्धुओंके अनुकरणकी चेष्टा की जाती है और लड़कियोंको उत्तराधिकारसे वंचित करनेवाली प्रथा चलानेका उपक्रम किया जाता है किन्तु ये प्रयत्न कभी सफल नहीं होते। इस मामलेमें इलाहाबाद हाईकोर्टके न्यायाधीशोंकी विशेष प्रवृत्तिका उल्लेख मैं पहले कर ही चुका हूँ।

पूर्वी जिलोंमें—विशेषकर गोरखपुर कमिश्नरीके गोरखपुर, बस्ती तथा आजमगढ़ इन तीन जिलोंमें—लड़कियाँ अब भी उपेक्षाकी दृष्टिसे देखी जाती हैं और उनके दावोंको विफल करनेके लिए बड़ी चतुराईसे काम लिया जाता है। सफलताकी आशासे कोई प्रथा चलानेका प्रयत्न करना असम्भव होता है, इसलिए ऐसा कभी नहीं किया जाता। अन्य उपायोंसे काम लिया जाता है और लड़कीको तथा उसके पुत्रको कानूनन उत्तराधिकारसे वंचित करनेके लिए झूठे तर्क उपस्थित किये जाते हैं। ये इतने व्यापकरूपसे पाये जाते हैं और विशेषकर इस भू-भागतक ही इस तरह सीमित हैं, कि इस तरहकी मुकदमेबाजीका नाम पूर्वी जिलोंकी 'नवासा' मुकदमेबाजी ही पड़ गया है (नवासा = पुत्रीका बेटा)। लड़की या उसके पुत्र द्वारा किया गया प्रायः प्रत्येक दावा अमान्य कर दिया जाता है और किसी-न-किसी आधारपर उसका प्रतिरोध किया जाता है। इस तरहके अनेक मुकदमोंमें मुझे खड़ा होना पड़ा है और उनमेंसे कुछमें पता चला कि झूठी दलीलकी बुनियाद मुकदमेबाजी शुरू होनेके प्रायः पचास वर्ष पहले ही डाल दी गयी थी। इस तरहकी कुछ मामूली दलीलोंका वर्णन साधारण पाठकके लिए सम्भवतः मनोरंजक होगा। हिन्दू कानूनका यदि कड़ाईसे अनुसरण किया जाय तो लड़कीको केवल उसी हालतमें उत्तराधिकार प्राप्त हो सकता है जब कि उसका पिता ही जायदादका अन्तिम पुरुष अधिकारी रहा हो। वह उसके ठीक बाद या उसकी विधवा पत्नी या पत्नियोंकी मृत्युके बाद सीधे उत्तराधिकारिणी बन सकती है (बीचमें किसीके आ पड़नेपर नहीं)। विधवाका हक, यदि कोई जीवित बची हो तो, पहला होता है और तब लड़कीका हक माना जाता है। किन्तु अपने भाई, या चाचा अथवा अन्य किसी पुरुष सम्बन्धीके बाद उसका कोई अधिकार नहीं रह जाता।[1] हिन्दू कानूनके इस उपबन्धसे वे लोग हमेशा लाभ उठाते थे जो इन

---

१. अब इस आशयके एक विशिष्ट विधान द्वारा उसे उत्तराधिकारिणी बननेका हक प्रदान कर दिया गया है।

'नवासा' मुकदमोंमें लड़कीके दावोंका विरोध करना चाहते थे। यदि किसीकी मृत्युके बाद उसकी लड़की और बच्चा उत्पन्न करने योग्य उम्रकी पत्नी रह जाती तो प्रायः सफाईमें यही कहा जाता कि मृत व्यक्ति अपने पीछे एक छोटा बच्चा छोड़ गया था या उसकी मृत्युके बाद उसकी पत्नीके बच्चा उत्पन्न हुआ था, जो दोनों ही हालतोंमें, अपने पिताकी मृत्युके चन्द सप्ताहों या महीनोंके बाद ही मर गया था। इस दलीलसे यह शिशु ही जायदादका अन्तिम पुरुष अधिकारी बन जाता। जायदादपर विधवाका अधिकार होनेमें इससे बाधा न पड़ती—फर्क इतना ही होता है कि यह अधिकार उसे विधवाकी हैसियतसे प्राप्त न होकर अन्तिम पुरुष स्वत्वाधिकारीकी माताके रूपमें प्राप्त होता और प्रायः इसका अधिकार वैसा ही होता जैसा बच्चेको मिला होता—किन्तु इससे लड़की तथा उसके पुत्रके उत्तराधिकारकी सम्भावना समाप्त हो जाती, क्योंकि वैसी स्थितिमें बहिन उत्तराधिकारिणी बन ही नहीं सकती थी और बहिनका पुत्र केवल उसी सुदूर स्थितिमें उत्तराधिकारी बन सकता था जब १४ पीढ़ियोंतक कोई सपिण्ड वंशज न रह गया हो।

इस सफाईकी बुनियाद डालनेके लिए जिसकी जरूरत बादमें—शायद आधी शताब्दी या उसके भी पश्चात् किसी समय—पड़ सकती है, मैंने देखा है कि सरकारी कागजोंमें, पुरुष अधिकारीकी मृत्यु होते ही तुरत गलत बातें लिखवा दी जाती हैं। उसके उत्तराधिकारीके रूपमें उसके अविद्यमान शिशु पुत्रका नाम चढ़वा दिया जाता है और फिर कुछ ही सप्ताहों या महीनोंके बाद यह लिखवा दिया जाता है कि उसकी मृत्यु हो गयी तथा उसके स्थानपर उसकी माता उत्तराधिकारिणी बन गयी। सरकारी तौरपर इन गलत प्रमाणित प्रविष्टियोंकी प्रतिलिपि प्राप्त कर ली जाती है और फिर कई वर्षोंके बाद पुत्रका अस्तित्व प्रमाणित करनेके लिए साक्ष्यरूपमें वह प्रस्तुत कर दी जाती है, जब कि सरकारी अभिलेखोंमेंसे मूल कागजपत्र निकालकर बाहर कर दिये जाते और नष्ट हो जाते हैं। इस तरहके गढ़े हुए साक्ष्यका एक बहुत ही दुःसाहसपूर्ण उदाहरण मैंने देखा था। भारतमें सम्पत्तिके हस्तान्तरणका प्रलेख प्रायः एक ही पक्ष द्वारा तैयार किया जाता है। रेहननामा केवल रेहन रखनेवाला ही लिखता है, बिक्रीका संलेख विक्रेता और दानपत्र अकेला दाता ही लिखता है। रेहनदार, खरीदार अथवा ग्रहीता संलेख ले लेता है किन्तु उसे तैयार करनेमें स्वयं कोई हिस्सा नहीं ग्रहण करता। इस समय जो मामला मेरे ध्यानमें है उसमें सन् १८६०–६५के करीब दो आदमियों द्वारा ऐसा बैनामा लिखा गया और निबन्धित कराया गया, जिसमें कहा गया था कि वे जमीनके कुछ टुकड़े तथा कई पेड़ दो व्यक्तियोंके हाथ बेच रहे हैं जिनमेंसे एक अमुक व्यक्तिका 'बच्चा' है। यह बिलकुल बनावटी बैनामा था जो केवल उस 'बच्चे'के अस्तित्वकी रचना करनेके लिए गढ़ा गया था। इस कल्पित 'बच्चे'की माँ साठ वर्ष बाद मर गयी, उसकी लड़कीके पुत्रने उत्तराधिकारके रूपमें जायदादका दावा किया, इस दावेका विरोध किया गया और उस 'बच्चे'का पैदा होना साबित करनेके लिए बैनामा निकालकर दिखलाया गया। अदालतमें यह बात स्पष्टरूपसे साबित हो गयी कि ऐसा कोई बच्चा पैदा ही नहीं हुआ और चचेरे भाइयोंने यह साक्ष्य इस उद्देश्यसे गढ़ लिया था कि उचित समयपर उनके वंशजों द्वारा इसका उपयोग किया जा सके।

किन्तु, मान लीजिये कि जायदादके मालिककी मृत्यु वृद्धावस्थामें होती है और उसके पीछे वृद्धा विधवा रह जाती है जिसकी बच्चा जननेकी उम्र बीत चुकी हो, तो साधारण दलील या तो यह दी जाती है कि वादी (मुद्दई) मृत व्यक्तिकी लड़की है, इसीसे इनकार कर दिया जाय और कह दिया जाय कि उसकी या उसकी पत्नीकी भतीजी है। और कुछ मामलोंमें एक दूसरी दलील इस ढंग की दी जाती है—हाँ, लड़की तो थी और उसका विवाह हो गया था किन्तु बिना किसी बच्चेको जन्म

दिये ही उसकी मृत्यु हो गयी और उसके पतिकी दूसरी पत्नी भी थी (या उसके पतिने उसकी मृत्युके बाद दूसरी शादी कर ली थी) और इस समय दावा करनेवाली स्त्री उक्त पतिकी दूसरी पत्नी है और यदि दावेदार अपनेको लड़कीका लड़का बतलाता हो तो कह दिया जाता कि वह इस द्वितीय पत्नी का लड़का है, न कि दिवंगता प्रथम पत्नीका।

तब इन दलीलोंको बड़ी शक्ति तथा जोशके साथ आगे बढ़ानेका प्रयत्न किया जाता और उनकी पुष्टि करनेके लिए गवाहोंकी एक बड़ी संख्या प्रस्तुत कर दी जाती। दुर्भाग्यवश ये जिले झूठी सफाई तैयार करनेके लिए इतने बदनाम हो गये हैं कि, जहाँतक वकालत करते-करते मुझे ज्ञात हो सका है, कभी-कभी, बल्कि अनेक बार, झूठे दावे कर दिये जाते हैं और वादी उस अनुकूल मनो-भावसे लाभ उठानेका प्रयत्न करता है जो वह न्यायाधीशके मनमें अपने लिये पाता है। ऐसा विशेष-कर उन मामलोंमें होता है जिनमें दावा तथाकथित दौहित्रों (पुत्रीके लड़कों) द्वारा किया जाता है, जो वास्तवमें अपने पिताके पुत्र किसी अन्य पत्नी द्वारा होते हैं। कभी-कभी तो ऐसा दावेदार अपने प्रयत्नमें सफल हो जाता है और कभी-कभी धोखा प्रकट हो जाता है, यद्यपि इसमें बड़ा खर्च बैठ जाता है और कठिनाई भी अधिक होती है। मैंने दोनों ही तरहके मामले देखे हैं।

कभी कभी मैं सोचता हूँ कि क्या ऐसे मामलोंमें, जो जनतामें प्रचलित भावनाओंके विरुद्ध हों, जबरन् कानूनोंका पालन कराना या नये कानून बनाना उचित है ? लोग उन तरीकोंसे उनका विरोध करते हैं जो उनके हाथमें हों और ऐसा एक तरीका है झूठी दलीलें देना, बनावटी साक्ष्य प्रस्तुत करना तथा गढ़ी हुई दस्तावेजें सामने रखना। एक और कठिनाई है। पढ़े-लिखे वर्ग जो विचार अक्सर प्रकट करते रहते हैं उनपर प्रायः पश्चिमकी छाप मौजूद रहती है और वास्तवमें सर्व-साधारणके मतका प्रदर्शन नहीं करते। अब तो रिक्थ-पत्र लिखनेके अधिकार बहुत अच्छी तरह मान लिये गये हैं, इसलिए बुद्धिमानीकी नीति यही है कि सैकड़ों, हजारों वर्षोंसे चली आनेवाली प्रथाओं तथा रूढ़ियोंसे अनुमोदित उत्तराधिकार सम्बन्धी नियमोंके अनुसरणमें बाधा न डाली जाय और यह बात व्यक्तियोंपर ही छोड़ दी जाय कि वे यदि चाहें तो अपनी व्यक्तिगत इच्छाएँ पूरी करनेके लिए उचित ढंगसे रिक्थ-पत्र लिखवाकर कानूनके झगड़ेसे बच जायँ।

२६. कोरा-जलालपुरका मुकदमा

इस मुकदमेसे एक ऐसे असाधारण साहसिक प्रयत्नका पता चला जो बनावटी उत्तराधिकारी-की सृष्टि कर ५-६ लाख रुपयेकी एक बड़ी रियासतपर कब्जा प्राप्त करनेके लिए किया गया था। यह साहसपूर्ण कृत्य उच्छिन्न आशाओंका परिणाम था। रियासत एक सुख्यात राजपूत परिवारकी थी। अन्तिम पुरुष अधिकारीकी मृत्यु निस्सन्तान अवस्थामें ही हो गयी थी। उसके बाद उसकी विधवा पत्नी उत्तराधिकारिणी हुई। उसके अपने लोग महत्त्वपूर्ण थे, क्योंकि वे (राजपूतानेके एक प्रमुख देशी राज्य) जयपुरकी महारानीके सम्बन्धी थे। उसने अपने पतिकी ओरसे एक लड़केको गोद लिया किन्तु बादमें इस दत्तकग्रहणको अनंगीकार कर दिया। इस बालकके, जो अभी छोटा बच्चा ही था, वास्तविक पिताने इसके गोद लिये जानेसे बड़ी-बड़ी आशाएँ बाँध रखी थीं। उसने सोचा था कि बालककी नाबालिगीमें मैं ही उसका वास्तविक अभिभावक रहूँगा और रियासत एक तरहसे मेरे ही कब्जेमें रहेगी। उसने अपने लड़केकी ओरसे उसके दत्तकग्रहणके कायम रहने और रियासतकी पुनः-प्राप्तिके लिए नालिश कर दी। दोनों तरफसे काफी जोरदार प्रयत्न किया गया और उच्च न्यायालय-तक मुकदमा लड़ा गया किन्तु दत्तकग्रहण वैध ठहराया गया और जायदाद गोद लिये लड़केको

दिला दी गयी।[१] इस प्रकार पिताने रियासतपर कब्जा हासिल कर लिया जिससे उसका भारी व्यक्तिगत लाभ हुआ। किन्तु दुर्भाग्यवश कुछ ही वर्षोंके भीतर, जब कि बालककी उम्र मुश्किलसे १५ या १६ वर्षकी रही होगी, और वह अविवाहित ही था, वह जोरोंसे बीमार पड़ा और उसके बचनेकी कोई आशा नहीं रह गयी। उसकी मृत्युका मतलब केवल एक प्रिय पुत्रसे वंचित हो जाना ही न होता वरन् एक अत्यन्त लाभजनक सम्पत्ति खो देना भी होता। इसलिए जायदादपर अधिकार बनाये रखनेके लिए कुछ करना जरूरी हो गया और एक साहसिक योजना तैयार कर ली गयी—लड़केकी मृत्युके बारह घण्टोंके भीतर ही गाँवके पटवारीने अपने सरकारी कर्त्तव्यके सिलसिलेमें लिखित रिपोर्ट भेजते हुए सूचित किया कि नवयुवक जमींदारकी मृत्यु हो गयी और उसकी पत्नी लीलावती उसकी उत्तराधिकारिणी हुई है। यह बिलकुल झूठ बात थी और लीलावती नाम भी, काफी प्रचलित होते हुए भी, गढ़ा हुआ था।

इसके बाद जमींदारीपर अधिकार पानेके लिए कशमकश शुरू हुई। वास्तविक उत्तराधिकारी दूरके समवंशज थे, जिनमें कई पीढ़ियोंका अन्तर था और वे बहुत गरीब, मामूली किसान थे। उनकी वंशोत्पत्ति अनिश्चित-सी थी और प्रतिद्वन्द्वी दावेदारोंकी संख्या अधिक थी। सटोरिये तुरन्त सामने आये और एक भाग्यवान् साहसी व्यक्तिने दावा करनेवालोंके एक दलको बहुत सस्तेमें फाँस लिया। उसने केवल दो सौ एकड़ भूमि उनके लिए छोड़कर बाकी सब ले लेनेकी शर्तपर सौदा कर लिया और ऐसी सफलतासे स्थितिमें उलट-फेर कर दिया और वंशोत्पत्ति सम्बन्धी प्रमाण जुटा दिया कि माल-अदालतोंने उसके साथ सौदा करनेवालोंको सबसे नजदीकी उत्तराधिकारी मान लिया और समूची जमींदारीपर उसे कब्जा दिला दिया। कब्जा रहनेसे कानूनका ९० फीसदी झगड़ा समाप्त हो जाता है और न्यायोचित उत्तराधिकारीके सिवा अन्य कोई व्यक्ति उसे हटा नहीं सकता। और किसी न्यायोचित उत्तराधिकारीके लिए जो कई पीढ़ियोंके अन्तरसे, दूरका समवंशज हो, दीवानी अदालतोंका मार्ग बहुत आसान नहीं होता, इसलिए इन महाशयको प्रतिद्वन्द्वी दावेदारों या उनकी आर्थिक सहायता करनेवालोंसे आशंकित होनेके लिए कोई कारण न था।

उक्त बनावटी विधवाने फिर भी काफी जोर लगाया। दत्तक पुत्रके वास्तविक पिताने, जिसे बड़ी निराशा हुई थी, नाटकका अभिनय तबतक जारी रखा जबतक वह जिन्दा रहा। उसके लिए सबसे पहला काम ऐसी लड़कीकी तलाश करना था जो विधवा स्त्रीका पार्ट अदा कर सकती। उसने अपनी स्त्रीकी अविवाहित छोटी बहिनको इस कामके लिए चुना। यह पत्नी उस लड़केकी माँ नहीं थी जो दत्तकके रूपमें दे दिया गया था। उस महिलाकी मृत्यु हो चुकी थी। उसने दूसरा विवाह किया था

---

१. उच्च न्यायालयके अभिनिर्णयका विवरण देखिये—जयजयपाल सिंह। इस मुकदमेने दत्तक-ग्रहण सम्बन्धी हिन्दू कानूनके एक महत्त्वपूर्ण प्रश्नका निपटारा कर दिया। कोई भी हिन्दू ऐसे बच्चेको गोद नहीं ले सकता जिसकी माँके साथ, कुमारी रहने पर, उसका विवाह नहीं हो सकता था। इस बिना पर लड़कीका लड़का, बहिनका लड़का और मौसीका लड़का गोद लेनेके लिए वर्जित है; हाँ, यदि प्रचलित प्रथासे इसका अनुमोदन होता हो तो बात दूसरी है। इसी सादृश्यपर इस मुकदमेमें यह बात उठायी गयी कि विधवा स्त्री ऐसे लड़केको गोद नहीं ले सकती जिसके पितासे उसका विवाह होना सम्भव न होता, इसलिए उसके द्वारा अपने ही भाईके पुत्रका गोद लिया जाना अवैध माना जायगा। यह बात स्वीकार नहीं की गयी, क्योंकि वह स्वयं तो गोद लेती नहीं वरन् अपने पतिकी प्रतिनिधिरूप होकर लेती है और पतिके लिए ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं हो सकता।

और यह उसकी दूसरी पत्नी थी और खुद ही चार बच्चोंकी माँ थी। इस तरह यह नाटक शुरू हुआ जिसमें उक्त अविवाहित लड़कीको मुख्य अभिनय करना था। पहला अंक था माल-अदालतोंमें कारवाई करना। इसमें करीब एक वर्ष लगा और उसमें सफलता नहीं मिली। नाटकका दूसरा अंक था दीवानी अदालतमें अकिंचन-वादकी कारवाईका प्रयत्न करना। किन्तु इस तरहकी कारवाई बड़ी लम्बी होती है और इसमें कई महीने, कभी-कभी सालभरसे भी अधिक समय लग जाता है। इस बीच उक्त अविवाहित लड़की उम्रमें बड़ी होती जा रही थी। उसका पिता उसे और अधिक समयतक अविवाहित रखनेको तैयार नहीं था। इसलिए वह चली गयी और उसका विवाह हो गया। अब नाटकके सूत्रधारको मुख्य अभिनयके लिए अन्य अभिनेत्रीकी तलाश करनी पड़ी। इसके लिए उसने एक और लड़की-सम्बन्धिनीको ठीक किया और इस नवयुवतीने अकिंचन-वाद सम्बन्धी कारवाईमें अपना अभिनय किया। सिविल जजको कोई सहानुभूति नहीं हुई और उसने अकिंचन-वाद सम्बन्धी कारवाईकी अनुमति देनेसे इनकार कर दिया। इस प्रकार दूसरे अंकका भी पटाक्षेप हो गया। और तब स्वयं सूत्रधार ही—लड़केका पिता—मर गया। सूत्रधारकी मृत्युके साथ-साथ मुख्य अभिनेत्री भी हट गयी। इसलिए अब यदि खेल जारी रखना था तो नया सूत्रधार होना चाहिये और नयी अभिनेत्री भी। नये सूत्रधारोंका टोटा न था। मृत व्यक्ति रुपया उधार लेकर यह नाटक चला रहा था और जिन लोगोंकी पूँजी इसमें लगी थी, उन्होंने सारा मामला अब अपने हाथमें ले लिया। उन्होंने दत्तकपुत्रके पिताकी दूसरी पत्नी अर्थात् लड़केकी सौतेली माँको ही लीलावतीका याने दिवंगत युवक उत्तराधिकारीकी विधवा पत्नीका अभिनय करनेके लिए राजी कर लिया। इसलिए अब दीवानी अदालतमें नियमितरूपसे मुकदमा दायर कर दिया गया और उसके पीछे पानीकी तरह रुपया बहाया जाने लगा। वादीके पक्षका समर्थन करनेके लिए काफी बड़ी संख्यामें गवाह पेश किये गये और उन्होंने शपथपूर्वक कहा कि हम लड़कीको उसकी कुमारावस्थासे जानते हैं, हम उसके विवाहमें सम्मिलित हुए थे। अन्य लोगोंने कहा कि हम लड़केकी बारातमें गये थे और उसका विवाह बड़ी धूमधाम तथा शानशौकतसे सम्पन्न हुआ था जैसा कि युवक जमींदारके पद एवं प्रतिष्ठाकी दृष्टिसे होना चाहिये था। रिश्तेदारोंमेंसे किसीने एक पक्षसे गवाही दी और किसीने दूसरे पक्षसे। कुछ चाचाओं, चाचियों तथा चचेरे भाइयोंने, जो दूरके या नजदीकी सम्बन्धी थे, शपथपूर्वक कहा कि यह लड़की उक्त युवककी विधवा पत्नी है और दूसरोंने बयान दिया कि वह लड़केके पिताकी विधवा है। वादीने परदेके पीछे बैठकर खुद अपनी तरफसे गवाही दी और उसने निश्चयपूर्वक तथा स्पष्ट रूपसे शपथ खाकर कहा कि मेरी उम्र करीब बीस वर्षकी है और मैंने उक्त नवयुवकके साथ, पति-पत्नी की तरह रहते हुए, दाम्पतिक-जीवनके चार वर्ष बिताये हैं, किन्तु हमारे इस सम्बन्धसे कोई सन्तान नहीं हुई। इसके विपरीत प्रतिवादीने अपने बयानमें कहा कि युवतीकी उम्र तीस वर्षकी है और वह चार बच्चोंकी माँ है। उसने अदालतसे प्रार्थना की कि किसी महिला डाक्टरसे उसकी जाँच करा ली जाय। यह प्रार्थना स्वीकार कर ली गयी किन्तु महिला डाक्टरने, जो उसकी परीक्षाके लिए भेजी गयी थी, बतलाया कि 'स्त्रीने अपनी परीक्षा करानेसे इनकार कर दिया। वह, जिसका शरीर सिरसे पैर तक कपड़ोंसे ढका था। केवल मुँह खुला था, मेरे सामने आयी, किन्तु उसने अपने तरेट छूने या टोटल देनेसे रोषपूर्वक इनकार कर दिया। फिर भी उसके चेहरेसे प्रतीत होता था कि वह अधेड़ अवस्थाकी रही होगी और उसके हाथ कड़ापन लिये हुए तथा खुरदुरेसे थे जिससे मालूम होता था कि वह शारीरिक परिश्रमकी, जैसे अनाज पीसनेकी आदी थी।'

दूसरे पक्षका साक्ष्य बिलकुल सुनिश्चित था। कहा गया कि लड़केका विवाह हुआ ही न था। इसके विपरीत विवाहकी जो तारीख बतायी गयी थी, उस दिन वह चुपचाप अपने गाँवके स्कूलमें पढ़ रहा था और पाठशालाके हाजिरी-रजिस्टरमें उसकी उपस्थिति लिखी हुई थी (स्कूलके रजिस्टरोंमें फेर-बदल कर देना मुश्किल नहीं)। इसके बाद ब्योरेवार साक्ष्य दिया गया कि आगे क्या-क्या हुआ और किस प्रकार क्रम-क्रमसे कुछ व्यक्ति सामने आये तथा तिरोहित हुए।

यह मुकदमा सबसे खराब था जिसकी कल्पना कभी की जा सकती थी और सिविल जज जिसकी अपनी विशिष्ट शैली थी, बड़ी संस्कृत किन्तु कुछ लच्छेदार-सी अंग्रेजी लिखता था। उसके फैसले अच्छी तरह चुने हुए शब्दोंमें बढ़िया-से बढ़िया ढङ्गसे लिखे जाते थे। उसने वादीके मामलेको एक भारी छल तथा मिथ्याकथनोंका जाल कहकर अस्वीकार कर दिया। उसने तथ्योंको उसी तरह पाया जैसा कि मैं पहले लिख चुका हूँ और पुनर्न्यायप्रार्थनाके किये जानेपर उच्च न्यायालयने भी उसका फैसला कायम रखा। मामलेकी सुनवाई उस समय शुरू हुई जब मुझे हाईकोर्टमें वकालत आरम्भ किये कुछ ही वर्ष हुए थे और मैं प्रतिवादीकी ओरसे सहायक वकीलके रूपमें खड़ा हुआ था। इस मुकदमेका अमिट प्रभाव मेरे मनपर पड़ा। दोनों तरफसे इस तरह बार-बार शपथ खा खाकर बातें कही गयीं कि मुझे वह बहुत ही शोचनीय तथा भयावह प्रतीत हुआ। एक हिन्दू महिला को इस हदतक झूठ बोलते देखकर मेरे हृदयपर भारी आघात हुआ कि वह अपने ही सौतेले बेटेकी विधवा पत्नी थी और वास्तवमें उसकी पत्नीके रूपमें उसके साथ रही थी। मैंने यह मुकदमा न देखा होता तो मैं इसे सर्वथा अविश्वसनीय ही समझता। उस समय मैंने सोचा कि कसम खाकर झूठ बोलनेकी हद हो गयी। जो हो, जायदादका लालच सचमुच अद्‌भुत होता है और अब मैं अनुभव प्राप्तकर लेनेके कारण इस मामलेमें अधिक समझदार हो गया हूँ और मानने लगा हूँ कि मनुष्य कितनी नीचता तथा क्रूरतातक जा सकता है, इसकी कोई सीमा नहीं।

कई वर्षोंके बाद ऐसा ही एक मामला जौनपुर जिलेका मेरे सामने आया। वहाँ प्रश्न यह था कि एक विशिष्ट महिला एक आदमीकी स्त्री थी या उसकी माँ। दोनों जीवित थे किन्तु उभय पक्षमेंसे किसीने भी उसकी जाँच नहीं की। प्रत्येक पक्षने अपने-अपने मामलेके समर्थनमें बहुसंख्यक गवाह पेश किये थे। विचारक न्यायाधीश कुछ ऐसा अबुद्धिमान्-सा एवं अनुभवहीन था कि जिन दो व्यक्तियोंसे मुकदमेका सबसे अधिक सम्बन्ध था उन्हींकी जाँचका उसने कोई आग्रह नहीं किया और मात्र काल्पनिक बातोंके आधारपर तथा अभिलिखित साक्ष्यकी प्रबलताके विरुद्ध मामलेका फैसला कर दिया। मैंने पुनर्न्यायप्रार्थना की जिसकी सुनवाई जस्टिस सुलेमान तथा एक और न्यायाधीशके सामने हुई। मैंने विचारक न्यायाधीशकी दुःखद भूलकी चर्चा की और तब जस्टिस सुलेमानने सचमुच "सालोमन"[1]की ही तरह फैसला किया। उन्होंने मामला फिर मातहत अदालतके पास इस आदेशके साथ भेज दिया कि जजको उक्त दोनों व्यक्तियोंको अपने सामने बुला भेजना चाहिये, उनकी परीक्षा करनी चाहिये और यदि वे कहें कि हम पति-पत्नी हैं तो उनसे साफ-साफ यह प्रश्न पूछना चाहिये कि "क्या तुम दोनों परस्पर सहवास करनेको तैयार हो?" मुकदमा जब वापस गया, तब आवश्यक जाँचके बाद फैसला करनेमें कोई कठिनाई नहीं हुई। यह बात स्पष्ट हो गयी कि वे दोनों माता और पुत्र थे।

---

१. "सालोमन" यहूदियोंका राजा था जो अत्यन्त बुद्धिमान् था। "सालोमन"का ही अरबी रूप "सुलेमान" है।

२७. घसीटी बीबीका मुकदमा

यह मुकदमा पढ़नेमें परियोंकी कहानी जैसा लगता है किन्तु न्यायकी दृष्टिसे वह साधार माना जाता है। जो वृत्तान्त प्रकट हुआ था वह सचमुच अद्भुत था और किसीके भी मनमें सन्देह हो सकता है कि अदालतके सामने जिन घटनाओंका वर्णन किया गया था वे वास्तवमें हुई भी थीं या नहीं, किन्तु बहुत सम्भव है कि मेरे विचार कुछ पक्षपातयुक्तसे जान पड़ें, क्योंकि मैं प्रतिवादियोंकी तरफसे खड़ा हुआ था और उनके निकटसम्पर्कमें आया था तथा उनकी स्पष्टवादिताका मेरे ऊपर गहरा प्रभाव पड़ा था। किन्तु विचारक न्यायाधीशने तथा अपील करनेपर उच्च न्यायालयने भी उनके बयानको सत्य नहीं माना और मुकदमेका फैसला उनके खिलाफ किया। मुकदमेका विवरण देने योग्य है और उस समय बनारस नगरमें, कई कारणोंसे, इसकी बड़ी चर्चा थी।

महाराज सर किशनप्रसाद दक्खिनकी प्रमुख रियासत हैदराबादके बड़े अमीर आदमी थे जिनकी बड़ी प्रतिष्ठा और प्रभाव था। वे कई वर्षोंतक राज्यके प्रधान अमात्य रह चुके थे और उनके पूर्वपुरुष भी हैदराबादमें ऊँचे स्थानों तथा पदोंपर स्थित या नियुक्त थे। एक हिन्दू महिला बड़ी सादगीसे बनारसमें रहती थी किन्तु वह महाराजके परिवारकी दूरकी सम्बन्धिनी होनेका दावा करती थी। उस परिवारसे उसका निश्चितरूपसे क्या सम्बन्ध था, यह मुझे स्मरण नहीं। मामला यह था कि इस महिलाने किन्हीं अनभिव्यक्त कारणोंसे हैदराबाद छोड़ दिया था, या उसे छोड़ देना पड़ा था, और वह बनारस चली आयी थी तथा यहीं बस गयी थी। उसने एक छोटा-सा मकान किरायेपर ले लिया था और फिर वैसा ही एक छोटा मकान शायद मामूली-सी रकममें खरीद भी लिया था। उसके एक लड़का था और एक लड़की भी। लड़कीका नाम था घसीटी बीबी। ये लोग मामूली तरीके-से रहते थे। इनका मासिक व्यय ५० या ६० रुपये, इससे कुछ कम या ज्यादा, पड़ता था। लड़के और लड़की का विवाह बड़ी सादगीसे मामूली परिवारोंके बिलकुल अप्रसिद्ध व्यक्तियोंसे कर दिया गया था। लड़कीके पतिके जीवन निर्वाहका कोई अच्छा प्रबन्ध न था और विवाह हो जानेपर भी घसीट बीबी अपनी माँके साथ ही बनी रही और उसका पति भी आकर वहीं रहने लगा। मेरा ख्याल है कि इस वैवाहिक सम्बन्धमें एक लड़कीकी भी उत्पत्ति हुई थी। मामलेमें कहा गया था कि इस मामूली-सी हैसियतवाले परिवारमें काफी आभूषण तथा जवाहारात थे—मुख्यरूपसे उत्तम कोटि-के मोती तथा मरकत—जो बहुत कीमती थे। झगड़ा उस रत्न-राशिके सम्बन्धमें था जिसका मूल्य लगभग ८ लाख रुपये था। यदि बात सच हो, तो यह धन अवश्य ही छिपाकर बचाया हुआ धन ही रहा होगा। कहा यह जाता था कि ये जवाहरात हैदराबादसे लाये गये थे।

१८७० ७५ ईसवीके करीब वृद्ध महिलाकी जान-पहिचान बनारसके गोसाईं बिहारीपुरीसे हो गयी जो बादमें इस परिवारके मित्र बन गये। दोनों पक्षोंके मकान, विश्वनाथजीके मन्दिरके पास, एक-दूसरेसे अधिक दूर नहीं थे। ये गोसाईं बिहारीपुरी संन्यासी माने जाते थे जो गृहस्थ-जीवन-से विरक्त हो चुके थे और एक अन्य संन्यासीके शिष्य बन चुके थे। ये लोग बहुत दिनोंसे बनारसमें बस गये थे और एक मठके सदस्य थे। ये मठ प्राचीनकालसे चले आ रहे हैं और सारे भारतवर्षमें फैले हुए हैं। शुरू-शुरूमें उनकी स्थापना विशिष्ट धार्मिक मतोंका प्रचार करनेके उद्देश्यसे की गयी थी। उनका अध्यक्ष एक महन्त होता है, जिसके अधीन बहुतसे शिष्य होते हैं, साधारण शिष्य और आध्यात्मिक शिष्य। महन्तकी गद्दीके उत्तराधिकारका प्रश्न प्रचलित प्रथाके अनुसार नियमित होता है और आध्यात्मिक शिष्योंमेंसे ही उत्तराधिकारी चुना जाता है। इन मठोंकी स्थापनाका उद्देश्य

प्रारम्भमें चाहे जो भी रहा हो, उनमेंसे बहुतसे अब सम्पन्न निगम बन गये हैं जो व्यापार-व्यवसाय तथा रुपये-पैसेका लेनदेन करते हैं और जमीन-जायदाद भी रखते हैं। गोसाईं बिहारीपुरीके मठके पास भी, जिसके वे अध्यक्ष थे, बहुत-सी सम्पत्ति थी—चल-सम्पत्ति और अचल-सम्पत्ति थी—और उसका लेनदेनका भी कारबार चलता था। गोसाईं स्वयं भी प्रभावशाली नागरिक थे जिनका बड़ा सम्मान था और जो नगरके मामलोंमें दिलचस्पी लेनेके कारण भी विख्यात थे। वे अनेक वर्षोंतक बनारसकी म्यूनिसिपल संस्थाके प्रमुख सदस्य रहे।

कहा जाता है कि ये गोसाईंजी ही वह व्यक्ति थे, जिनकी हैदराबादसे आये इस परिवारके साथ बड़ी घनिष्ठता थी। ये उन लोगोंसे मिलने अक्सर जाया करते थे, उनके पथप्रदर्शक, दार्शनिक और मित्र थे, तथा उनका हिसाब-किताब भी लिख दिया करते थे। घसीटी बीबीके मुकदमेमें कहा गया था कि उसकी माँने बहुतसे जवाहरात विवाह-धनके रूपमें उसे दे दिये थे। लड़कीको क्या दिया गया था या उसके लिए क्या छोड़ दिया गया था, यह बात न तो कभी किसीसे प्रकट की गयी और न कभी मुँहसे कही गयी। ये सब बहुमूल्य जवाहरात उनके कब्जेमें उनके घरमें ही, एक या दो ट्रंकोंमें तालेके अन्दर बन्द, रखे रहे। कहते हैं कि एक बार गोसाईं बिहारीपुरीने यह सुझाव रखा कि जो जवाहरात घसीटीको दिये गये हैं उनकी एक सूची तैयार कर ली जाय। ऐसा ही किया गया और ऐसी एक सूची मुकदमेके सिलसिलेमें साक्ष्यके तौरपर अदालतमें पेश की गयी थी और बताया गया था कि वह बिहारीपुरीके हाथकी लिखावटमें थी।

कुछ समयके बाद बिहारीपुरी तथा वृद्ध महिला, दोनोंकी मृत्यु हो गयी। बिहारीपुरीके बाद उनके शिष्य रामचरणपुरी मठके प्रधान महन्त बनाये गये और घसीटी बीबी अपने छोटेसे परिवारकी मुखिया बनीं। उनके खुद अपने भाईकी कोई हस्ती न थी और न उनके पतिकी ही। कहा जाता था कि रामचरणपुरीने मठ और इस परिवारके पुराने सम्बन्ध आगे भी जारी रखे और बीच-बीच में वे घसीटी बीबीसे मिला भी करते थे। मठमें भी इन महिलाओंका कुछ रुपया जमा था। यही वह स्थिति थी जब सन् १९१४ में यूरोपका महायुद्ध शुरू हो गया।

घसीटी बीबीके कथनानुसार युद्ध छिड़ जानेपर बनारस शहरमें बड़ी घबराहट फैल गयीऔर तरह-तरहकी अफवाहें उड़ने लगीं। घसीटी बीबीको अपने बहुमूल्य जवाहरात सुरक्षित रखनेकी बड़ी चिन्ता हो गयी। उन्होंने इसकी चर्चा रामपुरीसे की। रामपुरी ने सुझाव रखा कि जवाहरात उनके पास मठमें सुरक्षित रखनेके लिए भेज देना बेहतर होगा, क्योंकि वह स्थान अधिक सुरक्षित है। यह बात घसीटी बीबीने स्वीकार कर ली। कहा गया कि एक दिन शामके वक्त रामपुरी मठके एक और शिष्यके साथ आये और जवाहरातसे भरे दोनों सन्दूक उठवाकर अपने साथ ले गये। इसकी कोई रसीद नहीं दी गयी और न माँगी ही गयी। मित्रताका सम्बन्ध पूर्ववत् जारी रहा। चार वर्षके बाद नवम्बर १९१८ में एक दिन घसीटी बीबीके नौकरने आकर उन्हें बतलाया कि शहरमें बड़ी चहल-पहल और खुशी दिखाई दे रही है। जर्मन हरा दिये गये हैं, विरामसन्धि की गयी है और लड़ाईका अन्त हो गया है। यह एक अच्छी खबर थी और अब घसीटी बीबीने सोचा कि अपने जवाहरात मठसे वापस मँगा लिये जायँ। इसकी चर्चा उन्होंने रामचरणपुरी तथा रामपुरीसे की किन्तु उन लोगोंने बात टाल दी। तब उन्होंने लिखित उत्तर माँगा और उन लोगोंने बेईमानीसे साफ-साफ इनकार कर दिया कि कोई जवाहरात कभी उनके पास रखे गये थे। इसीसे उक्त जवाहरात या उनकी कीमत, जो करीब ७६,८०० रुपये कूती गयी थी, वापस पानेके लिए यह मुकदमा चलाया गया था।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि अपने दावोंके निमित्त मुकदमा लड़नेके लिए घसीटी बीबीको किसी शक्तिसम्पन्न तथा प्रभावशाली व्यक्तिका समर्थन एवं आर्थिक सहायता मिल गयी थी। इस तरहकी सहायता प्रदान करनेका वास्तविक कारण क्या था, कहना मुश्किल है। हो सकता है कि सहायता करनेवालोंका उसके कथनपर पूरा विश्वास हो गया हो और वे समझते हों कि उसके साथ सचमुच विश्वासघात किया गया है। अथवा सम्भव है कि उन्होंने अप्रत्यक्ष एवं क्षुद्र कारणोंसे उदाहरणके लिए रामपुरीके प्रति प्रतिद्वन्द्विता एवं बदला लेनेकी भावनासे प्रेरित होकर ऐसा किया हो क्योंकि नगरमें रामपुरीका महत्व बहुत बढ़ गया था और लोग उन्हें अभिमानी समझने लगे थे। जो हो इतना तो स्पष्ट है कि घसीटी बीबीकी ओरसे व्यवस्था करनेवाले काफी चतुर थे और उनकी ओरसे प्रस्तुत किया जानेवाला साक्ष्य अच्छे लोगोंसे प्राप्त किया गया था, ठिकानेसे तैयार किया गया था और अच्छी तरतीबसे रखा गया था। सावधानीसे जाँच करनेपर कामकी बहुत-सी बातोंका पता चला था।

ऐसा मालूम होता था कि सन् १९१४ के पूर्व मठका काफी अच्छा महाजनीका कारबार चलता था। बादमें कुछ जायदाद खरीदी गयी थी तथा सम्भवतः अन्य बातोंमें भी रुपया उड़ाया गया था, जो भी कारण रहा हो, कामकाज मन्दा पड़ गया था और जमा किया हुआ रुपया वापस माँगा जाने लगा था, जिससे संस्थाकी परेशानी काफी बढ़ गयी थी। ऐसी स्थितिमें कहीं से कुछ रुपया प्राप्त करना आवश्यक था और यह बम्बईमें कुछ कीमती मोतियों तथा हरितमणियोंको बेचकर जुटाया गया और बादमें कुछ जायदाद, बाग-बगीचे तथा मकानात खरीदे गये। स्पष्ट था कि मठको बाहर कहींसे रुपया मिला था। कहाँसे रुपया मिला, यही सवाल था। प्रतिवादीने वादीके समस्त कथनसे इनकार कर दिया था और खरीदी हुई चीजोंके सम्बन्धमें सफाई देते हुए कहा था कि हमारी यह संस्था बहुत पुरानी और सम्पन्न रही है जिसके पास बहुमूल्य जवाहरात थे और महन्तने जमा की हुई पुरानी रकमोंको लौटा देने (तथा इस प्रकार सूदकी बचत करने) और आय प्रदान करनेवाली जायदाद खरीदनेके उद्देश्यसे उनमेंसे कुछको बेच डालनेका निश्चय किया। सुननेमें यह कैफियत बिल्कुल ठीक-सी जान पड़ती थी, इस कारणसे और भी कि मोती तथा मरकतका बाजार उस समय सचमुच ही बहुत अनुकूल था। किन्तु समयकी यह दलील दोनों ओर लागू हो सकती थी।

प्रतिवादियोंने एक मूर्खता यह की थी कि उन्होंने बम्बईमें जो जवाहरात बेचे थे, उसे छिपानेकी कोशिश की और मामलेकी सुनवाई शुरू होनेके पहले उनसे जो प्रश्न पूछे गये थे, उनका उन्होंने साफ-साफ और पूरा उत्तर नहीं दिया। उन्होंने उस गलतीसे लाभ उठाया जो प्रश्नावलीमें तारीखकी चर्चा करते समय हो गयी थी और इस बातसे इनकार कर दिया कि उन-उन तारीखोंको उन्होंने कोई जवाहरात बेचे थे। उनका यह व्यवहार ही बादमें उनके लिए हानिप्रद प्रमाणित हुआ।

मामलेपर विचार होते समय घसीटी बीबीने खुद अपनी ओरसे गवाही दी। वे परदेकी आड़में बैठी थीं और उनके चेहरेके भाव देखे नहीं जा सकते थे। मैंने विस्तारके साथ उनसे जिरह की कि किस तरह इतने जवाहरात उन्हें प्राप्त हुए और उनके अधिकारमें रहे, वे इतनी सादगीसे क्यों रहती थीं, इत्यादि, इत्यादि। उन्हें बहुत-सी अप्रिय बातें स्वीकार करनी पड़ीं किन्तु अपनी मुख्य बातपर वे बराबर डटी रहीं। सूची प्रमाणित करनेके लिए बिहारीपुरीका हस्तलिपि सम्बन्धी साक्ष्य प्रस्तुत किया गया। बनारसके दो सराफोंने अपने बयानमें कहा कि 'सन् १९१४ के पहले हम एक बार इन महिलाके घर ले जाये गये थे और वहाँ हमने कुछ जवाहरात देखे और उनका मूल्यांकन

किया था।' उनमेंसे एकने बतलाया कि बादमें १९१४ के पश्चात्—मैंने उनमेंसे कुछ मरकत एक आदमीके हाथमें देखे थे जिसने उन्हें रामचरणपुरीसे खरीदा था। यह सब मौखिक साक्ष्य ही था, जिसका समर्थन किसी तरहके स्मृतिपत्र या लिखित कागजसे नहीं किया गया था। ऐसा साक्ष्य देनेमें तो आसान होता है किन्तु इसकी जाँच करनेमें कठिनाई होती है। गोसाईं बिहारीपुरीकी मित्रतापर बड़ा विश्वास किया जाता था किन्तु आश्चर्य था कि न तो घसीटी बीबीका भाई और न उनके परिवारका कोई अन्य सदस्य ही उनके पक्षमें गवाही देनेके लिए आया।

उधर मठमें कोई ऐसे कागजपत्र न थे जिनसे बहुमूल्य मोतियों और मरकतोंके होनेकी बात प्रमाणित हो जाती। लगभग आठ वर्षकी लेखा-पुस्तकें अवश्य थीं किन्तु वे महाजनी तथा लेनदेनके अन्य कार्योंकी दैनिक पंजियाँ थीं जिनमें न तो सम्पत्तियों या जवाहरातकी कोई सूची थी और न रह ही सकती थी।

मामला केवल तथ्योंका था, जो दोनों तरफसे शपथपूर्वक प्रस्तुत किये गये थे। विचारक न्यायाधीशने घसीटी बीबीके कथनपर विश्वासकर उन्हें डिगरी दे दी और और अपील होनेपर भी यह कायम रही। उच्च न्यायालयमें कई दिनोंतक लम्बी बहस चली। पहले सर तेजबहादुरका भाषण हुआ और तब मैंने उनका जवाब दिया। पहले तो न्यायाधीशगण सारे मामलेकी असम्भावनासे अधिक प्रभावित हुए जान पड़े किन्तु अन्तमें मातहत अदालतके फैसलेसे भिन्न राय कायम करनेके लिए प्रभावित नहीं किये जा सके। मामलेकी सुनवाईके समय प्रतिवादियोंने जैसा व्यवहार किया, उसमें यदि वे अधिक निस्संकोच, स्पष्ट भाषी तथा निष्कपट होते तो परिणाम शायद कुछ दूसरा ही हुआ होता। फिर भी मुझे यह बात यहाँ बता देनी चाहिये कि जवाहरातकी जिस सूचीकी इतनी चर्चा हुई (जो बिहारीपुरीकी लिखावटमें लिखी बतलायी जाती थी) उसमें नागरी लिपिमें हिन्दी वर्णमालाके कितने ही अक्षर आश्चर्यजनक रूपसे उन अक्षरोंसे मिलते जुलते थे जो बिहारीपुरीके अन्य लेखों (चिट्ठियों आदि) में पाये जाते थे जो वादी द्वारा पेश किये गये थे। यह किसी चतुर जालसाजके प्रयत्नका परिणाम था या सचमुच ही उक्त सूची वास्तविक थी, कहना मुश्किल है। वादीको जो डिगरी दी गयी थी वह गोसाईं रामचरणपुरी तथा रामपुरी, इन दोनोंके ही खिलाफ दी गयी थी जिसमें उनसे कहा गया था कि वे या तो जवाहरात वापस करें या उनके बदलेमें रुपया, १ लाख ६४ हजार, तथा मुकदमेका खर्च दें।

इस डिगरीके कारण आगे और भी मुकदमेबाजी चली। न्यायालयके आदेशको कार्यान्वित कराते समय वादीने ऐसी अचल सम्पत्तिपर कब्जा करनेका प्रयत्न किया जो मठको अर्पित की गयी सम्पत्ति थी और जिसकी कुर्की या विक्रय नहीं किया जा सकता था, क्योंकि डिगरी मठके विरुद्ध नहीं दी गयी थी बल्कि व्यक्तिगतरूपसे दोनों गोसाइयोंके विरुद्ध दी गयी थी। डिगरीदारने मठका अस्तित्व माननेसे इनकार कर दिया और कहा कि गोसाईं रामचरणपुरी ही समस्त वादग्रस्त सम्पत्तिके पूर्ण अधिकारी हैं। मठके कुछ शिष्योंने सम्पत्तिकी रक्षा और उसकी बिक्री रोक देनेके लिए अदालतमें दरखास्त दी। यह एक उलझनदार जाँचका प्रश्न था, जो मूल मुकदमेसे भी अधिक लम्बा तथा उससे ज्यादा मुश्किल था। इस सिलसिलेमें मठकी स्थापनातकके दो सौ वर्षोंके इतिहासकी खोज की गयी। कितने ही प्रलेख, पुराने स्वत्व-संलेख (टाइटिल डीड) तथा अन्य कागजपत्र साक्ष्यके रूपमें पेश किये गये। किन्तु आश्चर्य है कि मौखिक साक्ष्य अपेक्षाकृत बहुत कम था। अपील होनेपर मामला उच्च न्यायालयके सामने आया और परिणाममें आंशिक सफलता मिली। अदालतने निर्णय किया कि मठ अवश्य था और पुरानी जायदाद—कुछ मकान, गाँव तथा रहनेकी मुख्य

इमारत—मठकी ही सम्पत्ति थी और इस कारण अदालतकी डिगरीके लिए उनकी कुर्की नहीं की जा सकती, किन्तु इधर हालमें प्राप्त की गयी सम्पत्ति, विशेषकर सन् १९१४ के बादकी सम्पत्ति, मठकी जायदाद नहीं, अतः वह बेची नहीं जा सकती है। इस प्रकार इस मुकदमेबाजीका अन्त हुआ।

इस मुकदमेका वर्णन समाप्त करनेके पहले मैं एक और उदाहरण यह दिखलानेके लिए देना चाहता हूँ कि वादलग्न भारतीयका मन किस अनोखे ढंगसे सोचता-विचारता है और किस तरह महत्वके निर्णय किये जाते हैं; किन्तु कोशिश यही होती है कि सचेतनभावसे ऐसा न करना पड़े क्योंकि उसमें कष्ट होता है। सचेतन प्रवृत्ति द्वारा निर्णय करनेकी कष्टप्रद प्रक्रियासे बचनेकी चेष्टा की जाती है।

मूल मुकदमेपर सन् १९२१ में विचार किया गया था और तबसे मैं बराबर दोनों गोसाइयोंके निकट सम्पर्कमें रहा हूँ और उनसे मेरा घनिष्ठ मैत्री सम्बन्ध चलता रहा है, विशेषकर गोसाईं रामपुरीके साथ, जो सचमुच ही स्नेहनीय सज्जन थे (उनकी मृत्यु सन् १९४१ में हो गयी थी)। वे मेरी ही उम्रके थे और अच्छी संगतिके योग्य उत्तम स्वभाव था उनका। गोसाईं रामपुरी अधिक वृद्ध थे। वे भी बहुत अच्छे स्वभावके थे किन्तु उच्च न्यायालयमें मुख्यवादका अभिनिर्णय होनेके कुछ समय बाद ही उनकी मृत्यु हो गयी। इसके बाद जो मुकदमा चला वह रामपुरीकी परिश्रमशीलता और साहसका परिणाम था। उसकी प्रारम्भिक अवस्थामें मुझसे सलाह ली गयी थी। दो विभिन्न वादियोंने दो अलग-अलग मामले चलाये थे जिनपर पृथक्-पृथक् सिविल जजोंने विचार किया था। एक न्यायाधीशने पूर्ण रूपसे मठके खिलाफ फैसला दिया था, दूसरेने आंशिक डिगरी दी थी। इस प्रकार उच्च न्यायालमें दो अपीलें पहुँचीं और मैं एक और वकीलके साथ उन अपीलोंमें पैरवीके लिए नियुक्त किया गया था। उनकी व्यवस्था आदि करनेमें बहुत देर लगी और चार वर्षके बाद ही सुनवाईकी तारीख नियत की गयी। तारीख जब निकट आने लगी, तब मेरे मुंशीने छपा हुआ अभिलेख जो बहुपृष्ठव्यापी था, मेरी मेजपर रख दिया, किन्तु रामपुरीका कहीं अता-पता न था, न उसका कोई आदमी ही आया। कोई हिदायत भी नहीं मिली, जिसका मतलब हुआ कि कोई फीस भी न मिलेगी। मुझे इस ढिलाईपर कुछ अचम्भा-सा हुआ, जो रामपुरीके लिए एक गैर-मामूली-सी बात थी। वे परिश्रमशीलताकी मानो मूर्त्ति ही थे। वे निर्धारित समयके कई सप्ताह पहले ही आ जानेवाले आदमी थे, जो आकर मुकदमा तैयार करनेको कहते और फिर सलाह मशाविरा तथा एक जगह बैठकर सोच-विचार करनेका सिलसिला आरम्भ हो जाता। यह इतना बड़ा मामला, जिसमें काफी बड़ी रकमका सवाल था, कुछ ही दिनोंके बाद शुरू होनेवाला था, फिर भी रामपुरीकी कहीं कोई खबर न थी। दिनके बाद दिन बीतते गये, फिर भी उनकी चुप्पी और मेरा अचम्भा बढ़ता गया। अन्तमें वे आये, ठीक ३६ घण्टे जब पेशीके लिए रह गये—पुलकित और प्रसन्न—और तब मैंने उन्हें फटकारा। मैंने कहा कि यह न तो वकीलकी दृष्टिसे उचित है और न आपके लिए ही। वे थोड़ी देरतक चुप रहे और फिर उन्होंने यह किस्सा सुनाया—'यह एक महत्वपूर्ण मुकदमा है और हम मठवालोंके लिए तो यह जीवन-मरणका सवाल है। हम तीन आदमियोंपर इसका प्रभार है और दुर्भाग्यवश हमलोगोंमें इस विषयपर मतभेद उत्पन्न हो गया कि किस वकीलको इसकी पैरवी करनेकी हिदायत दी जाय। कई दिनोंतक हम लोगोंमें बहुत देर-देरतक बहस होती रही किन्तु फिर भी कोई निश्चय न हो सका। मैं समझता था कि यह काम आपको सौंपा जाना चाहिये किन्तु हमलोगोंके सामने दो नाम और थे और हममेंसे प्रत्येक अपने-अपने मनोनीत वकीलको ही रखनेके पक्षमें था, कोई भी अपनी राय बदलनेको तैयार न था। इसलिए हमलोगोंने गोसाईंजीसे (स्वर्गीय गोसाईं रामचरणपुरीसे) ही प्रार्थना करनेका निश्चय किया

और उनसे इस संकटके समय मार्ग-दर्शन करनेका अनुरोध किया। आपने मठकी गादी देखी ही है। वहीं हमलोग बड़ी श्रद्धा और भक्तिभावसे उपस्थित हुए और उनकी तसवीरपर ध्यान संकेन्द्रित किया। कागजके तीन टुकड़ोंपर तीन नाम हमने अलग-अलग लिखे, उन्हें मोड़कर गोली-सा रूप दे दिया और उन्हें हिला-मिलाकर गादीके नीचे लुढ़का दिया। हमने गोसाईंजीसे प्रार्थना की कि वे ही हमें यह बतलावें कि हम किस वकीलको मुकदमेके लिए नियुक्त करें। फिर हमने प्रांगणमें खेलते हुए एक बालकको अपने पास बुलवाया और हमने उससे गादीके नीचेसे कागजके उन तीन टुकड़ोंमेंसे एकको निकाल लेनेके लिए कहा। उसने ऐसा ही किया और तब उसमें आपका नाम निकल आया। यह सब आज सबेरे ही हुआ और मैं उसके बाद ही की रेलगाड़ीसे यहाँ चला आया। यह रही आपकी फीस (और यह कहते-कहते उन्होंने एक बड़ी रकम मेरे सामने रख दी) और अब कृपाकर मामलेका कागज तैयार कर लीजिये और हम लोगोंके लिए अपनी शक्तिभर प्रयत्न कीजिये तथा देरमें आनेके लिए मुझे क्षमा कीजिये।' उन्होंने जो कुछ कहा, उसपर अविश्वास करनेके लिए कोई कारण न था और भारतमें कभी-कभी इसी तरह वकील नियुक्त किये जाते हैं।

मेरे लिए यह सन्देह करनेका कारण है कि घसीटी बीबीके मामलेमें परदेके पीछे कोई सट्टेबाज अवश्य था। जौनपुर तथा साहनपुरके मामलोंमें सटोरिये खुल्लम खुल्ला मौजूद थे। सचमुच कोई बिरला ही ऐसा बड़ा मुकदमा होगा जिसके खर्चकी व्यवस्था सटोरिये लोग न करते हों और जो खुद ही उसे न चलाते हों। अदालतें गैरकानूनी समझौतोंके विरुद्ध तथा मुकदमेबाजीमें अनुचित व्यापारवृत्तिके खिलाफ बने नियमोंका दृढ़तासे पालन कराती हैं किन्तु इन सब बाधाओंसे लोग बड़ी आसानीसे बच जाते हैं। प्रत्येक दावेदार, कानूनकी दृष्टिमें, उस सम्पत्तिका स्वामी माना जाता है जो दावेका विषय होती है। किन्तु अनधिकार कब्जा करनेवाले तथा अन्यायी लोग उसे उससे वंचित रखते हैं। फिर भी केवल इसी कारण उसके स्वामित्वमें कोई अन्तर नहीं पड़ता और वह अपनी इच्छाके अनुसार चाहे जिसके हाथ उसे बेच दे सकता है अथवा बन्धक रख सकता है। इसलिए भारतमें किसी भी सट्टेबाजके लिए मुकदमेबाजीसे रुपया कमानेका सबसे आसान तरीका अभागे तथा गरजमन्द दावेदारसे एक निर्धारित रकमके बदले सम्पत्तिका सीधे-सीधे हस्तान्तरण करा लेना है। बिक्रीका अधिकांश खरीदनेवालेके ही हाथमें रहने दिया जाता है जिससे वह मुकदमेका खर्च उठा सके। थोड़ेमें सट्टेबाज अपील सुननेवाली ऊँचीसे ऊँची अदालततक मुकदमा लड़ते चलनेके पुरस्कारस्वरूप जायदादमें अपना हिस्सा पक्का करा लेता है। कभी-कभी वह अपने ही नामसे अलग मुकदमा चलाता है और दावेदारकी ओरसे दूसरा मुकदमा दायर करता है और कभी कभी दोनों साथ मिलकर मुकदमा चलाते हैं। दावेदार तब पूर्णरूपसे उसके पंजेमें फँस जाता है और उसे हस्तान्तरणका समर्थन करना पड़ता है। यदि भाग्य अच्छा हुआ तो सट्टेबाजको सफलता मिलती है, जुएमें जीत हो जाती है, दोनोंको डिगरी मिल जाती है और मामला खत्म हो जाता है।

सट्टेबाज अक्सर विफल भी होते हैं, क्योंकि या तो वे गलत दावेदारका समर्थन करते हैं (साहनपुरका मुकदमा देखिये) या फिर बहुत लालचमें पड़कर यह नहीं जान पाते कि कहाँ उन्हें रुक जाना चाहिये और लाभजनक समझौता कर लेना चाहिये। कुछ तो सचमुच ही भाग्यवान् होते हैं और अदालतोंमें ठीक तरहका सट्टा खेलनेके कारण अच्छी सम्पत्ति प्राप्त कर लेते हैं। ऐसे उदाहरण सारे प्रान्तमें लोग अच्छी तरह जानते हैं और कुछ लोग तो, दीर्घकालीन अभ्यासके कारण, इस तरहका जुआ खेलनेकी विशेष योग्यता प्राप्त कर लेते हैं। वे मानों दूरसे ही लड़ने योग्य एक अच्छे मुकदमेकी गन्ध पहचान लेते हैं। वकील-मण्डलीके सदस्योंके लिए, उनकी वृत्तिके शिष्टाचार एवं

नियमोंके कारण, इस तरहका जुआ खेलना वर्जित है किन्तु उनके लिए यह खुशीकी बात है कि उनके लड़कों, दामादों,भतीजों और माताओं, चाचा-चाचियोंको इसकी मनाही नहीं है और न वकीलके लिए ही इस बातका निषेध है कि वह अपने पुत्र या माताकी ओरसे पैरवी कर सके। इसलिए खुशी खुशी यह खेल चलता रहता है और कानूनी पेशेके सदस्योंको, यदि उनकी इच्छा हो तो, काफी अवसर रहता है कि वे किसी ऐसे दावेदारको चुन लें जिसे सहायताकी आवश्यकता हो तथा जिसका मुकदमा भी मजबूत हो और उनसे अच्छा मेहनताना लेकर उनकी सहायता करें। इस प्रकार वकीलोंको भी—वकालत द्वारा नहीं, वरन् बुद्धिसंगत एवं विवेकपूर्ण न्यायिक सट्टेबाजी द्वारा—अच्छा रुपया कमानेका अवसर मिला है।[1]

किन्तु मेरे अनुभवमें सबसे अधिक अभागे वे सट्टेबाज थे जिन्होंने मझौली राजके मामलेमें सट्टा किया था। परिणाममें वे केवल ऐसे परोपकारी ही रह गये जिसमें उन्हें खुद अपने लिए बहुत कम या बिलकुल ही लाभ नहीं मिला। इसका वृत्तान्त, मुकदमेबाजीमें हार होनेकी सम्भावनाओंके उदाहरण-स्वरूप, यहाँ देना उचित प्रतीत होता है।

मझौली राज प्रान्तकी बहुत प्राचीन और ऐतिहासिक रियासतोंमेंसे एक है। वह गोरखपुर जिलेमें अवस्थित है और उसका इतिहास गत कई शताब्दियोंतक फैला हुआ है। अन्तिम राजाकी मृत्यु निस्सन्तान अवस्थामें ही हो गयी, उसकी विधवा राजकी उत्तराधिकारिणी बनी और कोर्ट ऑफ वार्ड्जने उसकी तरफसे रियासतकी देखरेखका भार अपने ऊपर ले लिया। एक दावेदार खड़ा हो गया जिसने कहा कि मैं स्वर्गीय राजाका, पीछेकी आठवीं पीढ़ीके सम्बन्धसे, चचेरा भाई हूँ और यह एक पुराना, संयुक्त अविभाज्य राज होनेके कारण रानीकी अपेक्षा मैं ही अधिक अच्छा उत्तराधिकारी हूँ। इससे तथ्य सम्बन्धी एक बहुत ही जटिल प्रश्नके सिवा हिन्दू कानूनका भी एक परेशानीमें डालनेवाला सवाल उठ खड़ा हुआ। किन्तु जीत होनेपर प्राप्त हो सकनेवाली चीज इतनी कीमती थी कि उसके लिए अधिक रुपया खर्च कर जुआ खेलना भी वांछनीय प्रतीत हुआ और कितने ही साहसी व्यक्ति, जिनमें मेरे एक वकील मित्र भी थे, जोखिम उठाने तथा अन्ततक मुकदमा लड़नेको तैयार हो गये। दावेदार, जैसा कि अक्सर होता है, निर्धन व्यक्ति था और उन लोगोंकी इच्छाके अनुसार सौदा पटानेको राजी था। उन्होंने राजके कुछ महत्त्वपूर्ण गाँव अपने पुरस्कारके हिस्सेके बतौर चुन लिये और दावेदारने जाब्तेसे संलेख लिखकर उक्त जायदाद उन्हें हस्तान्तरित कर दी। यह संलेख, रजिस्ट्री सम्बन्धी कानूनके अनुसार, उस रजिस्ट्रारके सामने निबन्धन (रजिस्ट्री) के लिए पेश किया जाना चाहिये था, जहाँ उक्त गाँव अवस्थित थे किन्तु यह स्थान गोरखपुरसे, जहाँ कुछ खरीददार रहते थे, कुछ दूरीपर था। इसलिए मात्र थोड़ी दूरकी यात्राके कष्टसे बचनेके खयालसे गोरखपुरमें स्थित मझौलीके राजाके एक मकानका छोटा-सा कमरा भी हस्तान्तरित की जानेवाली जायदादमें शामिल कर लिया गया और तब यह संलेख निबन्धनके लिए गोरखपुरके निबन्धक

---

१. इस तरहका एक मामला सन् १९४० में किये गये अवधके सिसेन्दी राजका दावा था। दावेदारने विधवा द्वारा दत्तकपुत्र गोद लिये जानेके विरुद्ध फरियाद की थी और उसमें उसे सफलता मिली। विचारक न्यायालयने निर्णय किया कि दत्तकग्रहणका अधिकार प्रदान करनेवाला प्रलेख जाली था। सट्टेबाजने मुकदमेमें १० हजार रुपये खर्च करनेके बदले राजका चौथाई हिस्सा—जिसकी कीमत कई लाख रुपये थी—प्राप्त कर लिया। मैं गोद लिये गये पुत्रकी ओरसे खड़ा हुआ था किन्तु हार गया। अवधके चीफ कोर्टमें इसकी अपील की गयी। वह विचाराधीन ही थी कि अगस्त १९४२ में मुझे राजनीतिक आन्दोलनमें जेल चले जाना पड़ा।

(रजिस्ट्रार) के सामने पेश किया गया, जहाँ उसका निबन्धन कर दिया गया और सभी महत्त्वके रजिस्टरोंमें उसकी प्रतिलिपि कर दी गयी।

हस्तान्तरणकी यह काररवाई पूरी हो जानेके बाद दो दरख्वास्तें दी गयीं, एक तो दावेदार द्वारा और दूसरी उक्त खरीदारों द्वारा, जिनमें समान तर्कोंके आधारपर, समस्त मझौली राजपर उन लोगोंको कब्जा दिलानेकी प्रार्थना की गयी थी। कोर्ट ऑफ वार्ड्जने इसका विरोध करनेकी जोरोंसे कोशिश की और सफाईमें तथ्य सम्बन्धी तथा कानूनकी हर ऐसी दलील, जो सोची जा सकती थी, सामने रखी। इसके सिवा समझौतेकी भी बातचीत शुरू हुई जो, जहाँतक दावेदारका सम्बन्ध था, सफल हो गयी। विधवा रानी बूढ़ी हो चुकी थी और उसके अधिक समयतक जीवित रहनेकी सम्भावना नहीं थी। कोर्ट ऑफ वार्ड्जने अपनी सफाईको जरा भी कमजोर न बनाते हुए दावेदारको एक अच्छी मासिक वृत्ति देना स्वीकार कर लिया और उसने भी रियासतपर तुरन्त कब्जा पानेका अपना दावा वापस ले लिया तथा रानीके जीवित रहतेतक ठहर जाना स्वीकार कर लिया। सट्टेबाज खरीदारोंने अपने दावोंके लिए मुकदमा लड़नेका ही निश्चय किया। इसलिए एक लम्बी और खर्चीली मुकदमेबाजी शुरू हुई। विस्तृत साक्ष्य प्रस्तुत किया गया और बहुत ही विशद तर्क-परम्परा सामने रखी गयी। अन्तमें जिला जजने इस आधारपर मुकदमा खारिज कर दिया कि रानीके जीवित रहते दावेदारका कोई अधिकार अथवा स्वार्थ राजके सम्बन्धमें नहीं हो सकता। फिर भी उसने वंशोत्पत्तिका पूर्ण रूपसे साबित हो जाना मान लिया। उच्च न्यायालयमें इसकी अपील की गयी, जो अनिवार्य थी, और इसपर दस दिनोंतक बहस चलती रही। उच्च न्यायालयने विचारक न्यायाधीशके फैसलेको उलट दिया और वादियोंके पक्षमें अभिनिर्णय किया। व्यर्थकी कानूनी बहस करनेके बाद उसने यह मत प्रकट किया कि रियासत एक प्राचीन अविभाज्य राज है, जिसपर उत्तराधिकार पानेका कोई हक विधवाको नहीं हो सकता जब कि एक सगोत्र वंशज मौजूद हो, चाहे वह कितने ही दूरका सम्बन्धी क्यों न हो। इस प्रकार खरीदारोंको तुरन्त ही वह चीज मिल गयी जिसके लिए उन्होंने सौदा किया था। दोनों ही अदालतोंने सफाईका यह प्राविधिक तर्क अस्वीकृत कर दिया कि वादियोंके पक्षमें लिखे गये हस्तान्तरणपत्रका जिस ढंगसे निबन्धन किया गया था, वह विधिसंगत नहीं माना जा सकता, क्योंकि वैसी हालतमें गोरखपुरके निबन्धक (रजिस्ट्रार) ने निबन्धनके लिए उसे कदापि स्वीकार न किया होता। भारतीय न्यायालयोंका मत था कि बैनामेमें गोरखपुरके मकानका एक कमरा भी शामिल करनेका प्रेरक हेतु क्या था, इसका विचार करना असंगत है और बेचनेवालोंका इरादा उक्त संलेख द्वारा उस कमरेका भी हस्तान्तरण कर देनेका था।

कोर्ट ऑफ वार्ड्जने लन्दनमें सपरिषद् नरेशके सामने पुनर्न्यायप्रार्थना की। न्यायिक समितिके सामने भी एक बार फिर लम्बी बहस हुई। किन्तु सभी महत्त्वकी बातोंमें कोर्ट ऑफ वार्ड्जकी हार हुई। न्यायिक समितिने उच्च न्यायालयके इस अभिनिर्णयसे अपनी सहमति प्रकट की कि रियासतके ऊपर इस समय रानीका कोई हक नहीं है और दावेदार ही उसका न्यायोचित अधिकारी है और उसे रियासतपर तुरन्त कब्जा पानेका हक है। किन्तु उसके खरीदारोंकी दरख्वास्त खारिज कर दी गयी। न्यायिक समितिने विचार प्रकट किया कि मकानके कमरेका हस्तान्तरण करनेका कोई इरादा न था, कोई भी समझदार आदमी उसे खरीदना न चाहेगा, और संलेखमें वह केवल इस उद्देश्यसे लिख दिया गया था जिसमें संलेखकी रजिस्ट्री गोरखपुरमें की जा सके और कानूनकी दृष्टिमें यह निबन्धन कानून सम्बन्धी 'धोखेबाजी' ही है, अतः कानूनके लिहाजसे संलेखको ऐसा ही मानना चाहिये मानो उसका निबन्धन हुआ ही न हो, इसलिए वह अनुचित तथा अप्रभावकर

ही समझा जायगा तथा उससे खरीदारोंके हाथ जायदादका बेचा जाना नहीं माना जा सकता। इसलिए अपील मंजूर कर ली गयी और मामला तीनों अदालतोंके खर्च सहित खारिज कर दिया गया। कुल मिलाकर इस मुकदमेबाजीका परिणाम, जहाँतक दावेदारका प्रश्न था, यह हुआ कि उनकी वंशोत्पत्ति तथा मझौली राजपर उनके अधिकारका असंदिग्ध रूपसे न्यायिक समर्थन हो गया, और जहाँतक कानूनी पेशेका सम्बन्ध था, अविभाज्य सम्पत्ति सम्बन्धी हिन्दू कानूनकी शाखाकी तथा निबन्धन कानूनकी बहुत प्रामाणिक व्याख्या कर दी गयी, किन्तु सट्टेबाजोंके हाथ केवल बरबादी ही लगी, सो भी ऐसी बातके आधारपर जिसे अभीतक किसीने कोई महत्त्व ही नहीं दिया था।

रानीकी मृत्यु कुछ ही समय बाद हो गयी और न्यायिक समितिके निर्णयके आधारपर दावेदारको राजका उत्तराधिकार प्राप्त करनेमें कोई कठिनाई नहीं हुई। मेरा खयाल है कि खरीदारोंने उसके साथ एक तरहका समझौता कर लिया और अपने धनका एक हिस्सा उससे वापस पा लिया। किन्तु वे अपने साहसिक कार्यमें सचमुच ही बेतरह विफल हुए, सो भी ऐसे समय जब प्रत्येक वस्तु करीब करीब उनके पंजेमें आ ही चुकी थी, प्याला ओठोंतक पहुँच चुका था कि उसे फेंक देना पड़ा और इस सबका कारण महज इतना ही था कि उन्होंने थोड़ी-सी दूरकी यात्रा करनेमें आलस्य प्रदर्शित किया।

२८. अजमेरके मामले

अजमेर मेरे खयालसे भारतवर्षके सबसे सुन्दर नगरोंमेंसे एक है। वह सुरम्य पहाड़ियोंसे घिरे हुए मैदानमें बहुमूल्य मोतीके सदृश जड़ा हुआ है और अन्ना सागर नामक सुन्दर कृत्रिम झीलके किनारे अवस्थित है। यह झील चारों तरफके पहाड़ी ढालोंसे बहनेवाले पानीको रोकनेके लिए घाटीके आरपार बनाये गये बाँधके कारण बन गयी है। तारागढ़के प्रसिद्ध दुर्ग से, जो १२०० फुटकी ऊँचाईपर है, समूचे नगरका दृश्य दिखाई देता है। वह कितने ही ऐतिहासिक अवरोधों तथा वीरतापूर्ण संघर्षोंका अड्डा रहा है।

यहाँका जलवायु बढ़िया तथा स्वास्थ्यवर्द्धक है और निवासी सीधे-सादे तथा स्नेहनीय हैं— प्राचीन तथा आधुनिक तरीकोंका ऐसा सम्मिश्रण जो मेरी जैसी प्रकृतिके आदमीको बहुत पसन्द आता है। मैं बचपनसे ही अजमेरसे परिचित रहा हूँ किन्तु इधर कुछ वर्षोंसे उसका अधिक विस्तार हो गया है और तेजीसे उसका विकास होता रहा है। इसी तरह उसका सौन्दर्य और मोहकता भी बढ़ती रही है जिससे उसने मुझे अपनी ओर अधिकाधिक आकर्षित किया है।

एक बातमें अजमेर सचमुच ही भारतके अन्य सब नगरोंसे निराला तथा सुविख्यात है। हिन्दू तथा मुसलमान, दोनों ही उसे विशिष्टरूपसे पवित्र नगर मानते हैं। हिन्दू लोग पुष्कर को, जो अजमेरसे छ मीलपर स्थित है, भारतके सबसे पवित्र स्थानोंमेंसे एक मानते हैं। यह विशेषकर ब्रह्माका तीर्थ माना जाता है और पुष्करका तालाब भारतमें सबसे पुनीत समझा जाता है। वहाँ निरन्तर, बारहों महीने तीर्थयात्री आते रहते हैं। इधर कुछ वर्षोंके भीतर धनसम्पन्न भक्तोंने भव्य मन्दिरोंका निर्माण कराकर इस स्थानकी सुषमा बढ़ा दी है। हिन्दू धार्मिक परम्पराके अनुसार पुष्करका इतिहास हमें राजपूतानेमें आर्य-सभ्यताके प्रभाततक ले जाता है।

प्राचीनकालमें अजमेरमें भी बहुतसे मन्दिर थे किन्तु उनमेंसे बहुतसे धर्मान्ध मुसलिम शासकों द्वारा ध्वस्त कर दिये गये थे और उनके सुन्दर गढ़े हुए तथा उत्कीर्ण बेलबूटोंसे युक्त पत्थरोंका प्रयोग मसजिदोंके निर्माणमें कर लिया गया। फिर भी कुछ पुराने मन्दिर आज भी विद्यमान हैं। अजमेर

सदासे ही धनिक हिन्दू महाजनोंकी निवासभूमि रहा है और उनकी भक्ति सुन्दर मन्दिरोंकी रचना करानेमें अभिव्यक्त हुई है। कुछ प्रमुख परिवार जैनधर्मके अनुयायी हैं और वहाँका सुन्दर जैनमन्दिर सारे भारतवर्षकी अत्यन्त दर्शनीय वस्तुओंमेंसे एक है।

मुसलमानोंके लिए अजमेर ख्वाजा साहबकी दरगाहके कारण सारे हिन्दुस्तानमें प्रसिद्ध है। ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती नामक सूफी सन्त ९०० वर्ष पूर्व आकर अजमेरमें बस गये थे। वे १०० वर्षसे भी अधिक जिये और अजमेरमें ही उनकी मृत्यु हुई तथा वहीं वे दफनाये गये। तभीसे उनकी समाधिका विशेष समादार होता रहा है। प्रारम्भिक मुसलिम शासक—विशेषकर अल्तमश वंशके शासक—भी ख्वाजा साहबकी इज्जत और प्रतिष्ठा करते थे। किन्तु अकबर उनका विशेषरूपसे अनुरागी भक्त था और उसके हृदयमें दरगाहके प्रति बड़ी लगन थी। वह लगातार कई वर्षोंतक आगरासे तीर्थयात्राके लिए अजमेर आता रहा और दो बार तो उसने २५० मीलकी यह पूरी यात्रा पैदल ही की थी। उसने दरगाहका निर्माण कराया और उसके रख-रखावके लिए कई गाँव लगा दिये। तबसे दरगाहकी प्रसिद्धि बहुत बढ़ गयी। अकबरके वंशज खुद ही उसके बड़े उपासक रहे और जब उर्सके दिनोंमें—जीवनके वे छ दिन जिनके अन्तमें उनकी मृत्यु हुई—भारतके प्रत्येक स्थानसे मुसलमान लोग आ-आकर अजमेरमें इकट्ठे होते हैं। किन्तु केवल उर्सके दिनोंमें ही नहीं, बल्कि बारहों महीने मुसलिम तीर्थयात्री यहाँ आते रहते हैं। हिन्दू लोग भी ख्वाजा साहबका सम्मान करते हैं और उन ८० वर्षोंमें जबतक अजमेरपर मराठोंका शासन रहा, दरगाह हमेशाकी तरह पूरे आदर-भावसे देखी जाती रही।

राजनीतिक दृष्टिसे भी अजमेरका महत्त्वपूर्ण स्थान है। अंग्रेजी शासनमें वह ब्रिटिश भारतका अंग था और यहाँके निवासी केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभामें अपना प्रतिनिधि भेजते थे और इसका चुनाव सभी सम्प्रदायों के सदस्यों द्वारा संयुक्त-निर्वाचनप्रणाली द्वारा किया जाता था, जिसमें हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, एंग्लोइण्डियन तथा अधिवासी, यूरोपियन, सभी हिस्सा लेते थे, यद्यपि उस समयका भारत पृथक् निर्वाचनप्रणालीके कारण विभिन्न साम्प्रदायिक निर्वाचनक्षेत्रोंमें विभक्त हो गया था।

किन्तु मैं अजमेरके प्रति अपने अनुरागके कारण कहाँसे कहाँ बहक गया। मेरा मुख्य विषय था, मेरा वकीलके रूपमें अजमेरके मुकदमोंका अनुभव।[1] अजमेरमें हमेशासे अपना न्यायिकवर्ग रहता रहा है किन्तु शासक-अधिकारी जिन्हें बहुत कम न्यायिक प्रशिक्षण मिला होता या बिलकुल ही नहीं और जिन्हें इसका कोई अनुभव भी न होता, न्यायिक अधिकारियोंका कार्य किया करते थे। अजमेरके उच्च न्यायालयका काम वहाँका चीफ कमिश्नर किया करता था जो राजनीतिक विभागका अधिकारी होता था और जो राजपूतानाकी रियासतोंके लिए गवर्नर जनरलके एजेण्टका राजनीतिक पद भी सम्भालता था। इलाहाबादके उच्च न्यायालयको ऐसे मामलोंमें न्यायिक सलाह देनेका अधिकार प्राप्त था जिनके सम्बन्धमें चीफ कमिश्नर द्वारा उससे सलाह माँगी गयी हो। स्पष्ट है कि यह न्यायव्यवस्था जो उस समय प्रचलित थी, जब मैंने वकालत शुरू की थी, असन्तोषजनक थी। सार्वजनिक आलोचनाके फलस्वरूप इसका पुनःसंघटन किया गया, मुल्की-कानूनमें निपुण

---

१. अजमेर अपने एक परमभक्त नागरिक, दीवान बहादुर हरविलास शारदाके कारण विशेष भाग्यवान् रहा है। श्री शारदाने हिन्दुओंके लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण 'हिन्दू एज ऑफ मैरिज ऐक्ट', जिसे लोकभाषामें 'शारदा ऐक्ट' भी कहते हैं, भारतीय व्यवस्थापिका सभामें स्वीकृत कराकर ही अपने आपको अमर नहीं बना लिया था वरन् उन्होंने नगरके प्रति अपनी अनुरक्ति भी "अजमेर" नामक अत्यन्त मनोरंजक पुस्तक लिखकर प्रकट की थी।

अधिकारी न्यायिक पदोंपर नियुक्त किये गये और अपीलकी अन्तिम अदालतके रूपमें जुडिशल कमिश्नरकी अदालत स्थापित कर दी गयी। उसका प्रधान अधिकारी प्रायः बम्बई प्रान्तका कोई पुराना जिला और दौरा जज हुआ करता था। अजमेरमें इतना काम तो आता न था जो पूरे समय काम करनेवाले अधिकारीके लिए पर्याप्त होता, इसलिए अजमेरका जुडीशल कमिश्नर ही काठियावाड़की पश्चिमी भारतकी रियासतोंका भी जुडीशल कमिश्नर हुआ करता था और पारी-पारीसे हर दो महीनोंमें उसकी अदालत अजमेरमें लगा करती थी।

इलाहाबादसे अजमेर पहुँचनेमें पूरे २४ घण्टे लग जाते थे और मुवक्किलोंके लिए इलाहाबादसे वहाँ वकील ले जानेमें खर्च भी बहुत पड़ता था, फिर भी अजमेरकी अदालतोंमें वकालत करनेका मुझे काफी अवसर मिलता था। मुझे अजमेर जाना बहुत पसन्द था, इसलिए ऐसे प्रत्येक अवसरका मैं स्वागत करता था। इसके सिवा वह मेरे घर जावराके मार्गमें भी पड़ता था और मैं कभी-कभी वहाँसे लौटते हुए अजमेरमें १२ घण्टे या अधिक रुककर इलाहाबाद आता था। अजमेरमें कुछ ऐसे सम्पन्न परिवार हैं जिनमें आपसी झगड़े चलते रहते हैं जिससे खुद उनकी तबाही और वकीलोंका फायदा होता है। ऐसे परिवार ही मुझे अपने मुकदमोंके लिए वहाँ बुलाया करते थे। इनमेंसे बहुतसे मुकदमे तो जुडीशल कमिश्नरके सामनेकी गयी अपीलके मुकदमे होते थे जिनमें वादग्रस्त पक्षोंके तथा मेरे सिवाय जो मुकदमेमें वकील नियुक्त होता था, और किसीकी दिलचस्पी नहीं होती थी। किन्तु दो मुकदमे, जिनमें मैं वकील नियुक्त हुआ था—एक तो सन् १९४० में और दूसरा जून-जुलाई १९४२ में (गिरफ्तारीसे एक महीने पहले) — ऐसे हैं जिनकी चर्चा यहाँ की जा सकती है।

बादके मुकदमेका वर्णन मैं पहले करूँगा, क्योंकि उसका सम्बन्ध उक्त प्रसिद्ध दरगाहसे था और उसमें मेरी गहरी दिलचस्पी पैदा हो गयी थी। उसने मेरी ऐतिहासिक कल्पनाको जोरोंसे प्रभावित किया। वह हमारे उस राष्ट्रीय जीवनकी अविच्छिन्नताका उदाहरण है जिसका मूर्त्तरूप हमें प्राचीन मन्दिरों, समाधियों तथा धार्मिक संस्थापनाओंमें देख पड़ता है। इसके सिवा, उसके सिलसिलेमें ही मुझे अजमेरके इतिहासकी गहरी छानबीन करनी पड़ी।

इस महान् दरगाहकी उत्पत्तिका हाल मैं पहले ही लिख चुका हूँ। ऐसा प्रतीत होता है कि अपनी जीवितावस्थामें ही सन्तप्रकृति ख्वाजा साहब अपनी धार्मिक भावनाके कारण प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे और उनकी मृत्यु के बाद उनकी समाधि तीर्थयात्राका स्थान बन गयी। इस बारेमें उस समय भी मतभेद था और आज भी है कि ख्वाजा साहब अपनी सीधी परम्परामें कोई वंशज छोड़ गये थे या नहीं। किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि उनके कुछ सपिण्ड सम्बन्धी तथा शिष्य अवश्य थे और ये ही उनकी मृत्युके बाद उनकी समाधिकी रक्षा करते थे, वहाँकी पवित्रता बनाये रखते थे, रूढ़िसे चली आनेवाली रस्में अदा करते थे, प्रतिवर्ष उर्स करते थे और दर्शनके लिए आये हुए यात्रियोंकी सुख-सुविधाका ध्यान रखते थे—उन्हें टिकाने और भोजन देनेकी व्यवस्था करते और बदलेमें यात्रीगण भी रुपये पैसेसे उनकी मदद करते तथा दरगाहमें भेंट चढ़ाते थे। ये लोग 'खादिम' (दरगाहके सेवक) कहलाते थे और आज भी कहलाते हैं और ये ख्वाजा साहबके समय से ही चले आ रहे हैं। शताब्दियाँ बीत जानेके बाद खादिमोंका समुदाय बहुत बढ़ गया है और अब उनकी संख्या कई हजार हो गयी है। उनमेंसे अधिकतर अजमेरमें ही रहते हैं और दरगाहमें ही अपने आपको लगाये रहते हैं किन्तु बहुतोंने अपने लिए अलग नौकरी या रोजगारकी खोज कर ली है और अब ऊँची सरकारी नौकरियोंमें हैं, डाक्टरी, वकालत आदि करते हैं या फिर व्यापार, दूकानदारी आदिमें लगे हैं; किन्तु उनमेंसे प्रत्येक 'खादिम' नामको सम्मानका चिह्न तथा कीर्त्तिकी उपाधि समझता है और उसकी कद्र

करता है। यह खादिम सम्प्रदाय अजमेरके सामाजिक तथा नागरिक जीवनमें एक विशिष्ट और शक्तिशाली अंग है।

अकबरके शासनकालमें, सम्राट्की व्यक्तिगत श्रद्धाके कारण, दरगाहका महत्त्व बहुत बढ़ गया था। हर दरगाहमें एक सज्जादनशीन होता है जिसके बारेमें समझा जाता है कि वह आध्यात्मिक परम्परा तथा शिक्षाको कायम रखता है जिसके नामके साथ किसी दरगाहका सम्बन्ध जुड़ा हो। इस दरगाहमें शुरूसे ही कोई सज्जादनशीन था या नहीं, कहना मुश्किल है; किन्तु अकबरने एक धर्मशील, विद्वान् मौलवीको, इस बिनापर कि वह ख्वाजा साहबकी कन्याका वंशज था, वहाँका सज्जादनशीन स्वीकार किया था। जो हो, इस धर्मशील व्यक्तिको आगे चलकर बड़े संकटोंका सामना करना पड़ा। महान् अबुलफजल, जो बादशाहका प्रमुख कृपापात्र था, किसी कारणसे उससे घृणा करने लगा था। यह कहा जाने लगा था कि वह ख्वाजा साहबका वंशज था ही नहीं बल्कि झूठमूठ ही वंशज बननेका बहाना कर रहा था। बादशाहने उसके सम्बन्धकी जाँच करानेके लिए एक समितिकी नियुक्ति कर दी। अबुलफजल भी उसके सदस्य थे। उसने प्रतिवेदित किया कि ख्वाजा साहबसे उसका कोई सम्बन्ध न था। इसपर सज्जादनशीन अपने पदसे हटा दिया गया, अपमानपूर्वक अजमेरसे निष्कासित कर दिया गया और भारतके सुदूर स्थित स्थानमें एक तरहसे कैद कर दिया गया। फिर भी बादशाहके दरबारियोंपर उसका प्रभाव था और कई वर्षोंके बाद, जब अबुलफजलकी मृत्यु हो चुकी थी, उसपर फिर कृपा की गयी और पुनः अपने पदपर नियुक्त हो गया। उसके वंशज आज भी उक्त पदपर नियुक्त होते चले आ रहे हैं और दरगाहमें हमेशा कोई न कोई सज्जादनशीन अवश्य होता है और उसके पदकी प्रतिष्ठा बनाये रखनेके लिए दरगाहकी समस्त भू-सम्पत्तिकी लगान तथा मुनाफेसे होनेवाली आय उसके हाथमें रहती है। सज्जादनशीन भक्तजनोंका आध्यात्मिक गुरुके समान होता है जो ख्वाजा साहबके महान् उपदेशों तथा शिक्षाओंका प्रचार करता है, किन्तु जिसे कोई प्रशासनिक अधिकार, प्रबन्ध-सम्बन्धी अधिकार नहीं होता। दरगाहमें होनेवाली दैनिक उपासनापर अथवा उसकी धर्मोत्तर सम्पत्तिपर उसका नियन्त्रण नहीं रहता। इस तरहके सब अधिकार एक अन्य व्यक्तिके हाथमें न्यस्त रहते हैं जो मुतवल्ली कहलाता है।

दरगाहका खर्च चलानेके लिए अकबरने १८ गाँव प्रदान कर दिये थे और धर्मोत्तर सम्पत्तिका तथा दरगाहके अन्य कामोंका, दरगाहके अहातेके भीतरके तथा बाहरके कामोंका प्रबन्ध करनेके लिए एक अधीक्षक याने मुतवल्ली नियुक्त कर दिया था। मैं नहीं समझता कि अकबरके शासनकालके पहले दरगाहका कोई मुतवल्ली होता था। यह पद अब भी कायम है। शुरूमें मुतवल्लीके पदपर की जानेवाली नियुक्तियाँ बादशाहकी अपनी इच्छाके अनुसार की जाती थीं और १५० वर्षसे भी अधिक समयतक इसपर विभिन्न सम्प्रदायोंके व्यक्ति नियुक्त हो चुके थे—सैय्यद, मुगल, पठान और कई बार तो हिन्दू भी इसके मुतवल्ली बनाये गये थे। किन्तु भारतवर्षमें ऐसे पदोंको हमेशा एक ही विशिष्ट परिवारमें अनुक्रमागत बना देनेकी प्रवृत्ति रही है और कहा जाता है कि यही बात इस मामलेमें भी हुई। पहले एक आदमी इस पदपर नियुक्त किया गया। उसने बहुत वर्षोंतक काम किया और फिर उसकी मृत्युके बाद उसका लड़का मुतवल्ली बना दिया गया। इसके बाद उस लड़केका लड़का मुतवल्ली बना। तब तीसरी पीढ़ीमें उत्तराधिकारी बननेका पुश्तैनी हक सामने रखा गया। अजमेर सन् १७५६ में मराठोंके (सिन्धिया शासकोंके) अधिकारमें आ गया और महाराजा दौलतराव सिन्धियाने एक राजकीय आदेश जारी कर इस "पौत्र"को, पुश्त-दर-पुश्त,

इस पदपर नियुक्त कर दिया। और यही आदेश उक्त पदके वर्तमान अधिकारी द्वारा अपने हकका मूलाधार बतलाया जाता है।

सन् १८१८ में अजमेर ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनीके अधिकारमें आ गया और उस समय जो मुतवल्ली था उसे बड़े संकटका तथा विरोधका सामना करना पड़ा। शताब्दियोंसे सज्जादनशीन तथा मुतवल्लीमें अधिकारप्राप्तिके लिए सतत प्रतियोगिता चली आ रही थी। मुतवल्लीका पद बड़े प्रभाव तथा प्रतिष्ठाका पद होता है और उससे अच्छी आमदनी भी होती है। इसके सिवा, मुतवल्ली भारतके कोने-कोनेसे दरगाह देखने आये हुए धनिक यात्रियोंके प्रत्यक्षसम्पर्कमें आता है, जब कि सज्जादनशीनकी कोई पूछ नहीं होती। ये झगड़े कभी-कभी मुगल बादशाहोंके सामने भी आते थे और उनका निपटारा करनेके लिए जो शाही आदेश जारी किये जाते थे, वे आज भी मौजूद हैं। शाहजहाँके ऐसे ही एक आदेशकी चर्चा मैं आगे करूँगा।

ब्रिटिश शासनका प्रारम्भ होनेपर सज्जादनशीनने दिल्ली स्थित नाममात्रके मुगल बादशाह शाह आलमसे मिलकर एक षड्यंत्र रचा और उसे समझा-बुझाकर ब्रिटिश रेजीडेण्टके नाम इस आशयकी एक चिट्ठी लिखवा दी कि 'इस समयका मुतवल्ली एक उड़ाऊ-खाऊ फजूलखर्च व्यक्ति है जिसने दरगाहके मामलोंका प्रबन्ध बहुत बुरी तरहसे किया है जिससे दरगाहकी बड़ी बदनामी हुई है, इसलिए वह उक्त पदपर बने रहने योग्य नहीं रह गया है। मैं उसे हटाकर खुद अपने एक लड़केको मुतवल्ली बनाना चाहता हूँ जिसका प्रतिनिधित्व अजमेर स्थित दरगाहका सज्जादनशीन करेगा।' ब्रिटिश अधिकारियोंने इस आदेशको कार्यान्वित किया, क्योंकि उन्होंने समझा कि यह ऐसी धार्मिक संस्थाके सम्बन्धमें है जो विशेषरूपसे बादशाहके ही अधिकार और क्षेत्रकी चीज है। मुतवल्लीने इसपर आपत्ति की, किन्तु व्यर्थ हुआ और उसे हटना ही पड़ा। किन्तु केवल थोड़े समयके लिए। वह अपने अधिकारपर बराबर जोर देता रहा। इसी बीच वहाँका ब्रिटिश अधिकारी बदल गया और उसके बाद जो अफसर आया वह मुतवल्लीके अधिक अनुकूल था। उसने यह कहकर उसे फिर बहाल कर दिया कि शाह आलमको अजमेरके मामलोंमें दखल देनेका वास्तवमें कोई अधिकार न था।

उस समय धर्मके नामपर दी गयी सभी सार्वजनिक सम्पत्तियोंपर, हिन्दुओंकी हो या मुसलमानोंकी, प्रत्यक्षरूपसे सरकारी अधिकारियोंका नियन्त्रण रहता था। ईसाई पादरी इस पद्धतिका जोरोंसे विरोध करते थे, क्योंकि उनके मतसे यह तो मिथ्या धर्मके अनुयायियों तथा अखिस्टीय लोगोंको प्रोत्साहन देनेके समान था। वे लोग तो भारतमें ईसाई धर्मका प्रचार करनेके, गैर-ईसाइयोंको डूबनेसे बचानेके लिए निकले थे, और यहाँ ये ब्रिटिश अधिकारी मन्दिरकी कमेटियोंमें काम करते थे तथा गैर-ईसाइयोंके मन्दिरोंमें होनेवाली मूर्तिपूजाका नियमन करते थे। इन लोगोंके धार्मिक दृष्टिकोणसे किये गये आक्षेपों तथा आलोचनाओंका काफी असर इंग्लैण्डके श्रद्धालु लोगोंपर पड़ा और तब अपनेको हिन्दुओं तथा मुसलमानोंकी देवोत्तर सम्पत्तिके प्रबन्धसे पूर्णरूपसे हटा लेनेके लिए भारत सरकार बाध्य कर दी गयी। सन् १८६३ में देवोत्तर सम्पत्ति सम्बन्धी अधिनियम बनाया गया जिसके अनुसार यह व्यवस्था की गयी कि सभी सार्वजनिक देवोत्तर सम्पत्तिका प्रबन्ध ऐसी प्रबन्ध-समितियोंके हाथ सौंप दिया जाय जो इस कार्यके लिए सरकार द्वारा नियुक्त कर दी जायँ और उसके बाद सरकारको ऐसी देवोत्तर सम्पत्तिके स्पर्शसे अपने हाथ धो लेने चाहिये।

इसी अधिनियमके अनुसार अजमेरकी दरगाहमें भी एक प्रबन्ध-समिति स्थापित कर दी गयी। उसमें एक सभापति तथा चार सदस्य थे। एक सदस्य होता था सज्जादनशीन (या उसका प्रतिनिधि), दूसरा होता था मुतवल्ली (या उसका प्रतिनिधि) और तीसरा खादिम सम्प्रदायका

प्रतिनिधि था। बचा हुआ चौथा सदस्य तथा सभापति, ये दोनों अजमेरके गैर-सरकारी मुसलिम सज्जन होते थे।

कमेटी कभी भी एक सुखी परिवारकी तरह काम नहीं कर सकी। अधिकार और शक्तिके लिए सज्जादनशीन तथा मुतवल्लीमें चलनेवाली रस्साकशीसे वह हमेशा परेशान रहती थी। कमेटीमें प्रायः एकाध सदस्यके बहुमतसे मुतवल्लीका समर्थन हो जाता था। परिणाम यह होता था कि बराबर संघर्ष चलता रहता था। प्रबन्धमें बड़ी गड़बड़ी रहती थी और चारों तरफ नियन्त्रण एवं अनुशासनमें शिथिलता आ जाती थी। सन् १८८० में मुतवल्लीकी मृत्यु हो जानेपर यह सवाल उठाया गया कि मुतवल्लीके पदपर किसीको नियुक्त करना कमेटीके हाथमें है। इसके विपरीत मृत मुतवल्लीके पुत्रका कहना था कि इस पदपर उसके परिवारका पुश्तैनी हक रहा है। उसने मामला अदालतके सामने रख दिया और अभीष्टसिद्धिमें सफलता प्राप्त कर ली। फिर भी अदालतका फैसला सद्भावनापूर्वक स्वीकार नहीं किया गया और झगड़ा बराबर होता रहा तथा अदालतमें मुकदमेबाजी भी चलती रही ताकि मुतवल्ली अपने पदसे हटा दिया जाय। उसके सिरपर एक सहायक थोप दिया गया, उसके कुछ प्रशासनीय अधिकार उससे छीन लिये गये किन्तु फिर भी वह अपनी बातपर दृढ़तासे डटा रहा।

इस बीचमें घटनाओंने दूसरा रुख अख्तियार किया। दरगाहमें फैली हुई कुव्यवस्थाकी तरफ ध्यान दिलानेके लिए समस्त मुसलिम सम्प्रदायमें अखिल भारतीय आन्दोलन उठ खड़ा हुआ और माँग की गयी कि वर्तमान अव्यवस्थित स्थिति सुधारनेके लिए केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभाको कदम उठाना चाहिये और अखिल भारतीय दृष्टिसे प्रबन्ध-समितिका पुनःसंघटन किया जाना चाहिये। अजमेरके कुछ प्रमुख स्थानीय मुसलिम सज्जनोंने, जिनका नेतृत्व एक पुराने वकील मिरजा अब्दुलकादिर बेग कर रहे थे, इस आन्दोलनमें मुख्य हिस्सा लिया और सारा दोष मुतवल्लीके सिर मढ़ दिया गया। लोग उसे फाँसीपर चढ़ा देनेकी माँग करने लगे। उक्त पदके लिए उसके पुश्तैनी हकका दावा ठुकरा दिया गया और मिरजा अब्दुलकादिर बेगने प्रशंसनीय अनुसन्धान और परिश्रमसे सभी सम्बद्ध प्राचीन प्रलेख इकट्ठे कर उन्हें एक पुस्तकके रूपमें प्रकाशित कर दिया। उन्होंने एक लम्बा वक्तव्य देते हुए यह राय प्रकट की कि उसका दावा बिलकुल बे-बुनियाद था। केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभाके मुसलिम सदस्योंने इस मामलेमें दिलचस्पी ली और अखिल भारतीय आधारपर कमेटीका पुनर्गठन करनेके लिए एक गैर-सरकारी विधेयक (बिल) राज्य परिषद्में प्रस्थापित किया गया जिसके अनुसार प्रबन्ध तथा नियन्त्रणके समस्त अधिकार कमेटीके हाथमें देनेको कहा गया था—इसमें दरगाहके अधिकारियों तथा नौकरोंको, मुतवल्लीको भी, नियुक्त करने अथवा बरखास्त करनेका अधिकार भी शामिल था। किन्तु इधर इस बीच मुतवल्ली भी चुप नहीं बैठा था। उसने भी खूब प्रचार किया और साफ मालूम होता है कि उसे कुछ सदस्योंको इस बातका विश्वास दिलानेमें सफलता मिल गयी कि उसकी व्यर्थमें ही इतनी बदनामी की जा रही थी और अधिकार वास्तवमें उसे ही प्राप्त था। बिल जिस रूपमें सामने रखा गया था, उसके विरोधमें काफी जोरदार भाषण किये जाने लगे—यह विशुद्ध रूपसे मुसलिम सदस्योंके अपने निश्चय करनेका सवाल था, अन्य सदस्योंको उसमें कोई दिलचस्पी नहीं थी—और उसके बिलकुल अस्वीकृत कर दिये जानेकी सम्भावना उपस्थित हो गयी। अन्तिम क्षणमें बिलके समर्थकों तथा विरोधियोंमें समझौता हो गया और यह तय हुआ कि जहाँतक मुतवल्लीसे इसका सम्बन्ध है, वर्तमान स्थिति ही कायम रहनी चाहिये और उसके अधिकारोंपर इस नये विधानसे कोई आँच नहीं आनी चाहिये। इस आधारपर विधेयक आवश्यक हेरफेरके साथ, दोनों सदनोंमें पारित कर दिया गया और तब वह विधानमण्डलका अधिनियम बन गया। मुतवल्ली अपने पदके कारण इस पुनः

संघटित प्रबन्ध समितिका भी सदस्य बन गया, उसकी नियुक्ति अथवा बरखास्तगीके बारेमें कुछ भी नहीं कहा गया, बल्कि अधिनियमसे तो ऐसा अर्थ भी निकाला जा सकता है कि कमेटीको ऐसा कोई अधिकार ही न था। उसमें इस बातका स्पष्ट उपबन्ध रखा गया है कि यदि एक तरफ इस कमेटी और दूसरी तरफ सज्जादनशीन या मुतवल्ली या खादिम सम्प्रदायमें कोई झगड़ा हो तो वह अभिनिर्णयके लिए ऐसे पंच-मण्डलके सामने रखा जाना चाहिये जिसके सदस्योंके नाम पहलेसे घोषित कर दिये गये हों। इस प्रकार अधिनियमसे मुतवल्लीकी स्थितिपर यदि कोई प्रभाव पड़ा तो यही कि इससे वह कमजोर होनेके बजाय और भी मजबूत हो गयी।

सन् १९४० में मुतवल्लीकी मृत्यु हो गयी। उसके लड़केने अपना अधिकार बतलाकर उस पदपर नियुक्त किये जानेका दावा किया। कमेटीने इस दावेके सम्बन्धमें मतभेद प्रकट किया किन्तु लड़केको इस शर्तपर मुतवल्लीके रूपमें काम करने दिया कि उससे भविष्यकी स्थितिपर कोई प्रभाव न पड़ेगा। इसकी पहल स्वयं लड़केने ही ग्रहण की थी, क्योंकि अपना अधिकार घोषित करानेके लिए उसने अदालतमें फरियाद कर दी थी। कमेटीने इसका घोर विरोध किया। इसी समय एक मुकदमा दिल्लीके मुगल बादशाहोंके एक वंशजने भी दायर कर दिया, जिसमें कहा गया था कि धार्मिक कार्योंके लिए प्रदत्त उक्त सम्पति मुगल सम्राटोंने ही दी थी, इसलिए उन्हें मुतवल्ली नियुक्त करनेका अधिकार था और वही इन सब वंशजोंकी संस्था द्वारा मुतवल्ली बनाया गया था। दोनों मुकदमोंकी सुनवाई साथ-साथ शुरू हुई। जून–जुलाई सन् १९४२में मुतवल्लीने, मुकदमेमें अपनी तरफसे अन्तिम बहस करनेके लिए, मुझे अपना वकील नियुक्त किया। मामलेने मुझे बहुत आकर्षित किया और मैंने मिरजा अब्दुल कादिर बेग द्वारा किये गये परिश्रमसे पूरा-पूरा लाभ उठाया, यद्यपि उनकी सभी निष्पत्तियोंसे मेरा पूर्ण मतभेद था। बहस पाँच दिनोंतक होती रही। वर्षा ऋतुका आरम्भ अभी-अभी ही हुआ था और अजमेरका मौसिम इस समय बड़ा सुहावना था, इसलिए मुझे वहाँ रहनेमें बहुत आनन्द आया। पुराने संलेखों, शाही फरमानों तथा पहलेके न्यायिक अभिनिर्णयोंके आधारपर तर्क उपस्थित करनेके बजाय मैंने उस समय दूसरे पक्षको एक तरहसे आश्चर्यचकित कर दिया जब मैंने अपनी बहसमें नये विधानका जोरोंसे सहारा लेना शुरू कर दिया और अपना मामला प्रायः सम्पूर्णरूपसे उसीके आधारपर साबित करनेका प्रयत्न किया। यह मानों उक्त विधानका उसके प्रवर्त्तकोंके ही विरुद्ध प्रयोग करने और इस प्रकार उसका बदला लेनेका प्रयत्न था। मैंने 'मियाँकी जूती मियेंके सिर' की कहावत चरितार्थ करनेकी चेष्टा की।

एक महीनेके बाद विचारक न्यायाधीश, अजमेरके जिला और दौरा जजने मुतवल्लीके पक्षमें अपना फैसला सुनाया। मैं उस दिन फिर, एक अन्य मुकदमेके सिलसिलेमें, अजमेरमें उपस्थित था और मैं उन पुष्पमालाओंके भारसे दब-सा गया था जो मुतवल्लीके मित्रों तथा समर्थकोंने मुझे पहनायी थीं। करीब-करीब समूची खादिम मण्डली उसके पक्षमें थी। भारतके प्रत्येक अन्य तीर्थस्थानकी तरह अजमेर भी अपने पुष्पोद्यानोंके लिए प्रसिद्ध है। ये पुष्पहार, बहुत लम्बे—कमरतक पहुँचनेवाले—और सचमुच बहुत ही सुन्दर होते हैं। इस मुकदमेने अजमेरमें गहरी दिलचस्पी पैदा कर दी थी। बहसके समय अदालत ठसाठस भर जाती थी, यहाँतक कि लोगोंका दम घुटने लगता था, और सारी काररवाई बड़ी दिलचस्पीके साथ सुनी जाती।[१]

---

१. मेरे मुवक्किलने मुझे खबर दी थी कि कमेटी करीब-करीब तुरन्त ही जुडीशल कमिश्नरकी अदालतमें अपील करेगी। किन्तु तबतक मैं जेल भेज दिया गया था और फिर मुझे पता न चल सका कि अपीलका क्या परिणाम निकला।

एक दिन शामको—उस दिन बृहस्पतिवार था—मैं अपना सम्मान प्रदर्शित करनेके लिए दरगाह गया। विगत सात-आठ सौ वर्षोंसे हर बृहस्पतिवारको वहाँ एक महफिल होती रही है जहाँ श्रद्धालु व्यक्ति ख्वाजा साहबकी आत्मा और उनके वंशजोंके लिए तथा सज्जादनशीन और मुतवल्लीके दीर्घजीवनके लिए प्रार्थनाएँ किया करते हैं। तीन सौ वर्ष पहलेकी बात है जब कौन पहले बैठाया जाय, कौन बादमें, इस प्रश्नको लेकर झगड़ा खड़ा हो गया, तब सम्राट् शाहजहाँने एक शाही फरमान जारी किया था जिसके अनुसार उसने बैठनेका क्रम निर्धारित कर दिया था और सज्जादनशीन, मुतवल्ली तथा दरगाहके अन्य कर्मचारियोंके लिए जगह निश्चित कर दी थी। यह साप्ताहिक मजलिस प्रति बृहस्पतिवारको पवित्र समाधिके सामनेके चबूतरेपर होती है और तीन शताब्दियों पूर्व जो शाही फरमान जारी किया गया था, उसका अक्षरशः पालन कड़ाईके साथ किया जाता है। जब मैं इस सभामें सम्मिलित हुआ और जब मैंने इतनी शताब्दियोंसे उसके बराबर जारी रहनेपर तथा उसके ऐतिहासिक सम्बन्धोंपर विचार किया तो मुझे स्वीकार करना पड़ता है कि उस समय मेरी कल्पनापर भारी प्रभाव पड़ा था।

ख्वाजा साहबकी समाधि, हिन्दू मन्दिरके समान बहुत छोटी जगह है। यहाँपर ऊँची उठी हुई वेदिका जैसी चीजके नीचे सन्तका शव जमीनके अन्दर गड़ा पड़ा है और वास्तविक समाधिके ठीक ऊपर एक पक्की समाधि है (जैसी कि हम आगरेके ताजमें या सिकन्दरामें स्थित अकबरकी समाधिमें पाते हैं)। यह हमेशा बहुमूल्य किमखावसे ढँकी रहती है और इसके ऊपर एक जरीके कामवाला शामियाना-सा तना रहता है जो चाँदीके मढ़े हुए लकड़ीके खम्भोंपर आधारित है और चारों तरफ बहुत पतला रास्ता बना हुआ है जिसपर चलते हुए यात्री तथा श्रद्धालु लोग समाधिकी परिक्रमा किया करते हैं। इस संकीर्ण पथपर पिछली ८ या ९ शताब्दियोंमें राजा और सम्राट तथा राजकुमार और किसान, लाखों करोड़ोंकी तादादमें चल चुके हैं। वहाँ जानेपर ऐसा लगने लगता है मानो बादशाह अकबर इस समय भी दरगाहमें उपस्थित हों। इसमें सन्देह नहीं कि जाति या राष्ट्रके इतिहासमें प्राचीन मन्दिरों तथा समाधियोंका महत्वपूर्ण स्थान होता है और वे इस प्राचीन देशके सब लोगों तथा सब जातियोंकी एकताकी स्थायी भावना और उसके राष्ट्रीय जीवनकी अविच्छिन्नता इतने प्रभावकर रूपसे बनाये रखते हैं जितने और जिस ढंगसे और कोई नहीं रख सकता। इसी तरह मैं प्रत्येक पवित्रस्थानमें अपने आदर और श्रद्धाकी भावना प्रकट करता हूँ—चाहे वे हिन्दुओंके मन्दिर हों या मुसलमानोंके, सिखोंके या बौद्धोंके पवित्रस्थान हों, जो कितनी पुरानी घटनाओं तथा संगतियोंकी स्मृतिसे और भी अधिक पुनीत हो गये हों।

समस्त भारतके धनिक भक्तों द्वारा दानमें दी गयी रकमोंसे पिछले तीस वर्षोंके भीतर दरगाहकी इमारतको सुन्दर बनानेमें बड़ी सहायता मिली और अब वह पुरानी तथा नयी कलाका मनमोहक सम्मिश्रण बन गयी है।[१]

सन् १९४० का मेरा दूसरा मुकदमा बहुत मामूली-सी चीज थी। कांग्रेस मन्त्रिमण्डलके पदत्यागके बाद जब मैंने फिरसे वकालत करना शुरू किया, तब दिसम्बर १९३९में अजमेरके जुडीशल कमिश्नरके सामने की गयी पुनर्न्यायप्रार्थनामें मुझे प्रतिवादीकी ओरसे पैरवी करनेके लिए जाना पड़ा। वह ऐसी अपील थी जो कानूनी भाषामें कथनोपकथनसम्भूत अपील कहलाती है। वह एक धनिक परिवारका दुर्भाग्यपूर्ण झगड़ा था। एक जैन विधवाने एक लड़केको गोद लिया था।

१. दरगाह भवन तथा उसके विविध बहुमूल्य हिस्सोंके विस्तृत विवरणके लिए पाठकको हरविलास शारदाकी पुस्तक देखनी चाहिये।

जैनियोंमें गोद लेनेके नियम बहुत ही शिथिल होते हैं और विवाहित प्रौढ़ वयस्क व्यक्तितक गोद लिये जा सकते हैं। बादमें उक्त महिला तथा गोद लिये गये पुत्रमें झगड़ा हो गया और उसने पृथक् हो जानेके लिए दरखास्त दे दी और अपने पतिके रिक्थपत्रके अनुसार जायदादके चौथे हिस्सेके लिए दावा किया। दावेका विरोध किया गया। जब मामला विचाराधीन था, तभी आदाता (रिसीवर) नियुक्त करानेके लिए दरख्वास्त दी जिसमें उसने यह आरोप किया कि दत्तकपुत्र जीवननिर्वाहके लिए उसे एक छोटी रकम भी नहीं देता था, जिससे उसके लिए अपना खर्च चलाना मुश्किल हो रहा था। यह दरख्वास्त नामंजूर कर दी गयी थी और इसी आदेशके विरोधमें जुडीशल कमिश्नरकी अदालतमें अपील की गयी थी। जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ, गुण-दोषकी दृष्टिसे, यह एक मामूली-सा मामला था और मुझे एक तरहसे बड़ा आश्चर्य हुआ कि ऐसे मामलेमें इतना पैसा खर्च करके मुझे वकील नियुक्त करनेका प्रयत्न किया गया। किन्तु यह तो जानी हुई बात है कि झगड़े जब उठ खड़े होते हैं तो लोग अदालतोंमें जाकर बड़ी कटुताके साथ अन्ततक मामला लड़ते हैं। छोटी-छोटी-सी बातोंमें भी प्रतिष्ठा-अप्रतिष्ठाका प्रश्न सान दिया जाता है और फिर सभी धनसम्पन्न व्यक्तियोंको अपनी इच्छाके अनुसार मुकदमेबाजीका शौक या व्यसन पूरा करनेकी छूट भी तो मिलनी ही चाहिये। मेरे मुवक्किलने मुझे जोर देकर यह बात समझा दी कि यह अपील उसके लिए बड़े महत्वकी है और मुझे इसके लिए अपने प्रयत्नमें कोई कोर-कसर न करनी चाहिये। अपीलकी सुनवाई कई महीनोंके बाद फरवरी १९४०में होनेवाली थी, इसलिए अभी उसकी कोई जल्दी न थी और सच पूछो तो मुकदमेके लिए कोई विशेष तैयारी करने या उस सम्बन्धमें चिन्तित होनेकी आवश्यकता ही न थी। उसमें न तो कानून सम्बन्धी कोई कठिनाई थी और न तथ्य सम्बन्धी ही।

जनवरी १९४० में सिसेंडीके बड़े मुकदमेमें मैं नियुक्त कर लिया गया था और फरवरीके मध्यतक साफ प्रतीत होने लगा कि मैं अजमेर न जा सकूँगा, इसलिए मैंने मुकदमेके कागजपत्र तथा बादसंक्षेप लौटा देनेकी इच्छा प्रकट करते हुए पत्र लिख दिया। अजमेरके जुडीशल कमिश्नरकी अदालतमें किसी मुकदमेकी सुनवाई कुछ समयके लिए स्थगित कराना बहुत ही मुश्किल काम था। वह बारी-बारीसे बैठनेवाली अदालत थी और मामलेके स्थगित किये जानेकी स्वीकृति नहीं दी जा सकती थी। तुरन्त ही बाद मेरा मुवक्किल अपने अजमेरवाले वकीलको साथ लेकर लखनऊ पहुँचा। वह कलकत्तेसे वापस लौट रहा था और मैंने जब उससे कहा कि मैं निर्धारित तिथिको उसके मामलेमें अजमेरमें उपस्थित रहनेमें असमर्थ हूँ, तब वह रोने-रोनेको हो आया। वह बहुत परेशान-सा होकर मुझसे पुनः अपने निर्णयपर विचार करनेका बार-बार आग्रह करने लगा किन्तु मेरे लिए ऐसा करना बिलकुल असम्भव था। मुझे उसके इतने अनुनय-विनयसे बड़ा आश्चर्य हुआ और मैंने कहा कि मैं बड़ी खुशीसे बम्बईके कुछ अनुभवी प्रमुख वकीलोंको (जिनके नाम भी मैंने उसके सामने सुना दिये) लिख दूँगा, किन्तु वह यह सब कुछ माननेको तैयार न हुआ और बराबर मेरे अजमेर जानेके लिए, जैसे बने वैसे, प्रार्थना करता रहा। अन्तमें हम लोग बिदा हुए, वह साश्रुनेत्र और मैं इस घटनापरिपाकसे पूर्णतः हैरान। कुछ समय बाद मुझे इस आशयका तार पाकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि 'जुडीशल कमिश्नरने मामलेकी पेशी बीस दिनोंके लिए आगे बढ़ा दी है, तो क्या अब आप आ सकेंगे?' यह बात मैंने तुरन्त स्वीकार कर ली। मुझे बादमें पता चला कि मुवक्किलने पेशी आगे बढ़वानेके लिए ही एक अनुभवी वकील नियुक्त कर लिया था। उसीने प्रयत्न कर बड़ी कठिनाईसे मामला स्थगित कराया। जुडीशल कमिश्नरने उसकी सुनवाई अजमेरमें अदालतके बैठनेकी निर्धारित अवधिके शुरूसे हटाकर अन्तमें कर दी।

अजमेरके लिए मेरे रवाना होनेके पहले ही मुवक्किलने आकर मुझसे भेंट की। उसने प्रस्ताव किया कि रेल-यात्रामें गाड़ियोंका सम्बन्ध मिलनेमें कहीं कोई गड़बड़ न हो, इसलिए बेहतर यह होगा कि दिल्लीसे अजमेरतक (तीन सौ मील) की यात्रा मैं मोटरकारमें ही करूँ। ऐसा करनेसे मैं पेशीके एक दिन पहले ही बड़े आरामसे शामतक पहुँच जाऊँगा। उसकी बात रखनेके लिए मैंने उसका प्रस्ताव आंशिक रूपसे स्वीकार कर लिया और इच्छा प्रकट की कि मोटरगाड़ी मेरे लिए अलवरमें (अजमेरसे २०० मील इधर) तैयार रखी जाय। ऐसा ही किया गया। जब मैं अलवर पहुँचा तो मैंने बड़ी आरामदेह, बढ़िया कार खड़ी देखी जो मुझे अजमेर ले जानेके लिए प्रतीक्षा कर रही थी। मार्च महीनेका प्रारम्भ था और दिन भी बड़ा सुहावना था। उस सुन्दर मौसिममें दिनके तीसरे पहर राजपूतानेके अत्यन्त रमणीय क्षेत्रमेंसे होते हुए मैंने जो मोटरयात्रा की, उसकी याद मुझे चिरकालतक बनी रहेगी। उसमें मुझे बहुत आनन्द आया। अजमेरमें मैं अपने मुवक्किलके भव्य भवनमें ठहराया गया जो बड़े ठाटसे सजाया गया था। काफी आवभगतके साथ मेरा स्वागत किया गया। मेरा मुवक्किल मेहमानदारी करनेमें पूर्णरूपसे चतुर था। मैं आठ बजे रातमें वहाँ पहुँचा और तुरन्त ही अजमेरके अपने साथी वकीलोंके साथ सलाह मशविरा करनेमें जुट गया। मामलेके एक पहलूपर हम लोगोंने विचार किया किन्तु वास्तवमें उसके सम्बन्धमें अधिक विचार-विमर्श करनेकी कोई आवश्यकता ही नहीं थी।

दूसरे दिन सबेरे ११ बजे अदालतकी कारवाई शुरू हुई। रायबहादुर रामकिशोर, जो दिल्लीकी वकील-मण्डलीके नेता थे, अपीलांटकी तरफसे मामलेमें बहस करनेके लिए आये थे। अपीलकी शुरुआत करते हुए उन्होंने ८० मिनटतक भाषण किया जिसमें सुदृढ़ और सुसंगत दलीलें सामने रखते हुए जोरदार शब्दोंमें अपना भाव प्रकट किया। बहसके सिलसिलेमें उन्होंने यह शिकायत की कि उक्त दत्तकपुत्र अपनी माँको सीधे-सीधे भूखों मार रहा था। यह सुनकर न्यायाधीशने प्रश्नात्मक भावसे मेरी तरफ देखा। मैंने बीचमें उठकर जवाब दिया कि 'यह कथन यथार्थ नहीं है। हम ऊपरी खर्चके लिए महिलाको दो सौ रुपये मासिक देनेके लिए तैयार थे किन्तु उसने हमारा अनुरोध माननेसे इनकार कर दिया। वह परिवारके ही मकानमें सबके साथ रहती है और उसका सारा खर्च उठाया जा रहा है।' इतना कहकर, जिसमें मुझे केवल दो मिनट लगे थे, मैं बैठ गया। जब अपीलांटके वकीलने, साढ़े बारह बजेके ठीक पहले, अपनी बहस समाप्त की, तब भीड़से भरी हुई अदालतमें सन्नाटा छा गया। मेरी यह आदत है कि मैं जजके सामने भाषण करनेके लिए तबतक खड़ा नहीं होता जबतक उसके रंगढंगसे यह मालूम नहीं हो जाता कि अब वह मेरी बात सुननेके लिए तैयार है। इसलिए मैं अपनी जगहपर स्थिरभावसे बैठा रहा। कुछ देरतक ऐसा लगा कि जज अपने विचारोंमें डूब गया हो। थोड़ी देरतक चिन्तन करते रहनेके बाद उसने धीरे-धीरे कहा 'मैं समझता हूँ कि मातहत अदालतने जो आदेश दिया है, उसमें दखल देना मेरे लिए सम्भव न हो।' तब अदालतकी शान्ति भंग हो गयी, थोड़ा-सा शोर-गुल हुआ और मामलेकी कारवाई खत्म हो गयी। हम सब लोग बाहर निकल आये और हमारे पक्षके प्रत्येक व्यक्तिने हमारे मुस्कराते हुए मुवक्किलको बधाई दी। इस सुखद परिणामके लिए मैं शायद स्वयं कोई श्रेय नहीं ले सकता था। मैं वहाँसे अपने मुवक्किलके निजी निवास स्थानपर गया, उसके साथ कुछ समयतक दोस्ताना बातचीत की और फिर अतिथिभवनको लौट आया।

मैंने मोटर द्वारा तीसरे पहर पुष्कर जानेका प्रबन्ध किया। अजमेरके मेरे नवजवान साथी वकील मेरे साथ थे। ये वही वकील थे जो मुकदमेकी बातें समझाने मेरे पास कई बार इलाहाबाद गये

२९. जंगमवाड़ीका मामला

वकालतका पेशा अख्तियार करनेके शुरूमें ही मुझे मठों और महन्तोंके सम्पर्कमें आना पड़ा। जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ, इन मठोंमेंसे बहुतोंके पास काफी पैसा है। उनकी बड़ी बड़ी जायदादें हैं और बड़े पैमानेपर महाजनीका रोजगार चलता है। उनमेंसे जो अधिक महत्वपूर्ण हैं उन्होंने कानूनके अनुसार रजिस्ट्री करा ली है और अखाड़े कहलाते हैं।

सन् १९०९में जब मैं कानपुरमें था, महन्त शान्तानन्दने, जिनकी बड़ी शानदार हस्ती थी, इलाहाबादके निर्वाणी अखाड़ेपर चार लाख रुपयेकी नालिश की थी। वादीका कहना था कि कुछ समय पहले उसने उक्त रकम अखाड़ेमें जमा की थी और जमा करनेकी यह कारखाई कानपुरमें हुई थी। किन्तु कारखाई मौखिक ही हुई थी, उसकी पुष्टिके लिए कोई कागज नहीं लिखा गया था। स्पष्ट ही यह एक विचित्र आरोप था। जो हो, प्रतिवादीके नाम इलाहाबादमें समन भेजा गया और समनकी तामील करानेवाले सरकारी कर्मचारीकी रिपोर्टके साथ वापस आया। रिपोर्टमें कहा गया था कि वह अखाड़ेके मन्त्रीके सामने जाब्तेसे ले जाया गया था किन्तु उसने उसे लेनेसे इनकार कर दिया। कानूनकी दृष्टिसे इतनी कारखाई पर्याप्त समझी गयी। सिविल जजके मनमें इस दावेकी सचाईके सम्बन्धमें बहुत सन्देह था। फिर भी वह महन्तके भव्य व्यक्तित्वके दबदबेमें आ गया। उसने प्रतिवादीके अनुपस्थित होते हुए भी मामलेपर विचार किया और वादीके पक्षमें फैसला कर दिया।

यथासमय इस डिगरीको कार्यान्वित करनेका प्रयत्न किया गया। तब अखाड़ावालोंको उसका पता चला। उन्होंने प्रतिवादीकी अनुपस्थितिमें दी गयी डिगरीको रद्द कर देने और मुकदमा फिरसे सुननेके लिए कानपुरकी अदालतमें दरखास्त दी। दरख्वास्त पण्डित पृथ्वीनाथने तैयार की थी और मैं उनका सहायक था। उसमें कहा गया था कि यह दावा बिलकुल झूठा था और समनकी तामीलीकी बात एकदम बनावटी थी। मामले सम्बन्धी हिदायत हमें अखाड़ेके मन्त्री देते थे। इनका नाम था महन्त बालकपुरी। इनका व्यक्तित्व भी शानदार और सम्माननीय था। वादीने इस दरख्वास्तका विरोध किया किन्तु धोखेबाजीकी बात तो स्पष्ट ही थी। इसके सिवा सारी कारखाई इतनी अनोखी तथा असाधारण थी कि जजने डिगरी रद्द कर दी और आदेश दिया कि मुकदमा फिरसे सुना जाय।

इस बीच पण्डित पृथ्वीनाथकी मृत्यु हो गयी और मुकदमेका भार मेरे ऊपर पड़ा। उसमें सफाई देना मुश्किल न था, क्योंकि दावा बिलकुल झूठा था।

वादीने दरख्वास्त दी कि हमारे जो गवाह दरभंगामें हैं, उनका बयान लेनेके लिए कमीशन भेजा जाय। कमीशन बना दिया गया और मैं महन्त बालकपुरीके साथ गवाहोंसे जिरह करनेके लिए वहाँ गया। वे लोग जमा की गयी रकमके प्रत्यक्षदर्शी गवाह माने जाते थे। वह यात्रा भी मेरे लिए बिहारकी निचली भूमिका एक स्मरणीय अनुभव साबित हुई। पिछले कुछ दिनों वहाँ जोरोंकी वर्षा हो चुकी थी। मुकामाघाट रेलवे स्टेशनसे जब मैं स्टीमरमें बैठकर गंगाके उस पार पहुँचा, तब मैंने समस्त देहाती क्षेत्रको एक विस्तीर्ण जलाशयके रूपमें परिणत पाया। उसमें गाँवके अवशिष्ट भाग यत्रतत्र छोटे टापुओं जैसे दिखाई देते थे। दूसरी तरफसे दरभंगाकी ओर जानेवाली रेलगाड़ी बहुत धीमी गतिसे चल रही थी और अन्तमें वह दरभंगाके बाहरी स्टेशन लहरियासरायपर रुक गयी। मैं उतर पड़ा और यात्रियोंके ठहरनेके स्थान, डाक बँगलेमें जा पहुँचा। आधा लहरियासराय जो मुख्य सड़कके एक ओर पड़ता था, पानीमें डूबा हुआ था। पक्की सड़क काफी ऊँची थी। चारों

तरफ फैलते हुए पानीको रोकनेके लिए वह बाँधका काम दे रही थी, इसीसे डाक बंगला बचा हुआ था। दूसरे दिन सबेरे हम लोग दीवानी अदालत गये। यह काफी बड़ी इमारत थी जो ऊँचाईपर बनी हुई थी। वकील लोग नावों या डोंगियोंमें बैठकर दरभंगासे आ रहे थे। वह बड़ा मजेदार दृश्य था। मैं कमिश्नरको खोजने लगा और कुछ कठिनाईके बाद मुझे उसका पता लगा। उसने हमें बतलाया कि कमीशनके लिए काम करना सम्भव न होगा, वे सब गाँव जहाँ गवाह रहते हैं बिलकुल पानीमें डूबे हुए हैं और वहाँके निवासी पेड़ोंकी चोटियोंपर पक्षियोंकी तरह बैठकर अपनी रक्षा कर रहे हैं। इसलिए हम लोग कुछ भी काम न कर सके और हमें वैसे ही वापस चले आना पड़ा। किन्तु वापस लौटना भी कोई आसान काम न था। रेलमार्गके दोनों तरफ लहरियासरायका अन्य स्थानोंसे सम्बन्धविच्छेद हो गया था। रेलकी सड़क कई स्थानोंपर बीचसे काट दी गयी थी जिससे बाढ़का पानी निकल जाय। इसलिए हम लोग रेलसड़कके किनारे-किनारे लहरियासरायसे दरभंगा स्टेशनतक चार मील पैदल ही गये। जहाँ सड़क काट दी गयी थी, वहाँ रेलकी लटकती हुई पटरी पकड़कर बड़ी जोखिम उठाते हुए हमने खाई पार की, जब कि बाढ़की तेजधारा हमारे नीचेसे प्रवाहित हो रही थी। दरभंगामें हम बहुत देरतक ठहरे रहे और अन्तमें दूरके चक्करदार रास्तेसे दरभंगासे कानपुर वापस लौटे। इसमें हमें मामूलीसे दो दिन अधिक लग गये। बाढ़के कारण मैं शान्तानन्दके गवाहोंसे जिरह करनेका आनन्द उठानेसे बिलकुल ही वंचित रह गया, क्योंकि उनके मुकदमेकी दर-असल कोई सुनवाई ही न हो सकी। जब मुकदमा पेश हुआ, तब वे उपस्थित न थे, इसलिए मामला प्राभियोक्ताके अभावमें खारिज कर दिया गया।

गम्भीर तथा धार्मिक महन्तोंसे यही मेरा पहला परिचय था और यह कोई सुखद अनुभव न था। समयकी गतिके साथ उनके सम्बन्धमें मेरी यह अप्रिय धारणा प्रबलतर होती गयी है। कहा जाता है कि इन पवित्र संन्यासियोंने संसारका परित्याग कर दिया है पर मैं इस परिणामपर पहुँचा हूँ कि इन्हें अदालतमें झूठ बोलते समय जरा भी हिचक नहीं होती, विशेषकर जब उन्हें ऐसा करनेमें मठका लाभ दिखाई देता है या जब महन्तकी गद्दीके लिए झगड़ा उठ खड़ा होता है। यह माना जाता है कि उनके पास कोई सम्पत्ति, कोई जायदाद नहीं होती किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उनमेंसे बहुतोंके पास चरित्र या शील नामको भी नहीं होता। हर तरहकी जायदादका इनमेंसे बहुतोंपर, जिन्हें इसे अपनी इच्छाके अनुसार खर्च करनेका अधिकार हो, अनिष्टकारी प्रभाव पड़ता है, फिर यह सम्पत्ति चाहे व्यक्तिगत हो या सार्वजनिक, ट्रस्टकी हो, दानकी हो या धार्मिक संस्थाकी हो। संसारसे विरक्त हो जानेवाले साधु तथा संन्यासी, जबतक वे सम्पत्तिके सम्पर्कमें नहीं आते, प्रायः सम्माननीय व्यक्ति होते हैं। अधेड़ उम्रके बाद जो लोग संन्यास ग्रहण करते हैं, उनमेंसे कितने ही प्रायः विद्वान् धर्मशील व्यक्ति होते हैं, सबके सम्मानके पात्र, आनन्द और सान्त्वनाके स्रोत और दूसरोंके दुःख तथा विपत्तिमें सहानुभूतिके आगार वे लोग एकाकी जीवन बिताते हैं। वे संसारके बन्धनोंसे बचनेका प्रयत्न करते हैं और मनुष्योंके गमनागमनसे दूर—गुफाओं, जंगलों तथा निर्जन-स्थानोंमें निवास करते हैं। इसके विपरीत ये मठ हैं जिनकी स्थापना बारह-तेरह सौ वर्ष पूर्व शंकराचार्यके बाद हुई थी। मूलतः तथा सिद्धान्ततः इनका जो भी कर्तव्य रहा हो, आज तो ये सांसारिक मामलों तथा सांसारिक कामकाजोंमें ही लीन हैं। ये उस समस्त भ्रष्टाचारसे कलंकित होते हैं जो सम्पत्ति हाथमें आनेके बाद व्याप्त हो जाता है। प्रत्येक मठका मानो अपना अलग कानून होता है। उसकी आन्तरिक व्यवस्था, गद्दीके उत्तराधिकारीकी तथा अन्य पदाधिकारियोंकी नियुक्ति, उसकी जायदादका इन्तजाम और आमदनीका उपभोग तथा खर्च—इन सबका नियमन प्रत्येक मठकी अपनी प्रथाओं और रूढ़ियोंके

अनुसार होता है। कुछ मौरूसी मठ होते हैं, अर्थात् उनमें महन्तकी मृत्युके बाद उसका पद उसके सबसे पुराने शिष्यको प्राप्त हो जाता है। कुछ मठोंमें महन्तको अधिकार होता है कि वह अपने किसी भी शिष्यको अपना उत्तराधिकारी मनोनीत कर दे। कुछ ऐसे भी मठ हैं जिनमें महन्तकी नियुक्ति मठके सदस्योंके चुनाव द्वारा अथवा आसपासके अन्य मठोंके महन्तों द्वारा होती है। ये सब पंचायती मठ कहलाते हैं। महन्तका पद प्रतिष्ठाका पद होता है और लाभका भी, इसलिए अक्सर उसके सम्बन्धमें झगड़े उठ खड़े होते हैं जिनके निपटारेके लिए अदालतोंकी शरण लेनी पड़ती है। परस्पर-विरोधी साक्ष्य तथा बहुसंख्यक झूठे गवाहोंकी दृष्टिसे इस तरहके मुकदमे अन्य मुकदमोंसे भिन्न नहीं होते बल्कि उनसे बदतर ही होते हैं। मुझे ऐसे बहुतसे मुकदमोंका अनुभव है। उदाहरणके लिए एक मठके मुकदमें तीन दावेदार खड़े थे। एक कहता था कि मैं उनका शिष्य हूँ। दूसरा कहता था कि मैं उनका सहशिष्य हूँ। तीसरा अपनेको दिवंगत महन्तका गुरु कहता था। मृत महन्त, जिसकी मृत्यु कम उम्रमें ही हो गयी थी, अपने ढंगका अद्भुत व्यक्ति था। वह जब बालक था तभी महन्तकी गद्दीपर बैठा दिया गया था। कोर्ट ऑफ वार्ड्सने उसकी तथा मठकी जायदादकी देख-रेखका भार अपने ऊपर ले लिया था। वह अपने पदके योग्य धार्मिक तथा आध्यात्मिक कर्तव्योंका समुचित रूपसे पालन कर सके, इस दृष्टिसे उसे अच्छी और उपयुक्त शिक्षा प्रदान करनेकी व्यवस्था करनेके लिए संरक्षक न्यायालय (कोर्ट ऑफ वार्ड्स)के अधिकारी बाध्य थे। उन्होंने उसे लखनऊके कालविन स्कूलमें भेजकर यह जिम्मेदारी पूरी की। यह स्कूल अवधके जमींदारोंके लड़कोंका स्कूल था। वहाँ बालक महन्तने घोड़ेकी सवारी करना, बन्दूक चलाना, तैरना और शराब पीना तथा नाचना सीखा। थोड़ी-सी कामचलाऊ अंग्रेजीका भी ज्ञान उसे कराया गया। जब वह इस स्कूलके जीवनसे आजिज आ गया तो उसने कोर्ट ऑफ वार्ड्सको एक सुगठित प्रेरित पत्र लिखा। इसमें उसने बतलाया कि 'मुझे महन्तका काम करना है, इस कारण मेरे लिए हिन्दू धर्म तथा हिन्दू धर्मशास्त्रोंका ज्ञान प्राप्त करना भी आवश्यक है। स्कूलमें मेरी काफी पढ़ाई हो चुकी। अब मैं पण्डितोंसे भी कुछ सीखना और देशके अन्यान्य मठोंका परिदर्शन करना चाहता हूँ। संरक्षक न्यायालयने यह बुद्धिसंगत प्रार्थना तुरन्त स्वीकार कर ली। उसने स्कूल छोड़ दिया और शास्त्रोंका अध्ययन कर अपनेको इतना योग्य बना लिया कि एक रखैली रखकर एक पुत्र भी पैदा कर लिया। वह बड़े सपाटेसे आगे बढ़ रहा था कि इसी समय प्रारम्भिक युवावस्थामें ही उसकी मृत्यु हो गयी। एक नवयुवक सामने आया और कहने लगा कि मृत महन्त मुझे पसन्द करते और मुझसे स्नेह करते थे और उन्होंने मुझे अपना शिष्य भी बना लिया था, इसलिए अब मुझे ही महन्त बननेका अधिकार है। एक और आदमीने कहा कि स्कूल छोड़नेके बाद महन्त मेरा चेला बन गया था, इसलिए गुरुके नाते मुझे उसके बाद महन्तकी गद्दीपर बैठनेका हक है। तीसरेने इन दोनोंके दावोंका खण्डन किया और कहा कि मैं महन्तका गुरुभाई हूँ। मृत महन्तका एक और गुरु था और हम दोनों उसी गुरुके शिष्य थे। इस प्रकार तीन आदमियोंकी यह लड़ाई अदालतोंमें चलती रही। प्रत्येक दावेदारको इस कामके लिए काफी पैसा मिल जाता था—दूसरे मठोंसे, प्रशंसकोंसे तथा सट्टेबाजोंसे। मातहत अदालतने फैसला दिया कि कोई भी दावेदार अपना दावा साबित नहीं कर सका किन्तु उच्च न्यायालयका अभि-निर्णय शिष्यके पक्षमें हुआ। यही भाग्यवान् व्यक्ति इस प्राचीन संस्थाका महन्त बन गया। मैं यह नहीं कहता कि बिल्कुल इसी ढंगके मुकदमे होते हैं। यह जरा आगे बढ़ा हुआ मामला था, क्योंकि प्रत्येक युवक महन्तको ताल्लुकेदारोंके कालविन स्कूलमें उत्तम शिक्षा प्राप्त करनेका सौभाग्य प्राप्त नहीं होता। फिर भी इस तरहके जो मुकदमे अदालतोंके सामने आते हैं वे सचमुच ही काफी बुरे होते हैं।

मठोंको अपनी सम्पत्तिकी रक्षाके लिए अक्सर मुकदमे लड़ने पड़ते हैं। इस तरहका एक उदाहरण मैं घसीटी बीबीके मामलेमें दे चुका हूँ। चली आयी हुई परिपाटीके अनुसार महन्तको मठकी ही कुछ सम्पत्ति, मठके हितके लिए, जिसे कानूनी आवश्यकता भी कहते हैं, हस्तान्तरित करनेका अधिकार है—उदाहरणके लिए उसे नष्ट होने या ऋणकी वसूलीमें लिये जानेसे बचानेके लिए। इस सम्बन्धका कानून बहुत व्यापक है और उसमें कानूनी चतुरताकी काफी गुंजाइश है। महन्तको अपने जीवनकालमें सम्पत्तिके उपयोगके सम्बन्धमें विस्तृत अधिकार प्राप्त हैं। यदि वह सम्पत्तिको बिना किसी न्यायोचित कारणके हस्तान्तरित कर देता है तो भी वह उसे उस व्यक्तिसे, जिसे वह दी गयी हो, पुनः प्राप्त करनेके लिए खुद नालिश नहीं कर सकता। उस समय अक्सर इस उपायसे काम लिया जाता है कि मठसे किसी शिष्यसे हस्तान्तरणको रद्द कर देने और मठके हितार्थ सम्पत्ति पुनः प्राप्त करनेके लिए दरख्वास्त दिला दी जाती है। महन्त इस मामलेमें प्रतिवादी बना कर शामिल कर दिया जाता है। यदि नालिश सफल होती है तो डिगरीमें आदेश दे दिया जाता है कि वह मठके लाभार्थ उसे लौटा दी जाय। इसलिए वह उसे ठिकानेसे पुनः प्राप्त कर लेता है। कभी-कभी एक और उपायसे काम लिया जाता है, विशेषकर ऐसी हालतमें जब कि महन्त बूढ़ा हो गया हो और उसके अधिक समयतक जीवित रहनेकी आशा न हो। वह जाब्तेसे महन्तकी गद्दी त्याग देता है और तब आवश्यकतावश कोई अन्य व्यक्ति उसका उत्तराधिकारी बना दिया जाता है। यह उत्तराधिकारी अपने पूर्वगामी महन्तके अवैध हस्तान्तरणोंको माननेके लिए बाध्य नहीं होता। वह गैरकानूनी ढंगसे हस्तान्तरित की गयी सम्पत्तिको पुनः प्राप्त करनेके लिए मामला दायर कर देता है। इस बीच पहलेका वह बूढ़ा महन्त सम्मानित व्यक्तिके रूपमें मठमें बना रहता है। इस प्रकार यह खेल चलता रहता है। इस तरहके मामलेका एक सबसे मनोरंजक उदाहरण बनारसके जंगमबाड़ीका मुकदमा था।

बनारसमें स्थित जंगमबाड़ी मठ भारतमें लिंगायतोंके प्रमुख स्थानोंमेंसे एक है। उत्तरप्रदेशमें लिंगायतोंकी संख्या सचमुच ही बहुत कम है और यह प्रतिष्ठान इस बातका सबूत है कि किस तरह काशीकी पवित्र नगरी हिन्दुओंके प्रत्येक सम्प्रदायको अपनी ओर आकर्षित करती है। मैंने इस संस्थाके तथा इसके महामान्य अधिपतिके दर्शन किये हैं। इसका इतिहास कई शताब्दियों पुराना है और इसके अधिकारमें ऐसी मूल्यवान् भूसम्पत्ति है जो नगरके मध्यमें अवस्थित है। और भी बहुतसी सम्पत्ति उसके पास है। लगभग ९० वर्ष पहले उस समयके जंगमने, जो संस्थाका अधिपति था, महाजनी कारबार शुरू कर किया। समय बीतनेपर इसमें अच्छी उन्नति हुई। लोग उसके पास रुपया सम्पत्ति जमा करने लगे और उसका यह 'बचैयत खातेकी जमा' का रोजगार चल निकला। हजारों जमा करनेवाले थे। जहाँ-जहाँ रुपया लगाया गया था, वहाँ-वहाँसे मुनाफा होता था और बड़ी आमदनी होती थी। कारबार बिलकुल नियमित रूपसे चलता था। दूसरे निजी कोठीवालोंकी तरह ग्राहकोंको पास-बुक (उनके हिसाबकी किताबें) भी दी जाती थीं। उसकी साख ऊँची थी। इसलिए कारबार बहुत दिनोंतक अच्छा चलता रहा और तब अफवाहें फैलने लगीं। जंगम मनमाना रुपया खर्च कर रहे हैं, जमीन-जायदाद खरीद रहे हैं, इमारतको भीतर-बाहरसे सुन्दर बना रहे हैं और उसे बढ़ाते जा रहे हैं। साथ ही बड़े-बड़े खर्चीले मुकदमे लड़े जा रहे हैं और यह सब जमा करनेवालोंकी पूँजीसे। अफवाहोंके कारण रुपया जमा करनेवालोंकी संख्या घटने लगी और अधिकाधिक रुपया निकाला जाने लगा। फिर भी कारबार कुछ वर्षोंतक चलता रहा और तब स्थिति पराकाष्ठाको पहुँच गयी। अब कोई नकद पूँजी नहीं रह गयी, नयी रकमें जमा करना बन्द हो गया और बंकने अपना 'दरवाजा बन्द कर दिया'। बहुत-सी नालिशें की गयीं, डिगरियाँ हुई और जायदाद बेचकर

रुपया वसूल करनेका प्रयत्न किया जाने लगा। इतनेमें किसीको एक उपाय सूझ पड़ा। जंगमने एकाएक महन्तगिरी त्याग दी (वे बूढ़े हो गये थे और कुछ ही समय बाद उनकी मृत्यु हो गयी)। उनका कृपापात्र शिष्य उत्तराधिकारी हुआ। उसने तुरन्त ही यह घोषित करानेके लिए दरख्वास्त दे दी कि महाजनीका कारबार जंगमका अपना निजी कारबार था। उन्होंने उसे शुरू किया था और चलाया था। मठ उनके ऋणों या दायित्वोंको माननेके लिए बाध्य नहीं। उसकी स्थापना धार्मिक सिद्धान्तोंके प्रचारके उद्देश्यसे और धार्मिक उपासनाके लिए की गयी थी। लेन-देनका या अन्य कोई कारबार चलाना उसका उद्देश्य नहीं था। वह एक या एकाधिक जंगमों द्वारा महाजनी कोठीके रूपमें परिणत नहीं किया जा सकता। यदि महाजनी कारबारके मुनाफे या जमा की गयी रकमोंसे जायदाद खरीदी गयी थी, तो इसकी जिम्मेदारी जंगमोंपर थी, न कि मठपर। यदि जंगमोंने इनमेंसे कुछ रकम संस्थाकी इमारतोंको सुन्दर बनानेमें खर्च कर दी या नयी खरीदी गयी जायदादोंमेंसे कुछ उन्होंने संस्थाको दानमें दी गयी अन्य सम्पत्तिमें मिला दी, तो संस्थाका इसमें कोई वश न था। इस तरहकी देन स्वीकार करनेसे वह अपनेको रोक नहीं सकती थी। यदि कोई धनी व्यक्ति अपनी कुछ सम्पत्ति किसी संस्थाको दानके रूपमें अर्पित कर देता है और उसके कई वर्ष बाद उसका दिवाला निकल जाता है, तो उसके दिवालियेपनका कुछ भी असर उसके द्वारा बहुत पहले दान कर दी गयी सम्पत्तिपर नहीं पड़ सकता। ठीक यही बात यहाँ लागू होती थी। जंगम लोगोंने कुछ सम्पत्ति दानमें दे दी थी। यह सम्पत्ति, उनके दिवालिया हो जानेपर भी मठकी ही बनी रहेगी। प्रतिवादियोंकी संख्या कई सौ थी। वस्तुतः रुपया जमा करनेवाले या ऋण देनेवाले प्रत्येक व्यक्तिपर मामला चलाया गया था। यह सबको मात देनेवाली चाल थी जिससे और सब मुकदमेबाजी खत्म हो गयी, सभी ऋण-दाताओं द्वारा उठाये गये झगड़े बन्द हो गये।

प्रतिवादियोंने पहले तो मठका अस्तित्व माननेसे ही इनकार कर दिया। और यदि उसका अस्तित्व माना ही जाय तो उनका यह आग्रह था कि महाजनीका कारबार भी मठकी ओरसे ही होता था और उसके कारण जो देना या दायित्व उत्पन्न हो गया है, उसकी अदायगी करनेके लिए वह बाध्य है।

सिविल जजके सामने बहुत दिनोंतक मुकदमा चलता रहा। वादीके पक्षका समर्थन करनेके लिए कमीशन द्वारा भारतके विभिन्न स्थानोंके प्रसिद्ध और प्रतिष्ठित लिंगायतोंके बयान लिये गये। परिणामस्वरूप विचारक न्यायाधीशने बड़ी विचित्र-सी निष्पत्ति निकाली। उसने देखा कि एक प्राचीन मठ था, इसमें कोई सन्देह नहीं किन्तु उसकी यह भी राय हुई कि महाजनी कारबार मठके लाभार्थ ही चलाया गया था और उससे होनेवाला लाभ भी उसीके लिए खर्च किया गया था और उसीसे जायदाद भी खरीदी गयी थी। किन्तु अब यह सब जायदाद देवोत्तर सम्पत्ति बन गयी थी जिसका हस्तान्तरण नहीं हो सकता था। ऋणदाता या पावनेदार अपना रुपया—मूल तथा ब्याज—जायदादोंके किराये तथा मुनाफेसे ही वसूल कर सकते थे, उसकी बिक्रीसे नहीं। इससे पावनेदारोंकी तथा जिनका रुपया जमा था उन लोगोंकी कोई तसल्ली नहीं हो सकती थी। लगान तथा मुनाफेसे ब्याजकी रकम भी पूरी-पूरी नहीं निकल सकती थी। फिर संस्थाकी सार सँभाल, प्रतिदिनकी उपासनाका प्रबन्ध तथा समस्त धार्मिक कृत्योंका किया जाना, इन्हींके खर्चका भार उठाना संस्थाकी आमदनीका पहला दायित्व था। इससे जंगमका भी सन्तोष न हुआ, क्योंकि इससे संस्थाके ऊपर हमेशाके लिए एक बोझ लद गया। इसलिए दोनों पक्षोंने उच्च न्यायालयमें अपील की। अपील सन् १९३३ में, मेरे मंत्री बननेके पहले, दाखिल की गयी। वह कई वर्षोंतक चलती रही और मैंने (कैदसे छूटनेके बाद)

सन् १९४२ के शुरूमें जंगमकी ओरसे उसमें पैरवी की। मामलेके नैतिक पहलूको छोड़कर जहाँतक उसकी कानूनी स्थिति थी, उसमें मेरे खयालसे कोई त्रुटि नहीं थी और जंगमका पक्ष काफी प्रबल था। किन्तु जिन दो जजोंके सामने मुकदमेकी सुनवाई हुई थी, उन्होंने कानूनकी उतनी परवाह न कर उस ओर अधिक ध्यान दिया जिसे वे न्याय अथवा औचित्यका पक्ष समझते थे। उन्हें विवश होकर यह राय कायम करनी पड़ी कि मठ विद्यमान था और उसकी सम्पत्ति धर्मादा सम्पत्ति थी और वह सब ऋणकी वसूलीमें बेची नहीं जा सकती। इस तर्कका भी उनके ऊपर प्रभाव पड़ा कि मातहत अदालतकी डिगरीसे मठ हमेशाके लिए बन्धनमें बँध जाता है। किन्तु यह गुत्थी उन्होंने सचमुच बड़े अद्‌भुत ढंगसे सुलझायी। उन्होंने उसी दिनसे सूदका लगाया जाना रोक दिया जिस दिन बंकने 'अपना दरवाजा बन्द किया' था। उसने आदेश दिया कि मातहत अदालत एक 'आदाता' रिसीवरकी नियुक्ति कर दे और यह रिसीवर संस्थाका सामान्य व्यय निकालनेके बाद शेष आमदनी पावनेकी मूल रकम चुकानेमें लगावे। उच्च न्यायालयका खयाल था कि इस काममें १०-१५ वर्षका समय लगेगा और इस उपायसे उभयपक्षके प्रति बहुत कुछ न्याय हो सकेगा। बादमें इस मामलेकी अपील सम्भवतः प्रिवी कौंसिलमें भी की गयी थी किन्तु उसकी चर्चा करना यहाँ अनावश्यक है। इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि मेरे देखनेमें यह सबसे साहसपूर्ण—एक ही प्रहार में समस्त पावनेदारोंका दावा खत्म कर देनेका प्रयत्न था।

३०. ट्रस्ट सम्बन्धी झगड़े

प्रत्येक सार्वजनिक, धार्मिक या दानपर चलनेवाली संस्थाका प्रबन्ध ठीकसे चलता रहे, इसकी जिम्मेदारी अन्ततोगत्वा हमेशा राजके ऊपर ही रहती है। और यह दायित्व न्यायालयोंके न्यायाधीशों-की सहायतासे ही पूरा किया जाता है। भारतमें जाब्ता दीवानीकी धारा ९२के अनुसार महाधिवक्ता या उसकी मंजूरीसे कोई भी दो व्यक्ति जिन्हें ट्रस्टमें दिलचस्पी हो, ट्रस्टकी शर्तोंका पालन न होनेपर तथा अन्य बतायी हुई स्थितियोंमें जिला अदालतोंमें दरख्वास्त दे सकते हैं। इसमें आवश्यक सुधार-की माँग की जा सकती है, जैसे ट्रस्टीका हटा दिया जाना, नये ट्रस्टीकी नियुक्ति, हिसाब तैयार कराना तथा ट्रस्टके सन्तोषजनक संचालनकी योजना तैय कराना। दुर्भाग्यवश ट्रस्टकी जायदादोंकी दुर्व्यवस्था और ट्रस्टके रुपयेका दुरुपयोग होनेसे फैलनेवाली बदनामीकी घटनाएँ होती ही रहती हैं। फिर भी महाधिवक्ता (एडवोकेट जनरल) शायद ही कभी हस्तक्षेप करता हो। भारतके स्वतन्त्र हो जानेसे स्थितिमें अब बहुत कुछ सुधार हुआ है। दिलचस्पी रखनेवालोंकी नालिशें तो अक्सर हुआ करती हैं किन्तु इसमें बुराई यह है कि मुख्यरूपसे ट्रस्टकी भलाईके उद्देश्यसे ये क्वचित् ही की जाती हैं। अक्सर वे व्यक्तिगत ईर्ष्या अथवा द्वेष या चिढ़के कारण की जाती हैं। इसमें सन्देह नहीं कि कोई दरख्वास्त किस उद्देश्य या प्रेरणासे दी जाती है, इस फेरमें कानून नहीं पड़ता। हो सकता है कि वादी मलिन स्वभावका हो और उसका उद्देश्य अच्छा न हो, फिर भी कर्तव्यभ्रष्ट ट्रस्टीको दण्ड दिलानेमें वह साधन रूप हो सकता है। किन्तु न्यायाधीशगण भी मनुष्य ही होते हैं। वे जानते हैं कि विशुद्ध परोपकारकी भावनासे प्रेरित होकर काम करनेवाले आदमी विरले ही होते हैं, इसलिए द्वेष या बदलेकी भावनाकी चर्चामात्रसे न्यायाधीशके मनमें सन्देह उत्पन्न हो जाता है और वह ट्रस्टीके विरुद्ध किये गये आरोपोंको अविश्वासकी दृष्टिसे देखने लगता है। प्रान्तमें कुछ ऐसी सभा-समितियाँ विद्यमान हैं जिनका लक्ष्य ट्रस्टोंकी व्यवस्थामें सुधार करना और उनमें कोई गोलमाल न होने पावे, इसका ध्यान रखना है। यह बहुत अच्छा काम है। ये सभाएँ व्यक्तिगत

भावनाओंसे प्रेरित होकर काम नहीं करतीं। वे काफी निष्पक्ष अनुसन्धानके बाद ही अदालती काररवाई शुरू करती हैं। न्यायाधीश भी उनकी नालिशोंपर अधिक सावधानी और ध्यानसे विचार करते हैं।

मैं जाब्ता दीवानी की धारा ९२के अनुसार चलाये गये कितने ही मामलोंमें पैरवीके लिए, ट्रस्टीके पक्षमें या उसके खिलाफ भी, खड़ा हुआ हूँ। ट्रस्टीने यदि ईमानदारीसे व्यवहार किया है और ट्रस्टके रुपयोंके दुरुपयोगमें उसने जाने-समझे हिस्सा ग्रहण नहीं किया है तो अदालतका रुख उतना कठोर नहीं होता। वह समझकी भूलों, हिसाब रखनेकी लापरवाही और ट्रस्टका सम्पत्तिके प्रबन्धनमें बुद्धिसंगत परिश्रमकी कमी आदिपर प्रायः नरमीसे विचार करती है। इसलिए इस तरहके मुकदमोंमें मुख्य लड़ाई इसी प्रश्नपर चलती है कि न्यास (ट्रस्टी) के रुपयोंका अपयोजन या बुरी नीयत-से दुरुपयोग तो नहीं हुआ है? मुझे दृढ़तापूर्वक लड़ी गयी इस तरहकी कितनी ही लड़ाइयोंका स्मरण है किन्तु इन मुकदमोंमें सामान्य लोगोंकी बहुत ही कम दिलचस्पी होती है। अक्सर तो वह खास-खास मदोंकी जाँचभरका मामला होता है। यदि कई वर्षोंका हिसाब हो तो अदालत 'मनुष्य की कमजोरी' या 'सद्भावनापूर्ण भूल'के नामपर इस तरहकी एक, दो घटनाओंको उपेक्षाके भावसे देखनेको भी उद्यत हो जाती है। हाँ, यदि ट्रस्टीने जानबूझकर बराबर धोखा देने या छल करनेका प्रयत्न किया हो तो यह बात उसके पक्षके लिए हानिकर होती है और अदालत उसे कभी क्षमा नहीं करती। बेईमान ट्रस्टी अनेक उपायोंसे काम लेते हैं और उनकी चालबाजियोंका वर्णन करना मुश्किल है। खेतीयोग्य जमीनें अनुकूल शर्तोंपर अपने लड़कों या दामादोंको जोतने-बोनेको दे देना, नजदीकके निर्धन रिश्तेदारोंको ट्रस्टका रुपया उधार दे देना और ट्रस्टका रुपया खुद अपने खर्चमें लगा देना, आदि बहुत प्रचलित बातें हैं।

ट्रस्टमें जिन लोगोंका अपना कोई स्वार्थ नहीं होता, वे यदि उसके खिलाफ कोई काररवाई करना चाहें तो ट्रस्टके मामलोंकी, विशेषकर उसके आर्थिक साधनों आदिकी पर्याप्त और सच्ची जान-कारी न होनेसे इसमें भारी कठिनाई होती है। यह बाधा व्यवस्थापक सभा द्वारा स्वीकृत सन् १९२३ के अधिनियमसे दूर हो गयी है। अब जो लोग किसी सार्वजनिक, धार्मिक या दानसे चलनेवाले ट्रस्टके मामलोंमें दिलचस्पी लेते हों, वे यदि चाहें तो जिला अदालतमें इस आशयकी दरख्वास्त दे सकते हैं कि वह ट्रस्टियोंको दो चार, दस वर्षोंका हिसाब अदालतमें पेश करनेका आदेश दे दे। इस आदेशका पालन न करना ही उस ट्रस्टीको हटानेके लिए पर्याप्त कारण समझा जाता है, जिसके खिलाफ जाब्ता दीवानीकी धारा ९२के अनुसार मुकदमा चलाया गया हो। यह अधिनियम केवल सार्वजनिक ट्रस्टों-पर लागू होता है। यदि कोई ट्रस्टी यह माननेसे इनकार कर दे कि वादग्रस्त ट्रस्ट कोई सार्वजनिक ट्रस्ट है, तो जिला जज आगेकी काररवाई तीन महीनोंके लिए स्थगित कर देता है। इस बीच ट्रस्टी-को किसी उपयुक्त न्यायालयमें यह घोषित करानेके लिए दरख्वास्त देनी पड़ती है कि उसकी संस्था या तो ट्रस्ट ही नहीं है या वह सार्वजनिक ट्रस्ट नहीं है।

यह अधिनियम बड़े कामका है और अब इसका अधिकाधिक सहारा लिया जाने लगा है। मुझे ऐसे कई मुकदमे मालूम हैं जिनकी शुरुआत इस अधिनियमके अन्तर्गत दी गयी दरख्वास्तसे हुई थी। उनमेंसे राधा स्वामी ट्रस्टका मामला अत्यन्त प्रसिद्ध है।

उत्तरप्रदेशमें राधा स्वामियोंको सभी लोग जानते हैं और मेरा खयाल है कि देशके अन्य भागोंमें भी वे काफी बड़ी संख्यामें पाये जाते हैं। स्वर्गीय सर आनन्दस्वरूपने आगरेकी सुप्रसिद्ध दयाल बाग कालोनीकी संस्थापना की थी। वे बड़ी आध्यात्मिक साधनावाले तथा सिद्ध पुरुष थे।

वे प्रचारका महत्व भी अच्छी तरह समझते थे। उनके व्यक्तित्व तथा उनके परिश्रम एवं उद्योगसे भारतके प्रत्येक स्थानमें राधा स्वामियोंके प्रति लोगोंका ध्यान आकर्षित हुआ।

राधा स्वामी सम्प्रदायकी उत्पत्ति हुए अभी कुछ ही वर्ष हुए। उसके संस्थापक स्वामी दयाल थे। उसके तीसरे गुरु व्यावसायिक प्रवृत्तिके सज्जन थे। उन्होंने देखा कि उनके अनुयायियोंको अपने मामलोंका बेहतर प्रबन्ध करनेके लिए एक संघटनकी आवश्यकता है। स्थिति कुछ विचित्र-सी थी। उनकी कोई धार्मिक संस्था न थी और न कोई साधु-समाज था। नये धार्मिक सिद्धान्तोंमें विश्वास करनेवाले ये लोग हिन्दू बने रहे जो सभी भौतिक मामलोंमें हिन्दू कानूनसे नियन्त्रित होते थे। गुरु तथा उसके चेलोंके बीचका सम्बन्ध बिलकुल व्यक्तिगत होता था। इस सम्प्रदायका सारभूत तत्व गुरुके प्रति भक्ति था। वह गुरुवादी धर्म था। तुम्हें ईश्वरकी प्राप्ति केवल गुरुकी ही कृपासे, उसीकी अनुकम्पासे हो सकती है, इसलिए गुरुकी भी उपासना अधिक नहीं तो कमसे कम उतनी ही भक्तिसे की जानी चाहिये जितनीसे ईश्वरकी की जाती है। मोक्ष केवल उसीके जरिये प्राप्त हो सकता है। प्रत्येक धर्मशील राधा स्वामीका कर्त्तव्य है कि वह गुरुका ध्यान करे और उसके उपदेशोंके अनुसार आचरण करे। उनके अनुयायी अक्सर ही उनके दर्शन किया करते थे और उन्हें भेंट चढ़ाया करते थे। इन रुपयोंसे आगरा तथा बनारसमें जायदाद खरीदी गयी। ये समाधि कहलाती थीं। इसलिए तीसरे गुरुने एक ट्रस्ट कायम कर दिया और उसका प्रबन्ध करनेके लिए एक परिषद् स्थापित कर दी। परिषद्के सदस्योंको उनके आदेशानुसार ही काम करना था और उनकी इच्छाके अनुरूप ही ट्रस्टका प्रबन्ध होना था। यही संघटन-नियमावलीका तथा ट्रस्टका सबसे प्रारम्भका वाक्य था। सब तरहकी जायदाद जाब्तेसे ट्रस्टमें शामिल कर दी गयी और उसका प्रबन्ध परिषद्को सौंप दिया गया। भेंटमें जो रुपया-पैसा आदि मिलता, गुरु उसे परिषद्के हाथ सौंप देते और भण्डारा तथा अन्य समारोहोंके लिए सारा खर्च परिषद् ही बरदाश्त करती थी।

तीसरे गुरुकी मृत्युके बाद उनके उत्तराधिकारीके प्रश्नपर काफी मतभेद उत्पन्न हो गया। सिद्धान्ततः उत्तराधिकारीका न तो मनोनयन होता है और न जाब्तेसे कोई चुनाव ही। वह खुद अपनी इच्छासे अपने अनुयायियोंके दिलोंमें अपने-आपको प्रकट करता है। मृत गुरुसे निकलकर दिव्य लहर अदृष्ट-रूपसे उसके भीतर प्रविष्ट हो जाती है और साहसिक प्रेरणा तथा अनुभवसे अपने-आपको अनुयायियोंपर प्रकट कर देती है। वे स्वतः ही न चाहते हुए भी, उस ओर आकर्षित हो जाते हैं। वे उस ओर ध्यान लगाकर और उसका चिन्तनकर शान्ति, सान्त्वना तथा भीतरी आध्यात्मिक शक्ति प्राप्त करते हैं। यही इस सम्प्रदायका धार्मिक सिद्धान्त है। किन्तु व्यवहारमें यह माना जाता है कि मृत्युकी ओर उन्मुख होनेवाले गुरु लक्षणों, संकेतों तथा अप्रत्यक्ष जरियोंसे यह पहलेसे सूचित कर देते हैं कि उनकी मृत्युके बाद किस व्यक्तिमें उस दिव्य लहरके प्रविष्ट होनेकी सम्भावना है। इस प्रकार उनके अनुयायी स्वभावतः उनकी इच्छाओंसे ही पथप्रदर्शन प्राप्त करते हैं।

कहा यह गया था कि तीसरे गुरुने यह संकेत किया था कि उनकी मृत्युके बाद उनकी बहिन गुरु बनेगी और उनके पश्चात् गुरुके अत्यन्त सम्मानित अनुयायियोंमेंसे एक बाबू महादेवप्रसाद गुरु बनाये जायँ। परिषद्के प्रायः सभी सदस्योंने तथा बहुतसे अनुयायियोंने यह स्वीकार कर लिया। तदनुसार पहले उक्त बहिन, फिर बाबू महादेवप्रसाद इस सम्प्रदायके प्रधान मान लिये गये। किन्तु कुछ लोग इस व्यवस्थाके विरोधी थे जिनके मुखिया गाजीपुरके बाबू कामताप्रसाद साहब थे। बहुतोंने उन्हें ही गुरु मान लिया और उनके अनुयायियोंमें आनन्दस्वरूप भी थे जो उनकी मृत्युके बाद उनके उत्तराधिकारी हुए।

आनन्दस्वरूपमें संघटनकी स्वाभाविक योग्यता और व्यावसायिक पटुता थी। उन्हें विशुद्ध आध्यात्मिक भक्ति तथा परिचिन्तनका मार्ग निरर्थक मालूम होता था। वे केवल अपने अनुयायियोंकी आर्थिक उन्नतिके लिए ही प्रयत्नशील न थे वरन् सारे देशके ही औद्योगिक पुनरभ्युदयके इच्छुक थे। उन्होंने एक ऐसी बस्ती बसायी जो आगराकी दयालबाग बस्तीके नामसे सारे देशमें प्रसिद्ध हो गयी है। वह अब उद्योगों तथा विद्याका महान् केन्द्र बन गयी है। उसने अत्यन्त उन्नति कर ली है। विरोधी पक्षके अनुयायी ही अब संख्या तथा धन और प्रभाव, दोनों दृष्टियोंसे बहुमतमें परिणत हो गये हैं। सार्वजनिक मत भी उनके अनुकूल हो गया है।

किन्तु इस सब बढ़ती हुई सम्पन्नता तथा उन्नतिके बावजूद मूलकी जायदादें, विशेषकर समाधियाँ, दयालबाग शाखाके नियन्त्रणमें नहीं थीं। ट्रस्ट कायम था। परिषद् भी काम कर रही थी और वही वास्तवमें सारा प्रबन्ध, बाबू महादेवप्रसादके निदेशमें, कर रही थी। कुछ वर्ष बीत जानेके बाद दोनों शाखाओंका मतभेद बढ़ गया था और दोनों शाखाओंके प्रमुख व्यक्तियों तथा उनके अनुयायियोंके व्यक्तिगत सम्बन्ध निश्चितरूपसे सौहार्दपूर्ण नहीं थे। दयालबागके लोग समाधिके नियन्त्रणमें कुछ हिस्सा लेना चाहते थे। प्रीतिपूर्ण समझौता करनेके लिए कई बार लम्बी बातचीत हुई किन्तु कोई नतीजा नहीं निकला। तब सार्वजनिक सम्पत्तिके प्रशासनके आधारपर अदालतमें मामला चलाया गया। सबसे पहले इस आशयकी दरखास्त दी गयी कि ट्रस्टियोंको हिसाब-किताब दाखिल करनेका आदेश दिया जाय। तुरन्त ही इसका यह उत्तर दिया गया कि सार्वजनिक न्यास (ट्रस्ट) जैसी कोई चीज ही नहीं है। सारी सम्पत्तिका अधिकार गुरुके हाथमें है और उन्हींकी इच्छाके अनुसार उसकी व्यवस्था हो सकती है। इसके बाद काररवाई रोक दी गयी और नालिश करना आवश्यक समझा गया। नालिशकी काररवाई बनारसमें की गयी। बहुत दिनोंतक मामला चलता रहा। इलाहाबाद हाईकोर्टमें इसकी अपील हुई और मेरा ख्याल है कि बादमें लन्दनमें भी अपील की गयी। बहसके दरम्यानमें राधा स्वामी मतके धार्मिक सिद्धान्तोंकी काफी चर्चा हुई। मुझे स्मरण है कि एक सम्मानित मुवक्किलने मुझे भी इसके रहस्योंसे अवगत कराया था। मेरा ख्याल है कि स्वामीबागवाले अपना दावा प्रमाणित करनेमें सफल हो गये और समाधिपर अब भी उनका अधिकार बना हुआ है।

दयालबागके अधिकारी एक बड़ी बस्तीका प्रशासन चलाते हैं जिसमें कितनी ही शिक्षा-संस्थाएँ हैं। स्वामीबागके लोग आध्यात्मिक चिन्तन तथा अभ्यासपर अधिक ध्यान देते हैं। वे एक बहुत ही भव्य स्मारक बनवा रहे हैं, जो, जैसा कि वे कहते हैं, सौन्दर्यमें आगरेके ताजमहलको भी मात कर देगा। वह संगमरमरकी एक आश्चर्यजनक इमारत होगी जिसके निर्माणमें सौ वर्षोंसे भी अधिक समय लग सकता है। उसका 'मॉडल' याने नमूना बना लिया गया है और नीचेके हिस्सेका कुछ काम भी पूरा हो गया है। यह स्मारक कई मंजिलोंका होगा और पूरा बन जानेपर भारतकी एक आश्चर्यजनक चीज होगी।

द्वितीय भाग

फौजदारी मामले

३१. फौजदारी मुकदमेका पहला अनुभव

जब मैं कालेजमें पढ़ता था, तभीसे मुझे जासूसी कहानियाँ पढ़नेका शौक रहा है। यदि मैं कहूँ कि मैंने शरलॉक होम्सकी रचनाएँ विशेषरूपसे पढ़ी हैं, तो यह बात अधिक यथार्थ होगी। सन् १९०१से १९०५के बीच इनमेंसे कुछ कहानियाँ क्रम-क्रमसे 'स्ट्राण्डा मैगजीन'में निकलती थीं और मुझे अच्छी तरह स्मरण है कि उन्हें पढ़नेके बाद किस तरह मेरी रग-रगमें सनसनी दौड़ जाती थी। मैं उसकी तर्कपरम्पराका बारीकीसे अनुसरण करता था और मैं भी उसी ढंगपर अपनी अवलोकनशक्ति तथा अनुमान और कल्पनाशक्तिके विकासका प्रयत्न करता था जिस ढंगका उपदेश उस महान् रहस्योद्घाटकने वाटसनको दिया था। मुझे ऐसा सोचना बड़ा प्रिय मालूम होता था कि मैं वाटसनसे किंचित् अधिक चतुर हूँ। मैंने शरलॉक होम्सका प्रायः एक एक शब्द कई बार पढ़ा है। हर बार मुझे उसकी रचनामें अधिक आनन्द तथा आकर्षणका अनुभव होता था। शरलॉक होम्सके सिवा जासूसी कथाएँ लिखनेवाले और भी बहुतसे लेखक हैं किन्तु उनमेंसे सम्भवतः केवल एक, चेस्टरटनके फादर ब्राउन, को छोड़कर और कोई मुझे उतना अच्छा नहीं लगा; पर अद्वितीय शरलॉक होम्सकी तुलनामें वह भी नहीं ठहरता। जासूसी कलाके इस पण्डितसे, उसकी कहानियोंके सपरिश्रम अध्ययन द्वारा, मैंने जो सबक सीखा वह मेरे लिए हाईकोर्टमें की जानेवाली फौजदारी मामलोंकी अपीलोंमें पैरवी करते समय विशेष उपयोगी साबित हुआ।

भारतमें, जूरी द्वारा विचार किये गये मामलोंको छोड़कर फौजदारी मुकदमेके, जिसपर संक्षेपमें विचार न किया गया हो, प्रत्येक अभिनिर्णयकी अपील हो सकती है। बड़े अपराधोंवाले मुकदमोंकी अपील, जिनपर दौरा अदालतमें विचार किया जाता है, हाईकोर्टमें ही होती है, चाहे प्रश्न तथ्योंका हो या कानूनका हो। जब दौरा जज फाँसीकी सजा देता है, तब इस दण्डकी सम्पुष्टिके लिए मामला हाईकोर्टमें भेजा जाता है।

संयुक्तप्रान्त (उत्तरप्रदेश)में जूरी द्वारा विचार करनेकी प्रथा केवल ८ जिलोंमें है और वह भी अपेक्षाकृत् कम महत्वके अपराधोंके लिए। इस प्रकार उच्च न्यायालयके सामने फौजदारीके मुकदमोंकी अपीलका बहुत सा काम रहता है। इलाहाबादकी वकील-मण्डलीमें पुराने जमानेमें ऐसे बहुतसे सदस्य थे जो फौजदारी मामलोंके प्रसिद्ध वकील थे। अतीतकालमें फ़ौजदारी मुकदमोंका बहुत-सा काम अंग्रेज बैरिस्टरोंके हाथोंमें ही संकेन्द्रित था किन्तु बादमें यह अन्य लोगोंमें भी बँट गया और फौजदारी मामलोंमें खड़े होनेवाले भारतीय वकीलोंकी भी काफी संख्या देख पड़ने लगी।

पहले बहुतसे लोगोंका यह विश्वास था कि दीवानी मुकदमे लेनेवाला वकील फौजदारी मामलेमें उतना अच्छा काम नहीं कर सकता। मैं समझता हूँ कि यह कोरा मूढ़ विश्वास है। सम्भव है कि जब किसी फौजदारी मामलेपर पहले-पहल मातहत अदालतमें विचार किया जाता है, तब भारतीय पुलिसके सन्देहात्मक और कुटिलतापूर्ण तरीकोंसे अनभिज्ञ होनेके कारण दीवानी मुकदमोंके वकीलको कुछ कठिनाई पड़ती हो किन्तु फौजदारी मामलोंकी पुनर्न्यायप्रार्थनामें ऐसी कोई दिक्कत नहीं होती। वास्तवमें यह काम अधिक सरल हो जाता है। जो हो, मेरा तो यही अनुभव है।

मैंने मुख्यरूपसे दीवानी मामलोंमें वकालत करते हुए ही उन्नति की थी, फिर भी मैं फौजदारी मामलेकी अपीलमें पैरवी करनेको हमेशा तैयार हो जाता था, जब कोई मेरे पास आकर इसके लिए

कहता था। इसलिए बीच-बीचमें अवसर आनेपर मैं फौजदारी मुकदमा भी ले लिया करता था। किन्तु शुरूके एक अनुभवसे मैं एक तरहसे बड़ा भयभीत हो उठा था। मनुष्यके न्यायमें कितनी त्रुटियाँ रह जाती हैं, इसका वह ज्वलन्त उदाहरण था। उसका इतना गहरा प्रभाव उस समय मेरे ऊपर पड़ा था कि मैं उसका यहाँ वर्णन कर देना ही ठीक समझता हूँ।

सन् १९१५ की बात है। मैं एक परिश्रमशील नवसिखुए वकीलकी हैसियतसे अदालतमें बैठा हुआ था और अन्य वकीलोंकी बहस सुन रहा था। रोज एल्सटन नामके एक बहुत ही अनुभवी तथा चतुर वकीलने मेरे सामने फौजदारी मामलेकी अपील शुरू की। इस मामलेमें अभियुक्तोंको, जिनकी संख्या दो थी, हत्या करनेके जुर्ममें आजीवन कारावासकी सजा हुई थी। मामला सीधा-सादा किन्तु ध्यान आकर्षित करनेवाला था। सरकारकी ओरसे कहा गया कि एक गाँवमें एक गरीब भिखमंगिन अपनी लड़कीके साथ रहती थी। ये दोनों अभियुक्त भी उसी गाँवमें रहते थे। एक दिन बातों-बातोंमें इनसे उन दोनोंका झगड़ा हो गया। वह शीघ्र ही भभक उठनेवाली औरत थी। तुरन्त ही आग-बबूला हो उठी और गालियाँ देने लगी। खूब कड़े शब्दोंका प्रयोग किया गया किन्तु कोई मारपीट नहीं होने पायी। अन्तमें औरतने चिल्लाकर कहा कि मैं अब इस गाँवमें न रहूँगी। उसने अपना बोरिया-बँधना उठाया और लड़कीको साथमें लेकर चल पड़ी। दोनों अभियुक्त भी उसके पीछे-पीछे गये। थोड़ी देरके बाद उस औरतकी आवाज एक कुएँसे सुनाई दी जो गाँवसे कुछ ही दूरपर स्थित था। लोग घटनास्थलकी ओर दौड़ पड़े और उन्होंने माँ बेटीको कुएँसे बाहर निकाला। लड़की मर चुकी थी किन्तु माँ जिन्दा थी। अभियोगमें कहा गया था कि ज्यों ही वह बाहर निकाली गयी, त्यों ही उससे पूछा गया कि यह घटना कैसे हो गयी। उसने एक मिनट भी कुछ सोचे बिना तुरन्त अभियुक्तोंकी ओर उँगली दिखाते हुए कहा कि इन्हीं दोनोंने मुझे और मेरी लड़कीको धक्का देकर कुएँमें गिरा दिया था। उसके कथनका समर्थन करनेके लिए कोई गवाह न था। वह केवल उसका साक्ष्य था। इसके सिवा और कुछ नहीं। दौरा जजने उसे गवाहोंके कटघरेमें देखा और उसके कथनपर विश्वास कर लिया। उसने अपने फैसलेमें लिखा कि 'कटघरेमें खड़ी होकर उसने जैसा स्पष्ट और खरा व्यवहार किया उससे मैं बहुत प्रभावित हुआ। उसे मैं इतनी सत्यवादिनी और विश्वसनीय समझता हूँ कि मैं केवल उसीके साक्ष्यपर अभियुक्तोंको दोषसिद्ध माननेको तैयार हूँ। किन्तु सजा देते समय मैं यह बात नहीं भुला सकता कि इस स्त्रीके बयानकी पुष्टि करनेके लिए और कोई गवाह नहीं मिला। ऐसी स्थितिमें फाँसीकी सजा देना खतरेसे खाली न होगा। इसलिए मैं उससे कम सजा, आजीवन कैदकी सजा ही दे रहा हूँ।' एल्सटनने अपने तर्क थोड़ेमें किन्तु विश्वास उत्पन्न करनेवाली भाषामें प्रस्तुत किये। उन्होंने इस बातपर जोर दिया कि 'स्त्री बहुत अधिक गुस्सेमें थी, बहुत बकझक रही थी। उसे इस बातका भ्रम हो गया था कि अभियुक्तोंने ही उसका जीवन दुःखमय बना दिया है, इसलिए करीब-करीब आत्मघातके पागलपनके दौरमें आकर वह अपनी लड़की समेत कुएँमें कूद पड़ी। जब वह बाहर निकाली गयी तो उसका क्रोध कुछ ठण्डा पड़ गया था। उसने बिलकुल शांत-भावसे दोनों अभियुक्तोंको इस जुर्ममें फँसा दिया। आत्महत्याकी घटनाएँ अक्सर होती रहती हैं और स्त्रियाँ कुएँमें कूद पड़ा करती हैं।' मैं समझता हूँ कि ऐल्सटनने अभियुक्तोंके कुएँपर मौजूद रहनेकी तथा उनके निकाले जानेमें सहायता देनेकी बातपर भी इस दृष्टिसे जोर दिया होगा कि यह उनके निर्दोष होनेका प्रमाण माना जा सकता है। किन्तु दोनों न्यायाधीशों—टुडबाल और रफीक—एक अंग्रेज तथा दूसरा भारतीय, यह सब सुननेको तैयार न थे। उन्हें इस बातमें कोई सन्देह न था कि उक्त व्यक्ति दोषी थे—दोषी ही नहीं, बल्कि वे मनुष्यरूपधारी पशु तथा नराधम थे। मैंने न्यायाधीशोंको इतना

क्रुद्ध कभी नहीं देखा था। उनमेंसे एकने कहा 'मैं आपसे बतलाऊँ मिस्टर एल्सटन, कि बात क्या हुई। आपके मुवक्किल उस छोटी लड़कीके पीछे पड़े थे और बेचारी माँ अपनी बच्चीको इन शैतानों-से बचानेका प्रयत्न कर रही थी' इत्यादि, इत्यादि। न्यायाधीश द्वारा गुस्सेका इस तरह प्रकट किया जाना मैंने क्वचित् ही देखा था। दोनोंका ही ख्याल था कि यह स्पष्टरूपसे हत्याका मामला था और फाँसीका दण्ड ही—फाँसी ही क्यों, घोड़ागाड़ीके पीछे बँधवाकर घसिटवाना तथा शरीरके टुकड़े कराना—इसकी उपयुक्त सजा थी, बशर्ते कि इसकी अनुमति प्राप्त हो सकती। दोनोंने यह राय भी दी कि विचारक न्यायाधीशने आजीवन कारावासकी अपेक्षाकृत् हलकी सज़ा देकर कर्त्तव्यकी अव-हेलनाका परिचय दिया है। भारतीय कानूनके अनुसार अपील सुननेवाली अदालतको अपील खारिज कर देनेका ही अधिकार नहीं है, बल्कि सजा बढ़ा देनेका भी है, यदि ऐसा करना वह आवश्यक समझे तो। ऐसा करनेके पहले अभियुक्तोंको इसकी सूचना दे देना आवश्यक है। इसलिए न्यायालय-ने अभियुक्तोंके पास अधिकृत सूचना भिजवायी जिसमें उनसे पूछा गया था कि क्यों न तुम्हारी सजा बढ़ा दी जाय। अर्थात् फाँसीकी सजामें परिणत कर दी जाय? सारा दृश्य देखकर मेरे मनपर बड़ी उदासी छा गयी। न तो न्यायिक गम्भीरता थी, न शिष्टता और न न्यायबुद्धिके साथ दयाका मेल। मैंने जीवन भरके लिए यह सबक सीख लिया कि हर फौजदारी मामलेकी अपीलमें सजा बढ़ा दिये जानेका भी खतरा रहता है। अस्तु, मामला तबतकके लिए स्थगित कर दिया गया जबतक जेलमें पड़े हुए बेचारे अभियुक्तोंके पास यह सूचना पहुँचानेकी औपचारिक कारखाई पूरी नहीं हो जाती। अगले तीन-चार सप्ताहोंके बाद मामला फिर विचारार्थ उपस्थित हुआ। उस समय दो अन्य जज (शेपियर और पिगॉट) फौजदारीकी अपीलें सुन रहे थे। यह मुकदमा भी उनके सामने रखा गया। मैं भी संयोगसे उस समय अदालतमें मौजूद था। ज्यों ही मामलेकी पुकार हुई, सरकारी वकील उठकर खड़ा हो गया और कहने लगा 'मान्य महोदय, यहाँ कुछ गलती हो गयी है। यह मामला आप महानुभावोंके सामने नहीं रखा जाना चाहिये था। इसकी सुनवाई अन्य न्यायपीठके सामने हो चुकी है और अब केवल सजा सुनाना बाकी है। आप कृपाकर यह निर्देश दे दें कि मामला अन्तिम कारखाईके लिए उसी न्यायपीठके सामने रखा जाय।'

जस्टिस शेपियर-'सरकारी वकील महाशय, क्या यह रिवाज नहीं है कि यदि एक न्यायपीठ सजा बढ़ानेकी नोटिस जारी करे तो दूसरी न्यायपीठके सामने उसकी सुनवाई हो?'

सरकारी अधिवक्ता—'जी नहीं, मान्य महोदय, ऐसा कोई रिवाज नहीं है।'

जस्टिस शेपियर—'मैं समझता हूँ कि ऐसा होना चाहिये जिससे अभियुक्तोंके साथ न्याय हो सके। जो भी हो, मामला अब हमारे सामने आ ही चुका है, इसलिए हम ही उसे सुनेंगे।'

और उन्होंने पूर्ण न्यायिक शान्तिके साथ मामला सुना और इस निष्पत्तिपर पहुँचे कि अभि-योग प्रमाणित नहीं हुआ। उन्होंने अभियुक्तोंको रिहा कर दिया। मामला यदि फिर उसी न्याय-पीठके पास गया होता तो मुझे पूर्ण विश्वास है कि दोनों आदमी फाँसीपर चढ़ा दिये जाते। मैं इस घटनाके नैतिक पहलूपर विचार करनेके प्रलोभनसे अपनेको रोकूँगा। इतना ही कहूँगा कि यह घटना मेरे अन्तःकरणमें समा गयी है।

कई वर्ष बाद सन् १९३४ में मुझे खुद ऐसा ही अनुभव हुआ। मैं नियमितरूपसे फौजदारी मामलोंका वकील नहीं था, इसलिए उक्त भयावह उदाहरणका ख्यालकर ऐसा मामला लेनेमें हमेशा कुछ हिचकिचाता-सा था, जिसमें किसीके प्राण गये होते। मैं ऐसा मामला लेता जिसमें अभियुक्तपर हत्यासे कुछ हलके अपराधका दोष सिद्ध हुआ हो और उसमें उसे केवल कैदकी सजा मिली हो।

किन्तु एक बार प्रान्तीय सेवाके एक अधिकारीने मुझे ऐसे मामलेमें अपील करनेके लिए कहा जिसमें उनके पितापर अपराध नरहत्याका, जिसमें प्राण न गये हों, दोष सिद्ध हुआ था और उन्हें तीन वर्षकी कैदकी सजा मिली थी। वे जमींदार थे। खेती सम्बन्धी कोई झगड़ा हुआ और उन्होंने एक आदमीपर गोली चला दी जो १२ घण्टोंके भीतर मर गया। उनपर हत्याका मामला चलाया गया किन्तु दौरा जजने देखा कि मृत व्यक्तिके दलने उनपर आक्रमण किया था और उन्हें आत्मरक्षाके लिए गोली चलानी पड़ी। हाँ, इस अधिकारका प्रयोग करते समय वे उचित सीमाका अतिक्रमण कर बैठे, इसलिए उन्होंने अपराध तो किया, यद्यपि हत्याका नहीं, उससे कुछ हलका अपराध। इसीसे सजा भी हलकी दी गयी। खुद न्यायाधीशके ही कथनानुसार उनका अभिनिर्णय तथ्यकी दृष्टिसे और कानूनकी दृष्टिसे भी स्पष्टतः गलत था। उनके लड़केने मामला हाथमें लेनेके लिए मुझपर बहुत दबाव डाला और मैंने स्वीकार कर लिया। फिर भी मुझे इसमें किसी उत्साहका अनुभव नहीं हुआ क्योंकि मैं समझता था कि मामला सीधा और बेखतरेका है।

मेरे पुनर्न्यायप्रार्थनापत्र दाखिल करनेके बाद मृत व्यक्तिके एक भाईने अपने वकीलके जरिये उच्च न्यायालयमें दरख्वास्त दी कि इस मामलेमें पूरा न्याय नहीं हुआ है और अभियुक्तकी सजा बढ़ा दी जानी चाहिये। यह दरख्वास्त मेरी अपीलके साथ ही नत्थी कर दी गयी और दोनोंकी पेशी जस्टिस वाजपेयीके सामने हुई। मैंने अपील सम्बन्धी भाषण शुरू किया, साक्ष्य पढ़कर सुनाया और नम्रतापूर्वक यह राय दी कि स्वयं दौरा जज जिस निष्पत्तिपर पहुँचे, उसके अनुसार अभियुक्तको रिहा हो जाना चाहिये था। सरकारी वकीलकी प्रार्थनापर जिस वकील (श्री मिश्रीलाल चतुर्वेदी) ने सजा बढ़ा देनेके लिए प्रार्थनापत्र दिया था, उसे सरकारी पक्षकी ओरसे बहस करनेकी अनुमति दी गयी। श्री चतुर्वेदीने मामलेका अच्छी तरह अध्ययन किया था। उन्होंने बड़ी योग्यता और कुशलतासे बहस की और कहा कि 'दौरा जजकी निष्पत्ति गलत थी। मृत व्यक्तिकी ओरसे कोई हमला नहीं हुआ था। सारा आक्रमण अभियुक्तकी तरफसे ही हुआ था, इसलिए आत्मरक्षाके अधिकारका कोई प्रश्न ही नहीं उठता। इसका किंचिन्मात्र भी अवसर नहीं था। अपराध स्पष्टरूपसे हत्याका अपराध था। इससे कुछ भी कम नहीं।' जजपर इसका बड़ा प्रभाव पड़ा जिससे मैं बहुत चिन्तित हो उठा। जब वह मध्याह्न-भोजनके लिए उठने लगा तो मुझे सम्बोधित करते हुए उसने कहा 'श्री चतुर्वेदीने मामलेको बिलकुल दूसरा ही रूप दे दिया है। यद्यपि मैंने अपने मनमें कोई निश्चय नहीं किया है और जबतक मैं आपकी बहस सुन नहीं लेता तबतक कोई निश्चय करूँगा भी नहीं (यह मुझे तसल्ली देनेकी चाल भर थी, क्योंकि निश्चय तो जजने पूरा पूरा कर ही लिया था, जैसा कि उसके चेहरे तथा आँखोंसे स्पष्ट था)। किन्तु यदि श्री चतुर्वेदीका ही कहना सत्य हो तो दण्डमें वृद्धि करनेके प्रश्नपर विचार करना ही पड़ेगा। खून बदलेकी माँग कर रहा है, डाक्टर काटजू!' और इसके बाद ही मध्याह्न-भोजनके लिए अदालत उठ गयी। मैं बड़ा चिन्तित हो गया। मेरा मुवक्किल अदालतमें मौजूद था (वह जमानतपर छूटा था)। मैंने सारी स्थिति उसे समझा दी और कहा कि लक्षण अच्छे नहीं मालूम होते। स्वभावतः उसने मुझसे अधिकसे अधिक कोशिश करनेकी प्रार्थना की। भोजनके बाद जब फिर सुनवाई शुरू हुई, तब जस्टिस वाजपेयीने कहा कि 'भोजनावकाशके समय मैंने इस मामलेपर विचार किया था और मैंने सजा बढ़ानेकी सूचना जारी करनेका निश्चय किया है।' न्यायालयके नियमानुसार जिस मामलेमें दण्डवृद्धिके लिए सूचना जारी की जाती है, वह अन्तिम सुनवाईके लिए दो न्यायाधीशोंकी न्यायपीठके सामने रखा जाना चाहिये। यही बात इस मामलेमें भी होती। मैंने यह बात जस्टिस वाजपेयीको बतलायी और उनके सामने सुझाव रखा कि

सुनवाईमें दो दिन तो लग ही गये हैं, अतः बेहतर होगा कि आप स्वयं ही इसका अन्तिम निपटारा कर दें। यह स्पष्टरूपसे उनके लिए इस बातका संकेत था कि वे अपील रद्द कर दें और सजा ज्यों-की त्यों बनी रहने दें। किन्तु मेरी इस प्रार्थनाका उनपर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। उन्होंने फिर वही शब्द दोहराये 'खून बदलेकी माँग कर रहा है।' प्रभुका यह आदेश वे भूल गये जिसमें कहा गया था 'बदला लेना मेरा काम है।' इसलिए मामलेकी सुनवाई लाचार होकर स्थगित कर देनी पड़ी। किन्तु न्यायाधीश मेरे प्रति व्यक्तिगतरूपसे दयालु थे। लम्बी छुट्टियाँ अभी-अभी शुरू हो गयी थीं और मुझे इस मुकदमेमें इलाहाबाद रुक जाना पड़ा था। सामान्यतः इस अपीलकी सुनवाई करीब एक महीने बाद छुट्टियोंमें जस्टिस वाजपेयी तथा एक और न्यायाधीशके सामने हुई होती। इससे मेरा छुट्टियोंका सारा कार्यक्रम अस्तव्यस्त हो जाता। इसलिए जस्टिस वाजपेयीने अपने आदेशके साथ यह नोट जोड़ दिया—'मैं उस न्यायपीठका सदस्य होना पसन्द न करूँगा जिसके सामने यह मामला निपटारेके लिए रखा जायगा।' फिर मेरी तरफ देखकर वे बोले, 'अवश्य ही मैंने अभीतक कोई पक्का निश्चय नहीं किया है किन्तु तुम्हारे लिए यह उचित ही है और अब तुम छुट्टी मनानेके लिए इलाहाबाद-से बाहर जा सकते हो।' मैंने उन्हें धन्यवाद दिया और फिर समुद्रतटपर निवासके लिए चल पड़ा किन्तु मुकदमेकी चिन्ताके कारण मेरा सप्ताह बड़ी मुश्किलसे गुजरा। यह बात असह्य तथा भयावह थी कि मेरे किसी मुवक्किलको अपीलमें उच्च न्यायालय द्वारा सजा बढ़ा दिये जानेकी अग्नि-परीक्षासे गुजरना पड़े। उसके वकीलके लिए यह बात सचमुच ही प्रशंसनीय नहीं मानी जा सकती।

लम्बी छुट्टियोंके बाद मामला दो न्यायाधीशों (जस्टिस हैरीज तथा जस्टिस रघपालसिंह)की न्यायपीठके सामने रखा गया। उन्होंने अपील सुनी और खयाल किया कि मामला इतना साफ है कि उसमें बहसकी जरूरत ही नहीं। उन्हें आश्चर्य हुआ कि नोटिस जारी ही क्यों की गयी और उन्होंने घण्टे भरके भीतर ही सरकारी पक्षसे अपराध प्रमाणित करनेवाली अपनी दलीलें सामने रखनेको कहा। सरकारी वकीलने भरपूर कोशिश की। इसके बाद मेरे मित्र श्री चतुर्वेदीने भी बहस की किन्तु मुझे शक है कि न्यायाधीशोंने उनका पूरा-पूरा भाषण सुना भी या नहीं। अपील मंजूर कर ली गयी और अभियुक्त रिहा कर दिया गया। सजा बढ़ानेकी नोटिस अप्रत्यक्षरूपसे वास्तविक वरदान प्रमाणित हुई। फिर भी मेरे मनमें शान्ति नहीं हुई। क्या अपील सुननेवाली अदालतोंको सजा बढ़ानेका अधिकार देना न्यायके मानवतापूर्ण प्रशासनके अनुरूप है, यह एक प्रश्न है। न तो इंग्लैण्डमें और न अमेरिकामें ही यह पद्धति विद्यमान है और रिहाईके विरुद्ध की जानेवाली अपील वहाँ कोई जानता ही नहीं। एक बार जब किसी फौजदारी अदालतके सामने किसी अभियुक्तने जमकर लोहा ले लिया और अपनी रिहाई प्राप्त कर ली, तब उसे दुबारा न्यायालयकी अग्निपरीक्षा देनेके लिए विवश करना अमानवोचित प्रतीत होता है। किन्तु ये नीति सम्बन्धी प्रश्न हैं जिनकी यहाँ चर्चा करनेका मेरा इरादा नहीं है। फिर भी कुछ न्यायाधीशोंको सजा बढ़ानेमें ही आनन्द आता था। सन् १९३९ में, मन्त्रिपदसे इस्तीफा दे देनेके बाद, बंगाल नार्थ वेस्टर्न रेलवे कम्पनीने मुझे अपना वकील नियुक्त किया। मुझे एक मामलेपर विचार होते समय उनकी तरफसे नजर रखने और यदि आवश्यकता हो तो सरकारी पक्षके वकीलकी सहायता करनेका काम करना था। इस मामलेमें दो व्यक्तियोंको प्राणदण्डकी तथा एक अन्य व्यक्तिको आजीवन कारावासकी सजा दी गयी थी, कुछ ऐसी परिस्थितियोंमें जो असाधारण सी प्रतीत होती हैं। रेलके एक शाखामार्गपर यह बात देखनेमें आयी कि टिकटोंकी बिक्रीसे होनेवाली आमदनी बहुत घट रही थी। ऊपरसे देखनेमें यात्रियोंकी भीड़भाड़ हमेशाकी ही तरह भारी थी किन्तु आमदनीमें बहुत कमी हो गयी थी। शंका हुई कि रेलके कर्मचारी

भ्रष्टाचारका सहारा ले रहे हैं। अधिकारियोंने यात्रियोंके टिकटोंकी जाँच करनेके लिए विशेषरूपसे एक योग्य और ईमानदार भ्रमणशील टिकट इन्स्पेक्टर नियुक्त किया। इस व्यक्तिने अपना काम ठिकानेसे किया। छद्मवेशमें वह रेलगाड़ीके डब्बोंमें चढ़ जाता और मुसाफिरोंके टिकटोंकी जाँच करने लगता। उसे मालूम हुआ कि रेल कर्मचारियोंने किराया तो वसूल कर लिया था किन्तु टिकट जारी नहीं किये थे। गार्डों, रेल कर्मचारियों तथा अन्य लोगोंका एक विस्तृत षड्यन्त्र चल रहा था। बहुतसे मामले पकड़े गये और कितने ही कर्मचारी बरखास्त कर दिये गये। इस टिकट इन्स्पेक्टरके विरुद्ध, जो एक विभीषिका बन गया था, भारी रोष उत्पन्न हो गया। एक दिन जब ऐसे ही एक मामलेमें वह सरकारी जाँचमें सहायता कर रहा था, बारी बारीसे चार आदमियोंने उसपर हमला किया। प्रत्येकने उसपर लाठीसे प्रहार किया और भाग गया। इन आघातोंसे इन्स्पेक्टरकी मृत्यु हो गयी। तथाकथित आक्रमणकारी पकड़ लिये गये और एक अन्य आदमी भी सारे मामलेके संघटनकर्ताके रूपमें मुकदमेमें शामिल कर लिया गया। दौरा जजने दो आक्रमणकारियोंको दोषी ठहराया और उन्हें प्राणदण्डकी सजा सुना दी। संघटनकर्ता भी अपराधी ठहराया गया और दुरुत्साहनके अभियोगमें उसे आजीवन कारावासका दण्ड दिया गया। किसीका भी इरादा इन्स्पेक्टरको जानसे मार डालनेका था, इसमें मुझे सन्देह है। सम्भवतः उनका इरादा उसकी अच्छी मरम्मत करने भरका था, उच्च न्यायालयमें अपील की गयी। दो आक्रमणकारियोंमेंसे एक छोड़ दिया गया, क्योंकि उसकी ठीकसे पहिचान होनेमें सन्देह था, किन्तु संघटन करनेवालेकी सजा बढ़ाकर फाँसीकी कर दी गयी और वह तख्तेपर चढ़ा दिया गया। इस दण्डवृद्धिके औचित्य अथवा इसकी बुद्धिमत्ताके सम्बन्धमें मेरा सन्देह आज भी दूर नहीं हुआ है।

मुझे दण्डवृद्धिकी इस विभीषिकाका सामना उस पहले ही फौजदारीके मुकदमेमें करना पड़ा जिसकी पैरवी करने मैं उच्च न्यायालयमें गया था। वह सम्माननीय, वृद्ध न्यायाधीश जस्टिस नाक्सकी अदालतमें था। इस मुकदमेका विवरण छप चुका है[1] और यह वकीलोंके लिए मनोरंजक था। अभियुक्त एक गड़रिया था जिसपर दण्डनीय अनधिकार प्रवेशका मुकदमा चलाया गया था, क्योंकि वह रातमें दो बजे एक ब्राह्मणके मकानमें पाया गया था। मकानका ब्राह्मण मालिक रातमें कानपुर जानेवाली गाड़ीपर सवार होनेके लिए स्टेशन गया हुआ था किन्तु गाड़ी उसे मिली नहीं। रातमें दो बजे जब वह घर लौटा तो उसने अभियुक्तको मकानके अन्दर पाया। कहा गया कि गृहस्थीके बहुतसे सामानके साथ वह पकड़ा गया था किन्तु यह चीज साबित नहीं हो सकी। सफाईमें कहा गया कि घरकी एक विधवा चाचीके साथ अभियुक्तकी अवैध घनिष्ठता थी। इसीने अपने भतीजेकी गैरहाजिरीमें उसे घरके भीतर आने दिया था। दौरा जजका ख्याल था कि सफाईमें कुछ तथ्य हो सकता है, क्योंकि यह बात स्वीकार की गयी है कि जब मकान मालिक रेल स्टेशनके लिए रवाना हुआ, तब दरवाजा भीतरसे बन्द कर दिया गया था और जब वह लौटकर आया तब उसने उसे खुला पाया। फिर भी दौरा जजकी राय हुई कि यदि कोई बाहरी आदमी घरके भीतरकी किसी स्त्रीसे मिलकर कोई षड्यन्त्र रचता है, तो इससे गृहपतिको अपमान तथा उद्वेगका बोध होना अवश्यम्भावी है। ऐसी स्थितिमें यह कार्य दण्डनीय अनधिकार प्रवेश ही माना जायगा। अभियुक्तको छ महीने कैदकी सजा दे दी गयी। जस्टिस नाक्सके सामने की गयी अपीलमें बहस करते हुए मैंने कहा कि (दौरा) जजका मत कानूनकी दृष्टिसे गलत था। अभियुक्तका इरादा किसीको परेशान या अपमानित करनेका नहीं था। वह तो केवल अपने आनन्दके लिए गया था। उसका इरादा शान्तिपूर्वक

---

१. मुल्ला बनाम सम्राट् (१९१५)—१३, इलाहाबाद ला जर्नल

घरमें घुसने और चुपचाप वापस लौट आनेका था। घरमें उसका देखा जाना कुछ आकस्मिक घटनाओंके कारण ही सम्भव हुआ। किसी विधवासे घनिष्ठ सम्पर्क होना कानूनकी दृष्टिमें अपराध नहीं। अपने युवकोचित उत्साह तथा दृढ़ाग्रहके कारण मैंने बड़े जोशके साथ और विस्तारपूर्वक बहस की और बीच-बीचमें अपने मुवक्किलके उद्देश्य तथा अभिप्रायका वर्णन करते हुए मुग्धकारी भाषाका प्रयोग किया। किन्तु सब व्यर्थ हुआ। न्यायाधीश अपने मतपर अविचल बना रहा। अन्तमें और कोई उपाय न देखकर मैंने सजा घटानेपर जोर दिया। वृद्ध न्यायाधीशने गम्भीरतापूर्वक मेरी बात सुनी और ज्यों ही मैंने सजा घटानेकी प्रार्थना समाप्त की, त्यों ही उन्होंने कहा, 'मैं तो सोच रहा था कि क्या यह मामला ऐसा नहीं है जिसमें सजा बढ़ा दी जानी चाहिये ?' मैं भौंचक्का तथा भयभीत-सा हो उठा और बिलकुल बदहोश-सा हो गया। सर जार्ज नाक्सने परिश्रमपूर्वक तैयार किया गया अभिनिर्णय सुनाया, जिसके अन्तमें उन्होंने कहा 'मुझे तो ऐसा लगता है कि यह कहना ही एक खतरनाक सिद्धान्तको प्रश्रय देना है कि यदि कोई आदमी रातको दो बजे किसीके घरके भीतरी हिस्सेमें पाया जाय तो वह यह कहकर अपने कृत्यके परिणामोंसे बच सकता है कि वह गृहस्वामीकी पत्नी या अन्य किसी गृहसदस्यके कहनेसे वहाँ गया था। मैं समझता हूँ कि इस अपराधके लिए कठोर दण्ड मिलना चाहिये। छ महीनेकी सजा आवश्यकतासे अधिक कठोर नहीं है।'[१] इस मामलेके साथ-साथ मुझे उस मनोरंजक घटनाका भी स्मरण है जो उस समय हुई थी। इस समयतक सन् १९१५में आदरणीय पंडित मदनमोहन मालवीयने प्रायः निश्चितरूपसे वकालत पेशासे हाथ खींच लिया था। वे क्वचित् ही अदालतमें देख पड़ते थे, सो भी मैं समझता हूँ कि किसी पुराने कृपापात्र मुवक्किलके विशेष आग्रहपर ही वे वहाँ जाते थे। उस दिन—८ अप्रैल १९१५को—वे सचमुच ही कचहरी गये हुए थे और सम्भवतः जस्टिस नाक्सकी ही अदालतमें उन्हें कुछ काम था। वे उस समय अदालतमें प्रविष्ट हुए जब मैं मामलेमें बहस कर रहा था। मुझे उनके आनेका कुछ भी पता नहीं था। मैं अपने काममें तल्लीन होकर पूर्ववत् भाषण करता रहा और उस समय वकालत पेशेकी मेरी वक्तृत्वकला पूरे जोरपर थी। इस तमाम मुकदमेसे उन्हें अवर्णनीय आघात पहुँचा। गड़ेरिया जैसी छोटी जातिका एक आदमी किसी ब्राह्मणी विधवासे सम्पर्क रखे और मैं इतने जोर-शोरसे उसका समर्थन करूँ, यह उन्हें बहुत ही दुःखदायी मालूम हुआ। मामलेसे सामाजिक औचित्यकी उनकी समूची भावनापर भारी प्रहार हुआ। गड़ेरियेकी यह भारी जघन्य धृष्टता थी। फैसला सुना दिये जानेके बाद जब मैंने दूसरी ओर नजर फेरी तो मैंने अपने पीछेकी पंक्तियोंमें मालवीयजीको बैठे हुए देखा। मैंने सादर उनका अभिवादन किया। अदालत मध्याह्न-भोजनके लिए उठ गयी। पंडितजी अदालतसे बाहर निकल आये और मैं भी सम्मानपूर्वक उनके पीछे-पीछे चला। उन्होंने बहुत ही दुःखपूर्ण और दयनीय दृष्टिसे मेरी ओर देखा और कहा—'कैलाशनाथ जी, छिः छिः, क्या तुम्हें पैरवी करनेके लिए और कोई मुकदमा नहीं मिल सका ?' मैं इसका क्या जवाब देता ? मैंने मन्द मुस्कराहटको रोकते हुए चुपचाप रह जाना ही ठीक समझा। मालवीय जी मुझे उसी समयसे जानते थे जब सन् १९०५में मैंने उनके हिन्दू बोर्डिंग हाऊसमें प्रवेश किया था। उन्होंने मेरे वकील बननेमें बहुत ही दयालुतापूर्ण, बहुत कुछ पिता जैसी, अभिरुचि प्रदर्शित की थी।

---

१. मैं समझता हूँ कि सर जार्ज नाक्स सामाजिक धारणासे अनुचित रूपसे प्रभावित हो उठे थे। कानूनकी दृष्टिसे उनका अभिनिर्णय ठीक नहीं था, जैसा कि जस्टिस सुन्दरलालने भी सम्राट् बनाम गया भाई (१९१६) वाले मामलेमें, १४ इला० ला जर्नल, ७१०, तथा बादके मामलोंमें अन्य जजोंने भी राय दी थी।

दण्डवृद्धिकी यह सम्भावना मेरे मस्तिष्कमें इस तरह घर कर गयी थी कि ऐसे प्रत्येक मामलेमें जिसमें किसीके मार डाले जानेकी बात होती, मैं केवल उन्हीं मामलोंकी अपीलमें सुरक्षाकी पूर्ण भावनाके साथ पैरवी करना स्वीकार करता था जिनमें अपराध प्रमाणित होनेपर दौरा जजने प्राण-दण्डकी ही सजा दी हो। कानूनमें यही सबसे बड़ी सजा है और इससे भी अधिक कड़ा दण्ड किसी-को दिया नहीं जा सकता। और सचमुच फौजदारी मामलोंमें ज्यों-ज्यों मेरी वकालत बढ़ती गयी, त्यों-त्यों अधिकतर मृत्यु-दण्डवाले मुकदमे ही मेरे पास आने लगे। यह कैसे हुआ, मैं कह नहीं सकता।

सामान्यरूपसे मेरी यह राय है कि हत्या सम्बन्धी मुकदमेकी अपीलमें बहस करना सबसे आसान है। ऐसे अधिकतर मुकदमेमें नाटकके पात्र थोड़े ही होते हैं और वह एक तरहका एकांकी नाटक होता है। गवाह इने-गिने ही होते हैं। उनका साक्ष्य संक्षिप्त, छोटा तथा सुनिश्चित होता है। न्यायाधीशके मनमें यदि थोड़ी-सी भी शंका उत्पन्न करनेमें आप सफल हो जायँ तो आप अभियुक्तको छुड़ा ले सकते हैं। हाँ, यदि न्यायाधीश विशेषरूपसे खूनका प्यासा हो तो बात दूसरी है। मैं कभी न्यायाधीश नहीं रहा किन्तु मेरी राय है (और जिन कतिपय न्यायाधीशोंसे मैंने इस सम्बन्धमें बात-चीत की है उन्होंने इसकी सम्पुष्टि की है) कि अभियुक्तको निर्दोष मान लेनेके पक्षमें अथवा उसका दोष प्रमाणित करनेकी अभियोक्ताकी जिम्मेदारीके सम्बन्धमें चाहे कोई कुछ भी कहे, न्यायाधीश आखिर मनुष्य ही होता है। यदि उसे अपने सामने कटघरेमें खड़े व्यक्तिके अपराधी होनेका नैतिक दृष्टिसे विश्वास हो जाता है, तो वह, अपने लिखित अभिनिर्णयके लिए, अविलम्बसे ऐसे साक्ष्यपर विश्वास कर लेगा जो अन्यथा आपत्तिजनक हो। न्यायसभ्योंका तो यह सौभाग्य होता है कि वे अपना अभिनिर्णय देते समय उसका कोई कारण बतानेके लिए बाध्य नहीं। न्यायाधीशके लिए कारण बतलाना आवश्यक होता है और वह यह कहकर इसकी पूर्ति करता है कि मैं उस साक्ष्यमें विश्वास करता हूँ जो अविश्वसनीय प्रतीत होता है। न्यायाधीशके मनमें इस तरहका नैतिक विश्वास हो जानेका पूरा प्रभाव उन मामलोंमें पड़ता है जिनमें केवल कैदकी सजा दी जाती है। किन्तु मृत्यु-दण्ड सम्बन्धी अभिनिर्णय इनसे बिलकुल भिन्न होते हैं। मनुष्यका जीवन इतना बहुमूल्य होता है और गलत दोषसिद्धिके परिणाम सोचनेमें इतने भयावह होते हैं कि प्रत्येक जज - विशेषकर भारतीय जज—एकाध अपवादको छोड़कर, अभियुक्तको प्रत्येक सन्देहका लाभ देनेको तैयार रहता है। मैं ऐसे बहुतसे मामले जानता हूँ जिनमें अपराधी व्यक्ति फाँसीपर चढ़ा दिये जानेसे बच गये हैं, क्योंकि उनके वकील न्यायाधीशके मनमें सन्देह उत्पन्न कर देनेमें समर्थ हो गये हैं। मैं मृत्युदण्ड दिये जानेके विरुद्ध हूँ। इसका एक कारण अंशतः यह भी है कि यदि मौतकी सजा न होती तो बहुतसे आदमी अपने अपराधोंके लिए पर्याप्त सजा पानेसे न बच पाते।

जहाँतक मेरा व्यक्तिगत प्रश्न है, मेरे लिए तो दीवानी मुकदमोंकी वकालतसे, जिसमें कानून-की पोथियों और मुकदमोंकी रिपोर्टें पढ़ते-पढ़ते तबीयत ऊब उठती थी, फौजदारी मामलोंकी अपीलमें जाना अच्छे मनबहलावका कारण बन जाता था। हत्याके मामलेका संक्षिप्त विवरण पढ़नेमें मुझे अधिक समय नहीं लगता था किन्तु बादमें उसपर विचार करनेमें अवश्य समय लगता था। मैं उसे मनमें रख लेता था, जहाँ अर्द्धचेतन रूपमें उसकी प्रक्रिया बराबर चलती रहती थी। अपने मनमें सारी घटनाका फिरसे खाका खींचनेका मुझे शौक था। अगर मुझे मामलेमें थोड़ासा भी रहस्य दिखाई देता तो मैं तुरन्त शरलॉक होम्सकी बात सोचने लगता कि किस तरह वह इसका पता लगाता और आगे बढ़ता। अवश्य ही इसमें उसमें बहुत अन्तर है। घटना होते ही वह घटनास्थलपर पहुँच जाता और अपराध करनेवालेका पता लगा लेता। इस प्रकार कभी-कभी उन बहुतसे लोगोंका दोष-

मोचन हो जाता जिनपर बहुतोंका सन्देह होता। उसका काम मामला अदालतमें आनेके पहले ही समाप्त हो जाता। मेरा उस समय शुरू होता जब मातहत अदालतमें अभियुक्तका दोष प्रमाणित हो जाता। मेरा काम पुलिस द्वारा उत्पन्न की गयी कठिनाइयोंको साफ करना, पुलिसके मनकी प्रक्रियाको समझनेका प्रयत्न करना और अपने आदमीको दूसरा जाल फैलाये जानेके पहले बचा लेना था। किन्तु इस सबके बावजूद मेरा मन बराबर अपराधीकी तलाश करता रहता, जिसका परिणाम कभी-कभी उन लोगोंको परेशानीमें डालनेवाला होता जो अभियुक्तकी ओरसे मामलेके सम्बन्धमें हमें हिदायत दिया करते थे। जब मैं सलाह-मशविरा करता और सोचते समय भी जोर-जोरसे कुछ कहता रहता तो मेरे नयी उम्रके साथी वकीलों तथा मुवक्किलोंको बड़ी परेशानी होती। जितना ही अधिक मैं उनसे तर्क और बहस करता, उतने ही सख्त फन्देमें, जैसा कि वे खयाल करते, मेरे अभागे मुवक्किलकी अर्थात् मामलेके अभियुक्तकी गर्दन फँसती जाती। वकील मण्डलीमें, यहाँतक कि प्रान्तके बाहर भी, यह बात व्यापकरूपसे मालूम हो गयी थी कि विचार-विमर्शके समय मैं आदतन अपने मुवक्किलके वृत्तान्तके सम्बन्धमें इतनी अधिक शंका प्रकट किया करता था, सचाई जाननेके लिए विद्वानों जैसी दिलचस्पी लेनेमें इतना तत्पर रहता था कि अभियुक्तके पक्षकी बातोंकी तरफ अधिक विस्तारसे ध्यान नहीं दे पाता था। किन्तु गनीमत यही है कि इसके साथ ही लोगोंको यह भी मालूम हो गया था कि अदालतमें उसकी ओरसे बहस करते समय उसके पक्षका जोरोंसे समर्थन करनेपर, उसे बचानेकी मेरी व्यग्रतापर, प्रत्येक बात उसके अनुकूल बनानेकी मेरी दृढ़तापर इसका कोई असर नहीं पड़ता था। ऐसा न होता तो मैं समझता हूँ कि मेरे कितने ही मुवक्किल मुझसे छूट जाते। मेरे नये उम्र साथी हँसते हुए मेरी कार्यप्रणालीकी शिकायत किया करते किन्तु फिर भी वे उदारतापूर्वक उसे बरदाश्त करते रहते थे। मैं अपनी इस आदतकी चर्चा यहाँ इसलिए कर दे रहा हूँ कि यह मेरी उम्र तथा मेरी वकालतकी वृद्धिके साथ-साथ ही बढ़ती रही है और इससे कुल मिलाकर मेरे मुवक्किलोंका फायदा ही हुआ है। अदालतमें मामला पेश करते समय मैं बहुतसे खन्दकोंसे बच गया हूँ और यदि मैं युक्तिपूर्वक किसी दूसरेके मत्थे अपराध टालनेमें सफल हो जाता तो मेरा मुवक्किल प्रायः निश्चित ही छूट जाता था। मैंने इस पद्धतिसे बहुतसे मामलोंमें काफी लाभ उठाया किन्तु इतने आश्चर्यजनक एवं अनोखे ढंगसे नहीं जितनेसे मैनपुरी जिलेके शिवमंगल सिंह वाले मुकदमेमें उठाया, जिसका वर्णन अब मैं यहाँ कर रहा हूँ।

३२. शिवमंगल सिंहका मुकदमा

६ फरवरी १९३५ को तीसरे पहर विनायकपुर गाँवके सुक्खू चमारने अपने खेतमें (जो गाँवकी बस्तीसे करीब आधे मीलकी दूरीपर था) खूनके कुछ निशान देखे और एक स्थानपर खूनसे लथपथ जूतोंका एक जोड़ा भी पड़ा हुआ देखा। पास ही नहरकी छोटी-सी जलप्रणाली थी और ऐसे कुछ निशान देख पड़ते थे मानो कोई चीज खेतकी सीमापर, नहरके किनारे और दूसरे [illegible] के आरपार घसीटकर ले जायी गयी हो। वह गाँवमें अपने घर लौट आया और अपने पड़ोसियोंसे तथा गाँवके चौकीदारसे उसने इसकी चर्चा की। सुक्खूके बयानकी जाँच करनेके लिए चौकीदार खुद उस स्थानपर गया। उसने उसका कहना बिलकुल सच पाया। साथ ही उसने बैलगाड़ीके पहियेके निशान देखे जो खेतसे गाँवकी चौड़ी सड़कतक गये हुए थे। चौकीदार घर लौट आया और फिर थानेपर खबर देनेके लिए चल पड़ा। रास्तेमें जब उसे मालूम हुआ कि थानेदार साहब जाँचके सिलसिलेमें किसी दूसरे गाँवको गये हुए हैं तो वह सीधे उन्हींके पास चला गया और जो कुछ उसने देखा था

उसकी रिपोर्ट वहाँ लिखा दी। यह बृहस्पतिवार, ७ फरवरीको दो बजे दिनकी बात है। पुलिसका दरोगा विनायकपुर आया और लगभग ३ बजे (अपराह्नमें) सुक्खूके खेतपर गया। उसने जूतोंका जोड़ा अपने कब्जेमें ले लिया और खूनसे रंगी हुई मिट्टी खुरचवाकर इकट्ठी कर ली। और तब, सब-इन्स्पेक्टरके ही शब्दोंमें 'जहाँ जूते पड़े हुए मिले थे, वहाँसे करीब ७० कदमतक किसीके घसीटे जानेके निशान मौजूद थे। खींचे जानेके निशानोंके साथ-साथ खूनके निशान भी थे। जहाँ खींचे जानेके चिह्न समाप्त हो जाते थे, उस स्थानसे ६-७ कदमतक पहियेके निशान मौजूद न थे। उसके बाद फिर करीब एक फर्लांग तक उत्तरकी ओर निशान फैले हुए थे। ये निशान गाँवकी सड़कपर खत्म हो गये थे, जिसके बाद आगे मैं कोई निशान नहीं देख सका। इसलिए मैं फिर उसी जगह वापस आ गया जहाँ मैंने शुरू-शुरूमें गाड़ीके पहियोंकी लीक देखी थी और तब परती जमीनसे होकर पश्चिमकी ओर गया। वहाँ मैंने पहियेके निशान और बैलोंके खुरोंके चिह्न भी देखे। मैं उस आमके पेड़तक गया जो यहाँसे करीब दो फर्लांगपर है। वहाँ भी दो जगह मैंने खूनके छींटे देखे।' इस समयतक काफी लोगोंकी भीड़ इकट्ठी हो गयी थी। अब लाशोंकी, यदि कोई हों तो, खोज शुरू हुई। फिर उसी सब इन्सपेक्टरके शब्दोंमें—'तब मैंने उन लोगों सहित, जो मेरे साथ थे, आसपासके खेतों की, चारों दिशाओंमें, छानबीन की। एक कान्स्टेबिल उस खेतमें जा पहुँचा जो 'तालनाला' कहलाता था और जो अभियुक्त शिवमंगल सिंहका था। अन्य लोग भी वहाँ गये। उन्हें खेतमें ऐसी जगह देख पड़ी जो आसपासकी जमीनसे कुछ ऊँची जान पड़ी। उस खास जगहपर मिट्टी ढीली या नरम सी मालूम हुई। खेत मालूम होता था कि बराबर कर दिया गया था। यह आमके पेड़से करीब ६० ७० गजपर था। हम वहाँ गये। जगह खोदी गयी तो बोरेमें लिपटे हुए तीन बण्डल कपड़े तथा दो लेखा पुस्तकें प्राप्त हुई। अभियुक्त वहाँ मौजूद न था।' इस समयतक रातके आठ बज चुके थे और अँधेरा फैल गया था। इसलिए दरोगा बस्ती लौट गया और रात उसने एक जमींदारके मकानमें बितायी। लेखा-पुस्तकें पढ़ी गयीं तो उनमें समीपवर्ती एक गाँव, मकरन्दपुरके गुलाब नामक व्यक्तिका हिसाब मिला। दरोगाने उसी रात मकरन्दपुरसे कुछ लोगोंको बुलवाया। दूसरे दिन सबेरे वे लोग आये तब पता चला कि वे कपड़े शिवनारायण नामक भ्रमणशील व्यापारीके थे, लेखा-पुस्तकें भी उसीकी थीं और जूतोंका जोड़ा पहचानकर लोगोंने बतलाया कि वह शिवनारायणके नौकर उजागर सिंहका था।

यह साबित हो गया—विनायकपुरमें प्रत्येक आदमी यह बात जानता था—कि शिवनारायण सप्ताहमें एक बार या दो बार लगनेवाले बाजारोंमें, जो उत्तरप्रदेशके देहातोंमें बराबर लगा करते हैं, सौदा बेचने जाया करता था। पिछली बार वह मंगलवार तारीख ५ फरवरीको किशनपुरके बाजारमें, विनायकपुरसे तीन मील दूर, अपने नौकर उजागर सिंहके साथ देखा गया था। अभियुक्त शिवमंगल सिंह शिवनारायणको अच्छी तरह जानता था। शिवनारायण जब विनायकपुर आता था तो कभी-कभी शिवमंगल सिंहके यहाँ ही ठहरा करता था।

हाँ, तो अब सब इन्स्पेक्टरकी आगेकी काररवाईका हाल सुनिये। कपड़ोंके बण्डल पाये जानेके दूसरे दिन सबेरे (अर्थात् ८ फरवरीको), सब-इन्स्पेक्टरके कथनानुसार, गाँवके लोगोंने इस घटनाके सम्बन्धमें शिवमंगल सिंहसे बातचीत की। वह उस समय गाँवमें ही था। दोपहरके लगभग वह दरोगाके पास लाया गया। उसने बहुतसे लोगोंके सामने अपना अपराध स्वीकार किया और कहा कि मैंने दो अन्य आदमियोंकी सहायतासे शिवनारायण तथा उजागर सिंहकी हत्या की थी और उनकी लाशें दो मील दूरके एक कुँएमें फेंक दी थीं। दरोगाके शब्दोंमें आगेका विवरण इस प्रकार है—'मैं उस

कुँएके पास गया। उसकी जगत एक स्थानपर टूटी हुई मालूम पड़ती थी, जहाँसे १२ या १५ ईंटें हटा दी गयी थीं। बगलके खेतमें गाड़ीके पहियेके निशान मौजूद थे। कुँएमें काँटा फेंका गया और लाशें निकाल ली गयीं। उनको उन लोगोंने पहचान लिया जो मेरे साथ वहाँतक गये थे।' किन्तु दरोगा शिवमंगलको अपने साथ कुँएतक नहीं ले गया था। ऐसा न करनेके सम्बन्धमें उसने जो सफाई दी, वह बड़ी लचर दलील मालूम होती थी। उसने कहा कि 'मैंने ऐसा इसलिए नहीं किया, क्योंकि मेरी रायमें यह एक जोखिमका काम होता। मेरे साथ दो ही कान्स्टेबिल थे और तीन बण्डल कपड़े तथा अन्य चीजें थीं जिनकी चौकसी करना आवश्यक था। इसके सिवा अभियुक्तोंकी संख्या तीन थी। वे सबके सब ठाकुर थे और चारों तरफ ठाकुर ही ठाकुर थे। मैंने शिवमंगल सिंहको एक कान्स्टेबिलकी निगरानीमें छोड़ दिया। उसके साथ और लोग भी मौजूद थे।'

जो हो, दरोगाने लाशोंको शव परीक्षणके लिए सदर मुकाममें भेजवा दिया और तब कुँएके पाससे विनायकपुर गाँवको लौट आया। तब, दरोगाके ही शब्दोंमें—'शिवमंगल सिंहने मुझे बतलाया कि बैलगाड़ी और वह तलवार जिससे दोनों आदमियोंकी हत्या की गयी थी, उसने अपने अरहरके ढंठलोंके ढेरमें छिपा दिये थे। हेड कान्स्टेबिल तथा तलाशीके गवाह शिवमंगलके साथ उसके अहातेमें गये। वहाँ वे चीजें बरामद हो गयीं और मेरे पास लायी गयीं।'

हत्याका कोई प्रत्यक्षदर्शी गवाह न था किन्तु सब-इन्स्पेक्टर द्वारा कही गयी मुख्य बातों तथा शिवमंगल सिंहके बयानको साबित करनेके लिए साक्ष्य बहुत काफी था—करीब तीस गवाह थे। दौरा जजने इसमेंसे अधिकांश साक्ष्यपर, जिसमें कुछ ऐसे लोगोंका था जिनका उसमें कोई भी स्वार्थ या लगाव नहीं हो सकता था, विश्वास कर लिया। अपने लम्बे अभिनिर्णयमें शिवमंगल सिंहके विरुद्ध मामलेका सारांश देते हुए उसने लिखा था—

'तथ्य ये हैं कि मृत शिवनारायण तथा उजागर सिंह मंगलवार तारीख ५ फरवरीको किशनपुर बाजार गये थे और अभियुक्त शिवमंगल सिंह भी बाजारमें देखा गया था, कि मृत व्यक्ति अभियुक्त शिवमंगलके चौपालमें ठहरा करता था, जिसके साथ यह बात भी जोड़ी जा सकती है कि कपड़ोंके गट्ठर तथा लेखा-पुस्तकें भी अभियुक्तके खेतसे बरामद हुई थीं, कि शिवमंगल सिंह द्वारा दी गयी जानकारीके परिणामस्वरूप दोनों लाशें गोपाल सिंहके कुँएसे बरामद की गयीं, कि बैलगाड़ी और उसका पहिया तथा तावर और पाल भी शिवमंगल सिंहके अहातेसे ही प्राप्त हुए थे—ये सब बातें अच्छे वृत्तान्तानुमेय साक्ष्यके रूपमें परिगणित की जा सकती हैं। स्वयं अभियुक्तने अपने मुँहसे जो कुछ स्वीकार किया है, वह अलग चीज है। उसे मैं अग्राह्य साक्ष्य मानता हूँ। मौखिक साक्ष्यसे कभी-कभी धोखा हो सकता है किन्तु परिस्थितियोंके साक्ष्यमें धोखा नहीं होता। मेरा मत है कि अभियुक्त शिवमंगल सिंहने ही हत्या की थी। मैं समझता हूँ कि अकेले शिवमंगल सिंह द्वारा मृत व्यक्तिकी हत्या नहीं की जा सकती थी। सम्भव है कि अन्य दोनों अभियुक्तोंने भी उसमें हिस्सा ग्रहण किया हो। किन्तु उनके विरुद्ध इतना साक्ष्य उपलब्ध नहीं है जो उनके दोषी प्रमाणित होनेके लिए पर्याप्त हो। जहाँतक उनका प्रश्न है, बात संदिग्ध ही रह जाती है। उन्हें इस सन्देहका लाभ मिलना चाहिये।' मैं यह भी लिख देना चाहता हूँ कि न्यायिक दृष्टिसे अभियुक्तने जो स्वीकारोक्ति की थी, वह साक्ष्यरूपमें अग्राह्य थी, क्योंकि सब-इन्स्पेक्टरने शिवमंगल सिंहको अपराधस्वीकरणके पहले उन्मुक्ति दिलानेकी आशा दे दी थी।[1]

न्यायाधीशके सहकारी किसीको हत्याका अपराधी मान लेनेमें अक्सर हिचकते हैं किन्तु इस

१. साक्ष्य सम्बन्धी भारतीय कानूनमें पुलिसपर भारी अविश्वास प्रकट किया जाता है। अभियुक्त द्वारा किसी अपराधके सम्बन्धमें पुलिसके सम्मुख दिया गया बयान, जो स्वीकारोक्तिके ढंगपर

मामलेमें तीनोंकी एक ही राय थी कि शिवमंगल सिंह हत्याका दोषी था, जब कि अन्य दोनों व्यक्ति अपराधी नहीं थे। इस प्रकार (२५ वर्षके युवक जाट) शिवमंगल सिंहको मृत्युदण्ड दे दिया गया। इसी मामलेकी अपीलमें मुझे उसकी ओरसे खड़ा होना था। (दौरा अदालतमें) दो सप्ताहतक विस्तृत रूपसे इसकी सुनवाई हुई थी और बहुत ही व्यापक तथा देखनेमें जोरदार शब्दोंमें फैसला दिया गया था।

मैंने घने छपे हुए १०४ पृष्ठोंका मुकदमेका लम्बा विवरण बड़ी सावधानीसे और ध्यानपूर्वक पढ़ा। ऊपरसे देखनेपर मामला शिवमंगल सिंहके लिए काफी निराशाजनक प्रतीत होता था। सबसे अप्रिय बात, स्पष्ट ही उस जानकारीपर जो शिवमंगल सिंह द्वारा प्रदत्त बतलायी जाती है, लाशोंका बरामद किया जाना था। जबतक मैं उसे हिला न दूँ, मामला काफी निराशाजनक मालूम होता था। जब मैंने उसपर विचार किया तो मुझे घटनास्थलका वह नक्शा देखकर बड़ा अचम्भा हुआ जो पुलिसकी जाँचके समय सब इन्स्पेक्टर द्वारा तैयार कराया गया था। मुझे वह बहुत ही अर्थगम्भीर जान पड़ा किन्तु दौरा जजने उधर ध्यान ही नहीं दिया था। इस नक्शेमें एक हरी रेखा द्वारा गाड़ीकी लीक ठीक सुक्खूके खेतसे शुरू होकर उत्तरकी ओर उस कुएँ तक दिखायी गयी थी जहाँसे लाशें बरामद हुई थीं। पहियेके इन निशानोंके सम्बन्धमें सब इन्स्पेक्टरसे जिरह नहीं की गयी थी किन्तु उसके ऊपरके अधिकारी, सर्किल इन्स्पेक्टरसे, जिसने पुलिसकी जाँचकी निगरानी की थी, कुछ प्रश्न पूछे गये थे और उसने कई महत्वपूर्ण बातें स्वीकार की थीं। "मैंने नहरकी शाखासे सुक्खूके खेतकी सीमातक' उसने कहा था, 'घसीटे जानेके चिह्न देखे थे, उस स्थानसे मैंने गोपाल सिंहके कुएंतक पहियेके निशान देखे थे। उन थोड़ी सी जगहोंको छोड़कर जहाँ वे दिखाई नहीं पड़ते थे। पहियोंके निशान उस स्थानके पासकी झाड़ीतक भी थे, जहाँसे कपड़े बरामद हुए थे। मैंने उस समय यह दोष नहीं दिखलाया कि सब इन्स्पेक्टरने पहियोंके ये निशान गोपाल सिंहके कुएँतक नहीं देखे। यदि सब इन्स्पेक्टरने बारीकीसे स्थानको देखा होता तो उसे पहले दिन ही ये निशान दिखाई पड़ गये होते। पहियोंके निशान, जहाँ वे अक्षुण्ण रह गये थे, काफी स्पष्ट थे और बैलोंके खुरोंके निशान भी दिखाई देते थे।' 'दोष बतलाने'के प्रश्नका सम्बन्ध सर्किल इन्स्पेक्टरके उस वक्तव्यसे था जो उन्होंने इसके पहले दिया था —'मैंने १० फरवरीसे १४ फरवरीतक जाँचकी निगरानी की। मैंने १० फरवरीको ७से १० फरवरीके बीच की गयी जाँचके दोष बतलाये। एक दोष तो मैंने यह बतलाया कि अपराध स्वीकार करनेवाला अभियुक्त शिवमंगल सिंह उस समय गोपाल सिंहके कुएंतक नहीं ले जाया गया जब उक्त लाशें वहाँसे निकाली गयी थीं। दूसरी त्रुटि यह थी कि उसके घरकी तलाशी तुरन्त नहीं ली गयी जिसके कारण वह चोरी की गयी सामग्री मजेमें हटा दे सकता था और उसने सचमुच हटा भी दी थी। जहाँतक मैं समझता हूँ, शिवमंगलके मकानकी तलाशी लेनेमें दो दिनकी देर की गयी। ये दोनों ही त्रुटियाँ अभियुक्तके लिए लाभदायक साबित हुईं।' इन सब बयानोंको मैं सबसे अधिक महत्वका समझता था।

सर्किल इन्स्पेक्टरके एक हफ्ते बाद सब-इन्स्पेक्टरका भी सम्परीक्षण अदालतमें किया गया किन्तु मुझे आश्चर्य हुआ यह देखकर कि मामलेके इस पहलूपर उससे कोई प्रश्न नहीं पूछा गया। हो सकता है कि मातहत अदालतमें सुनवाईके समय प्रतिवादीके वकीलको यह बात अच्छी तरह न सूझ पड़ी हो कि पहियेके इन निशानोंसे सार्थक निष्पत्तियाँ निकाली जा सकती हैं। मैं कह

हो, साक्ष्यके रूपमें अमान्य समझा जाता है, उस वक्तव्यको छोड़कर जिससे कुछ वस्तुएँ या सामान बरामद करनेमें प्रत्यक्षरूपसे सहायता मिले।

नहीं सकता; कमसे कम दौरा जजने तो अपने विशद अभिनिर्णयमें इस ओर रंचमात्र भी संकेत नहीं किया। साफ है कि इस तरहकी एक कमजोर दलील उनके सामने आयी थी किन्तु उन्होंने बहुत संक्षेपमें उसे चलता कर किया। उन्होंने लिखा कि 'सब-इन्स्पेक्टरकी यह विवेकहीनता थी कि वह गोपाल सिंहके कुएँसे लाशोंके निकाले जाते समय अभियुक्त शिवमंगल सिंहको अपने साथ नहीं ले गया। सर्किल इन्स्पेक्टरने इसे जाँचका एक दोष कहा था। फिर भी सफाईकी ओरसे कही जानेवाली इस बातके पक्षमें कोई सबूत नहीं है कि पुलिसको यह बात पहलेसे मालूम थी कि लाशें गोपाल सिंहके कुएँमें मौजूद हैं और अभियुक्त शिवमंगल सिंह द्वारा दी गयी सूचनाके परिणामस्वरूप वे बरामद नहीं की गयी थीं। कहा गया है कि पासमें ही गोपाल सिंहका एक और कुँआ था किन्तु पुलिस उसके पास नहीं रुकी। किन्तु साक्ष्यसे स्पष्ट हो जाता है कि शिवमंगलने उस कुएँका वर्णन करते हुए जिसमें लाशें फेंकी गयी थीं, कहा था कि वह चौपड़ा (चौकोर) था और उसकी मेंड़ टूटी हुई थी। यह बात नहीं दिखायी गयी है कि यह वर्णन दूसरे कुएँपर भी लागू हो सकता था। इसलिए इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि उक्त कुएँके पास जाते समय सब-इन्स्पेक्टर दूसरे कुएँके निकट नहीं रुका।' यहाँपर एक शब्द भी पहियोंके उन निशानोंके सम्बन्धमें नहीं कहा गया जो घटनास्थलके नक्शेमें साफ साफ दिखलाये गये थे और जिनका जिक्र सर्किल इन्स्पेक्टरने किया था।

जितना ही अधिक मैं मामलेके सम्बन्धमें सोचता था, उतना ही असम्भाव्य मुझे ८ फरवरीके सवेरे—अर्थात् कपड़ोंके गट्टर पाये जानेके दूसरे दिनके सबेरे—के सब-इन्स्पेक्टरके कार्योंका वर्णन प्रतीत होता था। उसने कहा था कि मैं सबेरे बराबर—वस्तुतः दो पहरतक—गाँवमें ही शिवमंगल सिंहके आनेकी प्रतीक्षा करते हुए बैठा रहा। यह बात मुझे बिलकुल असम्भाव्य-सी, हास्यास्पद-सी मालूम पड़ी। पहियोंके निशानका प्रश्न अभी सामने था। इसके ठीक पहलेकी सन्ध्यामें उसने सफलता-पूर्वक पीछे-पीछे जाकर उनका दूरतक पता लगाया था। बैलगाड़ी कोई ऐसी चीज तो नहीं जो एकाएक हवामें गायब हो जाय। अनुसन्धानका कार्य इसलिए बन्द कर देना पड़ा था कि रातके आठ बज जानेके कारण चारों तरफ अँधेरा छा गया था। लालटेनें माँगनी पड़ी थीं। प्रत्येक जाँच करनेवाले अफसरकी—और यह सब-इन्स्पेक्टर कोई नासमझ आदमी तो था नहीं—पहली प्रवृत्ति यही होती कि सबेरा होते ही वह तुरन्त उस स्थानपर फिर जाता और उन निशानोंका पता लगानेका प्रयत्न करता। वह पहले उत्तरकी ओर गया था, जैसा कि उसने कहा था, किन्तु वहाँ से वापस चले आना पड़ा था, क्योंकि निशान दिखाई नहीं दे रहे थे। किन्तु उसने यह नहीं कहा था कि गाड़ीके लौटनेके भी निशान उसने देखे। स्पष्ट है कि गाँवकी नियमित सड़कतक पहुँच जानेपर, पक्की जमीन होनेके कारण, निशानोंका दिखाई पड़ना बन्द हो गया था। किन्तु सब-इन्स्पेक्टरने अधिक दूरतक उनकी खोज करनेका प्रयत्न नहीं किया। इसीसे मेरा ख्याल हुआ कि दूसरे दिन सबेरे उसका पहला काम यही होना चाहिये था कि वह एक बार फिर उत्तरकी ओर जाता और गाँवकी सड़कके और आगे निशानोंकी खोज करता। ऐसा करनेपर वह उन्हें अवश्य ढूँढ़ लेता और तब तीरकी तरह सीधे उक्त कुएँतक जा पहुँचता। वह ऐसा कर सकता था। वास्तवमें यही उसने किया भी होगा, अकेले अपने कान्स्टेबिलोंके साथ और शायद दो चार गाँववालोंको भी साथ लेकर, लेकिन बिना शिवमंगल-की सहायतासे या बिना उसके कुछ बताये ही। यही कारण था कि वह शिवमंगलको अपने साथ उस कुएँतक नहीं ले गया—ऐसा न करनेका उसने जो कारण बतलाया था, वह स्पष्ट ही बालकों जैसी बात थी—और यही कारण था कि वह सीधे गोपाल सिंहके उक्त कुएँतक ही गया, किसी अन्य कुएँतक नहीं, क्योंकि पहियोंके निशान उसे वहाँतक ले गये। इसलिए इस कल्पनाके आधारपर

शिवमंगलके गिरफ्तार होने और उससे इस मामलेमें प्रश्नादि पूछे जानेके बहुत पहले ही लाशोंका पता लगा लिया गया था। लाशोंका पता चल जानेपर शिवमंगलपर ही शक किया गया, क्योंकि कपड़ोंके गट्ठर उसीके खेतमें गड़े पाये गये थे। बैलगाड़ी सम्भवतः उसके घरके अहातेमें ही थी, यदि सचमुच वहाँ खोज निकाली गयी हो। ये सब ब्यौरेकी छोटी बातें थीं। यदि एक बार अदालतके मनमें इस बारेमें सन्देह उत्पन्न कर दिया जाय कि लाशोंका पता किस तरह चला तो सारा मामला इतना सन्देहपूर्ण हो जायगा कि दोष सम्भवतः प्रमाणित न किया जा सकेगा। अपीलकी सुनवाई दो न्यायाधीशों (अलसाप और गंगानाथ जी) के सामने हुई। दोनोंको ही फौजदारी मुकदमोंका दीर्घ-कालीन अनुभव था। सुनवाई १० बजे दिनमें शुरू हुई और ४० मिनटसे भी कम समयमें समाप्त हो गयी। मैंने मुख्य तथ्य ही सामने रखे, थोड़ेमें अभियोगका वर्णन किया, सब-इन्स्पेक्टरके बयानका सारांश दिया और फिर तुरन्त ही घटनास्थलके नक्शेकी ओर जजोंका ध्यान दिलाया और अपनी कल्पना उनके सामने रखी। उसने जादू जैसा काम किया। दोनों न्यायाधीश तुरन्त ही उससे प्रभावित हुए। मैं नहीं जानता कि उन्होंने दौरा जजका फैसला घरमें पढ़ा था या नहीं किन्तु अदालतमें १८ पृष्ठोंके उस फैसलेमेंसे एक पंक्ति भी नहीं पढ़ी गयी, बहुसंख्यक गवाहोंके बयानोंमेंसे एक शब्दकी भी चर्चा नहीं की गयी, पटवारीके वक्तव्यकी तीन लाइनोंको छोड़कर जिसने सब-इन्स्पेक्टरकी देख-रेखमें घटनास्थलका नक्शा तैयार किया था। कुछ ही मिनटोंके भीतर सरकारी वकीलसे बहसका जवाब देनेको कहा गया। उसने दो चार शब्द कहे और उसके बाद ही फैसला सुना दिया गया। अब मामलेका मानवतापूर्ण, कारुणिक अंश आता है। मुझे उसी समय एक अन्य अदालतमें चले जाना पड़ा, अतः अभिनिर्णय सुननेके लिए मैं वहाँ उपस्थित न रह सका। शिवमंगल भी हाई-कोर्टमें लाया गया था और वह अदालतके कमरेके बाहर गलियारेमें खड़ा था, हथकड़ी बेड़ी पहने हुए। जब मैं १० बजे दिनमें अदालतके कमरेमें घुसने लगा था, तब उसने मुझे अभिवादन किया था। स्पष्ट है कि उसे किसीने यह बतला दिया था कि मैं उसका वकील हूँ। आधे घण्टेके बाद ही मैं बाहर निकल आया और अन्यत्र जाने लगा। शिवमंगलके मनमें बुरेसे बुरे परिणामकी आशंका हुई अथवा हो सकता है कि उसे यह भय हुआ हो कि मैं छोटे वकीलके हाथमें मामला सौंप कर खुद चला जा रहा हूँ। उसने बड़ी करुणाके साथ प्रार्थनाभरी दृष्टिसे मेरी ओर देखा। मैंने उससे कह दिया कि मामला खत्म हो गया और तुम छूट गये। वह अपने कानोंपर विश्वास न कर सका। उसके नेत्रगोलक मानो बाहर निकले आ रहे हों। वह टकटकी लगाकर मेरी ओर देखने लगा और चिल्ला उठा 'क्या, क्या ?' यह मामला १४ दिनोंतक दौरा अदालतमें चला था और उच्च न्यायालयमें वह आधे घण्टेमें ही समाप्त हो गया। उसके लिए यह समाचार अविश्वसनीय था। मैंने फिर कहा 'तुम छूट गये।' वह तुरन्त जमीनपर गिर पड़ा मानो मूर्च्छित हो गया हो। किन्तु मुझे दूसरी अदालतमें जाना था इसलिए मैं ठहर न सका। किन्तु मैंने वह प्रतिक्रिया देख ली जो उस समय होती है जब फाँसीकी सजाकी विभीषिका एकाएक एवं अनपेक्षित रूपसे दूर हो जाती है। फाँसीका दण्ड कितनी मानसिक वेदना उत्पन्न करनेवाला न होता होगा ! और हम लोग, वकील तथा सामान्य-जन, शायद ही उस भयानक यन्त्रणाकी कल्पना कर सकते हैं, जो फाँसीकी सजा पाये हुए कैदीको तनहाई कोठरीमें उस समय भोगनी पड़ती है जब उसकी अपीलपर हाईकोर्टमें महीनों विचार होता रहता है और उसके बाद जब शायद प्रिवी-कौंसिलमें भी अपील की गयी हो और शासनाधिपतिके पास क्षमाप्रार्थनाका आवेदनपत्र दिया गया हो। उसका चिन्तन करना भी अत्यन्त भयावह है।

मुझे इसी तरहका एक अनुभव ठीक पाँच वर्ष बाद सन् १९४० में हुआ था। ३५ वर्षके एक

ठाकुरको मृत्युदण्ड दिया गया। मातहत अदालतमें मुकदमा बारह महीनोंतक चलता रहा और जबतक हाईकोर्टमें अपीलकी सुनवाई आरम्भ हुई, तबतक उसकी हालत बिलकुल जर्जर हो गयी। उसके स्नायु कमजोर पड़ गये और वह दुविधाकी स्थिति बरदाश्त करनेमें बिलकुल असमर्थ हो गया। उसने मेरे सहायक वकीलसे कहा कि मामलेकी सुनवाई अविलम्ब शुरू करानेका प्रयत्न किया जाय। इस यन्त्रणा-को अब और अधिक बरदाश्त करनेके बजाय मैं फाँसीके तख्तेपर चढ़ जाना ज्यादा पसन्द करूँगा। जब सुनवाई आरम्भ हुई, तब वह उच्च न्यायालयमें उपस्थित था, गलियारेमें बैठा था और वह मुझे दरवाजेके उस पार दिखाई पड़ता था। वह एक कठिन और उलझनवाला मामला था। उसकी सुन-वाईमें दो दिन लग गये। कैदीका चेहरा मुकदमेकी चिन्ताके कारण मुरझा-सा गया था, गाल पिचक गये थे और वह जालमें फँसे हुए जन्तुकी तरह करुणाभरे नेत्रोंसे मेरी तरफ देख रहा था। पहले दिन-की काररवाई समाप्त होनेके बाद मैंने उससे कहा कि मुकदमा ठिकानेसे चल रहा है किन्तु अभीसे कोई भविष्यद्वाणी करना ठीक न होगा, दूसरे दिन लक्षण अधिक उज्ज्वल हो गये और मैंने यह बात उससे कह दी, फिर भी सरकारी पक्षके वकीलका भाषण अभी बाकी था। ३। बजे अपराह्नमें वह समाप्त हुआ। अदालतने उसका जवाब देनेके लिए मुझे नहीं बुलाया और यह स्पष्ट हो गया कि अपील मंजूर कर ली जायगी तथा अभियुक्त छूट जायगा। वह अब भी मेरी ओर देख रहा था। मैंने उसकी ओर संकेत कर समझा दिया कि मामला खत्म हो गया और सबकुछ उसके अनुकूल हुआ। पलक झपते ही, एक दो सेकण्डमें ऐसा लगा मानो उसका बिलकुल कायापलट हो गया हो। उसके चेहरेपर खून दौड़ गया, वह भराभरा-सा हो गया, गाल उसके चमकने लगे, आँखें प्रदीप्त हो उठीं और ओठोंपर मुस्कराहट आ गयी। मेरी आँखोंके सामने ही इतना बड़ा परिवर्तन हो गया—मृत्युकी विभीषिका दूर हो गयी, उसके शिकंजेमें पड़े हुए प्राणीकी भीत चितवन गायब हो गयी और अब मेरे सामने ऐसा आदमी खड़ा था जिसमें पुरुषोचित बल छलक रहा था, जिसमें जीवनकी खुशी और उत्साह भरा हुआ था। उसका नाम था रामपाल सिंह। रामपाल सिंह तथा शिवमंगल सिंह, इन दोनोंको मैं जीवनभर कभी न भूल सकूँगा।[1]

थोड़ी देरके लिए मैं फिर शिवमंगल सिंहके मुकदमेकी ओर लौटता हूँ। कितने ही कठिन मामलोंमें वकालत करते हुए मुझे यह देखकर अक्सर आश्चर्य हुआ कि सफाईकी तरफसे कोई मण्ड-नात्मक कल्पना तैयार नहीं की जाती। जिरहमें प्रायः सभी सम्भवनीय बातोंके सम्बन्धमें प्रश्न पूछे जायँगे किन्तु किसी एक दिशामें चतुरतापूर्वक आगे बढ़नेका कोई निश्चित संकेत न मिलेगा। ऐसा मालूम होता है कि सफाईका वकील किसी एक दिशामें अधिक आगे बढ़नेसे हिचकिचाता है। शायद यह हिचकिचाहट स्वाभाविक और सम्भवतः समझदारीकी चीज भी हो। किन्तु मैं व्यक्तिगत रूपसे जोखिम उठाना पसन्द करता हूँ और जिन थोड़ेसे मुकदमोंकी पैरवी मैंने बादके वर्षोंमें दौरा अदालतमें की, उनमें मैंने बराबर ऐसा ही किया और इसका परिणाम अच्छा ही निकला। उदा-हरणके लिए शिवमंगल सिंहके मामलेमें कल्पनाकी बातका अभाव था। अभियुक्तका लिखित बयान, नरेशके भाषणके समान, उसके वकीलके लिए सफाईका मुख्य आधार होता है और अक्सर अभि-युक्तके सौभाग्यसे न तो विचारक न्यायालय ही उसे कोई महत्व देता है, न उच्च न्यायालय। शिव-मंगलके मुकदमेमें उसका लिखित व्यक्तव्य उस कल्पनाके निश्चित रूपसे प्रतिकूल पड़ता था जो मैंने सफलतापूर्वक सामने रखी थी। मैंने बहसमें कहा था कि सब-इन्स्पेक्टर बड़े सबेरे सबसे पहले उस

---

१. शिवमंगल सिंहके मामलेकी अपीलका नम्बर ६२५ है (सन् १९३५), जिसका फैसला १४ नवम्बर १९३५ को हुआ था—ब्रिटिश नरेश बनाम शिवमंगल सिंह।

स्थानतक दौड़ा गया होगा, और निशानोंका अनुसरण करते हुए उसने खुद ही सब बातें मालूम कर ली होंगी। इसके विपरीत लिखित व्यक्तव्यमें अभियुक्तसे कहलाया गया था कि 'बृहस्पतिवारको, जिस दिन सब-इन्सपेक्टर गाँव पहुँचा था, मैं उसके साथ हाजिर था। मैं अपने घरके चौपालमें था जहाँ दरोगा रातमें ठहरा था। वह दूसरे दिन दोपहरतक वहाँ रहा। मैं भी बराबर दरोगाके साथ ही रहा। दूसरे दिन, दोपहरको दरोगा मेरा चौपाल छोड़कर उन लोगोंके यहाँ चला जो मेरे दुश्मन थे और इस मुकदमेमें सरकारी पक्षसे खड़े होनेवाले गवाह।' फौजदारी मुकदमा लेनेवाले वकीलोंको शरलॉक होम्सके तथा अवलोकन, अनुमान एवं निष्कर्ष द्वारा अपराधका पता लगानेकी कलामें चतुर अन्य व्यक्तियोंके कमालोंका वृत्तान्त अवश्य पढ़ना चाहिये। मैं समझता हूँ कि शिवमंगल सिंहको छुड़ानेमें मुझे शरलॉक होम्सके तरीकोंके अध्ययनसे बड़ी सहायता मिली जो उसकी रचना 'दि एडवेन्चर ऑफ दि प्रायमरी स्कूल' में[1] तथा उसीसे मिलते-जुलते अन्य मामलोंमें दिये हुए हैं।[2]

३३. दैवात् छुटकारेके मामले

मुझे एक और मामलेका स्मरण है जो स्पष्ट ही अभियुक्तके खिलाफ था—वास्तवमें बहुत

१. ए० कोनान डॉइलकी पुस्तक 'दि रिटर्न ऑफ शरलॉक होम्स' देखिये।

२. घटनास्थलके नक्शे और भी कई मामलोंमें निर्णायक साबित हुए हैं। मुझे मध्यप्रदेशके जबलपुर जिलेका एक मामला याद है। उसकी अपीलमें बहस करनेके लिए मैं नागपुरकी जुडीशल कमिश्नरकी अदालतमें गया था, जो उस समय मध्यप्रदेशकी अपीलकी सबसे अन्तिम अदालत थी। अभियुक्तपर हत्याका अपराध सिद्ध हो चुका था और उसे प्राणदण्डकी सजा दी गयी थी। कहा गया था कि एक दिन शामको वह मृत व्यक्तिके मकानपर गया था और बहुत नजदीकसे गोली चलाकर उसने उसके प्राण ले लिये थे। उसका मकान गाँवके भीतरी हिस्सेमें अवस्थित था। मैं ब्यौरेकी बातें सब भूल गया हूँ किन्तु मुझे स्मरण है कि गाँवके उस नक्शेके आधारपर, जिसमें मारे गये व्यक्तिके घरतक जाने आनेवाली गलियाँ दिखलायी गयी थीं, मैं न्यायाधीशोंको यह दिखला सका और उनकी दिलजमई कर सका कि अभियुक्तकी गतिविधि, मकानतक उसके जाने तथा वहाँसे भागनेका सारा वृत्तान्त बहुत ही असम्भाव्य, यहाँतक कि अविश्वसनीय भी था। यह मामला मुझे एक और अनुभवके कारण स्मरणीय है। मैं शिकारी तो नहीं हूँ किन्तु मैं ऐसी पुस्तकें पढ़नेका शौकीन हूँ जिनमें शिकारपर गोली चलाने और शिकार खेलनेका वर्णन हो। मेरी इच्छा जंगलमें विचरते हुए शेरको देखनेकी थी और यह उस समय पूरी हुई। मेरे मुवक्किलने मुझे जबलपुरसे नागपुरतक मोटरमें जानेके लिए राजी कर लिया। पहाड़ियों, घाटियों, जंगलों तथा मैदानोंके बीचसे होते हुए, जो भारतके अत्यन्त सुन्दर दृश्योंमेंसे एक है, १७० मीलकी मोटर यात्रा बड़ी आनन्ददायिनी प्रतीत हुई। लौटते समय हम लोग छ बजे शामको नागपुरसे चले। आठ बजे रातमें हम लोग नागपुरसे ४० मील इधर एक जंगलमेंसे जा रहे थे कि हमने अपने सामने पूरी लम्बाईका एक शेर सड़कके आरपार बैठा हुआ देखा। वह ठीक हम लोगोंकी तरफ देख रहा था। मोटरकी तेज रोशनीसे वह अकचका गया था। हमने मोटर धीमी कर दी और उससे करीब ३० गजके फासलेपर उसे एकदम रोक दिया। रोशनी धीमी कर दी। शेरने अपनेको सँभाला, खड़ा हो गया और फिर पूरी शानके साथ चलते हुए एक ओर गायब हो गया। मोटरगाड़ीमें हममेंसे किसीके पास भी बन्दूक नहीं थी, होती तो बड़े मजेमें उसे गोली मारी जा सकती थी।

खिलाफ था—और एक विचित्र घटनाके कारण ही उसके प्राण बच सके। उसकी गिरफ्तारी भी नाटकीय परिस्थितियोंमें हुई थी—भारतीय अपराधोंके इतिहासमें जिसकी मिसाल क्वचित् ही मिलती है—और उसकी रिहाई भी बिलकुल अनपेक्षित थी। अभियुक्त, जिसका उल्लेख मैं चौबेके नामसे करूँगा, रिहाईके बाद सिंगापुर चला गया था—उसने मेरी सलाह मानकर समझदारीका काम किया और छुटकारा मिलते ही तुरन्त अपने गाँवसे बाहर चला गया। उसके अपराधी होनेके सम्बन्धमें लोगोंका इतना दृढ़ विश्वास था और इतना व्यापक भी कि बदलेकी भावनासे उसकी हत्या कर दी गयी होती।

भारतीय ग्रामसमाजमें फूटके कारण बड़ी बरबादी होती है। इस विशिष्ट मामलेमें भी दोनों गुटोंके नेता दो सम्पन्न ब्राह्मण जमींदार थे। अभियुक्त चौबे उनमेंसे एकका एजेण्ट या कार्यवाहक था और वही मुख्य उभाड़नेवाला तथा अपने मालिकके दलका प्रबल व्यक्ति था। विरोधपक्षके लोग उससे बहुत घृणा करते थे। एक अँधेरी रातमें कुछ बदमाशोंने उसपर हमला किया और बेरहमीसे उसपर लाठियोंका प्रहार किया तथा मरा समझकर उसे छोड़कर चले गये। किन्तु उसका शरीर तगड़ा था, काठी मजबूत थी। अठवारोंतक अस्पतालमें मरणासन्न रहकर अन्तमें कुछ महीनोंमें वह अच्छा हो गया। इस बातका प्रमाण था—देखने सुननेमें निष्पक्ष और विश्वसनीय—कि उसे इस बातका पूरा विश्वास हो गया था कि विरोधी दलके मुखिया गिरजाशंकरने ही उसपर यह घातक हमला कराया था और उसने बारबार अपना यह दृढ़ निश्चय प्रकट किया था कि जबतक मैं इसका बदला नहीं ले लेता तबतक चुप न बैठूँगा। किन्तु जब वह अस्पतालमें ही पड़ा हुआ था, तभी उसके मालिकमें तथा गिरिजाशंकरमें मेल हो गया और गाँवमें शान्ति स्थापित हो गयी। चौबेको उसके मालिकने नौकरीसे हटा दिया। कहा जाता है कि इससे गिरिजाशंकरके विरुद्ध चौबेका क्रोध और भी अधिक भड़क उठा। चौबेकी धमकियोंकी खबर इसे लग चुकी थी, इसलिए खतरेसे अपने-आपको बचानेके लिए इसने एहतियाती काररवाई कर ली थी। कितने ही व्यक्तियोंको उसने अपना अंगरक्षक नियुक्त कर लिया था और दो हृष्ट-पुष्ट आदमी बरामदेमें उसकी चारपाईके अगल-बगल सोया करते थे। बरामदेमें भीतरके कमरेका एक दरवाजा था, जिसमें उसकी माँ तथा छोटा भाई जिसे बुखार आ रहा था, सोया करते थे। एक रातमें उसकी हत्या कर दी गयी। किसी चोखी धारवाले हथियारके एक ही भरपूर वारसे उसकी गरदन करीब-करीब पृथक् कर दी गयी थी। प्राभियोक्तापक्षके कथनानुसार रात अँधेरी थी। गिरिजाशंकर अपने दोनों अंगरक्षकोंके बीचमें चारपाई बिछाकर सोया हुआ था। बरामदेके एक कोनेमें लालटेन जल रही थी। उसकी माँ तथा भाई, ये दोनों भीतरके कमरेमें सो रहे थे। आधीरातके बाद एकाएक 'खलखल' की तेज आवाजसे दोनों नौकर जाग पड़े। उन्होंने देखा कि उनके मालिककी गर्दन कटी पड़ी है और खूनका फुहारा छूट रहा है तथा चौबे गिरिजाकी चारपाईके पास खड़ा है। नौकरोंने चिल्लाकर कहा 'चौबेने मालिककी हत्या कर डाली' और चौबे भाग खड़ा हुआ। यह सारी वारदात दो-तीन मिनटके भीतर ही हो गयी। इस बीच माँ भी जाग उठी। उसने जब दरवाजा खोला तो उसे चौबेकी पीठ दिखलायी दी जो भागा जा रहा था। दोनों नौकरों तथा महिलाने चौबेको अच्छी तरह पहचान लिया। छोटा भाई भी बाहर निकल आया। स्वभावतः बड़ा होहल्ला मचा। कुछ ही मिनटोंके भीतर पड़ोसी इकट्ठे हो गये और प्रत्येक व्यक्तिको मालूम हो गया कि चौबेने ही यह जघन्य कृत्य किया था। सब बातें इस तरह एकाएक हुईं कि चौबे अन्धकारके कारण भाग निकलनेमें सफल हो गया। उसे पकड़नेके लिए कोई जोरदार कोशिश भी नहीं की गयी। मैं समझता हूँ कि एक घण्टेके भीतर ही पुलिस थानेमें

हत्याकी रिपोर्ट कर दी गयी और चौबे निश्चितरूपसे हत्या करनेवाला बतलाया गया। थानेदार शीघ्रतापूर्वक घटनास्थलपर पहुँचा, पुलिसकी ओरसे सामान्यतया जैसी जाँच होती है वैसी जाँच उसने लाशके सम्बन्धमें की और उसे सदर मुकाम (आजमगढ़) में शवपरीक्षाके लिए भेजवा दिया। वहाँ आवश्यक जाँच हो जानेके बाद लाश तीसरे पहर रिश्तेदारोंके हाथ सौंप दी गयी और सूर्यास्ततक सामान्यरूपसे उसका दाहसंस्कार कर दिया गया। बीमार छोटा भाई ही मुख्य मातम मनानेवाला था और वह अत्यन्त शोकविह्वल हो उठा था।

देहातमें हर जगह यह भयानक समाचार सुनकर लोग वज्राहतसे और शोकपीड़ित हो उठते थे। गिरजाशंकर भरी जवानीका युवक था और अपनी बिरादरीमें बड़ा लोकप्रिय था। उसके मारे जानेसे बहुतोंको व्यक्तिगत हानि जैसा अनुभव हुआ। सब लोग चाहते थे कि कानूनसे हत्यारेको दण्ड मिले। किन्तु चौबेका कहीं नामोनिशान न था। कहीं भी उसका पता न चला, वह पृथ्वीकी सतहपरसे ही मानो गायब हो गया हो। स्थानीय पुलिसने हर जगह उसकी तलाश की किन्तु सब व्यर्थ। दिनपर दिन बीतते गये, फिर भी हत्यारेका जरा भी सुराग न लग सका।

और अब कलकत्तेकी एक सड़कपर विचित्र घटना घटित हुई। एक युवकने चौबेको आगे बढ़ते हुए देखा। वह चौबेको अच्छी तरह जानता था। वह खुद भी ब्राह्मण था और आजमगढ़ जिलेमें गिरिजाशंकरके गाँवसे थोड़ी ही दूरके एक गाँवका रहनेवाला था। उसे हालमें ही अपने घरसे चाचाकी लिखी एक चिट्ठी मिली थी। चाचाने भतीजेको परिवारके तथा गाँवके हाल-चाल लिखे थे और यों ही उसमें चर्चा कर दी थी कि चौबे द्वारा गिरजाशंकरकी हत्या कर डाली गयी है और इससे बिरादरी की भयानक हानि हुई है। यही वह समाचार था जो भतीजेने चिट्ठीमें पढ़ा था और उसने देखा कि सामनेसे चौबे जा रहा है, बिलकुल बेफिक्र, स्वतन्त्र आदमीकी तरह। नवयुवकने फुरतीसे तथा तात्कालिक निर्णयके साथ इस तरीकेसे काम किया जिससे उस उम्रके कम भारतीय युवक ही काम करते ; पुलिसके प्रति यहाँ सर्वसाधारणके मनमें इतनी घृणा है और पुलिसके मामलोंमें पड़नेके प्रति इतनी अधिक अरुचि है। वह थोड़ी दूरपर खड़े हुए पुलिसके सिपाहीके पास गया और उससे चौबे-की ओर अंगुली दिखलाते हुए बोला—'क्या आप उस आदमीको देख रहे हैं?'

'हाँ।'

'वह हत्यारा है।'

'तुम्हें कैसे मालूम हुआ?'

'मुझे मेरे चाचाने पत्रमें लिखा है।'

'क्या तुम्हें इसका निश्चय है?'

'हाँ, निश्चय है, पूर्ण निश्चय।'

पुलिसका सिपाही कुछ अचकचाया किन्तु वह मूर्ख नहीं था। वह उन दोनोंको लेकर तुरन्त थाने पहुँचा और उसने सारी कहानी थानेदारको सुना दी। युवकसे आवश्यक सवाल किये गये, चिट्ठी मँगवाकर पढ़ी गयी और तब कलकत्तेकी पुलिसने आजमगढ़की पुलिसको तार भेजकर पूछा कि क्या इस हुलिया और नामधामके आदमीकी वहाँ तलाश है? वहाँसे जवाब आया कि हाँ, तलाश है और जोरोंसे तलाश है। इस प्रकार चौबे कलकत्तेसे आजमगढ़ लाया गया। किसी भगोड़े या न्यायसे भागे हुए व्यक्तिके अधिक चमत्कारपूर्ण ढंगसे पकड़े जानेकी और कोई कहानी मैं नहीं जानता। यथासमय दौरा अदालतमें चौबेपर गिरिजाशंकरकी हत्या करनेका अभियोग चलाया गया।

उसके खिलाफ़ मामला बिलकुल सीधा-साधा मालूम होता था। उसके लिए प्रबल प्रेरक कारण

मौजूद था और तीन प्रत्यक्षदर्शी गवाहोंका साक्ष्य था—दो नौकरों तथा माँका जिन्होंने अपनी आँखों-से चौबेको घटनास्थलपर देखा था, उसका नाम तुरन्त लिया गया था, इसके सिवा अन्य वृत्तान्तानु-मेय साक्ष्य भी था। कहा गया था कि चौबेने बड़ी सावधानीसे हत्याकी योजना बनायी थी। हत्याके बाद वह तुरन्त एक छोटे रेलवे स्टेशन जा पहुँचा था। वहाँसे एक जंक्शनका टिकट लेकर गाड़ी-में सवार हो गया। और जंक्शनसे फिर कलकत्तेके लिए रवाना हो गया। इस प्रकार उसने अपने-आपको गिरफ्तार होनेसे बचाया।

सफाईकी ओरसे मुख्य बात यह कही गयी थी कि रात बहुत अँधेरी थी और उस समय किसीको भी पहचानना या उसकी शिनाख्त करना असम्भव था। बरामदेमें लालटेनके जलते रहनेकी बात बिलकुल काल्पनिक बतलायी गयी। कहा गया कि पुलिस ऐसी बातें हमेशा गढ़ लिया करती है। अँधेरी रातमें ऐसे अवसरोंपर एक लालटेन या डिबियाका रहना अनिवार्यरूपसे बतला दिया जाता है या अपराधीके हाथमें ही कोई टार्च या बत्ती थी, यह कह दिया जाता है। फिर, इस बातपर भी जोर दिया गया कि चौबे वहाँ रुका ही क्यों होगा? हत्याकारीके लिए घातक प्रहार करनेके बाद एक मिनट भी घटनास्थलपर रुकना और पहचान लिये जाने तथा उसी जगह रँगे हाथ गिरफ्तार कर लिये जानेका खतरा उठाना सरासर बेवकूफीकी बात होगी। अपने शिकारको मार गिरानेके बाद जल्दसे जल्द वहाँसे भाग निकलना, यही उसकी सबसे पहली प्रवृत्ति होगी। सफाईने प्रबल प्रेरक हेतुकी बात स्वीकार करते हुए कहा कि यही कारण है कि 'सबका सन्देह तुरन्त चौबेपर ही हुआ, अन्य किसी व्यक्तिपर नहीं।'

ये सब तो अच्छे तर्क थे किन्तु मैं समझता हूँ कि चौबेको फाँसीसे बचानेके लिए ये पर्याप्त न थे। किन्तु उसका बचाव एक दूसरे तरीकेसे हुआ और वह बहुत अद्भुत था।

मैं पहले ही कह चुका हूँ कि हत्याके बाद सूर्यास्तके पहले ही शवकी दाहक्रिया आजमगढ़में कर दी गयी थी। इसके बाद मृत व्यक्तिका छोटा भाई जिसे बुखार आ रहा था और जो इस भारी विपत्तिके कारण स्वभावतः भग्नहृदय हो गया था, थोड़ा विश्राम करनेके लिए एक मित्र, पण्डित मिश्रके, यहाँ चला गया था। ये मिश्रजी उनकी बिरादरीके थे और आजमगढ़के प्रसिद्ध वकीलोंमेंसे थे। वहाँ दो तीन अन्य लोग भी थे, जिनमें एक युवक वकील भी था जो आजमगढ़ वकील-मण्डलीका सदस्य था। प्रत्येक आदमी हत्याकी चर्चा कर रहा था और मृत व्यक्तिके परिवारके साथ सहानुभूति प्रकट कर रहा था। शोकग्रस्त युवकने अपने भाग्यपर दुःख प्रकट किया और कहते हैं कि इसी सिलसिलेमें यह बात भी कही कि यदि पासमें सोनेवाले दोनों नौकरोंमेंसे एक उस रात अनुप-स्थित न रहा होता तो यह दुःखद घटना घटित न हुई होती। यह बात उक्त युवक वकीलने भी सुनी। चौबेका यह सौभाग्य था कि उसके मुकदमेमें यह युवक वकील सहायकके रूपमें नियुक्त किया गया था।

किन्तु प्राभियोक्तापक्षने दोनों नौकरोंको प्रत्यक्षदर्शी गवाहके रूपमें पेश किया था और दोनों-ने ऐसा साक्ष्य दिया था जो देखनेमें अकपट एवं विश्वास उत्पन्न करनेवाला प्रतीत होता था। उस रात एक नौकर गैरहाजिर था, यह बात भाईने सच कही थी या झूठ, मैं कह नहीं सकता। अथवा प्राभि-योक्तापक्षने अपने मामलेको और मजबूत बनानेके लिए जानबूझकर झूठी गवाही दिला दी थी, मैं नहीं जानता। फिर भी जो स्थिति थी, वह यही है। जिरहमें दोनों नौकरों, माता, भाई तथा पड़ो-सियोंने निश्चितरूपसे यह बात कही थी कि उक्त अवसरपर दोनों ही नौकर घटनास्थलपर मौजूद थे।

प्राभियोक्तापक्षके गवाहों आदिके बयान खत्म हो जानेके बाद प्रतिवादीने पण्डित मिश्रको

अदालतमें गवाहके रूपमें बुलाने और उनका सम्परीक्षण करनेके लिए दौरा जजके पास दरख्वास्त दी। जजने प्रार्थना स्वीकार कर ली और पण्डित मिश्रका सम्परीक्षण किया गया। उन्होंने स्वीकार किया कि भाईने वह बात कही थी जिसका उल्लेख मैं ऊपर कर चुका हूँ। किन्तु साथ ही उन्होंने यह भी कहा कि भाई उस समय दुःखसे इतना व्याकुल था कि यह बतलाना मुश्किल है कि उसका वही अभिप्राय था जो उस समय उसने कहा था। पण्डित मिश्रके साक्ष्यका रुख बतलाता था कि प्राभियोक्तापक्षकी ओरसे कही गयी बातोंकी सचाईमें उनका विश्वास था।

दौरा जजने चौबेको दोषी ठहराया। उनकी राय थी कि साक्ष्य स्पष्ट तथा निश्चयात्मक था। पण्डित मिश्रके घरपर हुई बातचीतको उन्होंने बहुत ही कम महत्व दिया।

फिर भी हाईकोर्टमें जब इसकी अपील की गयी, तो जिन न्यायाधीशोंके सामने उसकी सुनवाई हुई वे उक्त घटनासे बहुत प्रभावित हुए। मैं उन्हें यह बात मनवानेमें सफल हो गया कि इस मामले-के पीछे किसी ऐसे व्यक्तिका हाथ था जिसका स्वार्थ बिलकुल झूठे गवाह खड़े करनेमें था। ऐसी स्थितिमें बचे हुए उन दो प्रत्यक्षदर्शी गवाहोंके साक्ष्यपर भरोसा करना बहुत ही खतरनाक होगा जो कहते थे कि उन्होंने घटनास्थलपर चौबेको देखा था और उसे उसी समय पहचान लिया था। अनिवार्यरूपसे लायी हुई लालटेनके सम्बन्धमें काफी आलोचना हुई। अभियुक्त छोड़ दिया गया। उसपर हत्याका इतना गहरा सन्देह था कि मारे गये मनुष्यके परिवारने हाईकोर्टमें सरकारी वकीलकी सहायता करनेके लिए एक पुराने वकीलको नियुक्त करनेमें काफी रुपया खर्च कर दिया। उक्त पुराने वकीलने सरकारकी ओरसे विस्तारके साथ बहस की थी।

यही वे परिस्थितियाँ थीं, जिनमें ऐसे ही अन्य मुकदमोंमें हुए अपने अनुभवके आधारपर मैंने चौबेके रिश्तेदारोंको सलाह दी थी कि उक्त पड़ोसमें उसका जीवन सुरक्षित नहीं रह सकता, अतः दो-चार वर्षोंके लिए उसे कहीं अन्यत्र चल देना चाहिये। उसने ऐसा ही किया और वह सिंगापुर जा पहुँचा। चौबेकी गिरफ्तारी तथा छुटकारा, दोनों ही अपने अपने ढंगपर विचित्र और दैवसम्भूतसे थे।

× × ×

दैवात् मिलनेवाले इस तरहके छुटकारेका एक और मामला था जिसमें अभियुक्तको मात्र आकस्मिक घटना तथा बहुत ही अच्छी किस्मतके कारण छुटकारा मिला था और न्यायाधीश वस्तुतः उसका वकील बन गया था। अभियुक्तके संकटकी उत्पत्ति भी केवल एक दैवात् घटित घटनाके कारण हुई थी।

जिन दिनोंकी चर्चा मैं कर रहा हूँ, उन दिनों उत्तरप्रदेशका प्रमुख औद्योगिक नगर कानपुर क्रान्तिकारियोंके क्रियाकलापका अड्डा माना जाता था। कानपुरकी पुलिस इसलिए क्रान्तिकारियों-का पीछा करनेमें मुस्तैद रहती थी। पुलिस एक विशेष व्यक्तिकी बड़ी खोजमें थी। कुछ सूचना मिलनेपर पुलिसवालोंने उसे गिरफ्तार करनेके लिए एक घरपर धावा किया। वे उसे मकानके अहातेमें पा न सके, किन्तु उन्होंने किशोरावस्थाके एक लड़केको देखा, जिसके चेहरेपर चोटके निशान थे। स्पष्ट ही यह चोट किसी विस्फोटके कारण लगी थी। इससे पुलिसको दिलचस्पी हुई और उसने लड़केसे पूछ-ताछ की। उसने बतलाया कि १६ वर्षके एक नवयुवक विद्यार्थीसे मेरी दोस्ती थी। वह मेरा पड़ोसी था। हम लोग राजनीति तथा क्रान्तिकारी बातोंकी चर्चा अक्सर किया करते थे। एक दिन, एक सप्ताह या दस दिन पहले, मुझे उक्त मित्रने कोई चीज तैयार करनेमें सहायता देनेके लिए बुलाया। मुझे शीशेके एक बर्तनमें कुछ द्रवपदार्थ मिलानेको कहा गया, जब कि मेरा वह मित्र खुद भी उसमें कोई चीज टपका रहा था। जब यह काम चल रहा था और मैं अपने काममें

दत्तचित्त होकर बर्तनकी तरफ देख रहा था, तभी एकाएक एक धड़ाका हुआ, जिससे मेरा चेहरा झुलस गया और मुझे गहरी चोट लगी। मेरा मित्र मुझे सवारीमें बैठाकर डाक्टरके दवाखानेमें ले गया। वहाँ मेरी मरहम-पट्टी की गयी। रात मैंने वहीं बितायी और फिर मैं उस मकानमें पहुँचा दिया गया जहाँ पुलिसने मुझे देखा। मैं अब अच्छा हो रहा हूँ और मुझे कोई शिकायत नहीं है। मेरे मित्रने पिताजीको लिख दिया था कि आपका लड़का कुछ दिनोंके लिए बाहर चला गया है और पूर्णरूपसे स्वस्थ है, आपको किसी तरहकी फिक्र नहीं करनी चाहिये। पुलिस इस 'मित्र'को अच्छी तरह जानती थी। वस्तुतः बहुत दिनोंसे उसकी निगाह उसपर लगी हुई थी। पुलिसवाले उसे बिलकुल पसन्द नहीं करते थे और उन्हें शक था कि क्रान्तिकारी अपराधोंमें उसकी शराकत है। इसलिए वह गिरफ्तार कर लिया गया। उसपर गैरकानूनी कार्यों या उद्देश्योंके निमित्त विस्फोटक पदार्थ रखनेका अभियोग लगाया गया, जो 'भारतीय विस्फोटक पदार्थ अधिनियम' के अनुसार एक जुर्म है। यह ऐसा अपराध था जिसकी सुनवाई कानपुरके शहरमें न्यायसभ्योंके सामने होनी चाहिये। इसलिए मामला कानपुरके दौरा जज (श्री एलसाप) तथा न्यायसभ्योंके सामने रखा गया। जिस पदार्थके कारण विस्फोट हुआ था, वह क्या था, इस सम्बन्धमें कोई प्रत्यक्ष साक्ष्य उपलब्ध न था किन्तु प्राभियोक्तापक्षने विशेषज्ञों—विस्फोटक पदार्थोंके मुख्य इन्स्पेक्टर तथा अन्य लोगों—से गवाही दिलायी कि इस लड़केने जो बातें कही हैं, उनके आधारपर कहा जा सकता है कि ऐसा विस्फोट केवल 'पिक्रिक ऐसिड'से ही सम्भव हो सकता है, अन्य किसी चीजसे नहीं। न्यायसभ्योंने—जो ऐसे मामलोंमें किसीको दोषी ठहरानेमें हमेशा हिचकते हैं—अपने अभिनिर्णयमें उसे निर्दोष ठहराया। दौरा जजकी राय भिन्न थी। न्यायसभ्योंसे उसका मतभेद था। ऐसी स्थितिमें भारतीय दण्ड विधि संहिताके अनुसार दौरा जजको सारा मामला अन्तिम निर्णयके लिए उच्च न्यायालयके पास भेज देनेका अधिकार है। दौरा जजने यही किया। अभियुक्तका पिता कानपुरका एक प्रसिद्ध काँग्रेसी और मेरा मित्र था। उसकी पैरवीके लिए मैं नियुक्त किया गया था। अपने मित्रके व्यक्तिगत सम्मानके कारण मैंने मुकदमेमें खड़ा होना स्वीकार तो कर लिया था किन्तु वास्तवमें मुझे सफलताकी कोई आशा नहीं थी। न तो मुझे रसायनशास्त्रकी जानकारी है और न उसके प्रति कोई रुचि और मुझे अपने सन्तोषतकके लायक भी मामला तैयार करनेमें कठिनाई हो रही थी। मामलेकी सुनवाई दो न्यायाधीशों (श्री ललित-मोहन बनर्जी तथा मॉसकिंग, जस्टिस) के सामने हुई। सरकारी वकीलने स्वभावतः अपने अत्यन्त योग्य एवं अनुभवी विशेषज्ञोंके साक्ष्यपर सबसे अधिक जोर दिया। मैंने देखा कि जस्टिक बनर्जीपर उसका काफी प्रभाव पड़ा किन्तु जस्टिस मॉसकिंगने उसे बिलकुल महत्व नहीं दिया। वे विशेषज्ञोंकी रायको निर्विवादरूपसे निश्चयात्मक माननेको तैयार न थे। इसका एक अच्छा व्यक्तिगत कारण था। उन्होंने बतलाया कि 'जब मैं केम्ब्रिजके महाविद्यालयमें पढ़ता था, तब एक दिन प्रयोगशालामें काम करते हुए कोई चीज मिला रहा था, उस समय एकाएक जोरका धड़ाका हुआ, मेरे ऊपर कुछ छींटे पड़े और मैं अन्धा होते-होते बचा। फिर भी वहाँ कोई 'पिक्रिक ऐसिड' नहीं था। मैं बिलकुल निर्दोष द्रव्योंसे खेलवाड़ कर रहा था।' इसलिए अभियोग प्रमाणित नहीं किया जा सका और अभियुक्त छोड़ दिया गया। जस्टिस मॉसकिंगने जब फैसला सुना दिया, तब जस्टिस बनर्जीने मेरी ओर देखा और उनके साथ मेरी निम्नलिखित बातचीत हुई—

'क्या आप इस युवकको जानते हैं?'

'जी नहीं, महोदय।'

'क्या इसके पिताको जानते हैं?'—मैं समझता हूँ कि उन्होंने यह बात पहलेसे मान ली

थी, क्योंकि ऐसी कठिनाइयोंके समय मैं बराबर काँग्रेसजनोंकी ओरसे खड़ा हो जाया करता था।

'जी हाँ, मान्यवर, वे मेरे निजी मित्र हैं।'

'क्या वे यहाँ हैं?'

'जी हाँ, वे अदालतमें थे और मेरे पीछे ही बैठे थे।'

'उनसे कह दीजिये कि अपने इस बच्चे पर नजर रखें।' और तब पलक झपकाकर मुस-कराते हुए कहा—

'उससे कह दीजिये कि फिर ऐसा न करे।'

मैं समझता हूँ कि वास्तविक तथ्योंके सम्बन्धमें दोनोंमेंसे किसी भी न्यायाधीशके मनमें कोई सन्देह नहीं था किन्तु मुकदमा बिल्कुल वृत्तान्तानुमेय साक्ष्यपर तथा विशेषज्ञोंकी रायपर ही अव-लम्बित था। दोषसिद्धिके लिए यह आवश्यक है कि साक्ष्य निश्चयात्मक हो, उससे केवल एक ही निष्कर्ष निकल सके, अन्य कोई निष्कर्ष नहीं, किन्तु यहाँ एक त्रुटि रह जाती थी। जस्टिस मॉसकिंग-का परीक्षण, जो उन्होंने कालेजकी प्रयोगशालामें किया था, उसे कारावासकी लम्बी सजासे बचानेमें सहायक हुआ। इसे सचमुच उसका सौभाग्य ही समझना चाहिये।[१]

३४. एक रहस्यमय मामला

९ अगस्त १९४२ को राजनीतिक आन्दोलनमें गिरफ्तार हो जानेके कारण मैं एक अत्यन्त रहस्यमय मामलेमें, पैरवी करनेसे वंचित हो गया। हाईकोर्टमें अपीलकी सुनवाईके लिए सोमवार, तारीख १० अगस्तका दिन निश्चित किया गया था और मैं सचमुच ही मामलेके कागजपत्र देखदाख रहा था कि पुलिस मुझे गिरफ्तार करनेके लिए पहुँच गयी। वह बहुत ही सनसनीखेज मामला था जिसके रहस्यका पता लगानेके लिए शरलॉक होम्स जैसी कुशलता और बुद्धिकी आवश्यकता थी। वह रुड़की इंजीनियरिंग कालेजके विद्यार्थीके मुकदमेके नामसे प्रसिद्ध हो गया। इस विद्यार्थीको सहारनपुरके दौरा जजने पत्नीकी हत्या करनेके अभियोगमें फाँसीकी सजा दी थी। इस सजाके विरुद्ध की गयी अपीलमें ही मुझे बहस करनी थी। युवकसे मेरी भेंट नहीं हो सकती, इसलिए खुद उसकी ही जबानसे इस मामलेका उसका वर्णन मैं सुन नहीं सका। ऐसी स्थितिमें उसका व्यक्तित्व एवं व्यवहार देखकर खुद कोई राय कायम करनेका मुझे मौका नहीं मिला। मामला काफी अनूठा था।

यह युवक कासगंज, जिला एटाके एक सम्भ्रान्त मध्यवित्त परिवारमें उत्पन्न हुआ था। वह २२ या २३ वर्षका था और दो वर्षतक रुड़की इंजीनियरिंग कालेजका विद्यार्थी रह चुका था। उसका विवाह सहारनपुरके, जो रुड़कीसे केवल १७ मीलपर है, एक सम्पन्न व्यक्तिकी लड़कीसे हुआ था। स्त्रीकी उम्र १८-१९ सालकी थी। वह कुछ साँवली थी और अँग्रेजी नहीं जानती थी। वह दकियानूसी ढंगसे चलनेवाली पुराने ढंगकी भारतीय लड़की थी, जो किसी भी अर्थमें 'आधुनिक' नहीं कही जा सकती थी। उसके पतिको सालका अधिक समय कालेजमें ही बिताना पड़ता था, इसलिए लड़की अपने माँ-बापके साथ सहारनपुरमें ही रहती थी। उसका पति सप्ताहान्तमें वहाँ जाया करता था। देखनेसे तो यही मालूम होता था कि दोनों (पति-पत्नी) एक दूसरेको चाहते थे। लड़कीने

१. इस अभियुक्तका नाम अर्जुन अरोड़ा था, जो बादमें कानपुरका एक प्रसिद्ध साम्यवादी तथा मजदूर नेता बन गया।

अपने स्वजनोंसे पति द्वारा की जानेवाली उपेक्षा या उसके परिवारके किसी सदस्यके दुर्व्यवहारकी कभी कोई शिकायत नहीं की। वह अपने भाग्यसे पूर्ण सन्तुष्ट थी।

युवकने गर्मीकी छुट्टी कासगंजमें बितायी, किन्तु उसकी पत्नी सहारनपुरमें ही रही। कालेज खुलनेके कुछ ही दिन पूर्व वह बिना कोई सूचना दिये एक नौकरके साथ सहारनपुर पहुँचा। उसने अपने सास-ससुरसे कहा कि कासगंजमें मेरी माता सख्त बीमार हैं, इसलिए आप कृपाकर तुरन्त अपनी लड़कीको बिदा कर दें तो हम उन्हें कासगंज ले जायँ। लड़कीकी माँने उससे दो-तीन दिन रुक जानेके लिए आग्रह किया किन्तु वह नहीं माना। इसलिए ३६ घण्टोंके बाद दोनों ही दो बजे रातकी गाड़ीसे, जो कासगंज जानेके लिए सबसे उपयुक्त और सुभीतेकी गाड़ी है, रवाना हुए। कुछ लोग स्टेशनतक उसे पहुँचाने जाना चाहते थे किन्तु उसने समझा-बुझाकर यह अनावश्यक कष्ट उठानेसे उन्हें मना कर दिया। ये लोग आधीरातके लगभग घरसे चल पड़े जिससे घरके लोगोंको व्यर्थ ही आधीरातके बाद जागते न रहना पड़े। चलते समय यह बात देखी गयी कि जब उसकी सास अपनी लड़कीको उसके कुछ जेवर पहननेके लिए देने लगी तो उसने कहा कि रातमें यात्रा करनी है, इसलिए जेवर पहनना ठीक न होगा, उससे खतरा हो सकता है। फिर भी दो-चार गहने उसने पहन लिये। यह रातकी गाड़ी करीब ७ बजे सबेरे बरेली पहुँची थी और बीस मिनटके भीतर ही कासगंज जानेके लिए गाड़ी मिलती थी जो दिनमें १०—३० पर कासगंज पहुँच जाती थी। यदि सहारनपुरसे जानेवाली गाड़ी २० मिनट या आधा घण्टा लेट हो जाय तो गाड़ीका मेल नहीं हो पाता था और यात्रीको कासगंज जानेवाली दूसरी गाड़ी पकड़नेके लिए १२ घण्टे ठहरना पड़ता था। सहारनपुरमें युवकने कासगंजका टिकट खरीदा ही नहीं। उसने तीनोंके लिए अर्थात् अपने लिए, पत्नीके लिए तथा नौकरके लिए केवल रुड़कीतकका ही टिकट खरीदा। ट्रेन करीब १२ मिनट लेट थी और वह ३। बजे रुड़की पहुँची। वे लोग वहाँ उतर पड़े। युवकने सारा सामान स्टेशनके सामान-घरमें रखवा दिया। रेलवेके एक-दो भारिकों (कुलियों)ने इस दलको स्टेशनसे ३॥ या ४ बजे सबेरे रेलवे लाइनसे होकर गंगा-नहरकी ओर जाते देखा। उनके साथ कोई सामान न था, न कोई सूट-केस था। वे करीब-करीब खाली हाथ ही थे। रेलकी सड़क करीब आधे मीलके बाद चौड़ी गंगा-नहरमें मिलती है। नहरके दोनों तरफ पक्की सड़क है।

रेलवेके भारिकोंके कथनानुसार करीब ६॥ बजे सबेरे केवल दो आदमी ही—युवक तथा उसका नौकर—रुड़की रेल स्टेशनको वापस लौटे। लड़की उनके साथ नहीं थी। युवकने सामान-घरसे अपना सामान वापस ले लिया और सात बजे सहारनपुरसे बरेली जानेवाली गाड़ीपर सवार हो गया। लगभग दोपहरमें वह बरेली पहुँचा, कासगंज जानेवाली गाड़ीके लिए करीब छ घण्टे वहाँ ठहरा रहा। अन्तमें अधिक रात बीतनेपर, कोई ११ बजे, वह अपने घर कासगंज पहुँचा।

दूसरे दिन, तीसरे पहर, सहारनपुरमें लड़कीके पिताको एक तार मिला जो उसके दामादके बड़े भाई द्वारा भेजा गया था। उसमें केवल इतना ही लिखा था—'तुम्हारी लड़कीकी मृत्यु हो गयी।' मृत्युका कोई कारण उसमें नहीं बतलाया गया था। स्वभावतः इस भयानक समाचारसे बहुत ज्यादा व्याकुलता और दुःख उत्पन्न हुआ। चार घण्टेके बाद उसी आदमीका भेजा हुआ दूसरा तार आया, जिसमें पानेवालेसे प्रार्थना की गयी थी कि वे दूसरे दिन सबेरे रुड़कीमें तार भेजनेवालेसे मिलें। पिता तो अत्यन्त दुःखित होनेके कारण घरसे बाहर जानेमें असमर्थ रहा, अतः चाचा तथा चचेरे भाई ही रुड़की गये और कासगंजसे आये हुए लोगोंसे मिले। इनमें उक्त भाई तथा वह नौकर जो उस दुर्भाग्यपूर्ण यात्रामें युवकके साथ गया था, और परिवारका एक मित्र—ये तीन

व्यक्ति थे। यह मित्र स्वयं एक वकील था। नौकरसे यह हाल उन्होंने सुना। बेचारी युवती स्त्री रुड़की कालेज देखनेकी इच्छुक थी और गाड़ी कुछ मिनट लेट होनेके कारण उसने सुझाव दिया कि कासगंजकी गाड़ीका मेल न हो सकनेपर बरेलीमें दिनभर व्यर्थ बितानेकी सम्भावनाका सामना करनेके बजाय अच्छा होगा कि सबेरेका समय रुड़कीमें बिताया जाय। पतिने यह बात स्वीकार कर ली, इसलिए केवल रुड़कीतकके ही टिकट खरीदे गये। रुड़कीमें कोई सवारी नहीं मिली और उस समय मन्द-मन्द सुहावनी हवा चल रही थी, इसलिए उन्होंने रेलकी सड़कसे गंगा-नहरतक और वहाँ-से पक्की सड़क द्वारा कालेज पहुँचनेका निश्चय किया। जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ, रेल-सड़कसे चलनेपर एक या दो फर्लांगपर नहर मिलती है। नहरके दोनों किनारोंपर पक्की सड़क है और कालेज बायें किनारेपर करीब डेढ़ मीलकी दूरीपर अवस्थित है। इसलिए तीनों जने नहरके बगलकी सड़कसे कालेजकी तरफ बढ़े। सड़कसे करीब-करीब आधी दूर जानेपर एक घाट पड़ता है, जो 'गायघाट' कहलाता है। जबतक लोग गायघाट पहुँचे, तबतक सबेरा हो गया था, इसलिए यह तय हुआ कि वहाँ कुछ देर रुका जाय, दिशा-फराकतसे निपट लिया जाय और तब स्नान करनेके बाद कालेज देखने जाया जाय। इस घाटके आस-पास चारों तरफ खुली जमीन है। इसलिए ये लोग वहाँ रुक गये। पहले नौकर गया दिशाके लिए। फिर उसका युवक मालिक। जब २० मिनट या आधे घण्टेमें वे दोनों लौटकर वापस आये तो उन्होंने देखा कि लड़की वहाँसे गायब थी। वहाँ आस-पासमें कोई आदमी मौजूद न था, इसलिए किसीसे कोई पूछताछ नहीं की जा सकी। युवक हतबुद्धि-सा हो गया और उसने शंका प्रकट की कि शायद वह फिसलकर नहरमें गिर पड़ी हो। नहर वहाँ काफी गहरी (८, १० या १२ फुट) थी और बहुत कुछ तेजीसे बह रही थी। वह नहरमें कूद पड़ा किन्तु युवतीका कुछ भी पता न चला। उसकी मनःस्थिति गड़बड़ा गयी और वह इसके सिवा कोई भी अन्य बात न सोच सका कि स्टेशन वापस आकर दूसरी गाड़ी द्वारा कासगंजके लिए चल पड़े। उसने न तो पुलिसमें कोई रिपोर्ट की और न तो उसके शरीरकी खोज करानेका ही प्रयत्न किया। कासगंजमें प्रत्येक व्यक्ति-ने यही आशंका प्रगट की कि लड़की या तो पानीमें डूब गयी या फिर कोई उसे अपहृत कर उड़ा ले गया। तारमें उसकी मृत्युकी बात लिखी थी। यह नौकर द्वारा वर्णित वृत्तान्त था किन्तु सहारन-पुरके लोगोंको इसपर विश्वास नहीं हुआ। गायघाटसे कुछ ही दूरीपर कालेजकी कुछ नावें बँधी हुई थीं। नौकावालोंने पूछताछ करनेपर बतलाया कि वे करीब-करीब चौबीसों घण्टे उसी जगह मौजूद थे और उन्होंने न तो ऐसी कोई घटना सुनी और न उसकी खबर ही ज्ञात हुई। ये लोग सहारनपुर वापस चले आये और दूसरे ही दिन (अर्थात् युवतीके गायब होनेके चौथे दिन) इस घटनाकी रिपोर्ट पुलिसमें कर दी गयी (रुड़की सहारनपुर जिलेका ही एक अंग है)। पुलिसने छानबीन की। कहा गया था कि पुलिसके सामने इस बार नौकरने दूसरा ही बयान दिया। इस बयानमें उसने युवकपर अपनी पत्नीकी हत्या करनेका आरोप लगाया था। इस बयानके अनुसार यह दल कालेजकी तरफ गया ही नहीं। इसके विपरीत उसने रेलके पुल द्वारा नहर पार की और नहरके किनारेकी सड़क पकड़कर वह प्रतिकूल दिशामें २॥ मीलतक चला गया। वे लोग कृत्रिम झरनेके पास रुक गये। पति-पत्नी नहरके किनारे बैठ गये। नौकर उनसे कुछ दूरीपर था। एकाएक उसने पतिको अपनी स्त्रीको जानबूझकर नहरमें ढकेलते देखा। नौकर दौड़ता हुआ आया और उसने इसका विरोध भी किया किन्तु युवकने कहा कि जो होना था सो हो गया और अब मामला वहीं खत्म हो गया। तब वे रेलवे स्टेशन लौट आये। यह बयान सचमुच आश्चर्यजनक था। यह बड़ी विचित्र, बहुत कुछ अज्ञातकारण-परिस्थितिमें दिया गया था। इसे हम अपराध-स्वीकारोक्ति कदापि नहीं मान सकते,

क्योंकि किसी भी अपराधमें नौकरने अपने-आपको शामिल नहीं बतलाया। अदालतने राय दी कि नौकरकी स्वीकारोक्ति साक्ष्यके रूपमें ग्रहण नहीं की जा सकती और न इसपर विचार ही किया जा सकता है। मामलेकी सुनवाई शुरू होनेके पहले ही नौकरकी भी मृत्यु हो गयी और जिरहके जरिये उसके बयानकी सत्यताकी जाँच नहीं की जा सकी। सब-इन्स्पेक्टरका कहना था कि उसने करीब १६ मीलतक जाल डलवाकर नहरमें खोज करायी थी किन्तु लाश नहीं मिल सकी।

यही मामलेका करीब-करीब पूरा वृत्तान्त था। युवकपर अपनी पत्नीकी हत्याका आरोप लगाया गया था और दौरा जजने उसे फाँसीकी सजा दी थी।

यदि घटना सत्य हो तो यह एक भयावह मामला था। इससे अधिक क्रूरतापूर्ण तथा स्नेह-विहीन हत्याकी कल्पना नहीं की जा सकती। कभी-कभी मुझे अफसोस होता था कि मैंने नाहक इस मुकदमेमें खड़ा होना स्वीकार किया। मैं अपने मुवक्किलकी निर्दोषताके आधारपर मामलेका नया रूप नहीं गढ़ सकता था। यदि मुझे उससे बातचीत करनेका मौका मिल गया होता तो मैंने फुसलाकर सच्ची बात उससे जान ली होती। मुझे करुणापूर्ण भाषामें लिखा हुआ उसका पोस्टकार्ड मिला था—मैं समझता हूँ कि दो पोस्टकार्ड थे—उसमें या उनमें उसने गर्मीकी तथा हत्यारे कैदियों-की कोठरीकी असुविधाओंकी शिकायत की थी। उसने शीघ्र निर्णय हो जानेकी चिन्ता व्यक्त की थी जिससे वह फिर इंजीनियरिंग कालेजमें अपनी पढ़ाई शुरू कर सके और उसका एक वर्ष बर्बाद न हो। ऐसी बातें केवल वह आदमी ही लिख सकता था जिसकी अन्तरात्मा साफ हो, निर्दोष हो। फिर भी रुड़कीमें उसका आचरण बहुत ही रहस्यपूर्ण, जटिल तथा उसे दोषी ठहरानेवाला था। मैंने मामलेपर बहुत विचार किया और अपने मनमें मैं इस निश्चयपर पहुँचा कि बहुत करके नहरतक जानेकी कथा बिलकुल गढ़ी हुई थी। यदि लड़की धोखेसे नहरमें गिर गयी होती या जान बूझकर गिरा दी गयी होती तो यह असम्भव है कि उसका मृत शरीर किसी-न-किसीको मिला न होता। नहरके दोनों ओरकी सड़कोंपर आमदरफ्त काफी रहता है। वह केवल ३० या ४० फुट ही चौड़ी है। तैरती हुई लाशपर किसी-न किसीकी नजर तो पड़ी ही होती। फिर भी दरोगाने कहा था कि उसने १६ मीलतक नहरमें जाल डलवाकर खोज करायी थी किन्तु लाशका कोई पता न चला था। मैं समझता हूँ कि नहरकी बात गढ़कर पुलिसको भ्रममें डाल दिया गया जिससे उसने समुचित छान-बीन नहीं की। यदि लड़कीकी हत्या सचमुच की गयी थी तो शायद वह जंगलमें ही की गयी होगी या फिर किसी अन्य प्रकारसे उसका लोप कर दिया गया होगा। जब मैंने अपना यह अनुमान प्रकट किया तो भाई चुप रह गया जो सचमुच ही सन्देहका कारण था। यह बात बड़ी अर्थसूचक थी। कागज-पत्रोंमें जो बातें अभिलिखित की गयी थीं, उनका चाहे जो भी महत्व रहा हो और जो अभि-निर्णय किये गये उनमें जो कुछ सूचित होता हो, बहसमें यह बात जोरोंसे कही जा सकती थी कि इस बातका कोई भी प्रमाण नहीं कि लड़की सचमुच मार डाली गयी थी। यही पहली बात थी जो प्राभियोक्तापक्षको साबित करनी चाहिये थी—क्या लड़कीकी मौत हो चुकी थी?

मुझे बादमें जेलमें मालूम हुआ कि हाईकोर्टने अपील रद्द कर दी और फाँसीकी सजा बहाल रखी। यह बहुत ही दुःखद बात थी।

३५. घूसखोरीके मामले

वकालत करते समय मुझे किसी तरह बहुतसे घूसखोरीके मामलोंमें भी खड़े होना पड़ा था। उनमेंसे, यदि सब नहीं तो, अधिकतर मेरे खयालसे बिलकुल साधार थे। इन मामलोंमें मुझे सफ-फलता मिलती थी और कभी-कभी नहीं भी मिलती थी। घूस लेनेवाले अक्सर संकटमें पड़ते ही हैं।

अक्सर मामला सच्चा होता है, सचमुच ही घूस जबरन ली जाती या सौदा पटानेके लिए स्वीकार की जाती है किन्तु कभी-कभी यह केवल धोखेकी टट्टी होती है। कोई सम्बन्धित व्यक्ति घूस लेनेके कारण बदनाम रहता है किन्तु उसका कोई विश्वसनीय प्रमाण देना कठिन होता है। इसलिए प्रलोभकों या कपटदूतोंका प्रयोग किया जाता है। उसे लालचमें फँसानेका प्रयत्न किया जाता है, सौदा पटा लिया जाता है और ऐन मौकेपर ज्यों ही रुपया उसकी जेबमें पहुँचता, वह गिरफ्तार कर लिया जाता है। बनारसके दीवानी जज रघुबीरशरणका मामला ऐसा ही था। कभी-कभी बात सच्ची रहती है किन्तु घूस देनेवाला उद्विग्न-सा होकर, घूस देनेके पहले, अधिकारियोंके पास आकर शिकायत कर देता है और तब जो कुछ होता है, उसकी कथा सबको ज्ञात ही है। चाँदीकी मुद्रा या नोटोंपर निशान लगा दिया जाता है। पुलिस छिपकर बैठ जाती है। पूर्वनिश्चित संकेत मिलते ही वह दौड़ पड़ती है और उसे, एक तरहसे रँगे-हाथ, गिरफ्तार कर लेती है। न्यायाधीश, ओवरसीयर, पुलिसके या आबकारीके अफसर, म्युनिसिपल मेम्बर तथा ऐसे ही अन्य लोगोंके मामलोंमें मैंने पैरवी की है। कभी-कभी घूस देनेका प्रयत्न करनेवाले पर भी, उस अफसरके कहनेसे जिसे घूस देनेकी चेष्टा की जाय, मामला चलाया जाता है। वह किसी उच्चाधिकारीको सूचित कर देता है या किसी मजिस्ट्रेटसे पहलेसे उपस्थित रहनेकी प्रार्थना की जाती है और घूस देनेवाला तत्काल गिरफ्तार कर लिया जाता है। ऐसा क्वचित् ही होता है किन्तु मेरे सामने एक बार एक मजेदार मामला आया जिसमें कुछ असाधारण-सी परिस्थितिमें एक सम्पन्न जमींदार घूस देनेके लिए फुसलाया गया और फिर फौजदारी अदालतमें उसपर मुकदमा चलाया गया। घूस देनेका उसका बिल्कुल इरादा नहीं था किन्तु एक तरहसे उसे बहकाकर ऐसा करनेके लिए बाध्य किया गया। मामला उल्लेखनीय है।

अभियुक्त इटावा जिलेका एक बड़ा जमींदार था। समय कठिन था और कृषिमें मन्दी चल रही थी। इसके सिवा यह जमींदार एक भारी दीवानी मुकदमेमें फँसा हुआ था। उसपर बहुत-सी मालगुजारी बकाया रह गयी। उसे १० हजार रुपये देने थे। जिस दीवानी जजके सामने मामला पेश था, उसने हालमें ही एक सनसनीदार दीवानी मामलेका निपटारा किया था और ऐसा अभिनिर्णय दिया था जो एक तरहसे बिल्कुल अनपेक्षित था। जिले में शायद यह अफवाह उड़ गयी थी कि न्यायाधीश मुकदमा जीतनेवाले वादीके अनुचित प्रभावमें आ गया था। यह अफवाह सम्भवतः स्वयं न्यायाधीशके कानमें पड़ी हो और मैं समझता हूँ कि वह स्वयं भी कोई ऐसा मौका ढूँढ़नेके लिए व्यग्र था जिससे वह अपने ऊपर किये गये शकका निवारण कर सके और यह साबित कर सके कि वह कितना अच्छा और समादरणीय व्यक्ति था। एक ब्राह्मण पण्डित उसके यहाँ पूजा कराने जाया करता था और जजके कथनानुसार इस पण्डितने उससे इस मामलेके सम्बन्धमें बातचीत की थी। यह बात प्रमाणित हो गयी कि बातचीत चाहे जो भी हुई हो, वह सम्पूर्णरूपसे अनधिकृत थी। जमींदारका उक्त पण्डितसे परिचय जरूर था किन्तु उसने उससे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्षरूपसे यह कभी नहीं कहा था कि वह जजके पास जावे और उसके मनकी थाह ले। पण्डितने जो कुछ किया अपने मनसे किया, स्वतःप्रेरित होकर अथवा प्रतिवादीके हितकी दृष्टिसे। न्यायाधीशने इस बातचीतको घूस देनेकी इच्छाका द्योतक माना और उसे तुरन्त अस्वीकृत कर दिया। उसने पण्डितको डाँट दिया और मामला वहीं खत्म हो गया, कमसे कम जहाँतक पण्डितका उससे सम्बन्ध था। यह न्यायाधीश स्थानीय अफसरोंके क्लबका सदस्य था। एक दिन शामको उसने बात-ही-बातमें कलेक्टरसे चर्चा कर दी कि जमींदारकी ओरसे मुझे घूस देनेका प्रयत्न किया गया था और मैंने रोषपूर्वक उसे ठुकरा दिया था। मैं समझता हूँ कि कलेक्टर एक मजाकपसन्द आदमी था। उसने कहा कि मुझे इस

जमींदारसे मालगुजारीके रूपमें एक बड़ी रकम वसूल करनी है और वह अनेक कठिनाइयाँ बतलाकर इसमें हीला-हवाला कर रहा है। यह एक बहुत ही नायाब तरीका उक्त रकम प्राप्त करनेका होगा। इसलिए उसने जजसे बातचीत आगे बढ़ाने और घूसके रूपमें दस हजार रुपये माँगनेको कहा, ताकि यह रकम, वसूल हो जानेपर, मालगुजारीके रूपमें जमा कर दी जाय और यह सारा मजाक जमींदारके मत्थे करना तै हुआ। इस प्रकार यह छोटा-सा षड्यन्त्र जिला अधिकारियोंके बीच क्लबमें रचा गया और दीवानी न्यायाधीशने अपने-आपको उसमें शामिल हो जाने दिया। उसने इसकी बातचीत एक दूसरे पण्डितसे शुरू की और समुचित सौदा करनेके लिए अपनी रजामन्दी प्रकट की। पण्डितने जमींदारसे जाकर वार्ता की। यह (जमींदार) ऐसे असञ्जमसकी स्थितिमें पड़ गया जिससे किसीको ईर्ष्या नहीं हो सकती। दीवानी मुकदमेमें काफी बड़ी रकम अन्तर्ग्रस्त थी। यहाँ न्यायाधीश स्वयं घूस माँग रहा था। यदि रुपया दिया न जाय तो मुकदमेपर प्रतिकूल प्रभाव पड़ सकता है। ऐसे कितने आदमी होंगे जो इस परिस्थितिमें इस प्रस्तावको अस्वीकार कर देनेका नैतिक साहस दिखा सकते हैं? जमींदार झुक गया, बातचीत आगे बढ़ी और १० हजार रुपये देना तय हुआ। यह भी निश्चित हुआ कि जमींदारका लड़का एक दिन शामको दीवानी जजके मकानपर जाकर खुद अपने हाथों रुपया देगा। मजिस्ट्रेट तथा पुलिसको इस योजनाकी खबर कर दी गयी। वे लोग आकर बगलके स्नानगृहमें छिप गये। ज्यों ही रुपया हाथमें दिया गया, वे बाहर निकल आये और उन्होंने नोटोंपर अधिकार कर लिया। बेचारा जमींदारका लड़का हक्का-बक्का रह गया और उसने क्षमाकी प्रार्थना की। कलेक्टर हँसने लगा और उसने इस चालकी सफलतापर बड़ी प्रसन्नता प्रकट की। उसने यह रुपया सरकारी मालगुजारीकी अदायगीमें जमा कर देनेके लिए जमींदारको विवश कर दिया। जहाँतक कलेक्टरका सम्बन्ध था, अब इस मामलेमें और कुछ नहीं करना था। यह तो रुपया जमा करनेमें टालमटूल करनेवालेसे रुपया प्राप्त करनेकी एक चालमात्र थी। फौजदारी मामला चलानेका उसका न तो कोई इरादा था और न इसका उसने विचार ही किया था। उसने उच्चाधिकारियोंके पास इसकी रिपोर्ट भेज दी पर उसे कोई महत्व नहीं दिया। जिला जजने भी उच्च न्यायालयमें इसकी रिपोर्ट भेजी। उच्च न्यायालयने इसे बहुत गम्भीर मामला समझा और आदेश दिया कि घूस देनेवालेपर, पण्डितपर तथा जमींदारपर मुकदमा चलाया जाय।

मुकदमेकी सुनवाई कानपुरके दौरा जजके इजलासमें हुई। उसने अभियुक्तको रिहा कर दिया। उसने न्यायाधीशके तथा जिला अधिकारियोंके आचरणपर कड़ी टीका की और अपना यह विचार प्रकट किया कि इस प्रकार झूठा बहाना बनाकर चालबाजीसे मालगुजारी वसूल करना अपराध नहीं माना जा सकता। इस प्रकार की गयी रिहाईके विरुद्ध सरकारने अपील की जिसकी सुनवाई दो न्यायाधीशोंके सामने हुई। सर तेजबहादुर सप्रू तथा मैं विभिन्न अभियुक्तोंकी ओरसे खड़ा हुआ। कानूनकी दृष्टिसे तो मानना पड़ेगा कि अपराध हुआ किन्तु मामलेके नैतिक पहलूको सामने रखकर दी गयी दलीलें बहुत जोरदार और प्रभावोत्पादक थीं। न्यायाधीशोंपर इनका असर पड़ा और उसने छोटे जुरमाने मात्रकी सजा दी तथा चतुरतापूर्ण इस सारी काररवाईकी भर्त्सना की।[१]

३६. प्रोफेसर राममूर्तिका मामला

मैंने ऊँची अदालतोंमें बहुत कम मूल फौजदारी मामलोंमें बहस की है और मेरा खयाल है

१ मुकदमेका विवरण छप चुका है, ब्रिटिश नरेश बनाम दिनकर राव (१९३३), इलाहाबाद लॉ जर्नल, १४८१।

कि मजिस्ट्रेटके सामने तो एक बार भी नहीं की। मैं फौजदारी मामलेकी पहली सुनवाईमें पैरवी करनेको तैयार नहीं होता था, क्योंकि मुझे भय था कि मैं फौजदारी मामलोंकी काररवाईसे तथा पुलिसके सन्देहपूर्ण तरीकोंसे अपरिचित होनेके कारण अपने मुवक्किलके साथ न्याय न करा सकूँगा। हाँ, अपीलकी बात दूसरी है। यहाँ हर चीज और हर चाल बिलकुल स्पष्ट होती है और वास्तवमें दीवानी मामलेकी अपीलकी अपेक्षा फौजदारीकी अपीलमें बहस करना कहीं ज्यादा आसान होता है; कमसे कम मेरा अनुभव तो ऐसा ही है।

दौरा अदालतका पहला मामला जो मैंने स्वीकार किया, वह मेरा विश्वास है कि सन् १९१५ (या १९१४) का था जो हाईकोर्टकी लम्बी छुट्टियोंमें पड़ा था और जिसकी सुनवाई मेरे मित्र श्री केण्डाल, कानपुरके दौरा जजके सामने हुई थी। मुझे रुपयोंकी जरूरत थी, अतः मैंने मुकदमेमें खड़ा होना स्वीकार कर लिया। वह एक गन्दा मामला था, दोपहरको एक छोटी बच्चीके साथ किये गये बलात्कारका मामला था। मानवप्रकृतिका अनुभव न होनेके कारण, प्राभियोक्ताका वृत्तान्त मुझे इतना असम्भाव्य प्रतीत हुआ कि मैंने मामलेको बिलकुल गढ़ा हुआ समझ लिया। फिर भी मैं उसमें हार गया। अभियुक्तका दोष सिद्ध हो गया।

मैंने दूसरा मामला कई वर्ष बाद सन् १९३२ में स्वीकार किया जब मुझे अपने ऊपर अधिक विश्वास हो गया था और सारे प्रान्तमें मेरी ख्याति फैल चुकी थी। मामला असाधारण था और उसका वर्णन कर देना समीचीन होगा।

मेरे लड़कपनके दिनोंमें प्रोफेसर राममूर्तिका नाम सारे भारतमें प्रसिद्ध हो गया था। पुराने भारतीय ढंगके शारीरिक व्यायाममें उनकी बड़ी प्रसिद्धि थी। वे भारतीय नवजागर्तिके एक अंग थे और भारतीयोंको उनका अभिमान था, जिन्होंने भारतकी कीर्त्ति तथा साख बढ़ायी थी। राममूर्तिने भारतमें तथा विदेशोंमें व्यापक परिभ्रमण किया था। उनके प्रदर्शनोंमें हमेशा ही जनताकी भीड़ होती थी। उनका वक्षःस्थल सब तरहके और सब किस्मके तमगोंसे चमकता रहता था। ये तमगे उन्हें भारतके तथा यूरोपके राजों-महराजों आदिसे प्राप्त हुए थे। मैंने उनका नाम सुना था किन्तु व्यक्तिगतरूपसे उनसे परिचित न था। सन् १९३२ तक उनकी ख्याति कुछ मन्द पड़ गयी थी, उनकी अपनी कुशलता, पुरुषार्थ एवं सहिष्णुताके प्रदर्शनोंकी संख्या घट गयी थी; किन्तु वे शारीरिक व्यायामकी भारतीय पद्धतिके संस्थापक माने जाते थे। मेरा विश्वास है कि कुछ समयतक बनारस हिन्दू विश्वविद्यालयसे भी उनका सम्बन्ध था।

सन् १९३१ में राममूर्ति महेवाके राजाके निकटसम्पर्कमें आये, जो अवधके लखीमपुर-खेरी जिलेके एक बड़े ताल्लुकेदार थे। राजा विलक्षण व्यक्तित्वके आदमी थे किन्तु मैं उन्हें केवल एक मुवक्किलके रूपमें जानता था जिसने कतिपय दीवानी मामलोंमें मेरी सलाह ली थी। राजा स्वयं कुश्ती लड़नेके शौकीन थे और राममूर्तिको 'प्राप्त करने'के लिए आतुर थे। इसलिए उन्होंने राम-मूर्तिको महेवा आनेके लिए तथा शारीरिक व्यायामकी संस्था स्थापित करनेके लिए राजी कर लिया। मेरा खयाल है कि राममूर्ति उन दिनों आर्थिक कष्टमें थे। उन्होंने राजाकी बात मान ली। वे चले आये। उनके साथ पूरी मुरौवत और इज्जतका व्यवहार किया गया, मानो वे राजाके कर्मचारी न होकर उनके निजी मित्र हों। कई महीनोंतक सबकुछ ठिकानेसे चलता रहा। दोनों मित्रोंके सम्बन्ध बहुत अच्छे चल रहे थे। तब फरवरी १९३२ में शिवरात्रिका महापर्व आया। यह पर्व नेपालकी राजधानी काठमाण्डूमें अवस्थित पशुपतिनाथ महादेवके मन्दिरमें बड़ी धूमधामसे मनाया जाता है। नेपालके सामन्तवर्गमें महेवाके राजाके भी कई मित्र थे और उन्होंने पशुपतिनाथके मन्दिरकी तीर्थ-

यात्रापर जानेका निश्चय किया। उन्होंने राममूर्तिसे भी साथ चलनेका अनुरोध किया और राममूर्ति भी इसके लिए सहर्ष सहमत हो गये। सम्भवतः राममूर्तिने इसे नेपालमें प्रतिष्ठा प्राप्त करनेका सुनहला अवसर समझा, जिसमें उन्हें नेपालके राजवंशसे बहुमूल्य उपहार प्राप्त होनेकी सम्भावना प्रतीत हुई। इसलिए वे महेवाके राजाके साथ हो लिये। राजाके साथ बहुतसे लोग थे। पार्टी खेरीसे लखनऊ गयी और वहाँसे बिहारमें पड़नेवाले रक्सौल स्टेशनसे होकर काठमाण्डू पहुँची। ऊपरसे देखनेमें सब लोग बड़े खुश और प्रसन्न थे। काठमाण्डूमें महेवाके राजाका, राज्यके अतिथिकी तरह, भारी स्वागत हुआ। राज्यके अतिथिभवनमें वे दो-तीन सप्ताहतक रहे। किन्तु राममूर्तिको बड़ा असन्तोष रहा। उन्हें लगा मानो राजा उन्हें मात्र अपना 'मुसाहिब', अपने दलका एक सामान्य सदस्य समझ रहे हों और उन्हें अपने निजी गुणोंके कारण, विश्वप्रसिद्ध व्यक्तिके अनुरूप, मान्यता नहीं मिल रही हो। इसलिए उन्होंने स्वयं प्रयत्न किया और खुद अपनी चेष्टासे प्रधान मन्त्रीसे भेंट करनेमें सफल हो गये। उन्होंने अपने खेलों और व्यायामका प्रदर्शन किया और विशेष अनुग्रह तथा अनुकम्पासे उनका अभिनन्दन हुआ। इस सबसे राजाको बड़ी चिढ़ मालूम हुई। दोनों मित्रोंमें खटक गयी और वे अलग-अलग वापस लौटे। वे उसी दिन रवाना हुए किन्तु पृथक् रूपसे। रास्तेमें राममूर्तिका सामान राजाके सामानमें मिल गया और मैं समझता हूँ कि एक या दो ट्रंक तथा बिस्तरा कहीं गायब हो गया। उन्होंने रक्सौल स्टेशनपर सामान रोक देनेके लिए तार भेज दिया किन्तु राजाने इस बातसे साफ इनकार कर दिया कि हमारे साथ राममूर्तिका कोई सामान चला आया है। इसलिए तार भेजनेका कोई परिणाम नहीं निकला। राजा महेवा वापस पहुँच गये। कुछ दिनों बाद राममूर्ति भी पहुँचे और तब बहुत-सी सनसनीखेज बातें कही जाने लगीं तथा आरोप किये गये।

राममूर्तिका कहना था कि 'मेरे पास महेवामें बहुमूल्य जवाहरात, हार, मोतियोंकी मालाएँ और बहुतसे सोनेके तमगे तथा रेशमी और कमख्वाबके कपड़े तथा अन्य वस्तुएँ थीं। ये सब चीजें तथा अन्य सामान सात-आठ ट्रंकोंमें भरा हुआ था। मैं अपना कुल सामान अपने साथ नेपाल ले जाना चाहता था किन्तु राजाने मुझे ऐसा करनेसे मना कर दिया। उन्होंने कहा कि आखिर आपको लौटकर महेवा ही तो आना है, तब क्यों इतना भारी सामान ढोकर उतनी दूर नेपाल ले जानेकी झंझट व्यर्थ ही उठायी जाय? वह महेवामें ही राजमहलमें सुरक्षित-रूपसे रखा रह सकता है। मैंने यह बात मान ली और यह तय हुआ कि ये ट्रंक राजाके किलेमें सुरक्षित रूपसे रख दिये जायँगे। यात्राके लिए यह दल आधी रातमें लखनऊके लिए प्रस्थान करने-वाला था। इसके तीन घण्टे पहले करीब ९॥ बजे रातमें मैंने अपने नौकरको ट्रंकोंके साथ राजाके पास भेज दिया और उसे हिदायत कर दी कि वह जवाहरात तथा तमगे निकालकर एकएक करके खुद राजाके हाथमें सौंप देगा। नौकरने यही किया। राजाने सब चीजोंको अपनी आँखोंसे देखा और जाँचा और तब नौकरकी उपस्थितिमें ही सब चीजें फिरसे ट्रंकोंमें रख दी गयीं और उनमें ताले लगा दिये गये। राजाने डेवढ़ीपरके अपने सशस्त्र पहरेदारोंको हुक्म दिया कि वे ट्रंकोंको सुरक्षितरूपसे रखें।' राममूर्तिने यह वृत्तान्त खेरीमें बहुतसे लोगोंके सामने कहा और शिकायत की कि राजा अब मेरा माल, जो १५–२० हजार रुपयेका होगा, वापस करनेसे इनकार कर रहे हैं। कुछ लोगोंने बीच-बचाव करनेकी कोशिश की किन्तु राजा बराबर इनकार करते रहे। राममूर्तिने पुलिस सुपरिण्टेण्डेण्टसे रिपोर्ट की। तलाशीका वारण्ट निकाला गया और तब सातों ट्रंक राजाकी डेवढ़ीसे बरामद हो गये। किन्तु उनमेंसे जवाहरात, तमगे और रेशमी कपड़े, कमख्वाब आदि नदारद थे। ताले किस अवस्थामें

पाये गये, यह मुझे याद नहीं है। डेवढ़ीमें ही वह ट्रंक तथा बिस्तरा भी पाया गया जो नेपालसे लौटते समय रास्तेमें राजाके सामानमें मिल गया बतलाया गया था।

राजाने कहा कि मुझे इनकी कतई कोई जानकारी नहीं है कि किस तरह राममूर्तिके ट्रंक मेरी डेवढ़ीमें पहुँच गये। उन्होंने राममूर्तिके अभिकथनोंको माननेसे साफ इनकार कर दिया और कहा कि मैंने उनके जेवरात आदिको देखा ही नहीं और न उनके किसी नौकरने कभी कोई चीज मुझे दी थी। किन्तु प्रथमदृष्टितः मामला राजाके खिलाफ था। अमानतमें खयानत करनेके अभियोगमें उन-पर मुकदमा चला। मामला दौरा सिपुर्द हुआ, जिसकी सुनवाई सहायक दौरा जजकी अदालतमें होना निश्चित हुआ। उनकी ओरसे पैरवी करनेके लिए मैं नियुक्त किया गया। स्थानीय वकील-मण्डली-के कई अनुभवी सदस्य मेरे साथ थे और इलाहाबादके एक वकील बन्धु भी मेरे सहकारी थे।

मामला करीब तीन सप्ताहतक चला। मुझे सोचने-विचारने तथा सारी घटनाका विवरण नये ढंगसे प्रस्तुत करनेके लिए काफी समय मिला। जितना ही अधिक मैं उसपर विचार करता था, उतना ही अधिक मुझे भासित होता था कि मामलेका निपटारा केवल इस एक बातपर निर्भर करेगा कि घटनाकी उस रातमें राजाने महेवासे कितने बजे प्रस्थान किया था।

राजाका कथन था कि वे शामको महेवासे लखनऊतक मोटरकार द्वारा गये थे। यह दूरी ९०-९५ मीलसे कुछ अधिक ही थी। वे करीब छ बजे खेरीसे रवाना हुए थे और तीन घण्टेमें लख-नऊ पहुँच गये थे। यदि यह बात प्रमाणित हो जाती है तो राममूर्तिका सारा बयान, रातमें ९॥ बजे अपने जवाहरातके राजाके पास भेजनेके सम्बन्धका, तथ्यहीन हो जायगा। राममूर्तिने स्वीकार किया था कि उन्होंने पार्टीके साथ आधीरातवाली गाड़ीसे लखनऊकी यात्रा की थी और राजा मोटरगाड़ी द्वारा गये थे। कब गये थे? यही मुख्य प्रश्न था।

मैंने लम्बी-चौड़ी तथा अनावश्यक जिरहमें समय नहीं खोया। यह मुख्य बात ही मेरे सवालों-का लक्ष्य थी। मैंने राममूर्तिसे कबुलवा लिया कि पाँच बजे सबेरे लखनऊ पहुँचते ही समस्त दल तुरन्त कैसरबागमें स्थित महेवा कोठीके लिए चल पड़ा था और वहाँ पहुँचनेपर राममूर्तिने राजासाहबको वहाँ मौजूद पाया। यह बड़े कामकी स्वीकारोक्ति थी, क्योंकि जनवरीकी रातमें १ बजेसे ४ बजेतककी यात्रा बहुत असम्भाव्य-सी चीज थी। रवाना होने तथा पहुँचनेके समयका सबूत देनेके लिए सफाईकी तरफसे कई गवाह पेश किये गये।

एक अन्य तथा छोटा विषय और था। राममूर्तिने शपथपूर्वक कहा था कि मैं १७ फरवरीको राजासे मिला था और उनसे अपना सामान वापस माँगा था। राजाने राममूर्तिके आने और बात-चीत करनेकी कथासे ही इनकार कह दिया। राममूर्तिने बतलाया था कि 'दूसरे दिन (१८ फरवरीको) मैं पुलिस सुपरिण्टेण्डेण्टसे उनके शिविरमें मिला था और उन्होंने सहायक सुपरिण्टेण्डेण्टके नाम एक पत्र मुझे दिया था।' इस पत्रपर १७ फरवरीकी तारीख पड़ी थी। पुलिस सुपरिण्टेण्डेण्टने साक्ष्यमें बयान दिया कि पत्रमें भूलसे तारीख गलत लिख दी गयी थी, वास्तवमें १८ फरवरीको ही राममूर्तिने उनसे मुलाकात की थी। जो हो, यह मौखिक साक्ष्य था। लिखित साक्ष्य अभियुक्तके पक्षमें जाता था।

मामलेमें तथ्य चाहे जो भी रहा हो, यह बात स्पष्ट हो गयी थी कि राममूर्तिने बहुत बढ़ा-चढ़ा कर अपना दावा पेश किया था और बहुत-सी बातें झूठी कही थीं। राजाने जाँच-पड़तालके लिए जहाँ-तहाँ अपने मैनेजरको भेजा था। इसमें काफी खर्च बैठा किन्तु उससे पता चला कि राममूर्तिकी आर्थिक स्थिति बहुत बिगड़ गयी थी, उन्होंने अपने आभूषणों तथा तमगोंकी जमानतपर मद्रासके चेट्टियोंसे कर्जा लिया था और वक्तपर उसे अदा न कर सकनेके कारण जमानतके रूपमें रखे गये

उनके तमाम जेवरात बेच दिये गये थे। किन्तु यह सब मौखिक साक्ष्य था और हमने उसका सहारा न लेनेका ही निश्चय किया था। वह सब केवल सुनी-सुनायी चीज थी। इसके बाद एक खुशनसीबी-की घटना हुई। वे सातों ट्रंक अदालतमें प्रदर्शित वस्तुके रूपमें रखे हुए थे। आश्चर्यकी बात है कि प्रतिवादिपक्षकी ओरसे किसीने उनके भीतरकी चीजोंकी जाँच नहीं की थी। मैंने सुझाव दिया कि उन्हें अच्छी तरह देख लिया जाय। यह उस समयकी बात है जब राममूर्तिसे जिरह समाप्त हो चुकी थी। ट्रंक अदालतमें खोले गये और यह देखकर सभीको आश्चर्य हुआ कि उनमेंसे एक ट्रंकमें उन छपे हुए विज्ञापनोंकी प्रतियाँ बरामद हुईं जो राममूर्तिके महाजनोंने छपवाया था। इनमें कहा गया था कि ऋणकी अदायगीके रूपमें उनके जेवरात तथा पदक अमुक-अमुक तारीखको बेच दिये जायँगे। इस प्रकार जो साक्ष्य हम चाहते थे वह सब हमें प्राप्त हो गया। राममूर्ति फिर कटघरेमें बुलाये गये और दुबारा उनसे जिरह की गयी। उन्होंने कुछ कैफियत देनेकी कोशिश की किन्तु वह स्पष्ट ही हास्यास्पद थी। फिर भी इसका विश्वसनीय प्रमाण था कि जब वे महेवामें थे, तब उनके पास कुछ तमगे थे और उन्हें वे पहनते भी थे। मैं समझता हूँ कि ये उनके पास थे अवश्य किन्तु बहुत करके वे नकली थे जो उन वास्तविक तमगोंकी नकलमें बनवा लिये गये थे, जो उन्हें मद्रासमें बेच देने पड़े थे। यदि ट्रंकोंमें ये ही नकली तमगे थे और किसीने इन्हें निकाल लिया था तो स्पष्ट है कि चोरको अपने परिश्रमके बदले अधिक लाभ नहीं हुआ होगा।

मेरे बहुत प्रयत्न करनेपर भी, सहायक दौरा जजने राजाको दोषी ठहराया और उन्हें छ महीने कैद तथा १५ हजार रुपये जुर्मानेकी सजा सुना दी। यह रकम राममूर्तिको क्षतिपूर्तिके रूपमें देनेकी बात थी। इसकी अपील दौरा जजके यहाँ हुई, जो एक मुसलिम सज्जन थे। अपीलमें मुझसे खड़े होनेको नहीं कहा गया। पटनाकी वकील-मण्डलीके सदस्य हसन इमाम बुलाये गये। मुझे नहीं बुलाया, यह अच्छा ही हुआ, क्योंकि मैं चीफ कोर्टमें गंगबालके मुकदमेमें फँसा हुआ था। यह अगस्त सितम्बर १९३२ की बात है।

अपीलमें कामयाबी हुई। राजा छोड़ दिये गये। सहायक वकीलने मुझे बतलाया कि जब सुनवाई समाप्त हो गयी और राजाका छूट जाना निश्चित हो गया, तब उसके सामने ही हसन इमाम-ने राजासे खुल्लम-खुल्ला कहा था कि उनकी रिहाईका सारा श्रेय मेरे द्वारा की गयी जिरहको ही प्राप्त होना चाहिये। उन्होंने यह भी राय दी थी कि ऐसा नुकीला और भव्य प्रतिपरीक्षण उसके पहले उन्होंने कभी नहीं देखा था। बादमें जब हसन इमामसे मेरी भेंट हुई, तब उन्होंने अपने भाई सर अली इमामसे, जो उनके साथ ही थे, इस मुकदमेकी चर्चा की थी और वैसे ही प्रशंसात्मक शब्दोंमें मेरा उल्लेख किया था। मैं वहाँ मौजूद था और यद्यपि ठीक-ठीक उनके शब्दोंको दोहराना ठीक न होगा, फिर भी राजाके सामने उन्होंने बड़े अच्छे ढंगसे मेरी योग्यताकी कद्र की और मैंने इसके लिए उन्हें धन्यवाद दिया।

राममूर्तिने चीफ कोर्टमें निगरानीकी दरख्वास्त दी जो खारिज हो गयी। ईश्वर ही जानता है कि मामलेमें कहाँतक सचाई थी।

दौरा अदालतका मेरा अन्तिम मामला, दो-तीन वर्ष बाद, बलियामें पड़ा। वह मारपीटका मामला था। मुझे सफलता मिली, क्योंकि प्राभियोक्तापक्षका वर्णन टिक न सका। किन्तु अन्यत्र उपस्थित रहनेका सफाईमें दिया गया तर्क झूठा था, यद्यपि कलकत्तेसे आये हुए एक मजिस्ट्रेट वकीलके साक्ष्यसे उसकी पुष्टिका प्रयत्न किया गया था।

३७. नागपुरके युवकका मामला

नागपुरमें लिये गये दो मुकदमोंमेंसे एकका निर्देश मैं पहले कर चुका हूँ। दूसरा भी फौजदारी मुकदमेकी अपीलका ही मामला था। यह मेरे वकीली जीवनका प्रेम-सम्बन्धी सबसे अद्भुत मामला था। सामाजिक तथा नैतिक दृष्टिकोणसे वह एक शोचनीय घटना थी। यदि मेरी अपनी लड़की या निकटकी अन्य सम्बन्धिनी उसमें अन्तर्ग्रस्त होती, तो मेरे लिए वह बहुत ही लज्जा तथा अपमानकी बात होती।

किन्तु वकीली पेशेका एक असम्बद्ध व्यक्ति होनेके कारण मैं उसका अद्भुत एवं भावुकतापूर्ण स्वरूप देखकर केवल आश्चर्यचकित होकर रह गया। इस नाटकके मुख्य पात्र थे एक युवती ब्राह्मण-कन्या—१६-१७ वर्षकी तथा २१-२२ वर्षका एक कुर्मी युवक।

युवक मध्यप्रदेशके सम्पन्न मालगुजार (जमींदार)का तीसरा एवं सबसे छोटा पुत्र था। वह अपने पिताकी आँखका तारा था। वह सचमुच ही बड़ा प्रियदर्शन था—मैंने उसे कई बार देखा—बड़ी सुन्दर चितवन तथा स्पष्ट और आकर्षक व्यवहारविधि, :मनोरम चेहरा तथा अच्छा शरीर।

पिताने उसे तथा उसके बड़े भाईको विद्याध्ययनके लिए नागपुर भेजा। लड़कोंने एक निजी शिक्षक रख लिया जो ब्राह्मण पण्डित था। वह उन्हें अपने घरपर ही पढ़ाता था। उसके एक युवती लड़की थी और यह युवक उससे मिला करता था। दोनों एक-दूसरेको चाहने लगे। कुछ समयके बाद पिताने लड़कोंको घर बुला लिया और नागपुरकी पढ़ाई बन्द कर दी गयी।

इसके बाद युवकने अपने पिताको सलाह दी कि सबसे बढ़िया तरीका यह होगा कि वे पूरे समयके लिए एक निजी अध्यापक नियुक्त कर घरपर ही पढ़ें। पिताने यह सुझाव मान लिया और तब युवकके कहनेसे उक्त ब्राह्मण पण्डित ही पूरे समयके लिए शिक्षक नियुक्त कर लिया गया। वह अपने परिवार सहित चला आया—पत्नी, पुत्री तथा अन्य बच्चों समेत—और इस परिवारके निवास-स्थानके अहातेमें ही बने हुए पृथक् गृहखण्डमें रहने लगा। और तब सुरापातका प्रारम्भ हो गया—जो सोचा गया था तथा जिसकी योजना बनायी गयी थी, वही होने लगा। युवक हमेशा शिक्षकके ही घरमें रहता और बराबर लड़कीसे मिला करता। वह भावुक थी और उसने महाभारत, रामायण, भगवद्गीता तथा अनेक प्रेम-कहानियाँ और उपन्यास पढ़े थे। महीनोंतक वह प्रायः प्रतिदिन पत्र लिखती और उसके पास भेजवाया करती थी। इसके बाद वे लोग घरकी खुली छतपर गुप्तरूपसे, चन्द्रमाके प्रकाशमें या तारोंके नीचे, मिलने लगे। युवक छुक-छिपकर बगलके घरोंसे छतपर पहुँच जाता और लड़की भी किसी-न-किसी बहाने ऊपर चली जाती। दोनोंमें घनिष्ठता बढ़ गयी। लड़की कुछ अस्वस्थ-सी रहने लगी और माँको कुछ शक होने लगा। पिता तो सीधा-सादा था किन्तु माँ चतुर थी। लड़की विवाह योग्य हो गयी थी, अतः माँ-बापने खयाल किया कि उसका विवाह कर देना ही सबसे अच्छा उपाय होगा। विवाह तय हो गया और उसके लिए तिथि निश्चित कर दी गयी। जो कुछ हो रहा था, लड़की लाचार होकर वह सब चुपचाप देख रही थी। वह सचमुच युवकको चाहती थी किन्तु उन लोगोंमें, कुर्मी तथा ब्राह्मणमें, विवाह होना असम्भव बात थी। ब्राह्मणके लिए सामाजिक दृष्टिसे वह अविचारणीय था और वह हिन्दू कानूनके भी प्रतिकूल था। इसलिए दोनों निराश हो गये और ज्यों-ज्यों विवाहकी तिथि निकट आने लगी त्यों-त्यों उनकी यातना बढ़ती गयी और तब विवाह-तिथिके ठीक तीन दिन पहले उन्होंने खुद ही अपना उपाय सोच लिया—वे तीन-चार मीलपर स्थित एक गाँवको भाग गये। वह भी परिवारकी ही जमींदारीका अंग था और वहाँ एक बड़ा मकान इस युवकके लिए पहलेसे ही तैयार किया जा रहा था। पिताने अपने दोनों छोटे लड़कोंके लिए अलग

मकान बनवा देनेका विचार किया था और यही मकान सबसे छोटे पुत्रके लिए निर्धारित किया गया था। वहाँ ही युवक तथा उस लड़कीने अपने-आपको बन्द कर लिया और फिर एक इञ्च भी वहाँसे हिलने-डुलनेका नाम नहीं लिया। दोनों परिवारोंपर इस समय क्या बीत रही होगी, इसका वर्णन करनेके बजाय इसकी कल्पना कर लेना ही बेहतर होगा। इधर लड़कीके घर बरात आ पहुँची किन्तु लड़की वहाँ थी ही नहीं। निदान एक दिनके बाद लाचार होकर बारात वापस चली गयी। लड़कीके पिताकी मार्मिक पीड़ाका क्या कहना—उसकी पूरी अप्रतिष्ठा हुई। वह किसीको भी अपना मुँह नहीं दिखा सका।

इधर युवक अपनी बातपर अड़ा हुआ था। वह अपने पिताकी भी बात सुननेको तैयार न था। तब उसका एक चचेरा भाई बुलाया गया। यह एक वकील था और युवक इसे बहुत मानता था। उसने किसी तरह समझा-बुझाकर इसे ठीक किया। दोनों युवक-युवती परिवारके निवासगृहमें लौट आये और यह तय हुआ कि ब्राह्मण पण्डित अपने परिवारसमेत वहाँसे तुरन्त प्रस्थान कर दे। जब उनके जानेका समय आया, युवककी आँखोंमें आँसू छलछला आये। उसने प्रार्थना की कि उसे लड़कीसे आध घण्टेके लिए अन्तिम भेंट करनेका अवसर मिले। यह बात मान ली गयी और ये दोनों आँखोंमें आँसू भरे हुए एक दूसरेसे पृथक् हुए।

लड़की अपने माँ-बापके साथ चली गयी। और तब माँ अपने समस्त परिवारको इस घटना-स्थलसे ३०० मील दूर अपने नैहरके गाँवको ले गयी। सब लोगोंने समझा कि एक दुःखद घटनाकी परिसमाप्ति अब हो गयी।

आठ महीने बाद नर्मदा नदीके तटपर एक स्नानपर्व पड़ा—उस गाँवसे करीब १६ मीलपर जहाँ ब्राह्मण पण्डित रह रहा था। पर्वदिवसके पहलेकी सन्ध्याको वह अपने परिवार समेत बैलगाड़ीमें बैठकर पुण्यतोया नदीके लिए रवाना हुआ। सड़क एक जंगलमेंसे होकर जाती थी। आधीरातके बाद एकाएक, जब बैलगाड़ी मन्थर गतिसे चली जा रही थी, बैलोंके गलेमें पड़ी हुई घण्टियाँ बज रही थीं और मन्द-मन्द रोशनी जल रही थी, पीछेसे आनेवाली मोटरकारका भोंपू सुनाई दिया। मोटर-गाड़ी निकट आ गयी और बगलसे जाती हुई कुछ दूर आगेतक बढ़ गयी। फिर अचानक उसने मोड़ लिया और लौटकर बैलगाड़ीके सामने आ पहुँची। उसमेंसे कुछ लोग निकल पड़े और उन्होंने गाड़ीवानको रुक जानेके लिए जोरसे आदेश दिया। गाड़ी रुक गयी। तब एक युवक—या यों कहिये कि हमारा परिचित युवक—गाड़ीके निकट आ गया और उसने पण्डितके बारेमें पूछताछ की। बेचारा ब्राह्मण डरके मारे थरथर काँपने लगा। वह नीचे उतर आया। तब युवकने लड़कीके बारेमें पूछा—वह रजाई तथा कम्बलोंमें लपेट दी गयी थी—और उसे भी नीचे चले आनेका हुक्म दिया। कहा जाता है कि—इसे ध्यानमें रखिये, क्योंकि यह महत्वकी चीज है—उसके कुछ आनाकानी करनेपर उसने उसे जबरन खींच लिया और उसके सिसकने, रोने-चिल्लाने तथा सहायताके लिए पुकारनेकी ओर ध्यान न देते हुए उसे बलपूर्वक मोटरमें बैठा लिया और खुद भी बगलमें बैठ गया। उसका साथी मोटर-चालकके बगलमें जा बैठा और गाड़ी तुरन्त चल पड़ी तथा आँखोंसे ओझल हो गयी। ब्राह्मण तथा अन्य लोग हतबुद्धिसे होकर रह गये।

मोटरगाड़ी प्रातःकालतक बराबर दौड़ती रही। लड़की, खुद उसके अपने बयानके अनुसार, बिलकुल शान्त थी। वह उससे दोस्ताना भावसे बातचीत भी करती थी। बड़े सबेरे ये लोग रेलके मदनमहल स्टेशन (जबलपुरसे ११ मील) पहुँच गये। स्टेशनपर सबके सब मोटरसे उतर पड़े और प्रतीक्षालयमें चले गये। लड़कीने किसीसे कोई शिकायत नहीं की। मदनमहलसे दो तार

लड़कीके नामपर भेजे गये—तार द्वारा भेजे जानेवाले सन्देशकी मूल प्रतियोंपर सचमुच ही लड़कीके हस्ताक्षर थे। एक तार उस जिलेके पुलिस सुपरिण्टेण्डेण्ट (कप्तान) के नाम भेजा गया जहाँ बैल-गाड़ी मिली थी और दूसरा तार जबलपुर जिलेके पुलिस कप्तानके पास भेजा गया। दोनोंमें यही बात कही गयी थी कि जो घटना घटित हुई थी उसमें लड़कीकी पूरी रजामन्दी थी और वह खुद, अपनी स्वतन्त्र इच्छा तथा स्वीकृतिसे, उक्त युवकके साथ जबलपुरसे उसके अपने परिवारके घर, जो दूसरे जिलेमें है, जा रही है—घरका पूरा पता दिया गया था। बादमें ये लोग जबलपुर रेलवे स्टेशनपर चले आये और गोंदियाके लिए रेलगाड़ीपर सवार हो गये। यथासमय युवक उस लड़कीके साथ अपने घर पहुँच गया। वह परिवारकी अन्य महिलाओं—जेठानी, सास आदिके साथ उसी घरमें रखी गयी। कोई बात किसी तरह छिपायी नहीं गयी। तब प्रत्येक व्यक्तिको—पिता और भाइयोंको—पता चला कि किस तरह क्या-क्या हुआ था।

दो-तीन दिनोंके बाद लड़कीके पिताने जाब्तेसे पुलिस स्टेशनपर मामलेकी रिपोर्ट लिखायी। तलाशीका वारण्ट जारी किया गया। पुलिस आयी और लड़कीको ले गयी। युवक उस समय कुछ नहीं बोला। वह माता-पिताके पास लौटा दी गयी। उसका बयान पुलिसने लिख लिया और यथा-समय युवकपर तथा उसके साथीपर मजिस्ट्रेटकी अदालतमें अपहरण (किडनैपिंग) तथा अपनयन (एबडक्शन) का मुकदमा चलाया गया।

प्राभियोक्तापक्षने स्वभावतः लड़कीके अपहरण तथा उसके ठीक पहलेकी भूत घटनाओंपर मुख्य जोर दिया। उन लोगोंने प्रमाणित कर दिया कि युवक दो बार उस क्षेत्रमें गया था और डाक बँगलेमें ठहरा था। उसने वहाँके भोजन बनानेवालेसे दोस्ती कर ली थी, उससे उस गाँवके सम्बन्धमें बातचीत की थी जहाँ लड़की रहती थी, उसीके जरिये लड़कीकी एक नौकरानीको मिला लिया था और उससे कह दिया था कि जब परिवारके लोग किसी यात्रापर जाने लगें तो उसी रसोइयेके द्वारा उसे इसकी खबर कर दे। इस प्रकार उसे घटनावाली रातको बैलगाड़ीमें बैठकर नर्मदामें स्नान करनेके लिए उन लोगोंके जानेका समाचार रसोइये द्वारा भेजे गये तारसे मालूम हो गया था। इसपर उसने जबलपुरमें एक मोटरगाड़ी किरायेपर ठीक कर ली थी और ऊपर लिखे गये तरीकेसे लड़कीको छीनकर चल देनेका जुर्म किया था।

प्रतिवादीने पहलेके इतिहासपर, जिसका वर्णन मैं ऊपर कर चुका हूँ, जोर दिया और कहा कि लड़कीने युवकके पास इस आशयकी चिट्ठी भेजी थी कि मैं नयी परिस्थितियोंमें दुखित और परेशान हूँ, इसलिए आप आकर मुझे यहाँसे ले जावें। एक दूसरी चिट्ठी भेजकर उसने नर्मदाकी यात्राकी सूचना दी थी। इसके बाद कहा गया था कि इसमें न तो कोई अपहरणकी बात थी और न अपनयन की। सारी योजनामें वह स्वयं स्वेच्छासे सम्मिलित थी, वह तुरन्त ही प्रसन्नतापूर्वक बैलगाड़ीसे बाहर निकल आयी थी, मोटर-यात्रामें उसे पूरा आनन्द आया था, मदनमहलसे भेजे गये तारमें उसका सहयोग था और जब पुलिस आकर उसे लिवा ले गयी, तब वह सुखपूर्वक तथा आरामके साथ रह रही थी।

लड़कीने प्राभियोक्तापक्षकी तरफसे गवाही दी जिसमें उसने पहलेसे घनिष्ठता होनेकी बातसे इनकार कर दिया और जो १५३ चिट्ठियाँ उसने अपने हाथसे लिखी थीं उनके बारेमें उसने कहा कि उनका मसविदा मेरे सामने रख दिया गया था और जबरन मुझसे उनकी नकल करायी गयी थी। उसने बादकी उन दो चिट्ठियोंका लिखा जाना अस्वीकार कर दिया जिनमें उसके भगा लिये जानेका सुझाव था।

मजिस्ट्रेटने प्रतिवादीके विवरणपर बिलकुल ही विश्वास नहीं किया। पहलेकी घनिष्ठताके सम्बन्धमें तथा उक्त १५३ चिट्ठियोंकी यथार्थताके सम्बन्धमें उसे बहुत सन्देह था और उसकी राय थी कि युवकका कृत्य बड़ा ही धृष्टतापूर्ण अपराध था। उसने अभियुक्तको ढाई वर्ष कैदकी सजा दी।

इसकी अपील दौरा जजकी अदालतमें हुई और उसमें एक बहुत प्रसिद्ध वकीलने पैरवी की। उसने न्यायाधीशको यह माननेके लिए राजी कर लिया कि दोनोंमें घनिष्ठता पहलेसे थी, उक्त १५३ चिट्ठियाँ दरअसल लिखी गयी थीं और इस सम्बन्धमें लड़कीने जो बयान दिया था, वह मिथ्या था। किन्तु मुख्य बात मनवानेमें वकीलको बहुत कम सफलता मिली। उसने चतुराईसे भरी हुई एक कल्पना तैयार कर ली—लड़की भावुक थी, पढ़ी-लिखी थी और साहसिक तथा स्वप्नलोकमें विचरण करनेवाली। भागवतमें आयी हुई 'रुक्मिणी-हरण' की कथा वह जानती थी, किस तरह खुद रुक्मिणीकी ही प्रार्थनापर कृष्णने बलपूर्वक उसका अपहरण किया था और उसे उसके पिताके घरसे उड़ा ले गये थे। इसी तरह, उसने अपनी बहसमें कहा, इस युवक तथा युवतीने उस प्राचीन कथाका अनुकरण किया था, और उसने वादी-पक्षका वह पूरा विवरण मान लिया जिसमें बताया गया था कि लड़कीके अपहरणके समय क्या-क्या हुआ था। इसमें यह अभिकथन भी शामिल था कि 'उस समय लड़की रोने-चिल्लाने लगी थी और उसने सहायताके लिए लोगोंको पुकारा था।' विद्वान् अधिवक्ताने कहा कि यह सब नाटकका अभिनयमात्र, कोरा दिखाऊ प्रदर्शन था; माता-पिताको दिखाने भरके लिए। लड़की राजी-खुशीसे इस योजनामें सम्मिलित थी और उसके बादके व्यवहारपर वकीलने बहुत जोर दिया किन्तु न्यायाधीशने दूसरा ही मत प्रकट किया। वादिपक्षने स्वीकार किया था कि छीने जाते समय लड़की रोती थी और चिल्लाती थी—यही बात उसने पकड़ ली। इसे ही उसने इसका निश्चयरूपसे निर्णायक माना कि उसका हरण जबरदस्ती किया गया था। लड़कीके बादके आचरणको उसने अधिक महत्व नहीं दिया, क्योंकि उसका कहना था कि सम्भवतः बातोंमें फुसलाकर उसे राजीकर लिया गया हो। इसलिए न्यायाधीशने अपहरण (किडनैपिंग) के आरोपमें उसे दोषी ठहराया किन्तु दोनोंकी पूर्वघनिष्ठताका ध्यान रखते हुए दुर्वासनासे उसका अपनयन (एबडक्शन) करनेके आरोपसे उसे मुक्त कर दिया। परिणामस्वरूप, अभियुक्त को छः महीने कैदकी सजा हुई।

अभियुक्तने नागपुरके जुडीशल अदालतमें निगरानीकी दरख्वास्त दी। उधर सरकारने भी अपनयनके आरोपमें अभियुक्तके दण्डित न किये जानेके विरुद्ध अपील दायर की। इस प्रकार साराका सारा मामला, तथ्योंकी दृष्टिसे और कानूनके लिहाज से भी, फिरसे विचार किये जानेके लिए जुडीशल कमिश्नरके सामने भेजा गया। प्रतिवादीकी ओरसे पैरवी करनेका काम मेरे सिपुर्द हुआ। मामलेकी सुनवाई अतिरिक्त जुडीशल कमिश्नर श्री सूबेदारके सामने शुरू हुई।

जब मैंने मामलेका विवरण पढ़ा तो मुझे विश्वास हो गया कि सफाईका कथन अधिकांशमें सत्य है। अभियुक्तसे मेरी लम्बी बातचीत हुई थी और उसने बिलकुल निस्संकोचभावसे मुझसे बातें कीं। दुर्भाग्यवश कुछ बातें अप्रकट रहने दी गयी थीं, फिर भी काफी सामग्री अभिलिखित हो चुकी थी जिसके आधारपर बहस की जा सकती थी। मुझे बताया गया था, और मेरे मनमें भी इस बारेमें कोई सन्देह नहीं था, कि उस वक्त न तो लड़की रोयी थी और न उसने चिल्लाना ही शुरू किया था। रुक्मिणीने भी कोई चिल्लाहट नहीं मचायी थी। वह स्वीकारोक्ति बिलकुल अनावश्यक थी किन्तु लाचारी थी कि वह बात स्वीकार कर ली गयी थी। सुनवाईके समय मैंने अपनी बात सामने रखी किन्तु अतिरिक्त जुडीशल कमिश्नरने मेरा ध्यान नीचेकी अपीली अदालतमें की गयी स्वीका-

रोक्तिकी तरफ दिलाते हुए उसपर जोर दिया। मैंने जवाब दिया कि सम्पूर्ण मामलेपर फिरसे विचार किया जा रहा है और अभियुक्त ऐसी किसी स्वीकारोक्तिको माननेके लिए बाध्य नहीं है जो उसके वकीलने बहसके सिलसिलेमें की हो। हाँ, मातहत अदालतमें मुकदमेकी सुनवाईके समय ही स्वीकारोक्ति की गयी होती तो बात दूसरी थी। प्राभियोक्तापक्षकी धारणा पक्षपातपूर्ण हो सकती थी किन्तु यहाँ ऐसे पक्षपातकी कोई सम्भावना नहीं थी। किन्तु जज जरा भी टससे मस होनेको तैयार न था। उसका कहना था कि जो बात स्वीकार की जा चुकी है, उससे पीछे मैं नहीं हट सकता, अतः यह मान ही लेना होगा कि लड़की रोयी होगी और चिल्लाते चिल्लाते उसने अपना गला फाड़ डाला होगा और इसके आधारपर उसका खयाल था कि मातहत अदालत उचित निर्णयपर ही पहुँची थी। इस प्रकार बात यहाँ खत्म हो गयी। अब दण्डके बारेमें असाधारण विवाद उठ खड़ा हुआ। जज बीच-बीचमें कह उठता था कि मेरे मुवक्किल (उक्त युवक)ने बड़ा भद्दा व्यवहार किया था और लड़कीको गड्ढेमें डाल कर छोड़ दिया था। उसकी बड़ी बदनामी फैल गयी थी और अब कोई उसकी तरफ नजर डालनेको भी तैयार न होगा। मुझे हिदायत दी गयी थी कि यदि सम्भव हो तो मैं कैदकी सजा बिलकुल रद्द करानेका प्रयत्न करूँ, भले ही उसके बदले जुर्मानेके रूपमें भारी रकम अदा करनी पड़े। और मेरे मनमें भी लड़कीके प्रति (और जिस तरह उसकी प्रसिद्धि कर दी गयी थी, उसके प्रति) बहुत सहानुभूति थी। इसलिए मैंने कहा कि यह मामला जुर्माना किये जाने योग्य है जो लड़कीको क्षतिपूर्तिके रूपमें दिया जा सके। न्यायाधीशसे काफी-विवाद होनेके बाद मैंने खयाल किया कि अब यह बात करीब-करीब तय हो गयी कि काफी गहरा जुर्माना किया जायगा किन्तु कैदकी सजा बिलकुल न दी जायगी।

दौरा जजने कानूनके सम्बन्धमें बड़ी भूल की थी और उसका अभियुक्तको दोषसे मुक्त कर देना ऐसी चीज थी जो कायम न रह सकी, उसे रद्द कर देना पड़ा। न्यायाधीशने अभियुक्तको दोनों जुर्मोंमें दोषी ठहराया और उसे छ महीने कैद तथा १५ हजार रुपये जुर्मानेकी सजा दी जो हरजानेके रूपमें लड़कीको दिया जानेवाला था। हम लोगोंने तय किया था कि यह एक तरहसे उसका दहेज होगा जिसमें वह अपनी ही बिरादरीमें विवाह करनेमें समर्थ हो सके। किन्तु जजसे मुझे जैसी आशा प्रतीत हुई थी, वैसा अभिनिर्णय उसने नहीं दिया। मैंने अपने मुवक्किलसे पूछा कि क्या तुम उससे विवाह करनेको तैयार हो ? किन्तु उसने अदालतमें जैसा व्यवहार किया था, उससे उसके प्रति युवकका अनुराग नहीं रह गया था, इसलिए जुर्माना विवाहकी प्रतिज्ञा भंग करनेका हरजाना समझा जा सकता था। इस प्रकार प्रेमके इस अद्भुत मामलेकी अदालतमें समाप्ति हुई।

उपसंहार

क—वकीलका व्यवहार एवं कर्त्तव्य

पैरवी करने तथा गवाहोंके सम्परीक्षणकी कलापर, तथा वकीली पेशेकी नीतिमत्ता एवं शिष्टाचारपर अगणित पुस्तकें हैं। मैंने उनमेंसे कितनी ही पुस्तकें पढ़ी हैं। वे हर तरहसे प्रशंसनीय हैं। फिर भी मेरा कुछ ऐसा खयाल है कि वे सामान्यरूपसे ही उपयोगी हैं। आपको तो, जैसे-जैसे आप आगे बढ़ते जाते हैं, खुद ही अपना रास्ता चुनना पड़ता है। ईमानदारी और सचाई, न्यायोचित व्यवहार तथा स्पष्टवादिता—ये सब सहजबुद्धिकी चीजें हैं। ये बीजगणितके नियमोंकी तरह सिखायी नहीं जा सकतीं। इसी तरह पैरवीकी कला, जो मुख्यरूपसे फुसलानेकी ही कला है, सहजात ही होती है, पीछेसे प्राप्त नहीं की जा सकती। इस पेशेका आरम्भ करनेवालेके लिए सबसे बड़ी खुशकिस्मतीकी चीज जो हो सकती है, वह है उसका ऐसे अनुभवी एवं सफल वकीलोंकी संगति और सम्पर्कमें आना जिनकी सचाई तथा ईमानदारीके सम्बन्धमें कोई एक उँगली भी न उठा सके। चरित्रहीन व्यक्ति भी कभी-कभी इस पेशेमें सफल हो जाते हैं और इसे उस नये वकीलका दुर्भाग्य ही समझना चाहिये जो अपनी जीविकाके अरम्भमें ही उनके प्रभावमें आ जाते हैं। इन मामलोंमें शिक्षा और उपदेशके बजाय उदाहरणोंका अधिक प्रभाव पड़ता है। तोलेभर उदाहरण मनों शिक्षासे भी अधिक मूल्यवान् होता है। मैं पहले ही लिख चुका हूँ कि मैं इस दृष्टिसे कितना भाग्यशाली था, कानपुरमें और इलाहाबादमें भी। पृथ्वीनाथ तथा आनन्दस्वरूपने कानपुरमें तथा सर तेजबहादुर सप्रूने इलाहाबादमें मुझे वकालत सम्बन्धी नेकनीयतीके संकीर्ण पथसे विचलित न होने दिया, जब खेलवाड़के रंगीन पथकी ओर बहक जाना इतना आसान और लुभावना मालूम होता था।

वकालतके अच्छी तरह जमते-जमते मैंने अपनी रहनुमाईके लिए अलिखित नियमोंका संग्रह तैयार कर लिया था कि मुझे अपने मुवक्किलोंके साथ, साथी वकील बन्धुओंके प्रति तथा न्यायपीठपर आसीन न्यायाधीशोंके प्रति कैसा व्यवहार करना चाहिये और किस तरह अदालतमें मुकदमोंकी पैरवी या उनका संचालन करना चाहिये। इनमेंसे कुछ अपनी असंकीर्णताके कारण तथा आनन्दप्रद टीका-टिप्पणी एवं विनोदशीलताकी अभिव्यक्तिके कारण प्रसिद्ध हो गये किन्तु जैसे-जैसे मैं आगे बढ़ता गया, वैसे-वैसे मैं अनुभवसे कई बातें सीखता गया और मैंने देखा कि मेरी यह अलिखित आचार-संहिता व्यवहारमें काफी उपयोगी सिद्ध हो रही है।

मैं अपने मुवक्किलोंके साथ बराबरीका, शिष्टता और उचित सम्मानका व्यवहार करता था और कभी उन्हें यह भान नहीं होने देता था कि मैं अपने-आपको उनसे बहुत बड़ा समझता हूँ। मुवक्किलके सामने या पीठ-पीछे, अदालतमें या उसके बाहर उसके हितका ही, जिसकी रक्षाका भार वह विश्वासपूर्वक मुझे सौंप देता था, सबसे अधिक ध्यान मेरी नजरोंमें रहता था और किसी भी स्थितिमें अपने व्यक्तिगत स्वार्थको मैं उसके हितसे टकराने नहीं देता था। उदाहरणके लिए, किसी भारी मुकदमेमें फीसके रूपमें गहरी आमदनीकी परवाह किये बिना मैं बराबर इस बातपर जोर दिया करता था और आग्रह करता था कि उचित शर्तोंपर समझौता कर लिया जाय। जब-जब मैं पिछली बातोंपर दृष्टि डालता हूँ तो देखता हूँ कि मैं जो अपने मुवक्किलोंके हृदयमें इतना विश्वास उत्पन्न करनेमें समर्थ

होता था, उसका मुख्य कारण उनकी यह धारणा थी कि मेरे हाथोंमें उनका हित सुरक्षित रहेगा और मैं उनकी भलाईके लिए अपने स्वार्थकी भी बलि चढ़ानेको तैयार हो जाऊँगा। इस विशिष्ट गुणके कारण कितने ही दोषों और त्रुटियोंपर परदा पड़ जाता था। आपसमें विचार विनिमय तथा सलाह मशविरा करते समय मैं कितनी ही बार कुछ कठोर-सा और आपेसे बाहर हो उठता था और वास्तविक तथ्यतक जल्दसे जल्द पहुँचनेका प्रयत्न करता था। मैं किसीको भी खुशी-खुशी मूर्खतापूर्ण बातें नहीं करने देना चाहता था और मेरी आदत थी कि मैं अक्सर लम्बी घुमावदार कहानीको बीचमें ही टोककर संक्षिप्त कर देनेका प्रयत्न करता था। कभी-कभी कुछ मुवक्किलोंको शुरू-शुरूमें इससे दुःख होता था किन्तु शीघ्र ही वे मेरी इस दिखावटी रूक्षता एवं अशिष्टताको क्षमा कर देते अथवा उपेक्षाभावसे उसे देखने लगते थे। वे समझ जाते थे कि मेरे उत्तेजित या क्रुद्ध हो उठनेका कारण प्रायः यही होता था कि मैं उस थोड़ेसे समयके भीतर, जो मेरे पास होता था, उनके लिए यथाशक्ति अधिकसे अधिक काम-कर देना चाहता था। मेरे दिखावटी क्रोधका कारण यही था कि मैं समय बर्बाद नहीं होने देना चाहता था और मामलेकी मुख्य बात या तथ्य जान लेने, समझनेको व्यग्र रहता था।

मैंने पहले ही दिनसे यह शिक्षा ग्रहण कर ली थी कि मुवक्किलके धनसे उसी तरह दूर रहना चाहिये जैसे आदमी साँपसे रहता है। मैं उसे कभी छूता न था और न कभी उसे अपने रुपयोंमें मिलने देता था। मुवक्किलोंके धनके लिए मैंने बैंकमें अलग हिसाब खोल रखा था। केवल मेरा मुंशी ही उसकी तफसील जानता था। मुझे उसका कुछ पता न रहता था। यह मेरा सौभाग्य था कि मेरे मुंशी बड़े ही ईमानदार थे। वे नियमितरूपसे हिसाब-किताब रखते थे। उन्होंने मेरे वकीली जीवनभर कभी धोखा नहीं दिया।

जैसा कि इन संस्मरणोंसे प्रकट हो गया होगा, मैं समझौता करानेके लिए हमेशा उत्सुक रहता—कभी-कभी बहुत उत्सुक—और आखीर-आखीरतक एक बुद्धिसंगत, प्रेमपूर्ण समझौता करनेकी वांछनीयतापर मुवक्किलोंसे आग्रह करता रहता था। मेरी ओरसे किसी तरहकी बाधा डाले जानेका कभी कोई प्रश्न ही नहीं उठता था। कितने ही मामलोंमें मेरा अनुभव इतना उल्लेखनीय एवं आश्चर्यजनक था और उचित शर्तोंपर समझौता न कर लेनेका परिणाम इतना दुर्भाग्यपूर्ण तथा कष्टदायक था कि मैंने कभी न्यायधीशोंपर या उनके आदेशों और अभिनिर्णयोंपर भरोसा नहीं किया और हमेशा अपने मुवक्किलोंको समझौता कर लेनेकी सलाह दी, उस समय भी जब कि मामला काफी मजबूत, यहाँतक कि अप्रतिरोध्य था। जौनपुर राजके मामलेमें, उन्नावके बैस ठाकुरोंके मामलेमें और सहारनपुरके मुकदमेमें मुझे जो अनुभव हुआ, उसकी चर्चा मैं पहले कर ही चुका हूँ।

शुरूमें एक ऐसा मामला हुआ था जिससे मुझे भुलाई न जा सकनेवाली नसीहत मिली। बाबू बंसीधर खत्री कानपुरके रईस तथा कोठीवाल थे। वे कानपुरके नागरिक जीवनमें बड़े लोकप्रिय सामाजिक व्यक्ति थे और पण्डित पृथ्वीनाथ तथा पण्डित मोतीलाल नेहरूके निजी घनिष्ठ मित्र थे। वे मेरे कानपुर आनेके समयसे ही मुझपर दयालु थे और फीलखाना बाजारका मकान उन्होंने ही मुझे दिलवाया था। इसलिए मैं उन्हें अच्छी तरह जानता था।

वे पंजाब नेशनल बैंककी कानपुर शाखामें काम करनेवाले एक युवक कैशियर (रोकड़िया) की ओरसे दो हजार रुपयेके लिए प्रतिभू बने थे। एक दिन तीसरे पहर बैंकने कानपुरके करेंसी आफिससे २५,००० रुपये (कलदार) मँगवाये। ये रुपये बैंककी लोहेकी तिजोरीमें रख दिये गये। चार दिन बाद जब तिजोरी खोली गयी तो उसमें २००० रुपये कम पाये गये। इसपर कैशियर तथा उसके प्रतिभूके विरुद्ध मामला चला। प्रतिभूका दायित्व प्रतिभूतिपत्र (सिक्यूरिटी बाण्ड)की शर्तोंपर

अवलम्बित था। कैशियरकी बेईमानीके कारण होनेवाली हानि पूरी कर देनेकी जिम्मेदारी प्रतिभूने स्वीकार की थी। जिला जजने अपीलमें कैशियर तथा प्रतिभूको इस आधारपर बैंककी हानिके लिए जिम्मेदार ठहराया कि सम्भवतः करेंसी आफिससे ही रुपया कम आया था और कैशियरने ठीकसे देखा नहीं कि वास्तवमें कितना रुपया आया है। अधिकसे अधिक इसे हम उसकी भारी लापरवाही ही कह सकते हैं। फिर भी लगभग २४०० रुपयेकी डिगरी बैंकको दे दी गयी। बाबू बंसीधर इसकी अपील करनेके लिए इलाहाबाद आये। वे आनन्दभवनमें पण्डित मोतीलालजीके साथ ठहरे। उन्होंने मोतीलालजी तथा डाक्टर सप्रू, इन दोनोंसे सलाह मशविरा किया। दोनोंकी ही राय हुई कि अपीलमें कुछ होने-जानेका नहीं है। अन्ततोगत्वा वह एक मामूली-सी बात थी। मोतीलालजीने हँसते हुए बंसी बाबूको सलाह दी कि वे नौजवान 'पहलवानों'से (अर्थात् मुझसे तथा जवाहरलालसे) सलाह लें। इसलिए बंसी बाबू मेरे पास आये। मुझे भी मामलेमें कुछ दम नहीं मालूम पड़ा और मैंने ऐसा ही उनसे कह दिया। फिर भी जमानतनामा (प्रतिभूतिपत्र)की शब्दावलीकी बात तो थी ही। बंसी बाबू कुछ भी सुननेको तैयार न थे। वे प्रिवी कौन्सिलतक लड़नेवाले सैकड़ों कानूनी लड़ाइयोंके योद्धा थे और उन्होंने कहा कि किसी भी मुकदमेमें वे कभी हारे न थे और इसमें भी उन्हें जीतना ही चाहिये। इसलिए मैंने तथा जवाहरलालने अपील दाखिल कर दी। मैं तो घबड़ा-सा रहा था कि कौन जाने वह मंजूर होती है या नहीं, किन्तु जवाहरलालने जोर लगाया जिससे प्रारम्भिक कठिनाइयाँ दूर हो गयीं और प्रतिवादीके नाम नोटिस जारी कर दी गयी। इसी बीच बंसी बाबूकी मृत्यु हो गयी और उनके वसीयतनामेके अनुसार बाबू आनन्दस्वरूप उनके रिक्थसाधक (इक्जीक्यूटर) बने। उन्होंने मामलेकी कमजोरी देखी—कानपुरकी अदालतोंमें उन्होंने उसका सञ्चालन किया था—और प्रतिवादीको पूरे दावेके बदले २२००) देकर अर्थात् जितनेकी डिगरी हुई थी उससे केवल २००) कमपर, समझौता कर लेना चाहा किन्तु प्रतिवादीने हठ पकड़ ली। उसे सफलताका पूरा निश्चय था। वह डिगरीकी रकमसे एक पाई भी कम लेनेको तैयार न था। उसने कहा कि मुझे जो उच्च न्यायालयमें खर्च करना पड़ा है, वही अर्थात् केवल १००) मैं छोड़ सकता हूँ। इसलिए समझौतेकी बातचीत बन्द कर दी गयी और अपीलकी सुनवाई मुख्य न्यायाधिपति रिचर्ड्ज तथा जस्टिस टुडबालके सामने शुरू हुई। सुनवाई दो दिन हुई। पहले दिन तो मेरी बहसका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा, न्यायाधीशगण जल्दबाजी प्रकट कर रहे थे और मेरी बात सुनना ही नहीं चाहते थे। मेरे और न्यायधीशके बीच कुछ चखचख भी हो गयी।[1] किन्तु मैं अपनी दलीलपर डटा रहा। बीचमें पड़ गया रविवार। सोमवारको सबेरे मैंने न्यायाधीशोंका रुख अधिक अनुकूल पाया और मैं अपने तर्कोंसे उन्हें प्रभावित कर सका। दूसरे पक्षके वकील गासेनकी पुकार हुई। उन्होंने भाषण तो किया किन्तु काफी परेशानीके साथ। आखिर वे आजिज आकर बैठ गये। तब प्रधान न्यायाधिपतिने कहा, 'डाक्टर सेन, आप घोड़ेको पकड़कर तालाबतक ले जा सकते हैं किन्तु आप उसे पानी पीनेके लिए बाध्य नहीं कर सकते। आप हमारी बात समझ नहीं सकते, समझना भी नहीं चाहते।' अपील मंजूर कर ली गयी और मामला सभी अदालतोंके खर्चके साथ खारिज कर दिया

---

१ जस्टिस टुडबाल मुझे पसन्द करते थे किन्तु वे कुछ गरम मिजाजके आदमी थे। उर्दूके कुछ शब्दोंका अनुवाद मैंने अंग्रेजीमें 'आनेस्टी एण्ड इण्टेग्रिटी' किया। उन्होंने कहा कि यह ठीक नहीं है। मैंने जवाब दिया, 'उर्दू तो मैं समझता हूँ कि मेरी मातृभाषा है, किन्तु आप जिस आसनपर विराजमान हैं, उसके कारण अवश्य आपको मुझसे अधिक सुविधा प्राप्त है।' उन्होंने कोई प्रत्युत्तर नहीं दिया।

गया। यह सन् १९१८ या उसके आसपासकी घटना है। मैंने उसी समय पक्का निश्चय कर लिया कि मैं जीवनपर्यन्त दोस्ताना भावसे समझौता करा देनेका हमेशा प्रयत्न करता रहूँगा।

यही नसीहत मुझे एक और अवसरपर मिली। प्राचीन अविभाज्य राज्योंके सम्बन्धमें हिन्दू दायविधान बहुत कठिन है। सभी न्यायिक अभिनिर्णयोंका रुख एक ही तरफका मालूम होता था, जब कि सन् १९१६ में अघोरी बड़हर राजके उत्तराधिकारके मामलेमें इलाहाबाद हाईकोर्टने बिलकुल उलटा ही निर्णय किया। उस फैसलेकी उपयुक्तताके सम्बन्धमें बहुतोंने सन्देह प्रकट किया और यह समझा जाने लगा कि प्रिवी कौन्सिलमें अपील होनेपर अभिनिर्णय उलट दिया जायगा। अपीलकी सुनवाई होनेके पहले ही प्रिवी कौन्सिलने दो ऐसे मामलोंका फैसला किया था जिनमें एकका फैसला इलाहाबाद हाईकोर्टके अभिनिर्णयके ठीक विरुद्ध था। किन्तु बड़हर राजके मामलेमें प्रिवी कौन्सिलने फिर रुख बदला, हाईकोर्टके फैसलेका समर्थन किया और खुद अपने ही अभिनिर्णयको अनुपयुक्त घोषित कर दिया—प्रिवी कौन्सिलके लिए यह एक अनोखी-सी चीज थी, फिर भी यह हुई अवश्य थी।[१] इस पराजयसे सम्बद्ध पक्षकी भारी बर्बादी हुई। बादकी काररवाईमें मुझसे सलाह ली गयी और मैं नियुक्त किया गया। राजासाहबसे मेरी बातचीत हुई थी और मैंने उनसे पूछा था कि क्या आपसी समझौतेके लिए बातचीत नहीं हुई थी? उन्होंने अश्रुपूरित नेत्रोंसे कहा था, 'हाँ, हुई थी जिसके अनुसार रियासतका आधे-आध बँटवारा हो जाता। मुझे यह स्वीकार था और मैं इसके लिए तैयार था किन्तु मुझे निश्चय दिलाया गया कि समझौता करानेकी कोई आवश्यकता नहीं। मुकदमा बहुत मजबूत है, व्यर्थमें समझौता क्यों किया जाय? इसलिए मैंने नहीं किया।' मैं नहीं जानता कि यह बात कहाँतक सत्य है। किन्तु उस समय मैंने अनुभव किया कि जो वकील आपसी समझौतेके खिलाफ राय देता है वह कितनी बड़ी जिम्मेदारी अपने ऊपर लेता है। समझौता कर लेना - यदि उसका मतलब सचमुच ही आत्मसमर्पण कर देना न हो तो—हमेशा प्रत्येक पक्षके लिए लाभदायक होता है। केवल विधिज्ञ ही यह जानता है कि मुकदमा लड़नेमें कितनी जोखिम और कितनी अनिश्चितता रहती है।

कुछ मुवक्किलोंको मेरी यह आदत पसन्द न थी कि मैं उन्हींसे जिरह करने लगता था। वे समझते थे कि इसका मतलब यही हो सकता है कि मुझे उनके कहनेपर विश्वास नहीं। किन्तु मेरी यह आदत पहलेकी घटनाओं तथा अनुभवपर आधारित थी। तथ्योंको घटाकर बतलाना, अनजानेमें कुछ बातोंको छिपा जाना या गलत ढंगसे बयान करना और अपनी अभीष्ट सिद्धिके लिए अतिशयोक्ति करना, ये ही मनुष्यकी कमजोरिया हैं जो उसे बहकाया करती हैं। इसलिए मैं किसीको समु-

---

१. तत्सम्बन्धी अंश यहाँ उद्धृत कर देना ठीक होगा। 'यह सत्य है कि हालके ही एक मामलेमें, जिसमें बेतिया राजके उत्तराधिकारका प्रश्न था, पृथक् परिणाम दिखलाया गया था। हम लोगोंमेंसे एक लार्ड महोदय भी उक्त अभिनिर्णय देनेमें शामिल थे और हमने बोर्डके अन्य सदस्योंसे भी परामर्श किया है जिन्होंने उक्त मामलेका फैसला किया था। हम लोगोंको इस बातकी तसल्ली हो गयी है कि उक्त मामलेमें अपीलांटने, जो तथ्यतः गलती पर था, बिना सोचे-समझे ऐसे तथ्य सामने रखे जिनसे उक्त निर्णय एक तरहसे अनिवार्य-सा हो गया और यह राय बिना बहसके तथा बिना शास्त्रीय प्रमाणके मान ली गयी। ऐसी स्थितिमें हम लोग अभिनिर्णयकी निर्दोषतामें सन्देह न करते हुए भी, अपनेको दिये हुए या बताये हुए कारणोंसे बँधा हुआ नहीं मानते।' (१९२१) १९ ए० जेड० आई० आर० ३१७, पृष्ठ ३३३।

चित सलाह दे सकूँ, इस दृष्टिसे सभी तथ्य—ठोस तथा विशुद्ध तथ्य, कठोर तथ्य—जान लेना मेरे लिए आवश्यक था। और ये तथ्य मैं बराबर खोदते रहने तथा प्रतिपरीक्षण करते रहनेसे ही जान पाता। यह दूसरी शिक्षा थी जो मैंने शरलॉक होम्ससे ग्रहण की थी।

हाईकोर्टके वकीलोंसे निरन्तर ही विचाराधीन मामलों तथा भावी मुकदमोंके सम्बन्धमें सलाह पूछी जाती है। ऐसे अवसरोंपर सालिसिटरों (मुकदमेके कागज तैयार कर देनेवाले वकीलों)की उपयोगिता समझमें आती है। ये लोग कानूनी सलाह देनेके लिए मामले वकीलके सामने रखते हैं और जो सामग्री उसके सामने रखी जाती है उसीके आधारपर वह सलाह देता है। उत्तरप्रदेशमें वकीलको खुद ही सारे तथ्य छाँटने पड़ते हैं और मुझे कभी-कभी मामलेकी आवश्यक बातें जाननेके लिए गड्डुके गड्डु कागज पढ़ने पड़ते थे। मैंने यह नियम बना लिया था—जो मैंने डाक्टर सप्रूसे ग्रहण किया था—कि जब मैं कोई लिखित सलाह देता था तो मैं वह सभी आवश्यक सामग्री, जो मेरे सामने पेश की जाती थी और जिसपर मेरी राय आधारित होती थी, उसमें शामिल कर देता था। इसमें कभी-कभी मेरी रायका लिखित कागज बड़ा लम्बा हो जाता था और उसे तैयार करनेमें बड़ा परिश्रम पड़ता था किन्तु वह मेरे लिए उपयोगी होता था और उन लोगोंके लिए भी जो मेरी राय पढ़नेका प्रयत्न करते। प्रत्येक व्यक्ति जो उन्हें पढ़ता यह समझ ले सकता था कि मुझे ठीक-ठीक कितनी बातें बतलायी गयी थीं और मामलेके कितने तथ्य मुझे मालूम थे। अपनी रायके समर्थनमें यथासम्भव कम लिखित प्रमाण देनेका भी नियम मैंने बना लिया था। मैं केवल उन आधिकारिक अभिनिर्णयोंका हवाला देता था जिनका किसी विशिष्ट विचारणीय बातसे प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता था। बहुतसे लोग अपनी राय देते समय जो अनेक मुकदमोंके उद्धरण दिया करते थे, मैं उनसे बचनेका प्रयत्न करता था। इलाहाबाद हाईकोर्टके न्यायाधीश जस्टिस वॉल्शने 'वकालत'पर एक पुस्तक लिखी थी। उसमें उन्होंने एक विद्वान् वकीलकी चर्चा की थी जिसके पास सलाह लेने बहुत कम लोग जाते थे और दूसरे ऐसे वकीलकी भी जिसकी वकालत काफी अधिक चलती थी। किसीने एक सालिसिटरसे जब इस रहस्यका कारण पूछा तो उसने बतलाया कि 'विद्वान् वकील बहुतसे मुकदमोंका हवाला देता है, उसके मनमें सन्देह बने रहते हैं और हमारे मनमें भी वह सन्देह उत्पन्न कर देता है। इसके विपरीत दूसरा वकील कोई सन्देह प्रकट नहीं करता, उसकी धारणा गलत हो सकती है, किन्तु वह साफ-साफ और निश्चयात्मक रूपसे बतला देता है कि हमें क्या करना चाहिये। हमें सन्देह नहीं चाहिये। हमें पथप्रदर्शनकी आवश्यकता है।' मैंने यह बात गाँठमें बाँध ली और मैं जो भी सलाह देता था, सही या गलत, वह हमेशा स्पष्ट तथा निश्चित होती थी। पण्डित पृथ्वीनाथने बहुत जल्दीमें कोई राय कायम कर लेनेके खिलाफ मुझे चेतावनी दे दी थी। मैं इस दोषसे बचनेका प्रयत्न करता था, फिर भी जब मैं कोई राय कायम कर लेता था तो मैं उसे असन्दिग्ध भाषामें प्रकट कर देता था। यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि जब किसी वकीलसे सलाह माँगी जाती है तब उसके ऊपर बड़ी भारी जिम्मेदारी आ पड़ती है। उसे निर्दोष राय कायम करनेके लिए शक्तिभर प्रयत्न करना चाहिये और उसे सचाईके साथ प्रकट कर देना चाहिये, चाहे वह मुवक्किलको अच्छी लगे या बुरी। ऐसा करते समय उसे अर्द्धन्यायिक हैसियतसे काम करना पड़ता है और उसे इसी तरहके विचार प्रकट करने चाहिये मानो वह खुद ही मामलेका फैसला करने जा रहा हो। मैं इसे इतनी बड़ी जिम्मेदारी समझता था और पेचीदा मामलोंमें इतना अधिक परिश्रम करता था कि मैं उसके लिए अक्सर उससे अधिक फीस लिया करता था जितनी मैं न्यायालयमें वैसे ही मामलेमें बहस करनेके लिए लेता था। किसी एक विशिष्ट बातके लिए बहस करना बहुधा आसान होता है। एक त्रुटिविहीन न्यायिक मत

कायम करनेके लिए—उभयपक्षकी दलीलें सुननेका लाभ प्राप्त किये बिना—अधिक ऊँची बुद्धि और योग्यताकी आवश्यकता होती है।

अपीली मामलोंमें वकालत करते समय कभी-कभी मानवसम्पर्क प्राप्त करनेका, मानव-हृदयके भीतर झाँकनेका वह अवसर नहीं मिलता, जो मातहत अदालतोंमें मामलोंपर मूल रूपसे विचार होते समय वकीलोंको आश्चर्यजनक रूपसे प्राप्त हो जाता है।

एक बार मैं एक ऐसे नवयुवकके मुकदमेकी अपीलके लिए नियुक्त किया गया था, जो अभी-अभी बालिग हुआ था। यह एक भारी मामला था जिसमें उसने लेनदेनके उन कार्योंके औचित्य तथा उनकी वैधताके सम्बन्धमें आपत्ति की गयी थी, जो उसकी माँने उसकी अभिभावकाके रूपमें किये थे। वह साझेदारीका झगड़ा था और सारा मामला हिसाब-किताब तथा विस्तृत आँकड़ोंपर आधारित था। अपीलांट स्वयं बड़ी शान्त प्रकृतिका युवक था। उसका ससुर उसकी तरफसे मुकदमा लड़ रहा था। वह सचमुच ही बहुत बुद्धिमान् आदमी था। महीनों पहले वह इलाहाबाद चला आया। एक मकान केरायेपर ले लिया और सप्ताहमें कई बार वह मेरे पास मामलेकी बातें समझानेके लिए आने लगा। मैंने उससे कह कर हिसाबके कई नक्शे तथा संक्षेप तैयार कराये। वह मामलेको बहुत अच्छी तरहसे समझता था। जब सुनवाईकी तारीखका समय निकट आने लगा, तब उसने मुझसे पूछा कि मामलेपर विचार करनेके लिए कौन न्यायाधीश सबसे उपयुक्त होगा। मैंने कहा कि मेरे ध्यानमें कोई विशिष्ट न्यायाधीश नहीं है और मैं मामलेको अपनी गतिसे चलने देना ही पसन्द करूँगा। लेकिन उसके बहुत आग्रह करनेपर मैंने कहा कि हिसाब-किताबकी छानबीन करना बहुत ही नीरस काम है। कुछ न्यायाधीशोंको उससे घृणा है किन्तु कुछको उसमें आनन्द आता है। मैंने दोनों तरहके जजोंके कुछ नाम भी सुना दिये। इसके बाद इस सम्बन्धमें और कोई बात मैंने नहीं सुनी। जिस तारीखसे मामलेकी सुनवाई होनेवाली थी, उसके ठीक पहलेकी सन्ध्याको यह व्यक्ति मेरे दफ्तरमें आया और लड़खड़ाकर गिरते-गिरते बचा। वह जोरसे रो रहा था और किसी भी तरह आश्वस्त नहीं हो रहा था। उसके रुदनसे मैं हतबुद्धि-सा हो गया। मैंने उसे ठिकानेसे व्यवहार करने और शान्त रहनेका आदेश दिया और तब मैंने उससे पूछा कि क्या बात है। उसने कहा कि 'मैं तो तबाह हो गया' और फिर उसकी आँखोंमें आँसू छलछला आये। अन्तमें उसने मुझे बतलाया कि उसने उच्च न्यायालयके किसी क्लार्कको इस उद्देश्यसे दस रुपये दिये थे कि उसकी अपील क और ख नामके न्यायाधीशोंके विचारार्थ रखी जाय—ये वे जज थे जो हिसाब-किताबके मामलोंमें रुचि लेते थे—किन्तु उसे अभी-अभी पता चला था कि दूसरे पक्षने बिलकुल अन्तिम समयमें सौ रुपया देकर मामला ग तथा घ नामके जजोंकी अदालतमें रखवा दिया था और इनमेंसे एक जज हिसाब-किताबसे उसी तरह भड़कता था जैसे लाल कपड़ा देखकर साँड़ भड़कता है। मेरे मुवक्किलने पहलेसे ही मान लिया कि वह मुकदमा हार जायगा। मैंने उसे सान्त्वना दी और कहा कि हमें शक्तिभर प्रयत्न करना चाहिये। दूसरे दिन ग और घ नामके न्यायाधीशोंके सामने अपीलपर विचार आरम्भ हुआ और पाँच दिनोंतक होता रहा। हम जीत गये किन्तु हिसाब-किताबके आधारपर यह जीत नहीं हुई। एक भी कागज पढ़ा नहीं गया। किसी भी आँकड़ेपर विचार नहीं हुआ। सुनवाईके समय कई मनोरञ्जक घटनाएँ हुईं। पहले दिन जजोंपर मेरा कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा। दूसरे दिन स्थिति ज्यादा अच्छी रही। तीसरे दिन सबेरे जस्टिस 'घ'ने (जिन्हें हिसाब-किताबसे चिढ़ थी) कुछ अनोखे ढंगसे कहा—'डाक्टर काटजू, जो तथ्य आपने प्रस्तुत किये हैं, उन्हें देखते हुए आपका मामला तो बिल-कुल सीधा-सादा और ऐसा जान पड़ता है कि उसका कोई जवाब ही नहीं दिया जा सकता। तो

फिर निम्न न्यायालयके विद्वान् न्यायाधीशने मुकदमेका निर्णय आपके खिलाफ क्यों किया ?'

मैंने बड़े भोलेपनका रुख अख्तियार करते हुए कहा, 'मेरे लिए इसका जवाब देना मुश्किल है। विभिन्न व्यक्तियोंका मन जुदे-जुदे तरीकोंसे काम करता है। मैं उक्त विद्वान् न्यायाधीशके प्रति कोई अन्याय नहीं करना चाहता किन्तु जब श्रीमान्ने यह प्रश्न मुझसे पूछा ही है तो मैं बतला देना चाहता हूँ कि हम लोगोंको मामलेपर विचार करनेके उनके ढंगसे बड़ा असन्तोष था, इसलिए हमने मामला उनकी अदालतसे हटाकर अन्य न्यायाधीशके पास स्थानान्तरित करनेके लिए दरख्वास्त दी थी।'

'आपने दरख्वास्त कहाँ दी थी ?'

'हाईकोर्टमें।'

'क्या नतीजा निकला ?'

'अर्जी नामंजूर कर दी गयी।'

'किसने नामंजूर की ?'

'श्रीमान्ने ही तो।'

विद्वान् न्यायाधीशने तबादलेकी दरख्वास्त सम्बन्धी कागज-पत्र और वह हलफनामा जिस-पर वह आधारित थी तथा अपना आदेश मँगवा भेजा और फिर इस सम्बन्धमें एक शब्द भी नहीं कहा। जब मैं बैठ गया तो दोनों न्यायाधीश विशेषरूपसे मेरे अनुकूल थे। दूसरे पक्षकी स्थिति बहुत कठिन मालूम होने लगी। लगभग एक घण्टेके बाद जस्टिस 'घ'ने किसी बातके सिलसिलेमें कह दिया—'श्री ओकोनोर, मैं आपसे कह दूँ कि न्यायाधीश तो पूर्णरूपसे आपके वशमें ही थे।' इस अभ्युक्तिके बाद मैंने समझ लिया कि मामला अब पूर्णरूपसे सुरक्षित है। मेरे मुवक्किलकी आँखोंमें तब खुशीके आँसू आ गये। उसने खयाल किया कि साक्षात् न्यायमूर्ति ही फैसला करनेको आ गये हैं।

मेरा खयाल है कि मेरे सम्बन्धमें मेरे सहायक वकीलोंकी धारणा अच्छी नहीं होती थी। वे सम्भवतः सोचते थे कि मैं कुछ रूखा और उद्दण्ड-सा व्यक्ति हूँ। मैं अब समझ रहा हूँ कि मैंने उस मीठी वाणीका प्रयोग करना नहीं सीखा था जो क्रोधको परास्त कर देती है। मेरे पास समयकी बड़ी कमी रहती थी। समय बचानेके लिए मुझे बड़ा परिश्रम करना पड़ता था। मेरे हाथमें बहुत काम रहता था, कभी-कभी तो बहुत ही ज्यादा। अतः मैं जल्दसे जल्द सब बातें जान लेने, समझ लेनेका प्रयत्न करता था और सहायकोंपर इतना अधिक दबाव डालता था कि वे ऊब उठते थे। फिर भी मैं ईमानदारीके साथ कह देना चाहता हूँ कि मैंने अपने सहायक वकीलोंसे जितना अधिक लाभ उठाया और उनके सहयोगकी जितनी कद्र मैंने की, उतनी अन्य किसीने नहीं की, न उतना लाभ प्राप्त किया। मैं मानो उनके मस्तिष्कको कुरेद देना चाहता था, उन्हें भलीभाँति सोचनेके लिए विवश कर देता था और तब उनके विचारोंसे लाभ उठाता था, उन्हें ठीकसे ग्रहण करनेका और यदि आव-श्यकता होती तो उनमें सुधार करनेका प्रयत्न करता था तथा अधिकतम लाभके लिए उनका प्रयोग करता था। ज्यों-ज्यों मेरी वकालत बढ़ती गयी, त्यों-त्यों मेरी यह प्रवृत्ति भी बढ़ती गयी कि मामलेके कागज-पत्र देखनेके लिए मैं अपने सहायकोंकी आँखोंका प्रयोग करता और उनका विवरण सुननेके लिए अपने कानोंका। सलाह-मशविरामें मेरी दलीलोंके बजाय अधिकतर उन्हींकी दलीलोंका पूर्वश्रवण होता था। मैं अपने-आपको न्यायाधीशकी स्थितिमें रख लेता था और जो कुछ वे कहते थे उसकी जाँच तथा समीक्षा करता था। इस प्रकार आपसमें सलाह करनेका अर्थ होता था, एक जोरदार,

उत्सुकतापूर्ण तथा ताजगी लानेवाला विवाद। चाहे कोई वकील कितनी ही कम उम्रका क्यों न रहा हो, मैं उससे भी कुछ न कुछ सीखनेकी इच्छा करता था। मेरे काम करनेके कमरेमें जो भी परामर्श होता था वह मेरे तैयार किये हुए तर्कपूर्ण वक्तव्यकी पुनरावृत्तिमात्र नहीं होता था। मैं उस समय दूसरोंकी बातें सुननेको, वाद-विवाद करनेको तथा अपनी संयुक्त जानकारी आपसमें बाँटनेको उत्सुक रहता था। किन्तु मेरी आदत कामकी बातपर जल्दीसे जल्दी पहुँचने और फिर सारा ध्यान उसीपर संकेन्द्रित करनेकी थी। मैं चाहता था कि मेरे सहायक वकील अपने मुकदमोंकी सभी महत्व-पूर्ण बातोंके पूर्ण ज्ञाता हों और मुझे भी कुछ बातें सिखावें। यही मेरी इच्छा थी। इसलिए आपसमें झगड़ते और वाद-विवाद करते हुए भी हम लोगोंका एक सुखी दल था और हम लोग एक-दूसरेसे हमेशा कुछ-न-कुछ सीखते रहते थे। मेरा विश्वास है कि मेरे मित्रगण जब मुझे अधिक अच्छी तरह जान लेते थे, तब मुझे ज्यादा पसन्द भी करने लगते थे।

फिर, कोई भी वकील मेरा विशेष कृपापात्र न था। प्रत्येककी योग्यताके सम्बन्धमें मेरा अपना विचार और अपना अन्दाज था किन्तु जहाँतक मुवक्किलोंका प्रश्न था, प्रत्येक ही मेरा प्रिय मित्र था जिसके साथ काम करना मेरे लिए बड़ी खुशीकी बात थी। मैं किसीको अन्यसे अधिक तरजीह नहीं देता था। मुवक्किल जिसे चाहता, उसे इस पूर्ण विश्वासके साथ नियुक्त कर सकता था कि मैं उसके मनोनीत वकीलके साथ अच्छी तरह काम चला लूँगा इससे न कोई ईर्ष्या उत्पन्न होती थी और न कोई झगड़ा ही होता था।

मैं किसी मामलेके सम्बन्धमें जो कुछ भी जानता था और उसका जो भी अर्थ लगा सकता था, वह सब मैं पूरी निष्ठाके साथ अपने अनुभवी, एवं अधिक वयस्क बन्धुको बतला देनेके लिए तैयार रहता था। यह भी कोई छोटी बात न थी।

पुस्तकालयमें मैं बहुत पढ़ा करता था किन्तु मैंने यह अपरिवर्तनीय नियम बना लिया था कि वहाँ मैं न तो न्यायपीठपर अवस्थित किसी न्यायाधीशके सम्बन्धमें और न वकील-मण्डलीके किसी सदस्यके ही सम्बन्धमें कभी कोई विवाद करता था। इसी तरह मैं अपने किसी विचाराधीन मुकदमेके सम्बन्धमें कोई बहस नहीं करता था। मैं समझता हूँ कि प्रत्येक वकीलके लिए यह मुनासिब है कि वह अपने मुवक्किलकी बातोंकी कोई चर्चा, उन लोगोंको छोड़कर जिन्हें उसने नियुक्त किया हो, अन्य किसीसे न करे। असावधानीमें कह दिया गया एक शब्द भी भारी हानि पहुँचा सकता है। मेरी बराबरीके मेरे सहयोगियोंका अदालतमें बराबर झगड़ा चलता रहता था। सामाजिक दृष्टिसे मैं एक तरहसे एकाकी व्यक्ति था जिसे पारिवारिक जीवनमें ही, पत्नी तथा बच्चोंकी संगतिमें ही, आनन्द आता था और शान्तिपूर्वक रहना ही जिसे अधिक पसन्द था। मैंने अपने आपको दूसरोंका स्नेहभाजन बनानेका कोई प्रयत्न नहीं किया। अदालतमें मेरी आदत बीचमें टोक देनेकी, अक्सर बहुत प्रभावोत्पादक ढंगसे टोक देनेकी, पड़ गयी थी। इससे लोग बड़बड़ाने लगते थे और मेरी कठिनाइयाँ बढ़ जाती थीं। इस आदतको मैंने एक बढ़िया कलाके रूपमें उन्नत बना लिया था और इसका उद्भव सुनवाई-की काररवाईको जहाँतक सम्भव हो, वहाँतक घटा देनेकी मेरी इच्छासे हुआ था ताकि मैं अन्यत्र जा सकूँ और दूसरे कामकी ओर ध्यान दे सकूँ। मेरा लक्ष्य होता था मामलेकी किसी महत्त्वपूर्ण बात-की तरफ अथवा मेरे विपक्षीकी बहसके अनिवार्य एवं घातक दोषकी तरफ न्यायाधीशका ध्यान आकर्षित करना। जहाँतक मेरा अपना सवाल था, यदि न्यायाधीश या कोई वकील मुझे बीचमें टोक देता था तो मैं उससे विचलित नहीं होता था। वस्तुतः मैं उसका स्वागत करता था। इसका आंशिक कारण मेरी विशिष्ट मनोवृत्ति थी। मैं कोई क्रमबद्ध बहस पहलेसे नहीं तैयार करता था। मैं महत्वकी

बातें जान लेता था और फिर स्थितिविशेषमें मनमें जो प्रवाह उत्पन्न हो जाता या न्यायपीठकी ओरसे अथवा विरोधी पक्षके वकीलकी ओरसे जैसा रुख अख्तियार किया जाता, उसीके अनुसार मैं उत्प्रेरित होकर बहस करने लगता था। जितना अधिक विवाद होता था, मेरे तर्क उपस्थित करनेकी क्षमताको उससे उतना ही अधिक बढ़ावा मिलता था। कभी-कभी तो कुछ बातें मुझे ठीक उस समय सूझ पड़ती थीं जब मैं किसी अन्य विषयपर भाषण करता रहता। यह मानो बुद्धि एवं चित्तकी ऐसी बहुदिग्गामिता और क्षिप्रता थी जिसकी अपेक्षा नहीं की जाती थी। किन्तु अन्य पक्षके वकील सावधानी और धैर्यके साथ घरमें तैयारी करते थे और वे जाब्तेसे अपने तर्क रखते हुए भाषण करना चाहते। बीचमें टोक देनेसे उनके विचारोंका सिलसिला टूट जाता, उनका प्रवाह रुक जाता था। वे इसे पसन्द नहीं करते थे और ऐसा कह भी देते थे। मैं मुस्करा देता था, जिससे वे और चिढ़ जाते थे। मैं फिर भी यही कहता रहता कि न्यायाधीशको उचित समयपर हस्तक्षेप करनेकी प्रवृत्तिको प्रोत्साहन देना चाहिये। आखिर न्यायके लिए निर्धारित समयका अभिरक्षण करना उसीका काम है।

मैं विद्वान् न्यायाधीशके प्रति सम्मानका व्यवहार करता था और उसे बुद्धिमान् तथा अनुभवी होनेका श्रेय देता था। न्यायकार्यमें शक्तिभर उसकी सहायता करता था। यदि किसी बातके सम्बन्धमें वह और अधिक साक्ष्यकी इच्छा प्रकट करता, तो मैं इसका विरोध नहीं करता था, यद्यपि मैं जानता था कि वह बिलकुल व्यर्थ है। यदि वह मामलेपर किसी खास ढंगसे विचार करनेकी बात सुझाता तो मैं उसकी रहनुमाईमें चलनेको हमेशा तैयार रहता था। अगर वह कहता कि मैं अमुक विषयांग-की चर्चा पहले करूँ तो मैं तुरन्त वही करता था। परिणाम दोनों पक्षोंके लिए सन्तोषजनक होता था। मैं एक दलीलपर तबतक जोर देता रहता था, जबतक न्यायाधीश उसे अच्छी तरह समझ नहीं लेता था। समझ लेनेके बाद यदि वह उसे अस्वीकार कर देता तो मैं दूसरी दलील सामने रखता था। मैं दुबारा वही दलील पेश नहीं करता था, बार-बार उसी लकीरको पीटनेका प्रयास नहीं करता था। किन्तु यदि न्यायाधीश उतावली प्रकट करता, सुनने और समझनेको तैयार ही न होता, तो मैं पूरी शक्तिसे उसका विरोध करता था।

सन् १९३८ में जब मैं संयुक्त प्रान्तकी सरकारमें मन्त्री था, तब मैंने मनोरञ्जक शैलीमें एक लेख लिखा था जिसका शीर्षक था, अदालतमें किसी मामलेपर बहस कैसे करना? यह मैंने 'कनक' के छद्म नामसे 'नेशनल हेरल्ड' नामक अंग्रेजी दैनिक पत्रके लिए लिखा था। उसमें मैंने अपनी बहसकी शैली काफी अच्छी तरहसे दी है (वह एक कल्पित बातचीतके रूपमें है)।[1]

अब मैं अपनी एक खास आदतकी चर्चा करूँगा जिसके लिए मैं बदनाम था। लोग कहते थे—'डाक्टर काटजू किसी मामलेमें खुद अपना कोई पक्का निर्णय नहीं देते।' 'अरे भाई, उनसे पूछनेसे क्या होगा? वे अपनी ओरसे कोई निर्णायक राय ही प्रकट नहीं करते।' निस्सन्देह यह एक अतिशयोक्ति थी, फिर भी इसमें बहुत कुछ सचाई भी थी। जब मैं घरपर किसी मुकदमेका खाका पढ़ता था, तब अपनी दलीलोंके सापेक्ष महत्वके सम्बन्धमें तथा अपने गवाहोंके सम्बन्धमें मेरी निजी राय तो होती थी किन्तु मैं न्यायाधीश नहीं था और न्यायाधीश मुझसे अधिक बुद्धिमान् हो सकता था। और फिर वह मुझसे अधिक बुद्धिमान् हो चाहे न हो, उसकी निष्पत्ति मेरी निष्पत्तिसे तो भिन्न हो ही सकती है। मेरे लिए क्या यह उचित होता कि मैं न्यायाधीशके अभिनिर्णयके स्थानमें अपना फैसला देनेका प्रयत्न करता? मेरे मुवक्किलने जजकी राय जाननेके लिए ही अपील दायर की थी, न कि मेरी राय जाननेके लिए। मेरा काम था कि मैं जजको बहकानेका प्रयत्न न करते हुए मुवक्किल-

१. देखिये, ए० जे० आई० (१९३८, संक्षिप्त लेख) १३५-३८।

का मामला उसके सामने अधिकसे अधिक अनुकूल ढंगसे रखता। मैंने देखा कि कितने ही मामलोंमें, जिन्हें मैं बिलकुल गया गुजरा समझता था, मुझे अच्छी सफलता मिली। उसी तरह जिन्हें मैं अच्छा समझता था, उनमें मुझे हार जाना पड़ा। इसमें सन्देह नहीं कि जब बहस चलती रहती है, तब जिस समय जैसी आवश्यकता हो उसीके अनुसार तरीका चुन लेना पड़ता है और उसीपर चलना पड़ता है। फिर, किसी एक बातपर आवश्यकतासे अधिक जोर न देना भी एक चीज होती है। इसके सिवा जिन मामलोंमें अभी आगे और अपील होनेकी गुंजाइश हो, उसमें पहलेसे ही तथ्य या कानूनकी दृष्टिसे कोई बात निश्चित रूपसे कहकर मुवक्किलको बाँध देना एक अन्यायपूर्ण एवं कठोर कृत्य है। एकाध बार जब मैंने ऐसा किया है तो मुझे हमेशा पछताना पड़ा है। कभी-कभी कोई चीज, पहलेके अभिनिर्णयके आधारपर, बहस करने लायक हो सकती है। कोई वकील चाहे तो उसे छोड़े बिना ऐसा कह सकता है।

मैंने एक ही चीजपर भिन्न-भिन्न न्यायाधीशोंके सामने बिलकुल विपरीत ढंगसे बहस की है और दोनों ही मामलोंमें कामयाबी हासिल कर सका हूँ। जजोंके विचारोंमें परस्पर मतभेद होता ही है। मेरा कर्तव्य दोनों दृष्टिकोणोंसे तर्क उपस्थित करना और उनमेंसे चुनाव करनेका काम उन्हींपर छोड़ देना था।

इसके सिवा मैं समझता हूँ कि न्यायपीठ तथा वकीलोंके बीचकी अधिकतर बदमजगीका कारण समझकी भूल होता है। इससे बचनेके लिए मेरा सुझाव है कि प्रत्येक वकीलको उससे पूछे गये प्रत्येक प्रश्नका सीधा उत्तर तुरन्त देना चाहिये, भले ही ऐसा करनेसे आपकी बहस कमजोर पड़ जाय। यदि वह पूछे कि 'क्या वह बात ऐसी है?' तो 'हाँ या नहीं' में उसे जवाब दो। 'क्या इस सम्बन्धमें कोई व्यवस्था है?' फिर वही, 'हाँ या नहीं' कहो और इसी सिलसिलेमें तुरन्त वह व्यवस्था भी मत सुनाने लगो। जज यदि व्यवस्था सुनानेको कहे तब सुनाओ या फिर उसकी अनुमति लेकर ही ऐसा करो। 'क्या तुम्हारे ही गवाहने ऐसा ऐसा नहीं कहा है?' इसका भी जवाब उसी तरह दो—हाँ या नहीं—और उसके कथनका यह नहीं, यह अर्थ था, ऐसा दिखलानेके लिए 'किन्तु' के साथ दूसरा वाक्य मत शुरू कर दो। मैंने इसी पद्धतिका पालन किया जिससे मुझे बहुत अधिक लाभ हुआ।

इनके सिवा कुछ छोटी-मोटी बातें भी हैं जिनका ध्यान रखना चाहिये। जिसकी गवाही दिलाना अनावश्यक हो, उससे गवाही मत दिलवाओ चाहे वह कितना ही सम्मानित व्यक्ति क्यों न हो। इसमें भारी खतरा है। आप नहीं जानते कि मामलेके किसी अन्य विषयपर वह क्या कह देगा। इसके विपरीत उन सब उपलब्ध गवाहोंको पेश करनेमें मत हिचकिचाओ, जिन्हें पेश करना मामलेके सन्दिग्ध स्थलोंपर प्रकाश डालनेके लिए आवश्यक हो। किसी गवाहको महामूर्ख या बिलकुल निरुपयोगी कहकर मत ठुकरा दो। आप नहीं जानते कि उस भोंदू गवाहसे जज कितना प्रभावित हो जायगा। बहुत सम्भव है कि उसकी इस जड़तासे ही न्यायाधीश प्रभावित हो उठे। सहारनपुरके मुकदमेमें मुझे इसका याद रखने लायक अनुभव हुआ। इसकी चर्चा मैं पहले कर चुका हूँ।

लिखित साक्ष्य प्रस्तुत करनेके पहले उसका एक-एक अंश पढ़ लो। किसी चीजको केवल इसलिए बिना पढ़े मत छोड़ दो कि उसकी अन्तर्वस्तु विशुद्ध औपचारिक या पारम्परिक होगी और उसे अपने मुवक्किलके एजेण्ट (अभिकर्त्ता)की विवेकबुद्धिपर मत छोड़ दो। वह भयानक भूल कर दे सकता है। यदि कोई कागज ऐसी भाषामें लिखा हो जिसे आप नहीं समझते तो अपने कामके लिए उसका अनुवाद करा लो। एक मुकदमेमें, जिसमें मैं करीब-करीब जीत चुका था, अन्तमें मेरी हार हो

गयी, क्योंकि बँगलामें लिखी एक चिट्ठी जो मेरे मुवक्किलने नत्थी कर दी थी, उसके लिए घातक प्रमाणित हुई। वकीलने सामान्यरूपसे यह हिदायत कर दी थी कि एक पति और उसकी पत्नीके बीच जो चिट्ठियाँ परस्पर लिखी गयी हों वे सब पेश कर दी जायँ। इसीके अनुसार वह चिट्ठी बिना पढ़े ही दाखिल कर दी गयी थी। इसमें आये हुए दो वाक्योंसे सारा मामला ही चौपट हो गया।

एक और मुकदमेमें यह सवाल उठा था कि एक हिन्दू परिवार फिरसे संयुक्त परिवार बन गया था या नहीं और दूसरे पक्षको इस कारण भारी हानि उठानी पड़ी कि उसने परिवारका पुनरेकीकरण प्रमाणित करनेके लिए जो ७० या ८० बैनामे दाखिल किये थे, उनमेंसे एकमें कोनेपर कुछ ऐसी चीज लिखी हुई थी जो उसके प्रतिपाद्य विषयके लिए बहुत कुछ हानिकर थी।

जहाँतक अपने पक्षके समर्थन या पैरवीका प्रश्न था, मैं हमेशा पण्डित पृथ्वीनाथकी इस सलाह-पर चलता था कि उसकी रूपरेखा तैयार करनेके पहले आपको उस विषयसे सम्बन्ध रखनेवाला सारा कानून पढ़ लेना चाहिये और जिस दिन आप अपनी फरियाद या लिखित वक्तव्य दाखिल करें, उसी दिन आपको कानूनी बारीकियोंपर बहस करनेके लिए, यदि जज कहे तो तैयार रहना चाहिये। आपकी पैरवीकी शब्दावलीका कानूनसे मेल बैठना चाहिये, ऐसा न हो कि पैरवीके अनुरूप बनानेके लिए कानूनके अर्थमें खींचतान करनेकी आवश्यकता पड़े।

ख—न्यायाधीश तथा वकील

मेरे लिए उन न्यायाधीशों तथा वकीलोंके बारेमें, जिनसे मेरा परिचय रहा है, कुछ लिखना कठिन है। इस पुस्तकका उद्देश्य न्यायाधीशोंकी जीवनी अथवा उनके न्यायिक अभिनिर्णयोंका वृत्तान्त देना नहीं है। पर्याप्त अनुभवके बाद मैं इस नतीजेपर पहुँचा हूँ कि प्रत्येक न्यायाधीश, यदि वह बाहरी बातोंके लिहाजसे भ्रष्टाचारी अथवा पक्षपात करनेवाला न हो तो, अपने सामने उपस्थित उभयपक्षोंके बीच न्याय करनेका अभिलाषी रहता है। जिस प्रकार पैरवी करनेके तरीकों तथा मामले-की तैयारी करनेमें वकील वकीलमें अन्तर होता है, उसी प्रकार जज लोग भी अलग-अलग ढंगसे सत्यतक पहुँचनेका प्रयत्न करते हैं। जल्द ही किसी नतीजेपर पहुँच जानेवाले, सर जार्ज जैसेल जैसे, जजको मैं दोष नहीं देता। क्यों कोई समझदार और अनुभवी व्यक्ति बेमतलबकी बातोंके पीछे नाहक अपना समय बर्बाद करे ? और यदि कोई न्यायाधीश मूर्ख या अयोग्य है, तो इसमें उसका क्या दोष ? यह तो उसकी नियुक्ति करनेवाले प्राधिकारीका कुसूर है। मन्द गतिसे काम करनेवाला न्याया-धीश अपने बेढंगे विचारोंके कारण बहुत असन्तोषजनक प्रमाणित हो सकता है। इसलिए न्याय करनेके लिए व्यग्र जजकी प्रशंसा करना व्यर्थ है। वह कोई असाधारण विशिष्ट गुण नहीं है। वास्तव-में वह विशिष्ट गुण ही नहीं है। वह तो कर्तव्यपालन मात्र है। हाँ, ऐसे जजकी प्रशंसा अवश्य करनी चाहिये, जो तीक्ष्णबुद्धि हो, जिसमें आन्तरिक प्रवृत्ति हो, जो तथ्योंको जल्द समझ ले और जो अपने अनुभव तथा सामान्यबुद्धिके कारण, झूठी तथा असंगत बातोंकी भूलभुलैयासे, शीघ्रतापूर्वक एवं सुनिश्चित पकड़के साथ सचाईको खोज निकाले।

अपनी बात बताऊँ तो मैं जल्दी करनेवाले तथा कुछ-न-कुछ बोलते रहनेवाले जजको पसन्द करता था। चुप रहनेवाले न्यायाधीशसे मैं परेशान हो उठता था। बहसके समय मैं चाहता था कि परस्पर वाद-विवाद होता चले, एक मनकी दूसरे मनसे टक्कर होती रहे, जिससे मैं उठायी गयी आपत्तिका अपनी पूरी योग्यताके साथ, खुल्लमखुल्ला और दृढ़तापूर्वक सामना कर सकूँ। किन्तु वकील-मण्डलीके मेरे साथियोंको मेरे ये विचार प्रायः पसन्द नहीं आते थे। मैं कुछ-कुछ अनोखी प्रकृतिका आदमी समझा जाता था। सम्भवतः मैं ऐसा था भी।

अब जब मैं पिछली घटनाओंपर नजर डालता हूँ तो न्यायाधीशका मेरी ओर लगातार ध्यान देना अथवा उसका विद्वत्तापूर्ण विशद अभिनिर्णय मुझे स्मरण नहीं आता। सच पूछिये तो उन दिनों-की कोई हास्यमय स्थिति, जजका मेरे लिए कृपापूर्ण लिहाज या आनन-फानन कही गयी कोई विनोदपूर्ण बात ही मेरी स्मृतिमें गड़ी हुई प्रतीत होती है। ऐसी घटनाओंमेंसे कुछ मैं यहाँ दे रहा हूँ, क्योंकि ये शायद पाठकोंको भी मनोरञ्जक प्रतीत हों।

जब मैं युवावस्थामें था—शायद यह १९१४ या १९१५ की बात है—तब मैं अपीलके एक बड़े मामलेमें इस निश्चित आदेशके साथ नियुक्त किया गया था कि मैं मामलेमें स्वयं बहस नहीं करूँगा, केवल अपने प्रौढ़ साथियोंकी, जिनकी संख्या तीन थी, मदद करूँगा। दुर्भाग्यवश जब मामला अदालतमें विचारके लिए पेश हुआ, तब तीनों बड़े वकीलअन्य मामलोंमें व्यस्त थे और अकेला मैं ही अदालतमें मौजूद था और मेरे पीछे मुवक्किल भी खड़ा था। मैंने पेशी आगे बढ़ानेकी प्रार्थना की जो स्वीकृत हुई। किन्तु मुख्य न्यायाधिपति (सर हेनरी रिचर्ड्स)ने मुस्कराते हुए कहा—'आप स्वयं ही क्यों नहीं बहस करते, क्या आप केवल शोभाके लिए नियुक्त किये गये हैं?' मैंने जवाब दिया कि मैं तैयार हूँ किन्तु मेरे साथ जो शर्तें की गयी थीं वह भी मैंने बता दीं। फिर भी उनकी मीठी सलाह मुझे बहुमूल्य प्रतीत हुई। उसके बाद फिर कभी मैंने किसी अदालतके सामने ऐसी प्रार्थना नहीं की। जब कभी मैं सहायक वकीलके रूपमें नियुक्त किया गया, मैंने यह बात साफ-साफ कह दी कि यदि मुख्य वकील उपस्थित न रह सके तो मैं स्वयं बहस करूँगा और जजसे पेशी बढ़ानेके लिए कदापि न कहूँगा।

सर हेनरी रिचर्ड्स सचमुच ही बहुत बुद्धिमान् न्यायाधीश थे जिन्हें मैं जानता हूँ। वे दृढ़ विचारोंवाले तथा हाजिरजवाब थे और कुछ कड़े मिजाजके भी थे। उनकी अदालतमें बैठकर बहस सुननेसे ही नये वकीलको काफी अच्छी शिक्षा मिल सकती थी। सन् १९१९ के प्रारम्भमें ही-उन्होंने अवकाश ग्रहण कर लिया था किन्तु उनके समयमें पाँच वर्षतक मैं वकालत कर चुका था और उनका ध्यान मेरी ओर आकृष्ट हो चुका था। वह मेरी पसन्दके जज थे। वे मुझे प्रोत्साहित करते थे और मेरा लिहाज भी करते थे। वे लम्बी बहस पसन्द नहीं करते थे। किन्तु कभी-कभी मैं बराबर बोलता ही जाता था। और तब मुझसे उनसे कुछ झड़प भी हो जाती थी, कुछ मीठी चुटकी सी। एक बार मैं डाक्टर सप्रू द्वारा गृहीत मुकदमेमें बहस कर रहा था और अभी बहुत कुछ कहनेकी आवश्यकता महसूस कर रहा था तथा सचमुच ही ऐसा करनेका उपक्रम कर रहा था किन्तु मुख्य न्यायाधिपतिकी ओरसे बार-बार और जोरदार शब्दोंमें टोकटाक होने लगी। अन्तमें मैंने कहा कि जिला जजने एक विशिष्ट तथ्यकी जानकारी अभिलिखित की थी या कमसे कम ऐसा करनेका उनका इरादा था। इसपर मुख्य न्यायाधिपति बोल उठे—'ऐसी कोई चीज न थी। यदि श्री पुलनने ऐसा सोचा होता तो उन्होंने पागलखानेमें भेज दिये जाने योग्य काम किया होता।' इसपर मैं ठठाकर हँस पड़ा और कह उठा कि 'अच्छी बात है, अब मैं आगे बहस न करूँगा।' चीफ जस्टिस भी अपने शब्दोंपर खुद ही जोरसे हँस पड़े।

सर हेनरी रिचर्ड्स सर जार्ज जैसेलके समान थे। वाद-विवाद तथा हास्य विनोद पसन्द करते थे और उनके सामने यदि कोई सुस्त वकील पहुँच जाता तो फिर उसकी खैर न समझिये। एक बार मैंने अपने-आपको हास्यास्पद स्थितिमें पाया। एक छोटे मामलेकी अपीलपर विचार हो रहा था। वकील साहब एक प्रौढ़ सज्जन थे जिनको कोई भी बात समझनेमें देर लगती थी और जो ऊँचा सुनते थे। शीघ्र ही यह स्थिति हो गयी कि मुख्य न्यायाधिपति कुछ पूछते थे और वकीलकी ओरसे दूसरा

ही जवाब दिया जाता था। दोनोंमें खटपट हो जानेकी सम्भावना देखकर मैंने उनके कागज उलटने शुरू किये और मुख्य न्यायाधिपतिके प्रश्न उन्हें समझाने लगा। जब मामलेका रुख मेरी समझमें आ जाता तो मैं प्रश्नोंका उत्तर भी उन्हें सुझा देता। सर हेनरी रिचर्ड्सने यह देख लिया। उन्होंने मेरी तरफ ध्यान दिया और मेरे प्रौढ़ मित्रके बजाय मुझीसे प्रश्न करना शुरू कर दिया। मेरे लिए यह स्थिति हास्यास्पद होनेके सिवा परेशानी बढ़ानेवाली भी थी, फिर भी मुझसे जहाँतक बन पड़ा मैंने अच्छी तरह निभानेका प्रयत्न किया। एक बार मेरे प्रौढ़ बन्धुने बीचमें बोलनेका प्रयत्न किया किन्तु मुख्य न्यायाधिपतिने उन्हें रोक दिया—'नहीं, नहीं, आप बैठ जाइये। ये, मेरी तरफ इशारा कर, ठिकानेसे काम चला रहे हैं।' इस प्रकार मुझे गैरमामूली तरीकेसे इस मामलेमें फँस जाना पड़ा। जो हो, अपील मंजूर कर ली गयी और अदालत दोपहरके भोजनके लिए उठ गयी। इस मामलेसे सम्बद्ध एक और अपील थी। मुख्य न्यायाधिपतिने अदालतसे जाते समय मुझसे उसे भी देख लेने और यह बतानेके लिए कहा कि उसमें कोई सार है या नहीं। मेरे ऊपर उनके विश्वासका यह विशिष्ट संकेत था। मैं उस दूसरी अपीलको बिलकुल बेमतलब और निकम्मी समझता था (यद्यपि मेरे मित्रकी राय इससे भिन्न थी) और मैंने यही बात मुख्य न्यायाधिपतिसे कह दी। वह अपील खारिज कर दी गयी।

एक बार मैंने उनकी अदालतमें एक बहुत ही आनन्ददायक दृश्य देखा। वे तथा सर प्रमदाचरण बनर्जी फाँसीकी सजाके विरुद्ध की गयी एक अपील सुन रहे थे। मामला बहुत मुश्किल रहा होगा (मैं उसमें वकील नहीं था और मुझे उसके तथ्य नहीं मालूम), क्योंकि न्यायाधीशोंकी अलग-अलग राय हो रही थी। सर हेनरी रिचर्ड्सको सन्तोष नहीं हुआ और वे पुनर्न्यायप्रार्थना करनेवालोंको रिहा कर देनेके पक्षमें थे। इसके विपरीत जस्टिस बनर्जीका, जो फौजदारी मामलोंमें कुछ कठोर-से न्यायाधीश समझे जाते थे, खयाल था कि अभियुक्त दोषी थे और उनके विरुद्ध लगाया गया आरोप पूर्णतः सिद्ध हो चुका था। दोनों न्यायाधीश अपना मतभेद दूर नहीं कर सके और अलग-अलग जबानी फैसला सुनानेका उपक्रम करने लगे। मुख्य न्यायाधिपतिने पहले बोलना शुरू किया और अन्तमें कहा कि 'मैं अपीलको मंजूर करना चाहूँगा और अभियुक्तोंको रिहा कर दूँगा।' तब जस्टिस बनर्जीने शुरू किया और एक लम्बा फैसला सुनाया जो पुनर्न्यायप्रार्थियोंके सर्वथा प्रतिकूल था। उन्होंने मुख्य न्यायाधिपतिके सभी तर्कोंका खण्डन कर दिया और साक्ष्यके महत्वमापनमें बिलकुल दूसरी ही राय प्रकट की। किन्तु प्रत्येक व्यक्तिको उस समय बड़ा आश्चर्य हुआ, मुख्य न्यायाधिपतिको तो और भी अधिक, जब अपना वक्तव्य समाप्त करते हुए उन्होंने कहा 'किन्तु यतः मुख्य न्यायाधिपतिकी राय इससे भिन्न है, इसलिए मैं भी भिन्न अभिनिर्णय नहीं देना चाहता। अतः मैं भी इस बातमें सहमत हूँ कि अपील मंजूर कर ली जाय...।' यह सुनकर सर हेनरी रिचर्ड्स बड़े प्रभावित हुए, उनके मुँहपर मुसकराहट दौड़ गयी और उनका चेहरा खिल उठा, प्रसन्नतासे सचमुच प्रदीप्त हो उठा। वे आसन छोड़कर खड़े हो गये और जस्टिस बनर्जीकी ओर मुँह फेरकर, बड़े आदर और सम्मानसे, उन्हें प्रणाम किया (जस्टिस बनर्जी उम्रमें उनसे काफी बड़े थे)। वह एक आह्लादजनक एवं रोमांचकारक दृश्य था जिसे मैं कभी न भूलूँगा। अस्तु, मेरा खयाल है कि जस्टिस बनर्जीने जो कुछ किया बहुत ठीक किया। यह बात मेरी समझमें कभी नहीं आयी कि कैसे कोई भी न्यायाधीश उस समय अभियुक्तको दोषी ठहरानेका फैसला दे सकता है जब कि उसका साथी न्यायाधीश उसकी रिहाईके पक्षमें हो। अभियुक्तको संशयका लाभ प्राप्त करनेका हक है और जब एक जज अभियुक्तको निरपराध समझता है अथवा यह समझता है कि

उसके विरुद्ध लगाया गया अभियोग प्रमाणित नहीं हो सका, तब यह इस बातका पक्का सबूत है कि मामला, कमसे कम, सन्देहसे रहित तो नहीं ही है, और यह स्वतः ही उसकी रिहाईके लिए पर्याप्त कारण है। किन्तु कुछ न्यायाधीशोंकी राय है कि सन्देह स्वयं न्यायाधीशके अपने मनमें होना चाहिये, न कि किसी दूसरेके मनमें। यदि खुद उसके मनमें कोई सन्देह न हो तो उसका कर्त्तव्य हो जाता है कि वह अभियुक्तको दोषी घोषित करे।

मुझे एक और मनोरञ्जक घटनाका स्मरण है। इलाहाबाद हाईकोर्टमें दरख्वास्तें तथा एकपक्षीय निवेदनपत्र प्रतिदिन पूर्वाह्णमें केवल एक ही जज द्वारा अकेले ग्रहण किये जाते हैं। जिस दिनकी बात मैं कह रहा हूँ, उस दिन सर हेनरी रिचर्ड्‌स ही दरख्वास्तें ले रहे थे। वकील-मण्डलीके एक प्रमुख सदस्य श्री शीतलप्रसाद घोष किसी छोटे म्युनिस्पल अपराधमें दोषी ठहराये गये थे और उनपर जुर्माना ठोक दिया गया था। उन्होंने दोषकी अभिसिद्धि रद्द कर देनेके लिए हाईकोर्टमें निगरानीकी दरख्वास्त दी और उसे देनेके लिए वे खुद वहाँ उपस्थित थे। दरख्वास्त अदालतके पेशकारके हाथमें दी गयी थी और जब उसने पुकार कर कहा 'शीतलप्रसाद घोषकी दरख्वास्त', तब श्री घोष खड़े हो गये और कहने लगे 'श्रीमान्, मैं दोषी ठहराया गया हूँ।' सर हेनरी रिचर्डजने पूछा 'कौन दोषी ठहराया गया है ?' श्री शीतलप्रसाद घोषने जवाब दिया 'श्रीमान्, मैं खुद ही दोषी ठहराया गया हूँ।' मुख्य न्यायाधिपतिने तुरन्त आदेश दिया 'अपील मंजूर कर लो और नोटिस जारी कर दो।' वे मुस्कराने लगे और उस मामलेमें कोई बहस नहीं की गयी। उनकी यह काररवाई परमशोभनीय थी और जिस तरह वह की गयी थी, उसकी शोभा द्विगुणित हो गयी थी।[1]

ऐसी ही एक घटना कई वर्ष पहले हुई थी। श्री सच्चिदानन्द सिंहने, जिन्होंने बादमें भारतके सार्वजनिक जीवनमें विशेष प्रसिद्धि प्राप्त की, बैरिस्टरके रूपमें अपनी वकालत इलाहाबादमें शुरू की थी। एक तुच्छ म्युनिस्पिल अपराधमें वे दोषी ठहराये गये थे और उन्होंने हाईकोर्टमें इसके विरुद्ध दरख्वास्त दी। दरख्वास्त जस्टिस ब्लेयरके सामने रखी गयी। श्री सिंहने अपनी तरफसे पैरवी करनेके लिए श्री दुर्गाचरण बनर्जीको वकील नियुक्त कर लिया था। श्री बनर्जीने कहना शुरू किया—'श्रीमान्, श्री सिंह दोषी ठहराये गये हैं।"

जस्टिस ब्लेयर—'कौन दोषी ठहराया गया है ?'

बनर्जी—'श्री सिंह दोषी ठहराये गये हैं।'

जस्टिस ब्लेयर—'क्या हमारे सिंह ?'

बनर्जी—'जी हाँ, श्रीमान्।'

जस्टिस ब्लेयर—'असम्भव, असम्भव, नोटिस जारी कर दो।'

मैंने यह कथा जैसी सुनी थी, वैसी ही बयान कर रहा हूँ। वह प्रसिद्ध घटना थी। अस्तु, एक और मनोरञ्जक घटना हुई थी जिससे भी श्री दुर्गाचरण बनर्जीका सम्बन्ध था। वह मानव-हृदयको प्रभावित करनेवाली चीज थी। उसे हुए ६० वर्षसे अधिक समय हुआ, उसका ताल्लुक उस मामलेसे था जो जस्टिस टाइरेलकी अदालतमें चल रहा था। मैंने यह किस्सा स्वयं बनर्जी साहबके मुँहसे सुना था।

जस्टिस टाइरेलका एक द्वाररक्षक—बूढ़ा कृपापात्र जमादार था, जो अच्छा आदमी था। इसका एक भतीजा था। एक फौजदारीके मामलेमें इसका जुर्म साबित हो गया था और इसे कैदकी

१. श्रीघोष अपने मुकदमेमें जीत गये। इसका विवरण छप चुका है—शीतलप्रसाद घोष बनाम ब्रिटिश नरेश (१९१), ए० जेड० आई०।

सजा दी गयी थी। उसने हाईकोर्टमें निगरानीकी दरख्वास्त देनेके लिए श्री बनर्जीको वकील नियुक्त किया और उसकी सुनवाई एक दिन सबेरे जस्टिस टाइरेलके इजलासमें शुरू हुई। उन्होंने मामला सुना और अपील खारिज कर दी। जमादार परिणाम जाननेके लिए चिन्तित भावसे प्रतीक्षा कर रहा था। जब श्री बनर्जीने उसे इसकी सूचना दी तो वह बड़ा बेचैन हो उठा और रोने लगा। वह बराबर आग्रह करने लगा कि मेरे भतीजेको बचानेके लिए कुछ-न-कुछ अवश्य करना चाहिये। श्री बनर्जीने पहले तो उससे सहानुभूति प्रकट की और उसे समझा दिया कि कानूनी उपाय अब समाप्त हो गये। किन्तु वह बराबर आग्रह करता रहा, जिससे श्री बनर्जी चिढ़ गये और उन्हें कहना पड़ा—'मैं अब कुछ नहीं कर सकता, तुम्हारी इच्छा हो तो तुम जाकर न्यायाधीशसे ही कहो।' थोड़ी ही देर बाद अदालत मध्याह्न-भोजनके लिए उठ गयी। जमादार, जैसा हमेशा होता था, न्यायाधीशके पीछे-पीछे उनके कमरेमें, कपड़े आदि उतारनेमें मदद देनेके लिए चला गया और तुरन्त ही रोने-चिल्लाने लगा। जजको अचम्भा हुआ और उसने पूछा, 'आखिर, बात क्या हुई?' 'मैं तो बर्बाद हो गया, नष्ट हो गया', जमादारने रोते हुए कहा। 'कैसे?' —फिर प्रश्न हुआ। 'मेरे भतीजेको कैदकी सजा दे दी गयी।' 'किसने सजा दी?' 'आपने ही तो, हुजूर!' 'कब?' 'आज सबेरे ही।' 'अरे उल्लू, तूने पहिले ही क्यों नहीं कहा?' जजने भोजन किया और जब पुनः न्यायालयमें पहुँचे तो श्री बनर्जी तथा सरकारी वकीलको बुलवा भेजा। उनके आनेपर कहा कि सबेरे मैंने जिस मामलेका फैसला किया था, उसपर मैं विचार कर रहा था और उसके सम्बन्धमें मेरे मनमें कुछ सन्देह उत्पन्न हो गया है, इस-लिए मैं चाहता हूँ कि उसपर फिरसे बहस की जाय। तदनुसार उसपर फिर बहस हुई और न्यायाधीशने अपना पिछला फैसला वापस ले लिया और अभियुक्तको रिहाकर दिया। पहला फैसला जबानी सुनाया गया था और उसपर न अभी हस्ताक्षर हुए थे, न मोहर लगी थी, इसलिए उन्होंने जो कुछ किया उसमें कोई कठिनाई नहीं हुई। यही इस चीजका उदाहरण है कि किस तरह न्यायके साथ कभी-कभी करुणाका पुट रहता है।

मेरे प्रारम्भिक दिनोंमें एक और बिगड़ैल जज जस्टिस रफीक थे। वे शीघ्र ही अपनी धारणा बना लेते थे और क्वचित् ही उसे बदलते थे। जब बदलते भी थे, तब बहुत धीरे-धीरे ही बदलते थे। मानवस्वभावका उन्हें व्यापक अनुभव था और तथ्योंके मामलेमें वे विशेषरूपसे चतुर न्यायाधीश थे; किन्तु कभी-कभी बड़े मनोरञ्जक ढंगसे वे अपने परिणामपर पहुँचते। मैंने उनकी अदालतमें एक बार जो कुछ देखा, उसकी चर्चा यहाँ कर दे रहा हूँ। श्री सत्यचरण मुखर्जी फौजदारी मामलोंके प्रसिद्ध वकील थे, जो अनुभवी थे, लोगोंको प्रभावित करनेमें कुशल थे और तेज बोलनेवाले थे। वे एक फौजदारी मुकदमेकी निगरानीके लिए दी गयी दरख्वास्तमें बहस कर रहे थे कि अपने भाषणमें उन्होंने कहा—'इस मामलेकी शुरूआत दरअसल उस झगड़ेसे होती है, जो एक भ्रष्ट आचरणवाली औरतको लेकर चल रहा था। अभियुक्त उससे प्रेम करता था और उस थानेका दरोगाके उस प्रयत्नका परि-णाममात्र है जो वह अपने प्रतिद्वन्द्वीको अपने रास्तेसे हटानेके लिए कर रहा था।' जस्टिस रफीक अपनी नुकीली मूछोंको ऐंठते हुए बैठे थे (यह उनकी आदत थी)। उस समय वे कुछ नहीं बोले किन्तु करीब दो मिनट बाद जब मुखर्जी कोई दूसरी बात कह रहे थे, न्यायाधीश तथा वकीलमें यह कथोपकथन हुआ—

जज—'क्या आपने उस औरतको देखा है, मुखर्जीबाबू?'

मुखर्जी (कुछ देर सोचनेके बाद)—'जी नहीं, श्रीमान्।'

जज—'क्या वह यहाँ अदालत में उपस्थित है?'

मुखर्जी—'जी नहीं श्रीमान् ।'

और तब किसीने उनके कानमें कह दिया कि उसका भाई अदालतमें हाजिर है।

मुखर्जी—'किन्तु उसका भाई यहाँ मौजूद है।'

जज (कुछ देर रुकनेके बाद)—'कहाँ है वह ?'

भाई सामने आया—छरहरे बदनका, मसृण, अच्छी सूरत शक्लका, स्त्रियों जैसी चालढाल-वाला युवक, जो उस तरहके लोगोंकी जातिका पूरा-पूरा प्रतिनिधित्व करता था।

तब न्यायाधीशने कहा—'सरकारी वकील, ये सब पुलिस इन्स्पेक्टर बड़े भारी शैतान होते हैं और मुझे धोखेमें डाल देते हैं। मैं जानता हूँ कि इस तरहकी चीज बदायूँ जिलेमें खास तौरसे फैली हुई है। मेरे मनमें तनिक भी सन्देह नहीं कि मामला झूठा है और इस औरतके सम्बन्धमें ईर्ष्यासे ही इसकी उत्पत्ति हुई है।' इसके बाद कोई बहस नहीं की गयी और अभियुक्त रिहा कर दिया गया। जस्टिस रफीक दयालु स्वभावके थे और मुझे बड़ा प्रोत्साहन देते थे; किन्तु एक बार जब मैं तेजीसे बहस कर रहा था, उन्होंने मुझे एकदम रोक दिया। वे बिलकुल मेरे विरुद्ध हो गये और मेरी बात ही नहीं सुनना चाहते थे। 'ऐसे प्रस्तावके लिए, श्रीमान्, न तो कोई सिद्धान्त है और न कोई शास्त्रीय प्रमाण,' जोशीले नवयुवक वकील (मैंने)ने कहा। जस्टिस रफीकने जवाब दिया—'सिद्धान्तकी बात तो मैं नहीं जानता, किन्तु ज्यों ही तुम बैठ जाओगे, त्यों ही तुम्हें शास्त्रीय प्रमाण मिल जायगा।' फलतः मैं तुरन्त बैठ गया और शीघ्र ही मुझे वह शास्त्रीय प्रमाण सूचित कर दिया गया जिसका आश्वासन दिया गया था।

जस्टिस स्टुअर्ट (जो बादमें सर लुई स्टुअर्ट और अवध चीफ कोर्टके प्रथम मुख्य न्यायाधि-पति हो गये) एक और क्षिप्रगामी जज थे। वे मुकदमेके कागज घरमें पढ़ लिया करते थे और जब उसकी सुनवाई आरम्भ होती तो उन्हें सब बातें पहलेसे मालूम रहती थीं, यद्यपि कुछ मिनटोंके लिए वे उसके न्यायिक अज्ञानका बहाना-सा करते थे। उनके साथ मेरी अच्छी पटरी बैठती थी। मैं उनकी अदालतसे चले जानेके लिए हमेशा जल्दी किया करता था, क्योंकि वे अक्सर अकेले ही बैठा करते थे और छोटे मामले ही सुना करते थे। सुनवाई कुछ-कुछ इस ढंगसे शुरू होती थी—

काटजू—'मैं समझता हूँ कि श्रीमान्ने फैसला पढ़ लिया है।'

जस्टिस स्टुअर्ट (कुछ व्यग्र भावसे)—'नहीं तो, लेकिन देखूँ, हाँ, कुछ पढ़ा है। मुझे जो कुछ मालूम है, मैं आपको बताये देता हूँ।'

उन्हें सब बातें मालूम रहती थीं और वे संक्षेपमें उन्हें दुहरा देते थे या मेरी तरफसे मामलेकी शुरुआत कर देते थे।

मैं कहता—'यह बिलकुल ठीक है, श्रीमान्। अब मेरे तर्क ये हैं और ये उसके शास्त्रीय प्रमाण हैं।' और इसके बाद, जहाँतक मेरा सम्बन्ध रहता, सुनवाईमें मुश्किलसे १०-१५ मिनट लगते और मामला प्रायः मेरे सन्तोषके अनुरूप समाप्त हो जाता। कभी-कभी मैं इतनी तेजीसे आगे बढ़ जाता कि उन्हें भी मेरा आशय समझनेमें कुछ देर लगती। तब वे मुझसे किंचित् धीरे चलनेको कहते।

एक बार उनकी अदालतमें एक मजेदार घटना हुई। मेरा एक छोटा-सा मामला उनकी अदालतमें था, जिसमें मैं पुनःप्रतिवादी (रेस्पाण्डेण्ट)की ओरसे खड़ा था। मैं उस दिन सबेरे बहुत अधिक कार्यव्यस्त था और इस खास मुकदमेके कागज बिलकुल नहीं देख सका था। मेरे मित्र प्यारेलाल बनर्जी पुनर्न्यायप्रार्थीकी ओरसे खड़े थे। अदालतमें पहुँचनेपर मैंने उनसे बातचीत शुरू की और पूछा कि क्या मुकदमेमें कोई ऐसी चीज है जिसके लिए मुझे कोई खास तैयारी करनेकी

आवश्यकता हो ? वे मुसकराने लगे और बोले कि 'आपके लिए चिन्तित होनेकी आवश्यकता नहीं।' इसलिए मैंने फिक्र छोड़ दी और मैं अन्यत्र महत्त्वपूर्ण मुकदमोंके पेश होनेकी प्रतीक्षामें एक अदालतसे दूसरीमें आता जाता रहा और उनकी तैयारी करता रहा। इस बीच मेरा उक्त मुकदमा जस्टिस स्टुअर्टकी अदालतमें पेश हो गया और उसकी सुनवाई आरम्भ हो गयी। मेरा मुवक्किल दौड़ता हुआ मेरे पास आया। मैं काममें फँसा था। मैंने उसे टाल दिया। वह चला गया और फिर तुरन्त ही लौट आया—'डाक्टर साहब, बनर्जी साहब बहस कर रहे हैं, कृपया अवश्य चले आइये।' 'फिक्र मत करो,' मैंने कहा, 'मैं ठीक वक्त पर वहाँ पहुँच जाऊँगा।' 'जी नहीं, कृपया इसी वक्त चले चलें। न्यायाधीशको आप कृपाकर अपना चेहरा भर दिखा दीजिये और फिर आपकी इच्छा हो तो वापस चले आइये। मेरी पूरी तसल्ली हो जायगी। मेरा काम अवश्य हो जायगा।'—उसने कहा। मैं जानता था कि मुझे अदालतमें घसीट ले जानेका यह एक शिष्ट उपायमात्र था। एक बार मैं भीतर गया कि फिर बाहर निकलना मुश्किल होगा। पर मेरे लिए उसकी बात मानना जरूरी था, इसलिए मैं उसके साथ हो लिया। बरामदेसे मैंने पर्दा उठाया और अपना एक पैर अदालतके कमरेके भीतर रखा। बनर्जीकी बहस चल रही थी। स्टुअर्टने तुरन्त मुझे देख लिया, आँखें खोलीं, बन्द कीं और हाथ जरा-सा हिलाकर मुझे चले जानेका इशारा किया। यह बिलकुल स्पष्ट संकेत था कि मेरी उपस्थिति बिलकुल अनावश्यक है। मैं तुरन्त बरामदेमें लौट पड़ा, मुवक्किलसे कह दिया कि तुम जीत गये और दूसरी अदालतके कमरेकी तरफ चल पड़ा। उसी समय सीधे-सादे किन्तु कृतज्ञ मुवक्किलने कहा, 'कहिये, मैंने कहा था न, डाक्टर साहब ? आप केवल अपनी शक्ल दिखला दीजिये और मैं जीत जाऊँगा। बिलकुल ठीक यही बात हुई।' मैं मुस्करा पड़ा और फिर अपने कामसे चला गया। आजतक मुझे यह नहीं मालूम कि उस मुकदमेमें क्या था।

जब मैं हाईकोर्टमें वकालत करनेके लिए आया, तबतक सर जार्ज नॉक्स और सर प्रमदाचरण बनर्जी, ये दोनों ही करीब चौथाई शतीतक न्यायपीठपर आसीन रह चुके थे और सत्तर वर्षसे अधिक उम्रके हो चुके थे। इस समय यह जो नियम प्रचलित है कि न्यायाधीशको साठ वर्षकी उम्रमें अवकाश ग्रहण कर लेना चाहिये, वह उस समय लागू नहीं होता था। वे दोनों अपनी दयालुता और नेकदिलीके कारण प्रसिद्ध थे और प्रत्येक व्यक्ति उन्हें चाहता था। वृद्धावस्थाका असर उनपर देख पड़ने लगा था किन्तु वे मानसिक दृष्टिसे पूर्ण जागरूक और सक्रिय थे। जस्टिस बनर्जी जो भारतके सबसे योग्य एवं सबसे अनुभवी न्यायाधीशोंमेंसे एक माने जाते थे, यह उचित ही था।

मुझे अक्सर ही न्यायाधीश बनर्जीके सामने उपस्थित होना पड़ता था और मेरे ऊपर उनकी बड़ी कृपा रहती थी। एक बार उनकी अदालतमें एक विचित्र दृश्य दिखलायी पड़ा, जब वे प्रधान न्यायाधिपति सर ग्रीनवुड मियर्सके साथ विराजमान थे।

एक जमींदार—जो पहले कभी सम्पन्न व्यक्ति था—आर्थिक कठिनाइयोंमें पड़ गया था। जैसा कि ऐसी स्थितिमें संसारके हर हिस्सेमें होता है, उसने कर्ज चुकाने तथा अन्य कामोंके लिए अपनी सारी सम्पत्ति ट्रस्टियों (प्रन्यासियों) के हाथ सौंपकर अपनेको बचानेका प्रयत्न किया। उसके एक ऋणदाताने जिसे उसके खिलाफ अदालतसे डिगरी मिल गयी थी, इसमेंसे कुछ सम्पत्तिकी कुर्की तथा बिक्री द्वारा अपनी रकम वसूल करनेका प्रयत्न किया। ट्रस्टियोंने हस्तक्षेप किया और उनके आपत्ति करनेपर अदालतने निर्णय किया कि ट्रस्ट (प्रन्यास) का किया जाना पूर्णरूपसे वैध कार्य था, सम्पत्ति ट्रस्टियोंको उचित ढंगसे सौंपी गयी थी और वह ऋणग्रस्त व्यक्तिकी सम्पत्ति नहीं रह गयी थी, अतः उसकी कुर्की नहीं की जा सकती थी। महाजनने उच्च न्यायालयमें अपील की किन्तु प्रधान न्यायाधिपति

रिचर्ड्सने तथा सर प्रमदाचरण बनर्जीने उसे खारिज कर दिया। हाईकोर्टने मातहत अदालतके इस अभिनिर्णयसे सहमति प्रकट की कि ट्रस्ट की कारवाई वैधरूपसे की गयी थी। तीन या चार वर्ष बाद एक और ऋणदाताने फिर वैसी ही कारवाई शुरू की। उसने आसेध (कुर्की) के लिए दरख्वास्त दी, ट्रस्टियोंने फिर आपत्ति की और दीवानी जजने (जो नया अधिकारी था, पुराना नहीं) ट्रस्टियोंके हकमें फैसला किया। उसने अपने फैसलेमें लिखा कि यतः यह दूसरा महाजन पहलेके फैसलोंको माननेके लिए बाध्य नहीं है, इसलिए मैंने खुद अपने तईं मामलेकी बातोंकी छानबीन कर ली है और मैं भी उसी निष्कर्षपर पहुँचा हूँ। महाजनने मेरे जरिये हाईकोर्टमें अपील की और वह सर ग्रीनवुड मियर्स तथा सर प्रमदाचरण बनर्जीके सामने रखी गयी। इस समयतक जस्टिस बनर्जीकी दृष्टिशक्ति बुढ़ापेके कारण कमजोर पड़ गयी थी और वे खुद कागजोंको पढ़नेके बजाय वकील द्वारा उन्हें पढ़वाना ज्यादा पसन्द करते थे। उन्हें कागजपत्र पढ़ना कष्टकारक मालूम होता था।

मैंने सावधानीसे मामला शुरू किया और प्रन्यासपत्र (ट्रस्ट सम्बन्धी प्रलेख) के ब्योरेकी बातें तुरन्त उनके सामने रख दीं। मेरा कहना था कि यह ऋणदाताओंको धोखा देने, विफल करने तथा देर लगानेके लिए चली गयी एक चाल थी, इसलिए यह अनुचित और छलपूर्ण होनेके कारण अप्रवर्ती थी। ब्योरेमें जाना बेमतलब होगा किन्तु तथ्य और आँकड़े देकर कोई घण्टेभरके भीतर ही मैं न्यायाधीशोंको अपनी ही रायका बना लेने में कामयाब हो गया और जैसे-जैसे बहस आगे बढ़ती गयी, वैसे-वैसे दोनों न्यायधीशोंके मुँहसे एकके बाद अन्य उक्तियाँ मेरे पक्षमें निकलती गयीं और इस तरह मेरे पक्षका समर्थन करनेमें वे काफी आगे बढ़ गये। अन्तमें मुख्य न्यायाधिपति (श्री मियर्स) ने मुझसे पूछा कि नीचेकी अदालतने इतने साफ मामलेका फैसला आखिर मेरे विरुद्ध क्यों किया? उस समयतक मातहत अदालतका अभिनिर्णय पढ़ा नहीं गया था और विद्वान् न्यायाधीशोंको उच्च न्यायालयके उसके पहलेके फैसलेका भी पता नहीं था। मेरे लिए अब समय आ गया था कि मैं उस बाधाका भी सामना करता।

काटजू—'मैं सचमुच नहीं जानता, श्रीमान्, किन्तु सम्भव है कि इस अदालत द्वारा इसके पूर्व दिये गये फैसलेसे वे प्रभावित हुए हों।'

मुख्य न्यायाधिपति—'किस मामलेका फैसला?'

काटजू—'इस प्रन्यास (ट्रस्ट) के मामले का। यह वैध मान लिया गया था।'

मुख्य न्यायाधिपति—'क्या यह फैसला हमारी किताबमें मौजूद है?'

काटजू—'जी हाँ श्रीमान्। वह अमुक पृष्ठपर छपा है।'

जस्टिस बनर्जी अपनी किताबका वह पृष्ठ ढूढ़नेका असफल प्रयास करने लगे। कभी वे यह पन्ना उलटते, कभी वह, कभी बहुत आगे बढ़ जाते। कभी बहुत पीछे देखने लगते। इस बीच मुख्य न्यायाधिपतिने तुरन्त अपना पृष्ठ ढूँढ़ लिया, न्यायाधीशोंके नाम देखे—उनमें एक नाम जस्टिस बनर्जीका भी था—संक्षिप्त अभिनिर्णय एक ही नजरमें पढ़ लिया और तब—यह अक्षरशः सत्य है—मेरी ओर देखकर आखें मिचकायीं और उनके चेहरेपर एक छद्मपूर्ण मुस्कराहट फैल गयी। वे आगेका घटनाविकास स्पष्ट प्रसन्नता और आनन्दके साथ देखने लगे। बेचारे जस्टिस बनर्जी महोदय अभीतक ठीक पृष्ठ नहीं तलाश पाये थे; वे इतने अल्पदृष्टि हो गये थे। और तब यह मनोरञ्जक गर्भांक शुरू हुआ।

बनर्जी—'न्यायाधीश कौन-कौन थे?'

काटजू—'श्रीमान् स्वयं तथा हेनरी रिचर्ड्स। किन्तु फैसला सुनाया गया था सर हेनरी रिचर्ड्स द्वारा।'

बनर्जी (आश्चर्यचकित, बल्कि स्तब्ध होकर)—'क्या आप फैसला पढ़ेंगे?'

डा० सेन (दूसरे पक्षके वकील)—'मेरे मित्रको यह बात कैसे मालूम हुई? क्या वे उस समय न्यायालयमें उपस्थित थे?'

काटजू—'नहीं, मैं अदालतमें उपस्थित नहीं था किन्तु शैली सर रिचर्ड्सकी ही है। उसमें यह शब्दावली नहीं है 'जैसा कि मैं ऊपर बतला चुका हूँ' जो श्रीमान्के अभिनिर्णयमें हमेशा पायी जाती है।'

यह बात सच थी और इसे सुनकर दोनों न्यायाधीश हँस पड़े। मैंने यह सब जस्टिस बनर्जी-की परेशानी दूर करनेके लिए कहा था, जिसमें यदि सम्भव हो तो, वे अपने बचावका रास्ता निकाल ले सकें।

मैंने फैसला धीरे-धीरे और सावधानीसे पढ़ा। वह उस प्रत्येक अभ्युक्तिके बिलकुल प्रतिकूल था जो उन्होंने दिनमें इसके पहले की थी जब मैं मामलेपर बहस कर रहा था। उनकी परेशानी साफ दिखाई दे रही थी।

जस्टिस बनर्जी—'क्या यही प्रन्यासपत्र (ट्रस्ट डीड) उस समय न्यायालयके सामने था?'

काटजू—'जी हाँ, यही था श्रीमान्।'

जस्टिस बनर्जी—'कृपा कर फैसला फिर पढ़िये।'

मैंने फिर पढ़ा। कठिनाईसे बचनेका कोई उपाय नहीं था। दोनोंमें पूरी-पूरी विभिन्नता थी। जस्टिस बनर्जीकी बेचैनी तथा परेशानी देख कर ही कष्ट होता था। वे अपने विचार इतने जोरों-से मेरे पक्षमें प्रकट कर चुके थे कि अब पीछे लौटनेकी बात सोचना उनके लिए आसान न था। जब जस्टिस बनर्जी इस तरह हैरानीमें पड़े हुए थे, सर ग्रिनवुड मियर्सकी समस्त कूटनीतिक सहजात वृत्ति पूरी शक्तिसे अपना काम कर रही थी। (वे पहले कूटनीतिज्ञ थे, बादमें न्यायाधीश। वे बहुत अच्छे राजदूत बन सकते थे।) पहले तो वे सारी कारवाई बड़े मनोरञ्जन और प्रसन्नतासे देखते रहे किन्तु फिर वे चुपचाप अपने बन्धुकी सहायताके लिए उद्यत हो गये। प्रत्येक न्यायाधीशको अदालतमें लिखनेके लिए, दलीलोंके संक्षिप्त नोट लेनेके लिए, एक नोट-बुक मिलती है। ये नोटबुकें दफ्तरमें सुरक्षित रहती हैं। जब फैसला पढ़ा जा रहा था, सर ग्रिनवुडने चुपकेसे जस्टिस बनर्जीकी पुरानी नोटबुक मँगवा ली। उसमें उन्हें पुराने मुकदमेका केवल चार पंक्तियोंका नोट लिखा मिला। वकीलों-की तरफ विजयोल्लाससे मुँह फेरकर उन्होंने कहा, 'पिछली बार वास्तवमें अदालतके सामने इस मुक-दमेमें बहस ही नहीं की गयी थी। यह रहा जस्टिस बनर्जीका नोट' और उसे पढ़कर उन्होंने सुना दिया, 'आज हमने जो दलीलें तथा विशिष्ट बातें सुनी हैं, उनका एक शब्द भी यहाँ नहीं है। मैं समझता हूँ कि वकीलने मामलेपर बहस की ही न थी और न प्रन्यासपत्रकी गम्भीरतापूर्वक आलो-चना ही की थी। इसलिए पहलेका अभिनिर्णय देखकर मुझे कोई आश्चर्य नहीं हुआ।' इससे बेचारे बनर्जीकी परेशानी दूर नहीं हुई। सच बात सम्भवतः यह थी कि जज द्वारा नोट की गयी बातोंका (उनकी आँखोंकी शक्ति कमजोर होनेके कारण) कोई खास सम्बन्ध उस बहससे नहीं था जो उनके सामने होती थी। किन्तु इस सम्बन्धमें उन्होंने कुछ कहा नहीं और मुख्य न्यायाधिपति पहलेके फैसले-की विभिन्नताका कारण समझा देनेमें समर्थ हो गये। अपील मंजूर कर ली गयी। किन्तु समस्त घटना इतनी मजेदार थी कि मैं उसे कभी भूल नहीं सकता।[1]

---

१. एक ही प्रश्नके सम्बन्धमें हाईकोर्टके परस्पर विरोधी अभिनिर्णय क्वचित् ही होते हैं,

बहुत-सी बातें स्वीकार न करनेकी अपनी आदतके सिलसिलेमें एक बार मैंने जस्टिस बनर्जीकी अदालतमें एक अमूल्य शिक्षा ग्रहण की। वे दरख्वास्तें ले रहे थे। फौजदारीके नामी वकील रास ऐल्सटनने एक फौजदारी मामलेकी अपील सामने रखी। थोड़ी-सी बहस उन्होंने की किन्तु न्याया-धीशपर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। ऐल्सटनका लिहाज करते हुए उन्होंने कहा कि मैं फैसला पढ़कर देखूँगा और बादमें इसका निर्णय करूँगा। फिर भी इतना उन्होंने कह ही दिया 'सच पूछिये तो मामलेमें कुछ है नहीं, मिस्टर ऐल्सटन।' और तब ऐल्सटनने इसका यह जवाब दिया, 'ठीक है श्रीमान्, यही चीज तो आज सबेरे मैंने अपने मुवक्किलसे कही थी, किन्तु उसने मुझसे कहा था कि मैं आपकी राय नहीं चाहता, मैं जजकी राय जानना चाहता हूँ।' यह बात बहुत अच्छे ढंगसे और थोड़ेमें रख दी गयी है। वकील इसलिए नियुक्त नहीं किया जाता कि वह पहलेसे कोई बात स्वीकार कर मुकदमा हाथसे चला जाने दे। वकील अपने निजी दफ्तरमें चाहे जो सुझाव या सलाह दे, किन्तु अदालतमें जब मामलेकी सुनवाई शुरू हो जाय और लड़ाईमें शामिल होनेकी नौबत आ जाय, तब उसका कर्तव्य हो जाता है कि वह अपने व्यवसायके औचित्यकी सीमाओंके भीतर मुवक्किलकी ओरसे लड़नेके लिए अपनी शक्ति और कुशलताके अनुसार अधिकसे अधिक प्रयत्न करे। बम्बईकी वकील-मण्डलीके प्रसिद्ध नेता इनवेरेरिटीने कहा था, 'मैं यहाँ अपने

यद्यपि कानून सम्बन्धी प्रश्नोंके फैसले बादमें अक्सर अन्य न्यायाधीशों द्वारा उलट दिये जाते हैं। इसका एक स्पष्ट उदाहरण जो मेरे मनमें आ रहा है, एक हिन्दू विधवाकी मृत्युतिथिके बारेमें है। इस महिलाको अपने पतिकी मृत्युके बाद एक बड़ी जायदाद, जो अनेक जिलोंमें फैली हुई थी, वरासतमें मिली थी किन्तु स्वत्वहस्तान्तरण द्वारा उसने उसे बर्बाद कर दिया था और मृत्युके समय उसके पास कुछ नहीं रह गया था। उसकी मृत्युके बाद उसके पतिका निकटतम पुरुषसम्बन्धी वारिस बना और उसे स्वत्व हस्तान्तरण द्वारा जायदाद लेनेवाले व्यक्तियोंसे उसे वापस ले लेनेका अधिकार था, यदि वह उक्त महिलाकी मृत्युके बाद १२ वर्षोंके भीतर इसकी नालिश कर दे। ऐसे एक आदमीके खिलाफ उसने, जायदादका एक अंश वापस पानेके लिए, दरख्वास्त दे दी और एक तारीख देकर कहा कि यही उस महिलाकी मरणतिथि है। प्रतिवादीने इसे माननेसे इनकार कर दिया और कहा कि उसका (महिलाका) स्वर्गवास छ वर्ष और पहले ही हो गया था। किन्तु विचारक न्यायाधीशने वादीका कथन सत्य मान लिया और उसे डिगरी दे दी। उच्च न्यायालयने भी यह फैसला कायम रखा। तब एक अन्य जिलेके स्वत्वहस्तान्तरण द्वारा जायदाद पानेवाले एक और व्यक्तिके विरुद्ध नालिश की गयी। इसमें भी विधवाकी मरणतिथिके सम्बन्धमें उभयपक्षमें मतभेद था। साक्ष्यके आधारपर अब विचारक न्यायाधीशने प्रश्नका निपटारा प्रतिवादीके पक्षमें किया और दावा खारिज कर दिया। इस अभिनिर्णयकी भी पुष्टि उच्च न्यायालयने कर दी। इस प्रकार एक ही तथ्य सम्बन्धी विवादपर दो परस्पर विरोधी निर्णय हुए। इसके बाद उत्तराधिकारीने सभी जायदादोंको वापस करानेके लिए एक तीसरी नालिश की और १२०० से अधिक लोगोंको मामलेमें प्रतिवादी बनाया। मैं वादीकी ओरसे वकील नियुक्त हुआ। कोई भी व्यक्ति इन १२०० व्यक्तियोंको—पुरुषों, स्त्रियों तथा बच्चोंको—समयकी कुछ अवधितक भी लगातार जीवित नहीं रख सकता। इसलिए मुकदमेकी प्रारम्भिक काररवाई भी वर्षोंतक ढकेलती गयी किन्तु हमेशा कोई न कोई मर जाता और सुनवाई रुक जाती। आखिर, मामलेपर विचार नहीं ही हो सका और वह वापस ले लिया गया।

मुवक्किलकी ओरसे उसके मामलेकी पैरवी करनेके लिए आया हूँ, श्रीमान्, उसकी ओरसे समझौता करानेके लिए नहीं। उसने मुझे इस उद्देश्यसे यहाँ नहीं भेजा।' यह बिलकुल ठीक रुख है जो लिया जा सकता है।

सर प्रमदाचरण बनर्जीकी अदालतमें एक बार मुझसे एक अविवेकपूर्ण वाक्य कह देनेका अपराध हो गया था। मैं एक तथ्यके सम्बन्धमें बहस कर रहा था और अपने एक गवाहको बहुत सच बोलनेवाला तथा विश्वसनीय कहकर उसकी प्रशंसा कर रहा था। जोशमें आकर मैंने कह दिया— 'यह एक वृद्ध मनुष्य है, श्रीमान्, जो एक पैर कब्रमें लटकाये हुए हैं। वह भला क्यों सामने आकर झूठ बोलना चाहेगा?'

जस्टिस बनर्जीने फौरन टोक दिया, 'आप क्यों कहते हैं कि वह वृद्ध है?' मैंने तुरत अपनी गलती महसूस की। गवाह की उम्र केवल ६९ वर्षकी थी, जब कि न्यायाधीशकी उससे कहीं ज्यादा थी। मैंने क्षमायाचनाके ढंगपर कन्धोंका सञ्चालन करते हुए अपने शब्द वापस ले लिये। दूसरे न्यायाधीश मुस्करा पड़े और स्वयं जस्टिस बनर्जीको भी हँसी आ गयी।